हिन्दी-वाङ्मय का विकास

आदिकाल से लेकर आज तक की साहित्यिक
प्रगति का समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक
डॉ० सत्यदेव चौधरी
शास्त्री, एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी) पी-एच. डी.
प्राध्यापक–हंसराज कालेज (दिल्ली विश्व-विद्यालय), दिल्ली

प्रकाशक
मेहरचन्द लक्ष्मणदास,
दरियागंज, दिल्ली–७
सन् १९५७

डॉ० नगेन्द्र

को

जिन्होंने अपने जीवन से अध्यवसाय और चिन्तन का पाठ तो पढ़ाया, पर हमने यह पाठ क्यों न स्मरण कर लिया—यह कभी न पूछा।

सादर समर्पित

प्रस्तावना

अद्यावधि प्रकाशित हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों तथा नवीन अनुसन्धानों के आधार पर हिन्दी-वाङ्मय-सम्बन्धी सामग्री इतनी उपलब्ध होने लगी है कि उसको समक्ष में रखकर छात्रों के हित के लिए उसे यथासम्भव संकलित करने की आवश्यकता है। प्रस्तुत प्रयास इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया है। परिणामतः इस ग्रंथ में न केवल नवीन धारणाओं का सम्यक् समर्थनपूर्वक समावेश किया गया है, अपितु सद्यः प्रकाश में आये प्राचीन कवियों एवं उनकी कृतियों को भी यथोचित उद्धरणों के साथ समुचित स्थान दे दिया गया है। इतना सब होते हुए भी सरलता और सुबोधता के साथ सुव्यवस्था का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। हमारा विश्वास है कि ऐसा एकत्र-संकलन तथा उसका छात्रोपयोगी सुव्यवस्थापूर्ण सम्पादन अन्य उपलब्ध इतिहास-ग्रन्थों में अलभ्य है।

इस ग्रन्थ की अन्य विशेषता है प्रत्येक काल की विशिष्ट तथा उल्लेख्य परिस्थितियों का क्रमबद्ध निर्देश तथा उनका तद्युगीन हिन्दी-साहित्य के साथ समन्वय। साहित्य समाज का कहाँ तक अनुगामी रहता है, अथवा प्रतिगामी तथा कहाँ तक उससे उदासीन भी रहता है—छात्रों को इसका ज्ञान इन स्थलों से भली प्रकार हो जायगा।

खड़ीबोली को छोड़ कर हिन्दी भाषा के विभिन्न प्रकारों की रूप-रचना के सम्बन्ध में भी परिचिति प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ की अन्यतम विशिष्टता है।

इस ग्रन्थ की अन्तिम विशिष्टता यह है कि इसमें अधिकांशतः उन प्रतिनिधि लेखकों तथा उनकी कृतियों की यथावत् समीक्षा प्रस्तुत की गई है, जिनके साथ उनका पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से प्रायः सम्बन्ध रहता है।

आशा है लेखक का समुचित दिशा में किया गया यह प्रयास न केवल छात्रों की अपितु हिन्दी-साहित्य के मनीषी जिज्ञासुओं की भी ज्ञानवृद्धि में सहायक सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ-निर्माण में मैंने जिन ग्रन्थकारों की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायता ली है, उन सब के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मेरे बाल-मित्र पं० चन्द्रकान्त बाली ने न केवल सामग्री-संचयन में मेरी सहायता की है, अपितु पंजाब के अप्रख्यात प्राचीन कवियों से भी मुझे अपने अप्रकाशित ग्रन्थ पंजाब का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' के माध्यम से परिचित कराया। बाली जी को धन्यवाद देकर मैं अपने मैत्री-सम्बन्ध को हल्का नहीं करना चाहता। श्रीकृष्ण 'विकल' जी के प्रति मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ—जिन्होंने इस ग्रन्थ को प्रकाशन-सम्बन्धी साज-सज्जा दी तथा अपने सुझावों से मुझे अनुगृहीत किया।

१५ मई, १६५७ सत्यदेव चौधरी
१३ माल रोड, दिल्ली-८

विषय-सूची

आवश्यक संकेत

इस इतिहास-ग्रन्थ में अधिकांशतः विक्रम-संवत् का प्रयोग किया है, क्योंकि मूल स्रोतों के अनुसार प्राचीन लेखकों के जीवन-सम्बन्धी वर्ष विक्रम-संवत् में उपलब्ध हैं। उनके अनुकूल ईस्वी सन् जानने के लिए ५७ वर्ष कम कर देने चाहिएं। उदाहरणार्थ विक्रम-संवत् २०१४ के अनुकूल ईस्वी सन् १९५७ है।

विषय-प्रवेश

भारतीय भाषाओं का विकास

संसार की प्रत्येक वस्तु के समान भाषा भी परिवर्तित अथवा विकसित होती रहती है। उसका यह विकास नितान्त मन्द गति से होता है अतः यह तत्काल लक्षित न होकर शताब्दियों के उपरान्त लक्षित होता है। शताब्दियों के उपरान्त भाषा इतनी बदल जाती है कि उसके मूल रूप को सहज समझ लेना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से विकसित हिन्दी, मराठी, बंगला आदि आधुनिक भाषाओं को बोलने वाले हम लोग आज उक्त प्राचीन भाषाओं में से किसी को भी, यहाँ तक कि अपनी भाषा की जननी अपभ्रंश को भी, सहज रूप से समझने में नितान्त असमर्थ हैं। यह भाषा की परिवर्तनशीलता अथवा विकास का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

हर युग में भाषा के दो रूप होते हैं—एक साधारण और दूसरा परिनिष्ठित। साधारण रूप बोलचाल में व्यवहृत होता है और परिनिष्ठित रूप साहित्य में तथा विद्वत्समाज की गोष्ठियों में। साधारण भाषा और परिनिष्ठित भाषा में पर्याप्त अन्तर रहता है। परिनिष्ठित भाषा साधारण भाषा की अपेक्षा अधिक परिष्कृत एवं समर्थ होती है। भाषा का विकास उसके साधारण रूप से होता है, परिनिष्ठित रूप से नहीं। उदाहरणार्थ, वैदिक युग की वैदिक भाषा का परिनिष्ठित रूप नहीं, अपितु साधारण रूप ही विकसित होते-होते महात्मा बुद्ध के समय (सातवीं-छठी शती ई० पू० तक) भाषा के उस रूप तक पहुँच गया, जिसे आगे चलकर विद्वानों ने 'पालि' नाम दिया। पालि बुद्ध के समय में साधारण

जन-व्यवहार की भाषा थी। यही कारण है कि उन्होंने सामान्य जनता को इसी भाषा के माध्यम से अपने उपदेश दिये और आगे चलकर तीसरी शती ई० पू० में अशोक ने बौद्धधर्म के उपदेशों को इसी लोकभाषा में ही शिलाओं पर खुदवाया।

इसी बीच प्राचीन भाषा को भावी परिवर्तनों से बचाने तथा आगत परिवर्तनों से उसे सुरक्षित रखने के भी प्रयास किये गये। सातवीं-आठवीं शती ईसा-पूर्व में पाणिनि द्वारा निर्मित अष्टाध्यायी नामक संस्कृत-व्याकरण इसी प्रयास का एक महान्, सफल एवं अद्भुत उदाहरण है। पाणिनि ने वैदिककालीन भाषा को 'वैदिक' नाम दिया और अपने समय की शिष्ट समाज की भाषा को 'लौकिक'। व्याकरण द्वारा संस्कार किये जाने के कारण पाणिनि-सम्मत लौकिक भाषा 'संस्कृत' कही जाने लगी। यह भाषा शताब्दियों पर्यन्त शिष्ट समाज एवं विद्वज्जनों के व्यवहार की भाषा रही, तथा प्रचुर मात्रा में निर्मित साहित्य का माध्यम भी। पर साहित्यिक भाषा बन जाने तथा व्याकरणबद्ध होने के कारण इसका स्वाभाविक विकास रुक गया।

उधर लोकभाषा पालि में भी साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हो गया था और उसे भी व्याकरणबद्ध कर दिया गया। पर पालि का साधारण रूप निरन्तर विकसित होता रहा और कालान्तर में उसे 'प्राकृत' का रूप मिला। धीरे-धीरे प्राकृत को भी साहित्य में स्थान मिला तथा इसे भी व्याकरणबद्ध किया गया। बौद्ध और जैन मत के प्राचीन ग्रन्थों तथा शिलालेखों की भाषा प्राकृत है। संस्कृत-नाटकों में भी नारियों तथा निम्नवर्ग के पात्रों द्वारा इसी भाषा का प्रयोग कराया गया है। इस भाषा के प्रधान चार रूप हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्ध-मागधी।

आगे चलकर इन प्राकृत भाषाओं का साधारण रूप भी विकसित होते-होते एक अन्य रूप धारण कर गया, जिसे विद्वानों ने 'अपभ्रंश' (विकृत) नाम दे दिया। पर बाद में यही नाम इस भाषा के लिए प्रचलित हो गया। प्राकृत भाषा के उपर्युक्त महाराष्ट्री आदि चार भेदों के अनुसार

अपभ्रंश के भी यही चार भेद हैं। आगे चलकर अपभ्रंश भाषा में भी साहित्य का निर्माण होने लगा। बौद्धों और जैनियों के परवर्त्ती धार्मिक ग्रन्थों तथा नाथ-पन्थियों की वाणियों की भाषा अपभ्रंश है।

इस प्रकार अपभ्रंश भाषा के साहित्यिक रूप धारण कर लेने पर इसके साधारण रूप से १०वीं शती के लगभग पंजाबी, पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बंगाली, असमिया आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ।

निष्कर्ष यह कि—

१—वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि और अपभ्रंश भाषाओं का साहित्य इन भाषाओं के परिनिष्ठित रूपों में निर्मित हुआ, साधारण रूपों में नहीं। आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य की भी यही स्थिति है।

२—एक के बाद एक भावी भाषाओं का विकास पूर्व-पूर्ववर्ती भाषाओं के साधारण रूपों से हुआ, न कि इनके परिनिष्ठित रूपों से।

३—एक भाषा और उससे विकसित दूसरी भाषा अथवा भाषाओं के बीच काल-सम्बन्धी कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। एक ही साथ जननी तथा जन्या दोनों भाषाएँ समानान्तर रूप से चलती रहती हैं। उदाहरणार्थ, पतनोन्मुखी अपभ्रंश भाषाएँ तथा विकासोन्मुखी भारतीय आधुनिक भाषाएँ आठवीं-नवीं शती में एक-साथ प्रचलित थीं।

४—भारतीय भाषाओं का काल-विभाजन इस प्रकार है—

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल—लगभग २००० ई० पू० से लगभग ५०० ई० पू० तक—इस काल में अधिकांशतः वैदिक संस्कृत तथा संस्कृत के साधारण तथा परिनिष्ठित रूपों का प्रयोग हुआ।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा-काल—लगभग ५०० ई० पू० से १००० ई० तक—इस काल में संस्कृत के अतिरिक्त इन भाषाओं का साधारण व्यवहार में तथा साहित्य में प्रयोग हुआ—

(१) बुद्धकालीन तथा अशोककालीन पालि—लगभग ५०० ई० पू० से लगभग १ ई० तक ।

(२) साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ तथा उनके साधारण रूप—लगभग १ ई० से ५०० ई० तक ।

(३) अपभ्रंश भाषाएँ—लगभग ५०० ई० से १००० तक ।

(ग) आधुनिक आर्यभाषा-काल—लगभग १००० ई० से वर्तमान समय तक ।

हिन्दी-भाषा और उसके विभिन्न रूप

आधुनिक भाषाओं में हिन्दी अपना विशिष्ट एवं गौरवपूर्ण स्थान रखती है । इसके प्रमुखतः दो रूप हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी । प्रथम रूप का विकास शौरसेनी नामक अपभ्रंश से माना जाता है और द्वितीय रूप का अर्द्धमागधी अपभ्रंश से । पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत ब्रज भाषा, कन्नौजी, बुन्देली, बांगरू और खड़ीबोली आती हैं, और पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी । इन भाषाओं में से ब्रजभाषा, खड़ीबोली और अवधी साहित्यिक भाषाएँ हैं, शेष भाषाओं में अभी विशिष्ट साहित्य का निर्माण नहीं हुआ ।

इस सम्बन्ध में दो भाषाएँ और भी उल्लेखनीय हैं जिनका सम्बन्ध हिन्दी के साथ है—राजस्थानी और बिहारी । राजस्थानी भाषा शौर-सेनी अपभ्रंश से विकसित है और बिहारी भाषा मागधी अपभ्रंश से । राजस्थानी भाषा के चार प्रमुख रूप हैं—मेवाती, मालवी, मारवाड़ी और जयपुरी । इनमें से मारवाड़ी अर्थात् पश्चिमी राजस्थानी हिन्दी से सम्बद्ध है । बिहारी भाषा के भौगोलिक दृष्टि से दो रूप हैं—पश्चिमी बिहारी और पूर्वी बिहारी । पश्चिमी बिहारी के तीन उपरूप हैं—मैथिली, मगही और भोजपुरी । इनमें से मैथिली का प्राचीन साहित्य हिन्दी-भाषा से सम्बद्ध है ।

'हिन्दी' शब्द से साधारणतः जो अर्थ लिया जाता है वह उसका

'खड़ीबोली' नामक रूप है, और यही रूप भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत है। पर 'हिन्दी-साहित्य' शब्द में 'हिन्दी' का अर्थ पर्याप्त व्यापक है। खड़ीबोली के अतिरिक्त ब्रजभाषा, अवधी, पश्चिमी राजस्थानी और मैथिली भाषाओं के साहित्य को भी 'हिन्दी-साहित्य' ही कहा जाता है। ब्रजभाषा में रचित सूरदास का सूरसागर, अवधी भाषा में रचित तुलसी का रामचरितमानस, पश्चिमी राजस्थानी अर्थात् डिंगल भाषा में रचित चन्दवरदाई का पृथ्वीराजरासो और मैथिली में रचित विद्यापति की पदावली—ये सभी रचनाएँ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं।

निष्कर्ष यह कि—

१—शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित पश्चिमी हिन्दी के दो रूप—ब्रजभाषा और खड़ीबोली साहित्यिक भाषाएँ हैं और शेष तीन रूप—कन्नौजी, बुन्देली और बांगरू अभी ग्रामीण भाषाएँ हैं।

२—अर्द्ध-मागधी अपभ्रंश से विकसित पूर्वी हिन्दी के अवधी नामक रूप में साहित्य का निर्माण हुआ है और शेष दो रूपों—बघेली और छत्तीसगढ़ी में उल्लेखनीय साहित्य का निर्माण नहीं हुआ।

३—मागधी अपभ्रंश से विकसित पूर्वी बिहारी के एक रूप 'मैथिली' का प्राचीन साहित्य हिन्दी भाषा का साहित्य माना जाता है। शेष दो रूपों—मगही और भोजपुरी में उल्लेखनीय साहित्य का निर्माण नहीं हुआ।

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ

हिन्दी-भाषा में साहित्य का निर्माण कब से प्रारम्भ हुआ, इस प्रश्न का समाधान इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में सर्वप्राचीन ग्रन्थ नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव-रासो' है जिसका रचनाकाल एक प्रति के अनुसार १०७३ संवत् माना

जाता है,[1] और एक अन्य प्रति के अनुसार संवत् १२१३ ।[2] इतिहास के अनुसार बीसलदेव का समय संवत् १०५८ माना गया है ।[3] अतः बीसलदेवरासो की प्रथम प्रति के अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् १०७३ मानना अधिक समुचित है । इसी सम्बन्ध में दलपतिविजय कृत 'खुमानरासो' का नाम भी उल्लेखनीय है । चित्तौड़ (राजस्थान) में, खुमान नाम से तीन राजा हुए हैं । इतिहासकारों ने अनुमान के बल पर उनमें से खुमान द्वितीय को खुमानरासो का चरितनायक माना है । खुमान द्वितीय का समय ९वीं शती का अन्तिम चरण है । यदि इस ग्रन्थ की रचना खुमान द्वितीय के समय में हुई हो, तो इसे ९वीं शती की रचना स्वीकार कर लेने से यद्यपि यह ग्रन्थ बीसलदेवरासो से पूर्ववर्ती ठहरता है, पर इस ग्रन्थ की उपलब्ध प्रति में महाराणा प्रताप तक का वर्णन मिल जाता है, अतः यह निश्चित है कि इस ग्रन्थ को वर्त्तमान रूप, विक्रम की १७वीं शताब्दी में ही प्राप्त हुआ होगा । इस ग्रन्थ का कितना भाग ९वीं शती में निर्मित हुआ—यदि हुआ हो तो—और कितना भाग बाद

---

१. श्री गजराज ओझा, बी० ए० बीकानेर ने लिखा है कि बड़ा उपाश्रय, बीकानेर में इसकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली है जिसमें इसका रचनाकाल १०७३ लिखा है—

संवत् सहस तिहुतरइ जाणि नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि ।

हि० सा० आ० इ०, पृष्ठ २१० ।

२. **बारह सै बरहोत्तरा हाँ मंझारि,**
जेठ बदी नवमी बुधवारि ।
'नाल्ह' रसायण आरंभइ ।
सारदा तुठि ब्रह्म-कुमारि ।। बी० रासो (ना० प्र०) १–९ ।
सूचना—डॉ० रामकुमार वर्मा रचित 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में, **'जेठबदी'** के स्थान पर **'माघसुदी'** पाठ मिलता है । (पृष्ठ २१०)

३. हि० सा० आ० इ०, पृष्ठ २०८ ।

में निर्मित हुआ, यह निश्चित कर सकना कठिन है। अतः सन्दिग्ध आधारों के बल पर बीसलदेवरासो की तुलना में खुमानरासो को हिन्दी का प्रथम ग्रन्थ मानना समुचित नहीं है।

बीसलदेवरासो की तुलना में चन्दबरदाई-प्रणीत 'पृथ्वीराजरासो' को भी रखा जा सकता है। इतिहास-प्रसिद्ध पृथ्वीराज का मुहम्मद ग़ौरी के साथ अन्तिम युद्ध 'तबकात-ए-नासिरी' नामक फ़ारसी इतिहास-ग्रन्थ के अनुसार हिजरी ५८८ अर्थात् संवत् १२४८ में होना माना गया है। अतः पृथ्वीराजरासो की रचना का आरम्भ बीसलदेवरासो के निर्माण-काल में—यदि संवत् १२१२ वाली ही तिथि ठीक मानी जाय तो—हो चुका होगा, पर इस ग्रन्थ की स्थिति भी खुमानरासो जैसी ही है। इस ग्रन्थ में जैसाकि हम आगे यथास्थान देखेंगे, घटनाएँ पृथ्वीराज के कई शताब्दी परवर्ती शासकों से भी सम्बद्ध हैं। इसमें निर्दिष्ट संवत् प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थों से मेल नहीं खाते। भाषा की दृष्टि से भी ग्रन्थ के कुछ स्थल कई शताब्दी उपरान्त लिखे गये प्रतीत होते हैं। पर इधर बीसलदेवरासो के विषय में विद्वानों का विचार है कि "गीतात्मक रहने के कारण इसकी भाषा में भी अनेक परिवर्त्तन हुए, पर वे परिवर्त्तन अभी तक सम्पूर्णतः प्राचीन भाषा का स्वरूप विकृत नहीं कर सके।"[1] अतः संवत् १०७३ को इसका निर्माण-काल मानने पर इसे ही हिन्दी का आदिग्रन्थ मानना चाहिए। संवत् १२१२ के अनुसार भी, जो कि अन्य ग्रन्थों के रचना-काल की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वसनीय है, इसे आदिग्रन्थ स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

पर समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता। विक्रम की आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर बीसलदेवरासो की रचना पर्यन्त, यहाँ तक ही क्यों, इसके आगे भी कई शताब्दी पर्यन्त निर्मित ऐसी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनकी भाषा है तो अपभ्रंश ही, पर यह भाषा प्राचीन अपभ्रंश के समान संस्कृत की ओर उन्मुख न होकर हिन्दी की ओर अधिक उन्मुख

---

१. हि० सा० आ० इ०, पृष्ठ २०८

है। इस सम्बन्ध में शिवसिंह सेंगर, राहुल सांकृत्यायन और काशीप्रसाद जायसवाल के मन्तव्य उल्लेखनीय हैं :—

(क) 'शिवसिंह सरोज' नामक इतिहास-ग्रन्थ के लेखक शिवसिंह सेंगर ने किसी पुरानी जनश्रुति के आधार पर 'पुष्प' या 'पुण्य' नामक किसी कवि को भाषा का प्रथम कवि माना है जोकि अवन्ती के राजा भोज के मान नामक पूर्वपुरुष का भाट था। उन्होंने मान का समय संवत् ७७० वि० दिया है। अतः उनके अनुसार हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ विक्रम की ८वीं शती से स्वीकार करना चाहिए। पर पुण्य या पुष्प का कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ। अतः इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अनुमानतः इस 'पुण्य' और 'पुष्यदन्त' नामक अपभ्रंश-कवि को एक व्यक्ति बताया है। पर इस एकता से हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ तीन शती दूर जा पड़ता है, क्योंकि पुष्यदन्त का समय दसवीं शती माना गया है।

(ख) महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य की भाषा को हिन्दी-भाषा का प्रारम्भिक रूप स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उनका यह कथन उल्लेखनीय है—

"अपभ्रंश-उद्धरणों में थोड़े से पुराने शब्दों को हटाकर उनके स्थान पर तत्सम शब्दों के समावेश से अपभ्रंश और हिन्दी का अन्तर बहुत-कुछ मिट जाता है।" इस दृष्टि से उन्होंने अपभ्रंश के उत्कृष्ट कवि स्वयम्भू को हिन्दी का प्रथम कवि और उनके सर्वोत्तम ग्रन्थ पउम-चरिउ (पद्म-चरित नामक रामायण) को हिन्दी का सर्वप्रथम ग्रन्थ स्वीकार किया है। स्वयम्भू का समय ७०० वि० संवत् के पश्चात् माना गया है।[1] अतः राहुल के अनुसार भी हिन्दी का प्रारम्भ ८वीं शती से मानना चाहिए।

(ग) राहुल जी ने सरहपा आदि ८४ सिद्धों में से कुछेक सिद्धों की रचनाओं पर विचार करते हुए उनकी अपभ्रंश भाषा को संस्कृत की

१. अपभ्रंश-साहित्य, पृष्ठ ५५।

अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट माना है। उनसे सहमत होते हुए काशी-प्रसाद जायसवाल ने सरहपा (सरहपाद) नामक एक प्रख्यात सिद्ध को हिन्दी का प्रथम कवि स्वीकार किया है। राहुल जी के मतानुसार सरहपा का काल सं० ८१७ है। अतः जायसवाल के अनुसार हिन्दी का आरम्भ विक्रम की नवम शती से मानना चाहिए।

अभिप्राय यह कि स्वयम्भू अथवा सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि स्वीकार करने का कारण यह दिया जाता है कि इनकी अपभ्रंश भाषा संस्कृत की अपेक्षा विकासोन्मुखी हिन्दी भाषा के अधिक निकट है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए हम नीचे तीन उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं। पहला उद्धरण कालिदास-प्रणीत विक्रमोर्वशीय नाटक (सम्भवतः ५वीं शती में निर्मित) से गृहीत है और शेष दो क्रमशः स्वयम्भू और सरहपा की रचना के नमूने हैं। प्रथम उद्धरण और अन्तिम दो उद्धरणों की भाषा में परस्पर कितना अन्तर है, यह स्पष्ट हो जायगा—

(१) रे रे हंसा किं गोविज्जइ।
गइ अणुसारें मइं लक्खिज्जइ॥
कइं पइं सिक्खिउ ए गइ-लालस।
सा पइं दिट्ठी जहणभरालस॥[1] विक्रमोर्वशीय

(२) जइ राम हो तिहुयणु उयरि माइ, तो रामणु कहि तिय लेवि जाइ।
अण्णु विखर दूषण समरि देव, पहु जुज्झइ सुज्झइ भिच्चु केव॥
किह वाणर गिरिवर उव्वहंति, बंधिवि मयरहरु समुत्तरंति।
किह रावणु दहमुहु बीस हत्थु, अमराहिव भुव बंधण समत्थु॥[2]
पउमचरिउ।

---

१. पुरुरवा का उर्वशी के वियोग में प्रमत्त प्रलाप—रे रे हंस! तू मुझ से क्या छिपा रहा है! तेरी गति से ही मैंने पहचान लिया है कि तूने मेरी जघनभरालस प्रिया को देखा है, अन्यथा तेरे जैसे गति के लालची को इतनी सुन्दर चाल की शिक्षा किसने दी?

२. अर्थात्, यदि राम के उदर में तीनों भुवन हैं, तो रावण उनकी

(३) एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थु से गंगा साग्ररु।
एत्थु पग्राग, बणारसि, एत्थु सें चन्द दिवाग्ररु ॥[1]

× × × ×

घोर ग्रँधारे चंदमणि जिमि उज्जोग्र करेइ।
परम महासुह एखु कणे दुरिग्र ग्रशेष हरेइ ॥[2]

निस्सन्देह ८वीं, ९वीं शती तथा इसके उपरान्त निर्मित अपभ्रंश-साहित्य हिन्दी के अधिक निकट है। यही कारण है कि उक्त दोनों विद्वानों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी यही धारणा प्रस्तुत की है—

(क) मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास से सम्बद्ध अपने ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु-विनोद' में अनेक अपभ्रंश रचनाओं को भी स्थान दिया है।

(ख) पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य की भाषा को 'पुरानी हिन्दी' नाम से अभिहित किया था। उन्हीं के शब्दों में पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली (अपभ्रंश) पुरानी हिन्दी से। अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ प्रारम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन किन्तु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट

पत्नी को कैसे हर ले गया। × × कैसे वानरों ने पर्वत को उठाया, समुद्र को बाँध कर उसे पार किया? कैसे दशमुख और बीस हाथों वाला रावण अमराधिप इन्द्र को बाँधने में समर्थ हुआ।

—अपभ्रंश-साहित्य (पृष्ठ ५५) से उद्धृत।

१. अर्थात् यही (काया) यमुना है और यही गंगा है, यही प्रयाग और बनारस है तथा यही चन्द्रमा और सूर्य है।

—अपभ्रंश-साहित्य (पृष्ठ ३०७) से उद्धृत।

२. हि० सा० का इति० (रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ९ से उद्धृत।

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि घोर अन्धकार में उजाला कर देती है उसी प्रकार (गुरु) सकल पापों से छुड़ाकर मोक्षप्राप्ति करा देता है।

विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं और पुरानी हिन्दी भी।[1]

(ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी सर्वप्रथम अपभ्रंश के परवर्ती साहित्य को हिन्दी-साहित्य का अंग स्वीकृत करते हुए अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में आदिकाल के अन्दर अपभ्रंश-रचनाओं की भी गणना की थी, परन्तु ग्रन्थ के अग्रिम संस्करणों में उन्होंने अपभ्रंश-ग्रन्थों को देशीभाषा-काव्य अर्थात् हिन्दी-काव्य से अलग स्वीकृत करते हुए उन्हें 'अपभ्रंश-काल' शीर्षक के अन्तर्गत निरूपित किया।

हमारे विचार में वस्तुस्थिति भी यही है जो आचार्य शुक्ल ने बाद में स्वीकृत की है। अपभ्रंश भाषा का साहित्य विक्रम की ७वीं शती से मिलना प्रारम्भ होता है और यह रचना-परम्परा १६वीं शती तक चली जाती है। अपभ्रंश के उपलब्ध महाकाव्यों के अनुसार इस भाषा का प्रथम कवि पउमचरिउ का कर्त्ता स्वयम्भू (८वीं शती) है, और अन्तिम कवि हरिवंश-पुराण का कर्त्ता श्रुतकीर्ति (१६वीं शती)। पर अपभ्रंश-साहित्य का समृद्ध युग ६वीं शती से १३वीं शती तक है। इस युग में पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयनन्दी, कनकामर, धाहिल आदि अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए हैं। यद्यपि यह युग हिन्दी-साहित्य का लगभग आदिकाल ही है और इस युग की अपभ्रंश भाषा भी, जैसाकि पूर्व निर्देश कर आये हैं, हिन्दी की ओर उन्मुख है, पर फिर भी आदिकाल के हिन्दी तथा अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों में भाषा की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। भाषा-विज्ञान के अनुसार किसी भाषा के मुख्य निर्णायक आधार-तत्त्व दो होते हैं—कारक-चिह्न और क्रिया-रूप। इन्हीं आधारों के अनुसार आदि-काल के दोनों भाषा-रूपों में एक स्पष्ट विभाजन-रेखा खींची जा सकती है। तुलनार्थ, इसी काल में प्राप्य अपभ्रंश-महाकाव्य 'भविसयत्त कहा' और डिंगल-महाकाव्य 'बीसलदेवरासो' के उद्धरण प्रस्तुत हैं—

---

१. ना० प्र० प० नवीन संस्करण भाग-२।

(क) **दिसा मंडलं जत्थ णाइं अलक्खं,**
पहायं पि जाणिज्जइ जम्मि दुक्खं। (भ० कहा)

(ख) **कुहणी फाटइ कांचुवउ।**
षोपरि फाटइ धन को चीर।
जाँणे दव दाधी लोंकड़ी।
दूबली हुई झूरक ईम नाह।
डावाँ हाथ को मूँदड़उ।
आवण लागौ जीवणीं बाँह॥ (बी० रा०)

इन दोनों उद्धरणों पर आपाततः एक सामान्य दृष्टिपात करने से पाठक यह मानने को बाध्य हो जाता है कि ये रूप दो विभिन्न भाषाओं के हैं। इनके कारक-चिह्न और क्रिया-रूप भी इसी तथ्य के अनुमोदक हैं—

प्रथम उद्धरण में **मण्डलं, अलक्खं, पहायं** और **दुक्खं** में कारक-चिह्न संस्कृत-भाषा के चिह्नों के समान संश्लिष्ट हैं और द्वितीय उद्धरण में **धन को, हाथ को** आदि हिन्दी भाषा के चिह्नों के समान विश्लिष्ट। इसी प्रकार प्रथम उद्धरण में **जाणिज्जइ** क्रिया-रूप प्राचीनता का द्योतक है और द्वितीय उद्धरण में **फाटई, हुई, लागौ** आदि क्रिया-रूप नवीनता के द्योतक हैं। अतः एक ही काल में दो विभिन्न रूपों में प्राप्त ग्रन्थों को हिन्दी के ही ग्रन्थ मानना युक्तिसंगत नहीं है।

यहीं एक बात और—निस्सन्देह अपभ्रंश-ग्रन्थों में हिन्दी भाषा के, और हिन्दी-ग्रन्थों में अपभ्रंश भाषा के व्याकरणसम्मत रूप भी यत्र-तत्र बिखरे हुए मिल जाते हैं, और साहित्य तथा भाषा के उस सन्धिकाल में ऐसा हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था, पर इन रूपों की संख्या अपेक्षाकृत इतनी कम है कि अपभ्रंश और हिन्दी के ग्रन्थों को क्रमशः इन्हीं भाषाओं के ही ग्रन्थ कहा जायगा, न कि केवल हिन्दी भाषा के अथवा केवल अपभ्रंश भाषा के। अतः भाषाशास्त्र की दृष्टि से स्वयम्भू, सरहपा अथवा किसी अन्य अपभ्रंश-कवि को हिन्दी का प्रथम कवि मानना समुचित नहीं है, भले ही इनकी भाषा पूर्ववर्ती अपभ्रंश-उद्धरणों के असमान

पतनोन्मुखी संस्कृत की अपेक्षा विकासोन्मुखी हिन्दी की ओर अधिक झुकी हुई भी क्यों न हो। अतः हमारे विचार में नरपति नाल्ह ही हिन्दी का प्रथम कवि है।

निष्कर्ष यह कि—

(१) हिन्दी साहित्य की आरम्भिक शताब्दियों में जिस अपभ्रंश-साहित्य का निर्माण हुआ उसकी भाषा पूर्ववर्ती अपभ्रंश की भाषा की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है।

(२) पर इस अपभ्रंश-साहित्य की भाषा अपने समकालीन हिन्दी-साहित्य की भाषा की तुलना में कहीं अधिक प्राचीन है, तथा कारक-चिह्नों एवं क्रिया-रूपों के आधार पर वह 'हिन्दी' नहीं कही जा सकती। उसे अपभ्रंश ही कहना चाहिए।

(३) अतः हिन्दी के ही किसी कवि को हिन्दी-साहित्य का आदि-कवि मानना समुचित है, न कि अपभ्रंश के कवि को। इसी आधार पर नरपति नाल्ह ही प्रथम हिन्दी-कवि ठहरते हैं। यह अलग प्रश्न है कि अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण चन्दबरदाई हिन्दी-साहित्य में आरम्भिक काल के सर्वश्रेष्ठ एवं प्रतिनिधि कवि हैं, पर सम्भवतः वे हिन्दी के आदिकवि नहीं हैं।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन

मानव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह सांसारिक अनुभवों के आधार पर अपने हृदय में उत्पन्न भावावेगों को अभिव्यक्त करना चाहता है। अभिव्यक्ति का सरलतम माध्यम वाणी है और उसे स्थायी बनाने का सरलतम माध्यम है लेखन-प्रक्रिया। पर यह आवश्यक नहीं कि वाणी अथवा लेखन द्वारा अभिव्यक्त सभी विचार हृदयहारी एवं चिरस्थायी हों। इन्हें इन दोनों गुणों से समन्वित बनाने के लिए सुन्दर कल्पना तथा समर्थ भाषा का समुचित योग मिलना सदा अनिवार्य है। साधारण वार्ता तथा साहित्य अथवा काव्य में अन्तर भी यही है। विचारों को यथावत्

रूप में अभिव्यक्त करने का नाम साधारण वार्ता है और उन्हें कल्पना के बल पर हृदयाह्लादक और समर्थ भाषा के बल पर चमत्कारक रूप में अभिव्यक्त करने का नाम साहित्य। वार्ता क्षणभंगुर है और सच्चा साहित्य चिरस्थायी। किसी भाषा के साहित्य का कालक्रमानुसार विवरण, समालोचन एवं मूल्यांकन प्रस्तुत करने का नाम उस साहित्य का 'इतिहास' कहलाता है।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास लगभग एक सहस्र वर्ष का सुदीर्घ आख्यान है। देश की राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव उसके साहित्य पर भी पड़ना अवश्यम्भावी है। जो साहित्य इनसे अछूता है, भले ही वह कितना चमत्कारपूर्ण हो, पर वास्तविक साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं है। हिन्दी-साहित्य भी देश की विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित होकर समय-समय पर करवटें बदलता चला गया। भाषा और विचारधारा की विकास-परम्परा के सम्बन्ध में कभी भी इस प्रकार की स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती कि अमुक भाषा अथवा अमुक विचारधारा अमुक काल में समाप्त हो गई और इसके तुरन्त उपरान्त नई भाषा अथवा नई विचारधारा प्रारम्भ हो गई। भाषा और विचारधारा के संयोग से उत्पन्न साहित्य की भी यही स्थिति होना स्वाभाविक है। इसके किसी भाषा-रूप अथवा वर्ण्य-विषय की गति कहाँ से प्रारम्भ हुई और कहाँ जाकर समाप्त हो गई अथवा हो जायगी—यह निश्चित कर सकना असम्भव है। अतः राजनीतिक इतिहास के समान साहित्य के इतिहास का यथावत् काल-विभाजन सुगम कार्य नहीं है। फिर भी, जिस कालावधि में जिस विचार-धारा का साहित्य अपेक्षाकृत अधिक निर्मित होता है, उस अवधि को उसी विचारधारा अथवा उस युग के प्रवर्तक लेखक के नाम पर अभि-हित कर दिया जाता है। हिन्दी-साहित्य के एक सहस्र वर्ष के इतिहास को भी इसी आधार पर विभक्त किया गया है। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास मिश्रबन्धुओं का है और दूसरा प्रयास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का।

वस्तुतः काल-विभाजन का उक्त आधार भी उन्होंने ही सर्वप्रथम हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। आचार्य शुक्ल के काल-विभाजन को अद्यावधि सभी इतिहासकार नाममात्र के परिवर्तन के साथ स्वीकार करते आये हैं। निस्सन्देह उनका विभाजन सम्मान्य एवं ग्राह्य है भी, जो इस प्रकार है:—

१—संवत् १०५० से १३७५ तक (सन् ९९३–१३१८) आदिकाल अथवा वीरगाथा काल।

२—संवत् १३७५ से १७०० तक (सन् १३१८–१६४३) पूर्वमध्यकाल अथवा भक्तिकाल।

३—संवत् १७०० से १९०० तक (सन् १६४३–१८४३) उत्तरमध्यकाल अथवा रीतिकाल।

४—संवत् १९०० से आज तक (सन् १८४३ से आज तक) आधुनिक काल अथवा गद्यकाल।

इस सम्बन्ध में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं—

पहली यह कि प्रत्येक काल में तत्सम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी रचनाएँ होती रहीं पर अपेक्षाकृत कम। अतः उन्हें 'स्फुट-रचना' के नाम से यथास्थान वर्णित किया जायगा। दूसरी बात यह कि डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने वीरगाथाकाल को केवल आदिकाल नाम से अभिहित करना उपयुक्त समझा है। इस सम्बन्ध में भी हम आगे यथास्थान चर्चा कर रहे हैं। और तीसरी बात यह कि जैसा कि हम आगे देखेंगे, आधुनिक काल की लगभग एक शत वर्ष की अवधि को बड़ी सरलता से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

भारतेन्दु से पूर्व युग	: संवत् १९०० से १९२५ तक (सन् १८४३–६८)
भारतेन्दु-युग	: संवत् १९२५ से १९५० तक (सन् १८६८–९३)
द्विवेदी-युग	: संवत् १९५० से १९७५ तक (सन् १८९३–१९१८)
प्रसाद-युग	: संवत् १९७५ से आज तक (सन् १९१८ से आज तक)

आदिकाल

विक्रमी संवत् १०५०—१३७५ (सन् ९९३—१३१८)

परिस्थितियाँ

(क) राजनीतिक परिस्थिति—

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की अवधि वि० संवत् १०५० से १३७५ (सन् ९९३–१३१८) तक मानी गई है। भारत के अन्तिम शक्ति-सम्पन्न शासक हर्षवर्द्धन की मृत्यु (सं० ७०४; सन् ६४७) के उपरान्त भारतीय इतिहास में सं० ७०७–१२५७ (सन् ६५०–१२००) का समय राजपूत-युग माना गया है और इसके पश्चात् लगभग सवा सौ वर्ष तक सं० १३७७ (सन् १३२०) तक दास और खिलजी वंश के मुस्लिम शासकों ने भारत पर शासन किया है।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की राजनीतिक परिस्थिति को हृदयंगम करने के लिए सम्पूर्ण राजपूत-युग पर प्रकाश डालना आवश्यक है। भारतीय इतिहास का यह युग राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, विशृंखलता, गृहकलह एवं पराजय का युग है। हर्ष के राज्यकाल (सन् ६०६–६४७) में राज्यशासन की जो एकसूत्रता थी, वह उस जैसे पराक्रमी शासक के देहावसान के उपरान्त छिन्न-भिन्न हो गई और उत्तरी तथा दक्षिणी भारत पहले की अपेक्षा अनेक स्वायत्त रियासतों में विभक्त हो गया। हिन्दी-साहित्य का सम्बन्ध केवल उत्तरी भारत की रियासतों के साथ है, अतः यहाँ प्रमुख रूप से उन्हीं की चर्चा करना समुचित है।

इस युग में उत्तरी भारत की प्रसिद्ध रियासतें आठ थीं—दिल्ली, अजमेर, कन्नौज, मालवा, बुन्देलखण्ड, बिहार तथा बंगाल, गुजरात और

मेवाड़। इन रियासतों पर राजपूत जाति के विभिन्न वंशों के अनेक राजा अधिकारी रहे। दिल्ली पर तोमर और चौहान वंश के; अजमेर पर चौहान वंश के; कन्नौज पर प्रतिहार (परिहार) और राठौर वंश के; मालवा पर परमार वंश के; बुन्देलखण्ड पर चन्देल वंश के; बिहार पर पाल वंश के तथा बंगाल पर सेन वंश के; गुजरात पर चालुक्य वंश के और मेवाड़ पर सिसोदिया वंश के शासकों ने राज्य किया।

इस युग के शासकों की प्रमुख घटना केवल एक है—युद्ध; उत्तरी और दक्षिणी भारत के विभिन्न वंशीय राजाओं के पास-पड़ौसी राजाओं से युद्ध अथवा बाहर से आये हुए मुस्लिम आक्रान्ताओं के साथ युद्ध। पहले प्रकार के युद्ध का कारण है—गृहकलह, मिथ्याभिमान अथवा राज्य-विस्तार की लालसा, और दूसरे प्रकार के युद्ध का कारण है—भारत में विदेशी सत्ता के प्रवेश पर प्रतिरोध। सत्य तो यह है कि विभिन्न राजवंशों के बीच परम्परागत संघर्ष चलते रहने में ही राजदूत अपना गौरव समझते थे। विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण के समय राजपूतों की स्थिति दो प्रकार की थी—कभी वे विदेशी आक्रान्ता के विरुद्ध स्वदेशी राजा की सहायता करते हैं, और कभी-कभी विदेशी शत्रु के हाथों उसके पिट जाने में आनन्द लेने के विचार से उसकी सहायता नहीं करते, भले ही अगली बार विदेशी आक्रान्ता इन पर ही आक्रमण क्यों न कर दे। निस्सन्देह यह उनके पतन की पराकाष्ठा थी। दोनों प्रकार के युद्धों के कतिपय उदाहरण लीजिए—

(१) कन्नौज के प्रतिहार-वंश के राजा मिहिर भोज (संवत् ८९७–९४७) ने कालिंजर (बुन्देलखण्ड) के चन्देला राजपूतों को और बंगाल के वीर शासक देवपाल को पराजित करके अपने राज्य का विस्तार किया। उसने दक्षिण-भारतीय राष्ट्रकूट-वंशज अनेक शासकों को भी पराजित किया, पर उसके ही वंशज महिपाल (सं० ९७१–९९७) को राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय ने परास्त करके कन्नौज की राजगद्दी से उतार दिया। पर उधर राष्ट्रकूटों में भी गृहकलह की आग भड़की हुई थी,

जिससे लाभ उठाकर महिपाल ने अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त कर लिया।

(२) दिल्ली के प्रसिद्ध लौह-स्तम्भ के अनुसार अजमेर के चौहान-वंशज विग्रहराज ने संवत् १२२० में तोमर राजपूतों से दिल्ली को छीन-कर उस पर अधिकार कर लिया। उसी ही वंश के प्रख्यात राजा पृथ्वी-राज ने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया और वहाँ के परमाल नामक राजा को परास्त करके संवत् १२३७ में उसकी राजधानी महोबा उससे छीन ली।

(३) मालवा के परमार-वंशज राजा मुंज ने गुजरात के चालुक्य-वंश के राजा तैलप द्वितीय को छः बार परास्त किया पर सातवीं बार चालुक्य-वंश के राजाओं के साथ लड़ता हुआ बन्दी बनाया गया और बाद में उसका वध कर दिया गया। आगे चलकर इसी वंश के प्रसिद्ध राजा भोज ने कल्याण के चालुक्य-नरेश जयसिंह द्वितीय को परास्त करके मुंज की हार का बदला लिया। उसने बुन्देलखण्ड और ग्वालियर के राजाओं को भी परास्त किया।

अब कुछेक अन्य उदाहरण लीजिए, जिनका सम्बन्ध मुसलमान आक्रान्ताओं के साथ है।

(१) कन्नौज के प्रतिहार-वंशज नागभट्ट प्रथम (संवत् ७२५–७४०) ने सिन्ध पर विजय प्राप्त करके अरबों को भी हरा दिया और भारत को इस्लामी आक्रमणों से बचाया। पर इसी ही वंश के अन्तिम शासक राज्यपाल (संवत् १०४७–१०७५) ने महमूद गज़नवी के आक्रमण के समय उससे लड़ने की अपेक्षा महमूद के अधीन हो जाना अधिक उचित समझा, पर उस कायरता का कलंक अन्य राजपूत न सह सके और इसलिए उन्होंने इसे मार डाला और उसके लड़के त्रिलोचनपाल को राज्य-सिंहासन पर बिठा दिया। इस पर क्रोधित होकर महमूद ने पुनः आक्र-मण किया और त्रिलोचनपाल परास्त हो गया।

(२) कन्नौज की सुकुमारी संयोगिता के कारण पृथ्वीराज चौहान

और जयचन्द्र राठौर का परस्पर गृहकलह एवं वैरभाव, पृथ्वीराज के विरुद्ध जयचन्द्र द्वारा विरोधी आक्रान्ता मुहम्मद ग़ौरी की सहायता, तथा सन् ११६२ (संवत् १२५६) और सन् ११६४ (सं० १२६१) में एक-एक करके पृथ्वीराज और जयचन्द्र की मुहम्मद ग़ौरी के हाथों पराजय तथा मृत्यु—ये सब इतिहास एवं लोक-प्रसिद्ध घटनाएँ हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कालिंजर (बुन्देलखण्ड) का चन्देल-वंशज परिमाल अथवा परमर्दन नामक शासक पृथ्वीराज और जयचन्द्र दोनों से शत्रुता रखता था। जब मुहम्मद ग़ौरी ने इन पर आक्रमण किया तो इसने किसी की भी सहायता न की। इधर इनकी भी बारी आई। सं० १२६१ में मुसलमानों ने कालिंजर पर चढ़ाई की और उसे जीत लिया।

(३) यही अवस्था बिहार और बंगाल, गुजरात तथा मालवा रियासतों की भी हुई। विक्रम की १३वीं शती में मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी ने बंगाल और बिहार को, अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात को और इसके सेनापति ऐन-उल-मुल्क ने मालवा के बहुभाग को जीत लिया।

इस प्रकार की अनेक रक्तरंजित घटनाओं से राजपूत-युग भरा पड़ा है। एक-एक करके प्रायः सभी राजपूत रियासतें मुसलमानों के अधीन हो गईं। और इस काल के अन्तिम लगभग सवा सौ वर्षों (सं० १२६३–१३७७) में भारत पर दास तथा ख़िलजी वंश के शासकों ने शासन किया।

इस राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ना अवश्यम्भावी था और वह पड़ा। आदिकाल का देशभाषा-काव्य राजपूत-युग की घटनाओं से आप्लावित है।

(ख) सामाजिक परिस्थिति—

अपने जातीय सम्मान और कुल-प्रतिष्ठा पर सहर्ष प्राण बलिदान कर देनेवाले राजपूतों के युग में जाति-पाँति सम्बन्धी भेदभाव तथा नीची जाति के प्रति घृणा की भावना का बढ़ जाना स्वाभाविक था। नीची जाति के लोगों में अपनी कन्या के विवाह को वे अपना घोर अपमान समझते थे। पर फिर भी शक्ति के बल पर ऐसे विवाह सम्पन्न हो ही

जाते थे। परिणामस्वरूप राजपूत जाति अनेक उपजातियों और वर्गों में विभक्त होती चली गई और यही विभाजन उस-जैसी शक्ति-सम्पन्न जाति के पतन का कारण बना।

राजपूतों की उल्लेखनीय विशेषता थी—वीरता और आत्मोत्सर्ग। यही विशेषता राजपूत नारियों में भी पूर्ण रूप से विद्यमान थी। पवित्र आचार और पातिव्रत धर्म का पालन करने वाली ये कोमलांगिनियाँ समय पड़ने पर जौहर द्वारा शत्रुओं तक को आश्चर्यचकित कर देती थीं। राजपूतों के हृदय में भी नारी-जाति के प्रति अधिक सम्मान की भावना थी। वे उनकी सुरक्षा में प्राणपण की बाज़ी लगा देते थे। स्वयंवर-प्रथा उस युग की एक अन्य सामाजिक विशेषता थी। राजपूत दृढ़प्रतिज्ञ, स्वामि-भक्त, देश-भक्त तथा ईमानदार थे। साहसी और युद्धप्रिय तो थे ही, पर साथ ही उनकी रुचि हर प्रकार के भोग-विलास की ओर भी थी, जो समय पड़ने पर साहस एवं शौर्य-प्रदर्शन में तुरन्त ही परिवर्तित हो जाती थी। इसी सामाजिक अवस्था का चित्र तत्कालीन हिन्दी-साहित्य में पूर्ण सजीवता के साथ चित्रित हुआ मिलता है।

(ग) धार्मिक परिस्थिति—

विक्रम की ११वीं और १४वीं शती के बीच की भारतीय धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव आदिकालीन हिन्दी-साहित्य पर तो लक्षित नहीं होता, पर इस काल में निर्मित अपभ्रंश-साहित्य पर साक्षात् रूप से तथा भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य पर असाक्षात् रूप से इसका प्रभाव अवश्य पड़ा है। इस दृष्टि से इस परिस्थिति पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। इस काल की धार्मिक परिस्थिति को दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—बौद्ध-धर्म की विकृत स्थिति और वैष्णव-धर्म की परम्परागत स्थिति।

शंकराचार्य (वि० सं० ८४५–८७७) के विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थों और गम्भीर भाष्यों ने एक ओर बौद्ध-धर्म के प्रति जनता की शताब्दियों से परिपुष्ट श्रद्धा को भस्मसात् किया और दूसरी ओर वेदान्त-दर्शन का प्रचार करके जनता की श्रद्धा को ब्राह्मण-धर्म की ओर फिर से मोड़ दिया।

इधर बौद्ध-धर्म कुछ तो अनुयायियों के दुराचारों, बाह्याडम्बरों एवं अन्ध-विश्वासों के कारण और कुछ शंकराचार्य जैसे प्रकाण्ड महारथियों के विरोध के कारण धीरे-धीरे अपने मूलभूत सिद्धान्तों से हटकर विकृत होने लगा। वह महायान और हीनयान शाखाओं में तो पहले ही विभक्त हो चुका था। अब महायान शाखा धीरे-धीरे मन्त्रयान में, मन्त्रयान से वज्रयान में, वज्रयान से सहजयान में और सहजयान से नाथ-सम्प्रदाय में परिवर्तित हो गई। अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी में लिखित ८४ सिद्धों और नाथ-पन्थियों का साहित्य बौद्ध-धर्म से विकृत इन्हीं सम्प्रदायों की धार्मिक रूढ़ियों का परिचायक है। इसी साहित्य का प्रभाव आगे चलकर कबीर आदि सन्तों के साहित्य पर पड़ा।

इसी काल में भक्ति-आन्दोलन ने खूब ज़ोर पकड़ा। यह आन्दोलन शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप चला था। पर इस आन्दोलन का प्रभाव आदिकालीन साहित्य पर विशेष रूप से नहीं पड़ा, भक्तिकालीन साहित्य पर पड़ा है, अतः इसकी चर्चा आगे यथास्थान की जायगी।

इसी काल में इस्लाम-धर्म भी अपने अनुयायियों की विजय-प्राप्ति तथा आतंक के फलस्वरूप पनपने लग गया था, पर इसका प्रभाव भी आदिकाल के हिन्दी-साहित्य पर नहीं पड़ा। हाँ, फ़ारसी और अरबी शब्दों का समावेश इस साहित्य में अवश्य होने लग पड़ा था।

(घ) साहित्यिक परिस्थिति—

हिन्दी-साहित्य की आदिकालीन राजनीतिक अवस्था निस्सन्देह रक्त-रञ्जित घटनाओं से परिपूर्ण है जो तत्कालीन राजाओं की युद्धपिपासु प्रवृत्ति की सुपरिचायक है, पर फिर भी उसी काल में धारा के शासक भोज जैसे गुणग्राही राजा भी विद्यमान थे, जो युद्ध की अपेक्षा ऊँचे कार्यों में अपनी शक्ति का सदुपयोग करते थे। भोज न केवल उच्चकोटि के विद्वानों एवं कवियों का आश्रयदाता तथा पालक था, अपितु स्वयं भी प्रकाण्ड पण्डित एवं उत्कृष्ट लेखक था। उनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ सरस्वती-

कण्ठभरण और शृंगार-प्रकाश संस्कृत-काव्यशास्त्र की अमर निधियाँ हैं। धारा नगरी की राजसभा में पद्मगुप्त, धनंजय, धनिक जैसे विद्वान् मौजूद थे।[1] इसी प्रकार महाराज श्री हर्ष का 'नैषधचरित' काव्य संस्कृत-साहित्य की अमूल्य देन है। जयदेव जैसे सुकवि; कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ जैसे तत्वविद् आचार्य[2]; बिल्हण और कल्हण जैसे इतिहासज्ञ तथा सोमदेव जैसे कथाकार[3] भी इसी काल की उपज हैं। पर विवेच्यकाल के हिन्दी-साहित्य पर इन ग्रन्थों का कुछ भी साक्षात् अथवा असाक्षात् प्रभाव लक्षित नहीं होता।

इस काल में अपभ्रंश-साहित्य का भी निर्माण हुआ, जिस पर आगे यथास्थान प्रकाश डाला जायगा।

निष्कर्ष यह कि—

१. हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थिति लगभग वही है जो सम्पूर्ण राजपूत-युग की है।

२. इस काल की धार्मिक परिस्थिति को प्रमुखतः दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है—बौद्धधर्म की विकृत स्थिति और वैष्णव धर्म की परम्परागत स्थिति।

३. राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव तत्कालीन हिन्दी-साहित्य पर पड़ा और धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव इस काल के अपभ्रंश-साहित्य पर तथा परवर्ती भक्तिकालीन साहित्य पर।

---

१. पद्मगुप्त का प्रख्यात ग्रन्थ **नवसाहसांकचरित** है, और धनञ्जय का **दशरूपक**। धनिक दशरूपक के टीकाकार हैं।

२. जयदेव का प्रख्यात ग्रन्थ **गीतगविन्द** है; कुन्तक का **वक्रोक्ति-जीवित**; महिमभट्ट का **व्यक्तिविवेक**; क्षेमेन्द्र का **औचित्यविचार-चर्चा**, मम्मट का **काव्यप्रकाश**, हेमचन्द्र का **सिद्धशब्दानुशासन**; और विश्वनाथ का **साहित्यदर्पण**।

३. बिल्हण-कृत **विक्रमांकचरित**, कल्हण-कृत **राजतरंगिणी** और सोमदेव-कृत **कथासरित्सागर**।

४. इस काल में तीन भाषाओं में साहित्य का निर्माण हुआ—संस्कृत, अपभ्रंश और देशी भाषा अर्थात् हिन्दी अथवा डिंगल भाषा।

५. इस काल में निर्मित संस्कृत तथा अपभ्रंश-साहित्य का प्रभाव इस काल के हिन्दी-साहित्य पर नहीं पड़ा, भक्तिकाल तथा रीतिकाल पर पड़ा है।

नामकरण

हिन्दी-साहित्य के प्रथम काल को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'वीरगाथाकाल' नाम दिया है, राहुल सांकृत्यायन ने 'सिद्ध-सामन्तकाल', और डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने 'अपभ्रंश काल' अथवा 'आदिकाल'। पहले कह आये हैं कि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर किया है। इस काल को 'वीरगाथाकाल' कहने का आपने यह कारण बताया है कि उस समय की प्रमुख साहित्यिक पुस्तकों में से अधिकांश पुस्तकें वीरगाथाओं से सम्बद्ध हैं। इनमें चार पुस्तकें अपभ्रंश भाषा की हैं और शेष पुस्तकें तत्कालीन देशी भाषा की—

(क) अपभ्रंश के काव्य—

(१) विजयपालरासो
(२) हम्मीररासो (शार्ङ्गधर)
(३) कीर्तिलता (विद्यापति)
(४) कीर्तिपताका (")

(ख) देशीभाषा के काव्य—

(१) खुमानरासो (दलपति विजय)
(२) वीसलदेवरासो (नरपति नाल्ह)
(३) पृथ्वीराजरासो (चन्दरबरदाई)
(४) जयचन्द्रप्रकाश (भट्ट केदार)
(५) जयमयंक-जसचन्द्रिका (मधुकर कवि)
(६) परमालरासो (परमालरासो के आधार पर निर्मित जगनिक कृत आल्हाखण्ड)

(७) पदावली (विद्यापति)
(८) खुसरो की पहेलियाँ, मुकरियाँ आदि

इनमें से अन्तिम दो तथा वीसलदेवरासो को छोड़कर शेष नौ ग्रन्थ वीर-गाथात्मक हैं। अतः उन्होंने इस काल को 'वीरगाथाकाल' नाम दिया है।

डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी इसे वीर-गाथाकाल नाम देने के पक्ष में नहीं हैं। उनके कथनानुसार खुमानरासो, वीसलदेवरासो, हम्मीर-रासो और विजयपालरासो प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं हैं। ये रचनाएँ पीछे की हैं। पृथ्वीराजरासो और परमालरासो (आल्हाखण्ड) अर्द्ध-प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। जयचन्दप्रकाश और जयमयंक-जसचन्द्रिका आज तक अनुपलब्ध हैं, उनका उल्लेख केवल सिंघायत दयालदास कृत 'राठौड़ां री ख्यात' में मिलता है। इस प्रकार इन अप्रामाणिक, अर्द्ध-प्रामाणिक ग्रन्थों अथवा कतिपय ग्रन्थों के 'नोटिस-मात्र' होने के आधार पर किसी काल को विशिष्ट नाम दे देना युक्तिसंगत नहीं है।

इस तर्क के अतिरिक्त डॉ० द्विवेदी ने लगभग उसी काल में निर्मित अनेक ऐसे अपभ्रंश-ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जो जैनधर्म के ग्रन्थ होते हुए भी काव्यरस की दृष्टि से किसी भी रूप में हीन नहीं हैं। उनमें से ये ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—

पुष्पदन्त कृत (१) णायकुमारचरिउ (नागकुमार-चरित)
" (२) जसहरचरिउ (यशोधर-चरित)
" (३) महापुराण
धनपाल कृत (४) भविसयत्तकहा (भविष्यदत्त-कथा)
कनकामर कृत (५) करकण्डुचरिउ (करकण्डु-चरित)
हरिभद्र कृत (६) नेमिनाहचरिउ (नेमिनाथ-चरित)

निस्सन्देह ये सभी ग्रन्थ जैनधर्म से सम्बद्ध हैं; पर यदि इन्हें धार्मिक ग्रन्थ समझकर किसी साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं मिलेगा तो तुलसी-कृत रामचरितमानस, जायसी-कृत पद्मावत आदि अनेक ग्रन्थ साहित्यिक कोटि में नहीं आ पायेंगे और इसी प्रकार इन्हें भी हिन्दी-

साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं मिल सकेगा। उक्त अपभ्रंश-ग्रन्थों के अतिरिक्त अद्दहमाण (सम्भवतः अब्दुल रहमान) कृत सन्देशरासक नामक अपभ्रंश-ग्रन्थ भी इसी काल का एक अद्भुत प्रेमाख्यानक काव्य उपलब्ध हुआ है।

इन अपभ्रंश-ग्रन्थों के अतिरिक्त स्वयं आचार्य शुक्ल ने अन्य निम्नलिखित अपभ्रंश-ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है—

हेमचन्द्र कृत	(१)	सिद्ध हेमचन्द्र-शब्दानुशासन
,,	(२)	कुमारपालचरित
सोमप्रभसूरि कृत	(३)	कुमारपाल प्रतिबोध
,,	(४)	प्रबन्धचिन्तामणि नामक संस्कृत-ग्रन्थ के अन्तर्गत उपलब्ध अपभ्रंश के पद्य
शार्ङ्गधर कृत	(५)	शार्ङ्गधर-पद्धति
विद्यापति कृत	(६)	कीर्तिलता
,,	(७)	कीर्तिपताका

इनके अतिरिक्त सिद्धों और नाथ-पन्थियों का साहित्य भी इसी काल में निर्मित हुआ था जिसकी भाषा अधिकांशतः अपभ्रंश है।

निष्कर्ष यह कि इस काल में रचित अपभ्रंश-साहित्य की तुलना में चारण-प्रणीत साहित्य संख्या की दृष्टि से तो कम है ही, साथ ही पूर्णतया प्रामाणिक भी नहीं है। अतः इस काल को 'वीरगाथाकाल' के स्थान पर राहुलसांकृत्यायन ने 'सिद्ध-सामन्तकाल' कहा है। यहाँ 'सामन्त' शब्द वीरगाथा-काव्य का द्योतक है; और 'सिद्ध' शब्द अपभ्रंश का। पर इस काल में केवल सिद्धों ने अपभ्रंश में रचना नहीं की, अतः यह नाम पूर्णतः समुचित नहीं है। डॉ० द्विवेदी ने इसे 'अपभ्रंश-काल' अथवा 'आदिकाल' नाम दिया है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की दृष्टि से इसे 'अपभ्रंश-काल' नाम देना समुचित नहीं है। यद्यपि 'आदिकाल' नाम में 'आदि' शब्द और उसका पर्यायवाचक 'आरम्भिक' शब्द भी किंचित् भ्रामक है क्योंकि इससे अत्यधिक प्राचीनता का बोध होता है परन्तु संवत्

१०५० की पूर्व-सीमा नियत कर देने से यह बाधा अधिकांश रूप में दूर हो जाती है। अतः वर्तमान परिस्थिति में 'आदिकाल' नाम से ही सन्तोष करना पड़ेगा।

काव्य-रूप तथा भाषा

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में प्रमुख रूप से दो प्रकार का साहित्य निर्मित हुआ—

(१) अपभ्रंश भाषा में लिखित काव्य, जिन्हें तीन रूपों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) जैन-धर्म से सम्बद्ध साहित्यिक ग्रन्थ

(ख) सिद्धों और नाथ-पन्थियों का साहित्य

(ग) फुटकर ग्रन्थ—सन्देशरासक, कीर्तिलता, कीर्तिपताका

(२) देशी भाषा में लिखित काव्य, जिन्हें दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) चारण-प्रणीत वीरगाथात्मक काव्य, इसकी भाषा डिंगल है।

(ख) फुटकर रचनाएँ—विद्यापति की पदावली और अमीर खुसरो की विनोदात्मक रचनाएँ। इनके अतिरिक्त सिखों के धार्मिक 'आदिग्रन्थ' में उपलब्ध फ़रीद-उद्दीन शकरगंज की रचनाएँ भी इसी काल की उपज हैं। इनका मूल विषय प्रेम की व्यञ्जना है। विद्यापति की भाषा मैथिली है, अमीर ख़ुसरो की खड़ीबोली, और फ़रीद-उद्दीन की मुलतानी-मिश्रित ब्रजभाषा।

अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी पर प्रभाव

(क) अपभ्रंश-साहित्य—

पीछे लिख आये हैं कि विक्रम की ७वीं–८वीं शती से १६वीं तक अपभ्रंश भाषा का साहित्य निर्मित होता रहा। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से

निस्संदेह यह साहित्य हिन्दी-साहित्य नहीं है। पर वर्ण्य-विषय एवं कला की दृष्टि से इस साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार के लिए इसकी चर्चा करना अनिवार्य हो जाता है।

अपभ्रंश-साहित्य को सुरक्षित रखने का श्रेय जैन-पुस्तकालयों एवं जैन सज्जनों को है और इसे प्रकाश में लाने का श्रेय जर्मन के विद्वान् पिशेल और हर्मन याकोबी तथा भारत के विद्वान् पं० हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० शहीदुल्ला, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची और पं० राहुल सांकृत्यायन को है।

अपभ्रंश-साहित्य का अधिकांश भाग जैनाचार्यों द्वारा निर्मित है। जैनेतर लेखकों में संख्या की दृष्टि से बौद्धों तथा ब्राह्मणों का नाम क्रमशः उल्लेख्य है। अब तक के अनुसन्धानों के अनुसार अद्दहमाण नामक एक मुसलमान की भी 'सन्देशरासक' नामक एक अपभ्रंश-रचना उपलब्ध हुई है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि यद्यपि जैनियों तथा बौद्धों की रचनाएँ धार्मिक दृष्टिकोण से लिखी गई हैं, पर उनका साहित्यिक महत्त्व भी किसी दृष्टि से कम नहीं है। इधर ठीक यही स्थिति हिन्दी-साहित्य की भी है। कबीर, जायसी, तुलसी, सूरदास आदि की रचनाएँ मूलतः धर्मप्रधान होते हुए भी साहित्यिक दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। अतः हिन्दी की इन रचनाओं के समान बौद्धों और जैनियों की रचनाएँ भी साहित्य में स्थान पाने योग्य हैं।

अपभ्रंश-साहित्य ने हिन्दी-साहित्य के विकास में क्या योग दिया, इस पर प्रकाश डालने से पूर्व इस साहित्य का सामान्य परिचय देना आवश्यक है। अपभ्रंश भाषा में गद्यबद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ की अद्यावधि उपलब्धि नहीं हुई। इसके पद्यबद्ध साहित्य को प्रमुखतः दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध-काव्य के दो रूप हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य। मुक्तक काव्य को भी दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है—जैन तथा बौद्ध-धर्म सम्बन्धी धार्मिक ग्रन्थ तथा विविध

साहित्यिक ग्रन्थ ।[1]

(ख) अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी पर प्रभाव—

भारतीय साहित्य की यह विशेषता रही है कि माध्यम रूप से भले ही विभिन्न भाषाओं को स्वीकृत किया गया हो पर उसकी गतिमय भावधारा अविच्छिन्न रूप से सदा प्रवाहित होती रही है। यही कारण है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं में निर्मित साहित्य

१. इस साहित्य के कतिपय उल्लेखनीय कवियों एवं ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—

(क) प्रबन्ध काव्य—

(अ) महाकाव्य—

कवि	**ग्रन्थ**	**समय (वि० सं०)**
स्वयंभू	पउमचरिउ (पद्मचरित)	अनुमानतः ८वीं शती
पुष्पदन्त	तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार (त्रिषष्टि-महापुरुष-गुणालंकार) अथवा महापुराण	१०१६
धनपाल धक्कड़	भविसयत्त कहा (भविष्यदत्त-कथा)	१०वीं शती
धवल	हरिवंश पुराण	११वीं शती
यशःकीर्ति	हरिवंश पुराण	१५००
श्रुतकीर्ति	हरिवंश पुराण	१५५३

(आ) खण्डकाव्य—

पुष्पदन्त	णायकुमारचरिउ (नागकुमारचरित)	
	जसहरचरिउ (यशोधरचरित)	१०-११वीं शती
नयनंदी	सुदंसणचरिउ (सुदर्शनचरित)	११००
कनकामर	करकंडचरिउ (करकंडु-चरित)	११२२
दिव्यदृष्टि धाहिल	पउमसिरीचरिउ (पद्मश्रीचरित)	११९१
अद्दहमाण	संदेशरासक	अनुमानतः ११वीं से १४वीं शती के बीच

एक-दूसरे से उत्तरोत्तर प्रभावित हैं। हिन्दी का साहित्य वर्ण्य-सामग्री तथा शैली दोनों दृष्टियों से अपभ्रंश-साहित्य का ऋणी है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम तीन कालों—आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल—पर ही इस साहित्य का प्रभाव पड़ा है; आधुनिक काल पर इसका प्रभाव लक्षित नहीं होता। इस प्रभाव का किंचित् दिग्दर्शन इस प्रकार है—

(१) आदिकाल पर प्रभाव—

१—आदिकाल में चारणों द्वारा निर्मित पृथ्वीराजरासो आदि ग्रन्थों में

विद्यापति	कीर्तिलता	१४वीं–१५वीं शती
लखमदेव	णेमिणाहचरिउ (नेमिनाथचरित)	सम्भवत: १५वीं शती का अन्तिम चरण
यश:कीर्ति	चंदप्पहचरिउ (चन्द्रप्रभचरित)	अज्ञात
भगवतीदास	मृगांकलेखाचरिउ	१७००

(ख) मुक्तक काव्य—

(अ) जैनधर्म-सम्बन्धी धार्मिक ग्रन्थ—

योगीन्दु (योगीन्द्र)	परमप्पयासु (परमात्मप्रकाश) योगसार	११वीं शती
जिनदत्त सूरि	उपदेश-रसायन-रास	१२वीं शती
महेश्वर सूरि	संयम-मंजरी	१४वीं शती

(आ) बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी धार्मिक ग्रन्थ—

सरहपा	काया-कोष, दोहा-कोष चर्चापद आदि	७वीं–८वीं शती
कण्हपा	कान्हपाद–गीतिका, दोहा-कोष आदि	९वीं शती

(इ) विविध साहित्यिक मुक्तक काव्य—

अपभ्रंश का साहित्यिक मुक्तक काव्य किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध नहीं है। संस्कृत एवं प्राकृत के ग्रन्थों में उपलब्ध मुक्तक रचनाएँ,

वीर और शृंगार रस का मिश्रण है। यही प्रवृत्ति अपभ्रंश-महाकाव्यों में भी मिलती है पर थोड़े अन्तर के साथ। इनमें शृंगार और वीर के अतिरिक्त शान्त रस का भी मिश्रण है। एक और अन्तर यह है कि एक ओर रासो-काव्यों में वीर-नायकों द्वारा भोगों का त्याग युद्ध-भूमि में होता है और दूसरी ओर चरित-काव्यों में चरित-नायकों द्वारा भोगों का त्याग संसार से विरक्ति में।

२—रासो-ग्रन्थों में छन्दों की विविधता है जोकि हमें सन्देशरासक नामक अपभ्रंश काव्य में भी लक्षित होती है। भावी अनुसन्धानों द्वारा निस्सन्देह ऐसे अन्य अपभ्रंश-ग्रन्थों के भी मिलने की आशा की जा सकती है, जिनमें यह प्रवृत्ति भी पाई जायगी।

३—कुछेक रासो-काव्यों का आरम्भ भी अपभ्रंश-काव्यों के समान हुआ है। उदाहरणस्वरूप, पृथ्वीराजरासो और सन्देशरासक के आरम्भिक पद्य उल्लिखित किये जा सकते हैं।

४—वीसलदेवरासो पर 'उपदेश-रसायन रास' नामक अपभ्रंश-काव्य का प्रभाव लक्षित होता है। दोनों में कथा संक्षिप्त है। दोनों गीतात्मक काव्य हैं और दोनों काव्यों में एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है।

जिनका विषय शृंगार तथा वीर रस है, इस साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। इनमें से कतिपय ग्रन्थों के नाम ये हैं—

१. हेमचन्द्र	शब्दानुशासन	(८म अध्याय, ४र्थ पाद)
	कुमारपालचरित अथवा द्वयाश्रयमहाकाव्य (२८वाँ सर्ग, १४-८२ पद्य),	१२वीं शती
२. सोमप्रभ	कुमारपाल-प्रतिबोध,	१२वीं शती
३. मेरुतुंग	प्रबन्ध चिंतामणि	१४वीं शती
४. अज्ञात	प्राकृत पैंगल,	अनुमानतः १४वीं–१५वीं शती

५—रासो-काव्यों तथा चरित-काव्यों में उद्धत शब्द-योजना, समस्त-पदता तथा भाषा के धारा-प्रवाह की इतनी समानता है कि दोनों भाषाओं के महाकाव्यों में भाषा की एकता का भ्रम होता है।

(२) भक्तिकाल पर प्रभाव—

१—कबीर आदि सन्तों के काव्यों में सद्गुणों के ग्रहण एवं बाह्य कर्मकाण्ड के परित्याग का उपदेश जैन-धर्म के आचार्यों तथा विशेषत: बौद्ध-धर्म के सिद्धों के उपदेशों से प्रभावित है।

२—इसी प्रकार जाति-पाँति का विरोध, गुरु की महत्ता आदि के लिए सन्त-काव्य सिद्ध-साहित्य का ऋणी है।

३—सन्तों की संध्या-भाषा, उलटबासियों का प्रयोग, रहस्यपूर्ण उक्तियाँ तथा रूपकमयी रचना भी सिद्ध-साहित्य से प्रभावित है। इसी प्रकार सूर-काव्य के दृष्टकूटों का बीज भी सिद्धों की संध्या-भाषा के अनेक पदों में मिल जाता है।

४—जैनों और सिद्धों ने अपने उपदेशात्मक विचारों को दोहों और गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त किया। उन्हीं के अनुकरण में सन्तों ने भी इसी विषय को दोहों और गेय पदों में प्रकट किया। सिद्धों की गेय-पदता का (जिसका प्रयोग उन्होंने अपने चर्या-गीतों में किया है) प्रभाव जयदेव और विद्यापति के माध्यम से सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में भी स्वीकार किया जा सकता है।

५—जायसी आदि सूफ़ी कवियों के काव्यों की विशिष्टता है—प्रेमाख्यानों द्वारा आध्यात्मिक तत्त्व की ओर संकेत। उधर जैनियों के अपभ्रंश-काव्य में भी प्रेम-कथाओं को स्थान मिला है। पर दोनों काव्यों की परिणति में अन्तर अवश्य है। अपभ्रंश में जैनियों की प्रेमकथाओं का पर्यवसान वैराग्य में होता है और हिन्दी में सूफ़ियों की प्रेमकथाओं का पर्यवसान आध्यात्मिक प्रेम में।

६—सूफ़ी-काव्यों में नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को सिंहल-यात्रा आदि कराई गई है। उसी प्रकार की प्रवृत्ति अपभ्रंश-काव्यों में

भी उपलब्ध है। उदाहरणार्थ, करकंडुचरिउ का नायक करकंडु, जिनदत्त-चरिउ का नायक जिनदत्त सिंहल द्वीप में जाकर वहाँ की राजकुमारियों को प्राप्त करते हैं।

७—जायसी के पद्मावत का मंगलाचरण तथा वियोग-वर्णन सन्देश-रासक से प्रभावित जान पड़ता है। जायसी ने अपने काव्य में अनेक प्रकार के व्यञ्जनों, पकवानों आदि की लम्बी सूचियाँ प्रस्तुत की हैं, उधर सन्देश रासक में भी अनेक प्रकार के वनस्पतियों की नामावलि दी गई है।

८—तुलसी का रामचरितमानस तथा सूफ़ियों के काव्य दोहा-चौपाई पद्धति में लिखे गये हैं यद्यपि उपलब्ध अपभ्रंश-महाकाव्यों में पूर्ण रूप से यही पद्धति तो नहीं अपनाई गई, पर उनकी पद्धति को हिन्दी की इस पद्धति का स्रोत अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। अधिकांश अपभ्रंश-काव्यों में चौपाई का प्रयोग न होकर १६ मात्राओं वाले पादाकुलक, पद्धड़िया, पज्झटिका आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है, तथा कड़वक (सर्ग) के अन्त में धत्ता का, जो दोहा छन्द के ही लगभग समान है। इधर हिन्दी-महाकाव्यों में कई चौपाइयों के उपरान्त दोहा की प्रयोग-प्रणाली को उपर्युक्त पद्धति से प्रभावित मानना असंगत प्रतीत नहीं होता।

(३) रीतिकाल पर प्रभाव—

हिन्दी के रीतकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा की है। यह परिपाटी नूतन नहीं है। अपभ्रंश-साहित्य के चरित-ग्रन्थों में भी प्रायः कवियों ने अपने आश्रयदाता का पूर्ण वर्णन किया है। रीति-कालीन ग्रन्थों की प्रमुख विशिष्टता है—नायक-नायिका-भेद, षड्ऋतु-वर्णन, नखसिख-वर्णन आदि के माध्यम से शृंगार रस का विविध रूपों से निरूपण। यद्यपि यही प्रवृत्ति अपभ्रंश-साहित्य में प्रमुख रूप से नहीं पाई जाती क्योंकि अधिकांश ग्रन्थ धार्मिक दृष्टि से लिखे गये हैं पर गौण रूप से अवश्य लक्षित हो जाती है। उदाहरणार्थ, नयनंदी कृत 'सुदंसण चरिउ' में ऋतु, विवाह, नखसिख, रति, शृंगार आदि का वर्णन भी उपलब्ध होता है। सन्देशरासक में षड्ऋतु-वर्णन तथा विनयचन्द्र सूरी

कृत 'नेमिनाथ चतुष्पादिका' में बारहमासा का लगभग वही रूप दिखाई देता है जैसाकि हिन्दी के रीतिकाव्यों में। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश के मुक्तक काव्यों में शृंगार-रस की चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ हिन्दी रीतिकालीन शृंगार-रस की स्मृति दिलाती हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रीतिकालीन कवियों अथवा आचार्यों ने अपभ्रंश-साहित्य का शायद ही अध्ययन किया हो। पर अपभ्रंश-साहित्य में भी उक्त प्रवृत्तियों का पाया जाना भारतीय विचारधारा की तथा उसके स्रोत की एकता का सबल प्रमाण है।

निष्कर्ष यह कि

(१) जो अपभ्रंश-साहित्य हिन्दी-साहित्य से पूर्व निर्मित हुआ है उसका प्रभाव तो हिन्दी-साहित्य पर किसी-न-किसी रूप में पड़ा ही है पर जो अपभ्रंश-साहित्य हिन्दी-साहित्य का समकालीन है, उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि कौन किसका ऋणी है।

(२) हिन्दी-साहित्य के प्रथम तीन कालों में से आदिकाल अपभ्रंश-साहित्य का सर्वाधिक ऋणी है। इस दृष्टि से उसके पश्चात् भक्तिकाल का स्थान है और उसके पश्चात् रीतिकाल का। वस्तुतः स्थिति होनी भी यही चाहिए थी—पतनोन्मुख साहित्य का प्रभाव उत्तरोत्तर कम होता जाता है। वर्ण्य-सामग्री तथा शैली—दोनों दृष्टियों से अपभ्रंश-साहित्य तथा हिन्दी-साहित्य में ऐक्य को देखकर यह मानना पड़ता है कि अपभ्रंश अथवा हिन्दी भाषा के माध्यम पर ध्यान न दिया जाय, तो दोनों साहित्य एक ही भावधारा के द्योतक हैं। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास के प्रथम तीन कालों के साहित्य को पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य का ही विकसित रूप समझना चाहिए।

अपभ्रंश के कतिपय कवियों का परिचय

१. सरह पा

सिद्ध-परम्परा में सरह पा का प्रथम स्थान है। विनयतोष भट्टाचार्य

इनका समय संवत् ६६० मानते हैं और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन संवत् ८१७ (अर्थात् ७६० ई०)।

सरह पा जन्म से ब्राह्मण थे। ये संस्कृत के भी पण्डित थे। सिद्ध-भिक्षु बनकर बहुत समय नालन्दा में भी रहे। राहुल भद्र और सरोजवज्र भी इनके नाम बताये जाते हैं। इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ ये हैं—कायाकोष, अमृतवज्र-गीति, चित्तकोष-अज-वज्र-गीति, डाकिनी-गुह्य-वज्र-गीति, दोहा-कोष, तत्त्वोपदेशशिखर, उपदेशगीति, भावनाफल-दृष्टचर्या, वसंततिलक, चर्यागीत, महामुद्रोपदेश और सरहपादगीतिका।

इन ग्रन्थों के वर्ण्य विषय ये हैं—रहस्यवाद, कर्मकाण्ड की निन्दा, मन्त्र-देवतादि की व्यर्थता, सहज मार्ग, योग से निर्वाण और गुरु-महिमा। इधर हिन्दी-साहित्य में कबीर, दादू, पल्टू, मलूकदास आदि सन्तों के विषय भी प्रायः यही हैं। सरह पा की भाषा तथा विचारधारा के कुछ नमूने प्रस्तुत हैं :

कर्मकाण्ड के विरोध में—

बह्मणहि म जाणन्त हि भेउ। एवंइ पढ़िअउ ए चउवेउ॥
मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्त। घरही बइसी अग्गि हुणन्त॥
कज्जे विरहइ हुअवह होये। अक्खि डहाविअ कडुएं धूये॥

भोग में योग की साधना—

खाअन्त पिअन्ते सुहहिं रमन्ते। णित्त पुण्णु चक्का वि भरन्ते।
अइस धम्म सिज्झइ पर लोअह। णाह पाए दलीउ भअलोअह॥

गुरु की महत्ता—

गुरु उवएसे अमिअ रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
बहु-सत्थत्थ-मरुत्थलहिं, तिसिए मरिअउ तेहि॥

२. कण्ह पा

कण्ह पा के दो नाम सुनने में आते हैं—कर्ण पा और कृष्ण पा। कर्णाटक निवासी होने से पहला नाम और कृष्ण वर्ण होने से दूसरा नाम रूढ़ बताया जाता है। राहुल जी ने इन्हें ब्राह्मण-कुलोत्पन्न कहा है।

महाराज देवपाल के (८०९—८४९ ई०) समय ये एक ब्राह्मण भिक्षु थे और बाद में जालन्धरपाद के शिष्य हुए।

श्री राहुल जी ने आपके दर्शनशास्त्र पर लिखे छः और तन्त्रशास्त्र पर लिखे चौहत्तर ग्रन्थों की सूचना दी है। कुछ रचनाओं के नाम ये हैं—कन्हपादगीतिका, महाढुण्ढनमूल, वसंततिलक, असम्बन्धदृष्टि, वज्र-गीति, दोहाकोष आदि।

कबीर आदि सन्तों के साहित्य में जिस सहज साधना की चर्चा की जाती है उसका मूल सिद्ध-साहित्य में मिल जाता है। कण्ह पा के एक पद्य से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। यथा—

जइ पवण गमण दुआरे, दिढ तालावि दिज्जइ।
जइ तसु घोरान्धारें, मण दिवहो किज्जइ॥
जिण रअण उअरें जइ, सो वरु अम्बरु छुप्पइ।
भणइ काण्हू भव भज्जन्ते, णिव्वाणो वि सिज्झइ॥

कण्ह पा ने राग भैरवी, मल्लारी, मालसी आदि गेय पद भी लिखे हैं। यही पद-रचना-परम्परा भक्तिकाल तक अक्षुण्ण रूप से चली आई है।

३. स्वयंभू

'कविराज चक्रवर्ती' और 'छन्दश्चूड़ामणि' पदवी-विभूषित स्वयंभू अपने युग के महाकवि कहे जाते हैं। ये प्राकृत और अपभ्रंश के पण्डित थे। इनके पिता का नाम मारुत और माता का नाम पद्मिनी था। इनके दो विवाह हुए थे। त्रिभुवन कवि इनके पुत्र थे। स्वयंभू की कृतियाँ ये हैं—पउम-चरिउ, रिट्ठणेमि-चरिउ, स्वयंभू-छन्द, पंचमी-चरिउ और व्याकरण। अन्तिम दो रचनाएँ नोटिसमात्र हैं, इनका पउमचरिउ में उल्लेखमात्र मिलता है। पुष्पदन्त ने स्वयंभू को ससम्मान स्मरण किया है और स्वयंभू ने अपने से पूर्ववर्ती कवियों को। अतः इसका समय संवत् ७०० वि० के पश्चात् माना जाता है।

पउमचरिउ—इस रचना में रामकथा का प्रसंग है। इनसे पूर्व रविषेणाचार्य ने संस्कृत में 'पद्मपुराण' लिखा था और विमल सूरि ने

प्राकृत में 'पउमचरिउ'। संस्कृत और प्राकृत के पश्चात् स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' लिखकर अपभ्रंश की कड़ी भी जोड़ दी। इन तीनों काव्यों में रामकथा जैनधर्म में रूढ़ रामचरित के आधार पर है। पउमचरिउ में पाँच काण्ड हैं—विद्याधरकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड। इस रचना में महाकाव्योचित सभी विशेषताएँ हैं। वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत ऋतुवर्णन, जलक्रीड़ा, संध्या, समुद्र, वन, युद्ध आदि के प्रसंग बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। इसमें वीर, शृंगार, करुण और शान्त रस का सफल परिपाक हुआ है। भाषा प्रसंगानुसार सुघटित, सानुप्रास और प्रवाहपूर्ण है।

रिट्ठणेमिचरिउ—'अरिष्टनेमिचरित्र' का इसका संस्कृत-नाम है। अरिष्टनेमि जैनियों के २२वें तीर्थंकर हो चुके हैं। यह पउमचरिउ की अपेक्षा विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें ११२ सन्धियाँ हैं। ९३ सन्धियों के पश्चात् इसके शेष भाग का निर्माण त्रिभुवन कवि ने किया है। 'जस्सकित्ति' (यशकीर्ति) नामक जैन मुनि का भी इसमें सहयोग बताया जाता है। यह रचना चार काण्डों में विभक्त है—यादवकाण्ड, कुरुकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड। काव्य की भाषा सरस, समास-रहित, अलंकृत और व्याकरण-सम्मत है। इसमें पज्झटिका, भुजंगप्रयात, मत्तगयंद, कामिनी-मोहन, नाराचक, केतकीकुसुम, द्विपदी, हेला आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

स्वयंभू की काव्यकला का आस्वादन करने के लिए कतिपय प्रसंग प्रस्तुत हैं। युद्ध का सजीव वर्णन देखिए—

भज्जंत समाउइं। जुज्झंत सुहडाइं।
णिग्गंत अंताइं। भिज्जंत गत्ताइं।
लोटंत चिंधाइं। तुट्टंत छत्ताइं।

नाना वाद्ययन्त्रों के अनुरणन के अनुरूप कोमल शब्द-नाद सुनिए—

दुमु दुमु दुमंत दुंदहि व मालु। घुमु-घुमु घुमंत घुमुक्क तालु॥
झिं-झिं करन्ति सिविकरि णिणाउ। सिमिसिमि सिमंत झल्लरि णिहाउ॥

सल-सल सलंत कंसाल हुयलु । गुं गुंजमाण गुजन्तु मुहलु ॥
कण-कण कणन्तु कणइ कोसु । डम-डम डमंत डमरु वणि घोसु ॥

और अब धनुष की टंकार और तलवारों की खनखनाहट तथा अन्य शस्त्रों के अनुरूप कठोर शब्द-झंकार का श्रवण कीजिए—

हण हण हणंकार महारउद्दू । छण छण छणन्तु गुणंपि पच्छि सद्दू ॥
कर कर करन्तु कोयंड पवरु । थर थर थरन्तु णाराय णियरु ॥
खण खण खणंतु तिक्खग खग्गु । हिल हिलि हिलंतु हय चंचलग्गु ॥
गुलु गुलू गुलंत गयवर विसालु । "हणहण" भणंतु णर वर विसालु ॥

इस प्रकार प्रवाहपूर्ण कथा, मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण, सजीव प्रकृति-चित्रण और मर्मस्पर्शी उक्तियों के कारण स्वयंभू अपने काल के जैन कवियों में उत्कृष्ट कवि गिने जाते हैं।

४. पुष्पदंत

पुष्पदंत मान्यखेट (वर्तमान मल्खेड़) के प्रतापी राजा कर्ण के महामात्य भीत के सभाकवि कहे जाते हैं। इनका समय विक्रम की १०वीं शती है। इनकी अनेक उपाधियाँ थीं—अभिमान-मेरु, कविपिशल, कवि-कुलतिलक, काव्यरत्नाकर आदि। शिवसिंह सेंगर ने मान राजा के जिस दरबारी हिन्दी-कवि पुष्य या पुष्प का उल्लेख किया है, संभव है वह यही हों। इनके एक ग्रन्थ 'महापुराण' से इतना पता चलता है कि पुष्पदंत कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण केशवभट्ट तथा माता मुग्धादेवी के पुत्र थे। ये पहले शैव थे, बाद में जैनधर्म में दीक्षित हुए। विरोधियों से सताये जाने पर मान्यखेट पहुँचे। वहाँ के नरेश की प्रेरणा से इन्होंने महापुराण लिखा। पुष्यदंत की अपभ्रंश रचनाएँ ये हैं—तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालंकारु, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ।

तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालंकारु—इसको 'महापुराण' भी कहते हैं। यह महाकाव्य है। इसका कथानक विस्तृत और विशृंखल है। इसके तीन खण्ड हैं—आदिपुराण, उत्तरपुराण पूर्वार्ध तथा उत्तरपुराण उत्तरार्ध। आदिखण्ड में जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवजी और प्रथम चक्रवर्ती

भरत का चरित्र है। कवि ने इस खण्ड को राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण (तृतीय) के आश्रय में रहकर लिखा। इसे लिखकर कवि हतोत्साह हो गया और बाद में सरस्वती की प्रेरणा से इसने शेष खण्ड लिखे। प्रथम खण्ड की रचना संवत् १०१६ में तथा शेष भाग की रचना संवत् १०२२ में हुई।

जसहरचरिउ—यह एक खण्डकाव्य है। इसमें चार संधियाँ हैं। इसका कथानक जैन समाज के चिरप्रसिद्ध जसहर (यशोधर) के चरित्र पर आधारित है। इससे पूर्व इसी चरितनायक पर संस्कृत के तीन महाकाव्य मिलते हैं। यथा—वादिराजकृत यशोधरचरित्र, सोमदेवकृत यशस्तिलक चम्पू तथा माणिक्य सूरिकृत यशोधरचरित।

पुष्पदंत को काव्यकला का निपुण शिल्पी कहना चाहिए। इनके वस्तुवर्णन इतने अधिक और सजीव हैं कि संस्कृत-परिपाटी पर लिखे होने पर भी उनमें नवीनता है। मानव-शरीर का वर्णन देखिए—

माणुस सरीरु दुहपोट्टलउ। धोयउ धोयउ अइ विट्टलउ॥
वासिउ वासिउ ण उ सुरहि मलु। पोसिउ पोसिउ णउ धरइ बलु॥
तोसिउ सोसिउ ण उ अप्पणउ। मोसिउ मोसिउ घर भायणउ॥
भूसिउ भूसिउ ण सुहावणउ। मंडिउ मंडिउ भीसावणउ॥
बोल्लिउ बोल्लिउ दुक्खावणउ। चच्चिउ चच्चिउ चिलिसावणउ॥

सूर्योदय का वर्णन भी कितना मनोरम है—

इय मह चिंततहो अरुणयरु। णव पल्लव णं कंकेल्लितरु॥
उग्गमिउ दुयणि जणु रंजियउ। सिंदूर पुंजु णं पुंजियउ॥
अरुणायवत्तु णं णह सिरिहि। णं चूडारयणु उदयगिरिहि॥
लोहिय लुद्धं जगु फाडियउ। णं कालि चक्कु भमाडियउ॥
कुंकुम पिंडु व दिसिकामिणिहिं। रत्तुपलु संझा पोमिणिहिं॥

५. कनकामर

कनकामर की प्रसिद्ध रचना 'करकंडुचरिउ' अपभ्रंश का खण्ड-काव्य है। इस ग्रन्थ का समय सं० ११२२ माना जाता है। इस काव्य में

१० सन्धियाँ हैं। इसमें सभी पात्रों के विकासशील चरित्रों का निरूपण हुआ है। करकंडु में धीरता, वीरता, स्वाभिमान, उत्साह आदि गुणों का यथेष्ट विकास है। शीलगुप्त मुनि में जैन साधुओं के योग्य सभी गुण विद्यमान हैं। पद्मावती में नारी के सहज स्वभाव के विपरीत वात्सल्य और नारीत्व-भावना से पलायन-वृत्ति अधिक चित्रित हुई है।

कवि की वर्णन-शैली अद्भुत है। युद्ध का एक सजीव वर्णन प्रस्तुत है—

ता हयइं तूराइं। भुवणयल पूराइं।
वज्जंति वज्जाइं। सज्जंति सेण्णाइं।
आणाए घडियाइं। परबलइं भिडियाइं।
कुंताइं भज्जंति। कुंजरइं गज्जंति।
रहसेण वग्गंति। करि दसणी लग्गंति।
गत्ताइं तुट्टंति। मुंडाइं फुट्टंति॥

इस रचना में शब्दचयन भी भावानुरूप है। इसकी शब्दाडम्बर-शून्य भाषा सरल और संयत बन पड़ी है। अभिव्यक्ति गहन और शैली समर्थ है।

६. अद्दहमाण

अद्दहमाण, सम्भवतः अब्दुल रहमान ने 'सन्देशरासक' लिखकर विचारकों को एक नया विचार-बिन्दु दिया है कि भारतीय साहित्य में मुसलमानों का कितने चिर से सम्बन्ध चला आ रहा है। इनके ग्रन्थ से इस सम्बन्ध की ऊर्ध्वकाल-वर्त्ती एक नई कड़ी जुड़ गई है। कबीर की भाँति अद्दहमाण जुलाहा-परिवार से सम्बद्ध हैं।

सन्देशरासक कब लिखा गया, इस विषय में विभिन्न मतभेद हैं। डॉ० कात्रे ने इसका रचनाकाल ११वीं शताब्दी और १४वीं शताब्दी के मध्य माना है। इस ग्रन्थ के टीकाकार ने टीका का रचना-काल विक्रम संवत् १४६५ लिखा है। अतः सन्देशरासक का निर्माण इससे पूर्व हो चुका होगा। मुनि जिनविजय जी ने १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर १३वीं शती के पूर्वार्ध तक इस रचना का समय कूता है। अगरचन्द नाहटा

इसे संवत् १४०० के आसपास रचा मानते हैं। पर डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने उक्त सभी धारणाओं के विपरीत एक अखण्डनीय तर्क उपस्थित किया है। वह यह कि हेमचन्द्र ने अपनी रचना में सन्देशरासक के पद्य उद्धृत किये हैं। अतः इस रचना का हेमचन्द्र से पहले लिखा जाना सिद्ध हो जाता है। हेमचन्द्र का जन्म संवत् ११४५ में तथा मृत्यु १२२९ संवत् में हुई। अतः अब्दुल रहमान को ११वीं शताब्दी का मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

ग्रन्थकर्ता ने अपने विषय में केवल इतना लिखा है—"मैं म्लेच्छदेश वासी तन्तुवाय मीरसेन का पुत्र हूँ।" यह कवि प्राकृत काव्य और प्राकृत गीतियों में निपुण था। संस्कृत और प्राकृत का अच्छा पण्डित था। नल-चरित्र, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों का स्मरण करके उसने यह निर्देश किया है कि उसे भारतीय साहित्य और संस्कृति में गहन आस्था एवं रुचि थी।

सन्देशरासक खण्डकाव्य है। इसमें तीन प्रक्रम हैं। पहले प्रक्रम में मंगलाचरण, कवि-परम्परागत अन्य चर्चाएँ और प्रस्तावना है। दूसरे में मूलकथानक है और तीसरे में षड्ऋतुवर्णन है। इसकी भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश है। इसमें १७ प्रकार के मात्रिक तथा वर्णिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

सन्देशरासक एक प्रेमकाव्य है। उसकी नायिका अहर्निश पिय-वियोग के कटु अनुभवों से चलायमान हो रही है। कितने मार्मिक परन्तु सरल शब्दों में वह अपने दिल की गाँठ खोलती है। यथा—

तुह विरह पहर संचरिआइं विहडंति जं न अंगाइं।
तं अज्ज कल्ल संघडणं ओसहे णाह तग्गंति॥

इस प्रकार ऋतुवर्णन के पद्य देखिए—

उल्हवियं गिम्हहवो धारा निवहेण पाउसे पत्ते।
अच्चरियं मह हियए विरहग्गी तिवबई अहियपरो॥

वर्षा के कारण ग्रीष्मताप में सर्वत्र कमी हुई है, पर यदि कहीं गर्मी की कमी नहीं हुई तो वह विरहदग्धा विरहिणी का हृदय है।

शरद् ऋतु में नदियों में दुबलापन आ रहा है तो विरहिणी नायिका भी दुबली पड़ती जा रही है—

झिज्झउ पहिय जलिहि झिज्झंतिहि।

७. सोमप्रभ सूरि

सोमप्रभ सूरि का जन्म प्राग्वाट नाम से विख्यात वैश्यकुल में सर्वदेव के घर हुआ। ये संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रकाण्ड पण्डित थे। कुमारावस्था में इन्होंने जैनधर्म की दीक्षा ली। इनकी रचनाएँ ये हैं—कुमारपाल-प्रतिबोध, सुमतिनाथचरित, सूक्तिमुक्तावली और शतार्थकाव्य।

'कुमारपालप्रतिबोध' संस्कृत-प्राकृत काव्य है। इस रचना का निर्माण संवत् १२४१ में हुआ। इसमें हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल को दिये गये उपदेश गद्य-पद्य शैली में वर्णित हैं। मुक्तक शैली के सुभाषित, प्रेमप्रसंग, समाजनीति आदि के पद्य इस ग्रन्थ में मिलते हैं। ऋतुवर्णन हृदयग्राही है। कुछेक, पद्य समस्यापूर्ति शैली के भी हैं। एक समस्यापूर्ति देखिए—

रावणु जायउ जहि दियहि दह-मुहु एक्क-सरीरु।
चिंताविय तइयहि जणणि कवणु पियावउं खीरु॥

एक शृंगार रस का उदाहरण लीजिए—

पिय हउं थक्किय सयलु दिणु तुह विरगि किलत।
थोडइ जल जिमि मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत॥

८. धनपाल

धनपाल धक्कड़ वैश्यकुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम मायेश्वर तथा माता का नाम धनश्री था। वैश्यकुलोत्पन्न होने पर भी अपनी विद्वत्ता पर बद्धमूल आत्मविश्वास से इन्होंने अपने-आपको सरस्वती-पुत्र कहा है।

इनका समय निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। डॉ० याकोबी

ने इसे १०वीं शती का माना है। श्री दलाल तथा श्री गुणे इसे हेमचन्द्र से पूर्व का कवि मानते हैं। श्री भायाणी इसे स्वयंभू के बाद का कवि मानते हैं।

धनपाल रचित 'भविसयत्त कहा' अपभ्रंश का महाकाव्य है। इसका मूल उद्देश्य श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य प्रतिपादन करना मालूम पड़ता है। इसका कथानक लौकिक है। कथानक में घटना-बाहुल्य है। इस जगत् के पात्रों के साथ दिव्य पात्रों का सम्बन्ध-स्थापन कवियों में चिरकाल से रूढ़ चला आता है। इस ग्रन्थ में भी चरितनायक भविष्यदत्त को यक्ष की सहायता मिलती है। इस काव्य के वस्तुवर्णन हृदयग्राही हैं। इसके अलग-अलग खण्डों में शृंगार, वीर और शान्त रस की प्रधानता है। भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। उसमें लोकोक्तियों और मुहावरों का यथेष्ट प्रयोग दीख पड़ता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, विरोधाभास, अतिशयोक्ति आदि के प्रयोग बहुलता से किये गये हैं। भुजंगप्रयात, लक्ष्मीधर, मंदार, चामर, शंखनारी, पज्झटिका, अडिल्ला, काव्य, प्लवंगम, सिंहावलोकन कलहंस आदि वर्णिक तथा मात्रिक छन्दों का प्रयोग इसमें हुआ है।

मुहावरों और लोकोक्तियों के सुन्दर प्रयोग देखिए—

'कि घिउ होइ विरोलिए पाणिए।'

'जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चिंतंतहो।'

'कलुणइ सुमीस करयल मलंति विहुणंति सीस।'

शब्दचित्रों के उतारने में कवि कितना समर्थ है, देखिए—

सोहइ दप्पणि कील करंती चिहुर तरंग भंग विवरंति।

नारी के वर्णन में एक रूपचित्र भी देखिए—

णं वम्मह भल्लि विंधणसील जुवाण जणि।

९. महेश्वर सूरि

महेश्वर सूरि कृत 'संयममंजरी' नामक ग्रन्थ मुक्तक दोहों का संग्रह है। 'कालकाचार्य' कथानक भी इसी कर्ता के नाम से प्रसिद्ध है। इनका

रचनाकाल विक्रम की १४वीं शती है। उक्त दोनों पुस्तकें जैन धर्म से संबद्ध हैं। 'संयम मंजरी' का प्रधान विषय जैन-धर्म की शिक्षा देना है। उदाहरणार्थ—संयम से रहने से मोक्ष मिल सकता है। मनुष्य को मनोदण्ड, वाग्दण्ड, जिह्वादण्ड से बचना चाहिए; हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग करना चाहिए, आदि-आदि। इन्द्रिय-निग्रह का एक उपदेश पढ़िए—

गय मय महुअर झस सलह नियनिय विसय पसत्त।
इक्किक्केण इ इन्दियण दुक्ख निरन्तर पत्त॥
इक्किणि इन्दिय मुक्कलिण लब्भइ दुक्ख सहस्स।
जसु पुण पंचइ मुक्कला कह कुसलत्तण तस्स॥

१०. हेमचन्द्र

हेमचन्द्र का जन्म वि० संवत् ११४५ में गुजरात के जैन-परिवार में हुआ। इनका सम्बन्ध गुजरात के सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल नामक दो बड़े राजाओं से बताया जाता है। आप जैनमठ के अधीश भी रहे। चौरासी वर्ष की अवस्था में संवत् १२२९ में इन्होंने शरीर-त्याग किया। इनका नाम जन्म से चंगदेव था। जैनधर्म में दीक्षित होने पर इनका नाम हेमचन्द्र पड़ा; और सूरि (जैन साधु) बनने पर ये 'हेमचन्द्र सूरि' नाम से प्रसिद्ध हुए।

हमारे सामने हेमचन्द्र दो रूपों में आते हैं—'हेमचन्द्र शब्दानुशासन' (प्राकृत व्याकरण) तथा 'छन्दोऽनुशासन' लिखकर आचार्य के रूप में और 'कुमारपालचरित' लिखकर कवि के रूप में। इनके शब्दानुशासन के अन्तिम अध्याय के अन्तिम भाग में अपभ्रंश के नियम निरूपित हैं। छन्दोऽनुशासन में कुछ पद्य अपभ्रंश के भी मिल जाते हैं। इन अपभ्रंश पद्यों के विषय संयोग, वियोग, वीर, उत्साह, हास्य, अन्योक्ति, नीति, प्राचीन कथानक-निर्देश, सुभाषित आदि हैं।

हेमचन्द्र की तीसरी रचना 'कुमारपालचरित' है। इसमें कुमारपाल

के चरिताख्यान के साथ-साथ कवि का ध्यान व्याकरणसम्मत शुद्ध रूपों का प्रतिपादन करना भी है। इस दोहरे उद्देश्य के कारण इस ग्रन्थ को 'द्वयाश्रय काव्य' भी कहा जाता है। इस काव्य के २८ सर्ग हैं। अन्तिम सर्ग के १४ से ८२ तक के पद्य अपभ्रंश भाषा में रचित हैं। इन पद्यों में धार्मिक उपदेश-भावना प्रधान है।

इनके व्याकरण से कुछ उदाहरण लीजिए—

प्रिय संगमि कउ निद्दडी पिग्रहो परोक्खहो केम्व।
मइ विन्नि वि विन्नासिम्रा निद्द न एम्व न तेम्व॥
जइ ससणेही तो मुग्रइ ग्रह जीवइ निन्नेह।
विहिं वि पयारेंहिं गइग्र धण किं गज्जहि खल मेह॥
ग्रायहिं जम्महि ग्रन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु।
गय मत्तहं चत्तंकुसहं जो ग्रब्भिडइ हसन्तु॥

११. नल्लसिंह भट्ट

नल्लसिंह भट्ट की रचना 'विजयपालरासो' है। इसमें उन्होंने विजयपाल के युद्धों का ओजस्वी भाषा में वर्णन किया है। विजयपाल करौली के राजा थे और १२वीं शताब्दी में विद्यमान थे। इस ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश है। पर उपलब्ध प्रति में वह अपना वास्तविक रूप खो चुकी है। काव्यत्व की दृष्टि से उक्त रचना साधारण है। मिश्रबन्धुओं ने इसका रचनाकाल संवत् १३५५ ठहराया है।

१२. शार्ङ्गधर

शार्ङ्गधर शाकंभरीश्वर रणथम्भौर के प्रसिद्ध शासक हम्मीरदेव के सभासद् और राघवदेव के पौत्र थे। हम्मीरदेव अलाउद्दीन खिलजी से युद्ध करते समय संवत् १३५७ में वीरगति को प्राप्त हुए थे। अतः शार्ङ्गधर का जीवनकाल विक्रम की चौदहवीं सदी का अन्तिम चरण माना जाता है। इनका आयुर्वेद का ग्रन्थ 'शार्ङ्गधरसंहिता' बड़ा प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनकी दो रचनाएँ और भी हैं—

(१) **शार्ङ्गधरपद्धति**—यह एक सुभाषित संग्रह है। इसमें बहुत से शाबर मन्त्र हैं और भाषासमक के उदाहरण दिये गये हैं। यथा—

नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दखरः,
शत्रुं पाड़ि लुटालि तोड़े हनिसौं एवं भणन्त्युद्भटाः।
झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे—
कंठे पाग निवेश जाह शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम्॥

उक्त पद्य में संस्कृत के अतिरिक्त ब्रजभाषा और खड़ीबोली के पदों का प्रयोग हुआ है—

ब्रजभाषा : छाइ खेइ, पसरी, पाड़ि, लुटालि, हनिसौं आदि।

खड़ी बोली : रे कन्त मेरे कहे, झूठे गर्व भरा आदि।

(२) **हम्मीररासो**—यह ग्रन्थ देशीभाषा का वीरगाथात्मक महाकाव्य बताया जाता है। यह रचना आज तक उपलब्ध नहीं हुई। आचार्य शुक्ल का अनुमान है कि 'प्राकृत पिंगलसूत्र' में कुछ पद्य 'असली हम्मीररासो' के हैं। उनमें से दो पद्य लीजिए—

(१)

ढोला मारिय ढिल्लि महँ मुच्छिउ मेच्छ-शरीर।
पुर जज्जला मंतिवर चलिअ बीर हम्मीर।
चलिय बीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि।
दिगमग णह अंधार आण खुरसाणुक उल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला।

पअभर दरमरु धरणि-रह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठपिट्ठु टरपरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ।
कोहे चलिअ हम्मीर बीर गअजुह संजुत्ते।
किअउ कट्ठ हा कंद! मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते।

चारण-काव्य

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में राजपूत राजाओं के आश्रित चारण-कवियों द्वारा निर्मित काव्य 'चारण-काव्य' कहलाता है। इसका प्रधान विषय वीरगाथाओं से सम्बद्ध है अतः इसे वीरगाथा-काव्य भी कहते हैं।

इस काल में निर्मित चारण-काव्यों में केवल चार ही उपलब्ध हैं— खुमानरासो, वीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो और परमालरासो। ये सभी ग्रन्थ पूर्णतः अपने मूल रूप में विद्यमान नहीं हैं। उनकी भाषा, शैली तथा विषय-सामग्री को देखते हुए कहना पड़ता है कि इनमें शताब्दियों पर्यन्त परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होता रहा। उपलब्ध 'परमालरासो' तो किसी भी रूप में अपना मूल रूप प्राचीन 'आल्हाखण्ड' नहीं हो सकता। खुमानरासो में भी १६वीं शती तक की सामग्री का संकलन हो गया है। पृथ्वीराजरासो की भी यही स्थिति है। सम्भवतः वीसलदेवरासो ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें अधिक हेरफेर नहीं हुआ। उसका लघुकाय ही इस कथन का साक्षी है। पर उसकी कथा में भी असम्बद्ध घटनाओं का अभाव नहीं है।

इस प्रकार इन ग्रन्थों का कौनसा स्थल चरितनायक के समकालीन मूल-लेखक अथवा परवर्ती मूल-लेखक द्वारा लिखित है, और कौनसा परवर्ती अज्ञात भाटों द्वारा—यह जानने के लिए अनुमान के अतिरिक्त और कोई साधन आधुनिक गवेषणाओं के पास नहीं है। उदाहरणार्थ—

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पृथ्वीराजरासो के उन स्थलों को प्रमाणित मानने की सम्भावना प्रकट की है, जिनकी भाषा में प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढंग के हैं।

(ख) डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की इस सम्बन्ध में स्थापना है कि "चन्द का मूल ग्रन्थ शुक-शुकी-संवाद के रूप में लिखा गया था और जितना अंश इस सम्वाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है।"

इस प्रकार की अनेक अनुमानाधृत धारणाओं द्वारा इन ग्रन्थों के मूल रूप को पकड़ने की चेष्टा की जा रही है, पर मनस्तोषक निष्कर्ष

शायद ही प्रकाश में आ सकें। इस दृष्टि से ये ग्रन्थ अधिकांशतः अनैतिहासिक हैं।

इनके अनैतिहासिक होने का एक कारण और भी है। तत्कालीन कवियों ने अपनी कल्पना एवं अतिशयोक्ति के बल पर अपने चरितनायकों को सर्वविजेता और उनके चरित्र को अत्यधिक उदात्त और उत्कृष्ट घोषित किया है। यहाँ तक कि पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज को उन राजाओं का भी विजेता कहा गया है जो इससे कई शताब्दी पूर्व अथवा पश्चात् विद्यमान थे। जिन समकालीन राजाओं का भी इस ग्रन्थ में उल्लेख हुआ है उनमें से कतिपय के अस्तित्व का इतिहास साक्षी नहीं देता। इस प्रकार की अतिरंजना एवं अतिशयोक्ति का मूल कारण है कवियों का राजाश्रित होना और अपनी आजीविका के लिए उनकी प्रशंसा के पुल बाँध देना। आजीविका-प्राप्ति के लिए उन्हें अनधिकारी राजाओं एवं सामन्तों की भी प्रशंसा करनी पड़ती थी। पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए मुहम्मद गौरी को निमन्त्रण देने वाले अथवा आक्रमण के समय पृथ्वीराज की सहायता न करने वाले जयचन्द्र के भी गुणानुवादक उस युग में विद्यमान थे। भट्ट केदार ने 'जयचन्दप्रकाश' लिखा और मधुकर ने जयमयंक-जसचन्द्रिका। आज ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। पर इनका नाम ही जयचन्द्र की गुणोत्कृष्टता का सूचक है।

इससे प्रतीत होता है कि उस युग में राष्ट्रीयता का अर्थ संकुचित था। 'राष्ट्र' शब्द समूचे देश का सूचक न होकर अपने-अपने प्रदेश एवं छोटे-छोटे राज्यों का सूचक था। अजमेर और दिल्ली के राजकवि को कन्नौज, कालिंजर (महोबा) अथवा किसी अन्य रियासत के समृद्ध अथवा नष्ट-भ्रष्ट होने से कोई सुख अथवा दुःख नहीं था। एक नृप के छोड़ जाने पर वे सम्भवतः उनके राज्य को पराया राज्य समझने लग जाते होंगे। मिथ्याभिमान एवं प्रतिशोध-भावना से पूर्ण उस युग के राजाओं से परिपालित कवियों की इस संकुचित वृत्ति पर न आश्चर्य होता है और न उसके प्रति घृणा के भाव जगते हैं। हाँ, दुर्भाग्य पर दया अवश्य आती है।

ये राजकवि केवल, राजसखा और सामन्त ही नहीं थे अपितु इनमें से अधिकतर योद्धा भी थे। युद्ध का ऐसा सजीव वर्णन इस तथ्य का प्रमाण है कि इन्होंने युद्ध की भीषणता को स्वयं अपनी आँखों से देखा और शायद स्वयं युद्ध लड़ा भी है। यदि इन कवियों का दृष्टिकोण ऐतिहासिक होता, कोरी प्रशंसा के लिए ये अतिरंजना से काम न लेते, तो इनका काव्य 'राजपूत युग' को 'अन्धकारयुग' कहने से बचा लेता। ये ग्रन्थ काव्यात्मक इतिहास होते पर अब तो कोरे भट्टभणन्त हैं। हाँ, इन चारण-कवियों की प्रशंसा से श्रोता-सामन्तों को उत्साहवर्द्धक प्रेरणा *अवश्य मिलती होगी—विजेताओं को भी और विजितों को भी। क्योंकि विजेता राजाओं की तो ये चारण प्रशंसा करते ही थे, विजित राजाओं* की भी करते थे।

यदि इस अनैतिहासिकता, प्रक्षिप्तता तथा अप्रामाणिकता पर ध्यान न दिया जाय तो साहित्यिक दृष्टि से ये काव्य अति सुन्दर हैं। इनमें वीर-रस का प्रौढ़ परिपाक हुआ है। युद्धवीर-रस की काव्य-शास्त्रीय सम्पूर्ण सामग्री का ऐसा एकत्र अभिनव समन्वय भारतीय आधुनिक भाषाओं के किसी भी काव्य में शायद ही उपलब्ध हो सके। चतुरंगिनी सेना की साजसज्जा, दोनों एक-समान प्रबल दलों की गुत्थमगुत्थी दर्प-पूर्ण शब्दावलि, सेना-प्रस्थान, असि-प्रहार एवं शस्त्रों की झंकार और शत्रुपक्ष के पलायन का प्रभावपूर्ण चित्रण इस काव्य की प्रमुख विशिष्टता है। सजीव शब्द-गुम्फ वीर-रस तथा तदनुकूल ओज, गुण और गौड़ी वृत्ति का पोषक है। वीर-रस के साथ गौण रूप से रौद्र, बीभत्स तथा भयानक रसों का स्वाभाविक समावेश है। अतः इनका भी सुन्दर परि-पाक इन ग्रन्थों में हुआ है। वाक्प्रहार का एक उदाहरण लीजिए। पृथ्वीराज का सन्देशवाहक चन्द उसके पिता सोमेश्वर के घातक भीमसेन को अपने स्वामी का सन्देश देता हुआ विभिन्न अस्त्रों को भी दिखाता जा रहा है—

एन जाल संग्रहो जाम जल भीतर पड्यो ।
इन नीसरनी ग्रहो जाम ग्रकासत चढ्यो ।
इन कुद्दालै घनो, जाम पायाल पलट्टौ ।
इन दीपक संग्रहो, जाम ग्रंधारं नट्टौ ।
इन ग्रंकुश ग्रसि बसि करौं, इन त्रिशूल हनि हनि सिरौं ।
जगमगं जोति जग उप्परं, तो उर प्रथम नरिंदरं ।[1]

पृ० रा० ४४-१०३

ग्रब भीमसेन का दर्पपूर्ण उत्तर सुनिए—

जाल ज्वाल करि भसम करस नीसरनी कट्टौं ।
घन भंजों कुद्दाल, दीप कर पवन झपट्टौं ।
ग्रंकुस ग्रंकुर मोड़ि तिनह त्रिशूल संकोड़ौ ।
हनन कहै ता हनौं, जोति जग मच्छर मोड़ौ ।
हों भीम भीम कंदल करों, मो उर डंक ग्रचंभ नर ।
मम करइ ग्रब्ब धरि लज्ज ग्रब, बित्तक पुब्ब परच्चि पर ।

वही, १०४

रणभूमि का एक चित्र प्रस्तुत है । युद्ध-वाद्य बज उठे । हथनाल, ग्रातसझार, बाण ग्रादि शस्त्रों का उन्मुक्त प्रयोग होने लगा । शिर चीख उठे, कबन्ध हहक पड़े, इधर-उधर बिखरी ग्राँतें पैरों में उलझने लगीं—

बज्जे बज्जन लाग दल, उभै हुंकि जगि बीर ।
विकसे सूर सपूर बढि, कंपि कलत्र ग्रधीर ।

---

१. ग्रर्थात् यदि भीमदेव जल में जायगा, तो इस जाल से पकड़ूँगा, यदि ग्राकाश में जायगा, तो यह नसेनी लगाऊँगा, यदि पाताल में जायगा तो इस कुदाल से खोद निकालूँगा, यदि ग्रँधेरे में छिपेगा तो इस दीपक से खोज लाऊँगा, इस ग्रंकुश से उसे ग्रपने वश में करके इस त्रिशूल से उसे मार डालूँगा ।

—चन्दवरदायी ग्रौर उनका काव्य, पृष्ठ १३४

छुट्टियं हथनारि दुभ्र दलगोम व्योमह गज्जियं ।
उड्डियं आतसभ्रार, भ्रारह धोम धुंधर सज्जियं ।
छुट्टियं बान कमान पानह, छाह आयस रज्जियं ।
निरषंत अच्छरि सूर सुब्बर, सज्जि पारथ मज्जियं ।

× × ×

परि सीस हवकहि धर हहक्कहि अंत पाइ अलुझ्झरं ।
उठि उट्टि कक्कसि केस उक्कसि सांइ सुथ्थल जुझ्झरं ।
एकेक चंपहि पीठ नंषहि धरनि धर परिपूरयं ।।
हकियं सुवेगं अलिय महमद करिय द्रग्ग करूरयं ।।[1]

पृ० रा० ४४।२२६–२२७, २३१

इसी प्रकार शत्रु-सेना के पलायन का एक दृश्य देखिए—

भगी अनी तत्तार लखि, दल पामारह चंपि ।
धक्यो राज पृथिराज तत, लेहु लेहु मुख जंपि ।।[2] पृ० रा० १०-५०

इन काव्यों में शृंगाररस का भी समावेश है । वीरता के साथ-साथ राजपूत राजाओं की विलासिता भी इतिहास-प्रसिद्ध है । युद्ध-श्रान्त इन योद्धाओं की विश्रान्ति के लिए यदि नारी का अंक ही सुखद शय्या थी तो यह कोई अस्वाभाविक भी नहीं था । इधर चारण आखिर कवि थे । उन्होंने राजपूतों के परस्पर संघर्ष की पृष्ठभूमि के लिए शृंगार से सम्बद्ध कथानकों का आश्रय लिया । यद्यपि ये सभी घटनाएँ इतिहासख्यात नहीं हैं, तथापि चरितनायक तथा शत्रुपक्ष की ईर्ष्या तथा क्रोध की अग्नि के भड़काने और कथानक को सजीव बनाने और उसमें प्रवाह लाने में ये सहायक सिद्ध हुई हैं । कभी चरितनायक तलवार के बल पर शत्रुदल

---

१. चन्दवरदाई० (वि० बि० त्रि० से) पृष्ठ १३६ उद्धृत ।
२. उस समय तत्तार सेना भागने लगी । यह देख परमार सेना ने शत्रु-सेना को धर दबाया । उसी समय शाह का पीछा करते हुए पृथ्वी-राज ने, शत्रु को 'पकड़ लो, पकड़ लो' ऐसी आज्ञा दी ।
पृ० रासो० (सा० सं० उदयपुर) पृष्ठ-२३८

को घोड़े की टापों के नीचे रौंदते-कुचलते हुए लावण्यमयी कामिनियों को खींच के ला रहे होते हैं, और कभी युद्ध-समाप्ति के उपरान्त वे उनके पास अनायास खिंचे चले आते हैं। इन कामिनियों में से इच्छनी नामक कामिनी की वयःसन्धि का रूप-सौन्दर्य निहारिए—

बालप्पन तन मध्य जोवन इमं, सरसी अ अग्गी जलं।
अंगं मध्यसु नीर झलमल ससी, सुब्भे सु संसव्वयं ॥[1]

पृथ्वी० रासो० १४।५

उधर शत्रुपक्ष भी विलास में इन राजपूतों से कम नहीं है। सुलतान मुहम्मद गौरी चित्ररेखा के वश में इस प्रकार हो गया था जिस प्रकार पतंग डोरी के, मनुष्य विधाता के और शिशुओं की वाक्शक्ति स्वर के वश में हो जाती है[2]—

बसि कीनो सरतान, चंग जिम भ्रमै डोरि कर।
ज्यों भावी बसि लोइ, बचन उद्योत बाल सुर ॥

पृ० रा० १३।१३

चारण-काव्य दो रूपों में उपलब्ध है—प्रबन्ध काव्य के साहित्यिक रूप में और वीरगीतों के रूप में। प्रथम रूप का प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ 'पृथ्वीराजरासो' है और दूसरे रूप का प्राचीन ग्रन्थ 'वीसलदेवरासो'।

इन चारण-काव्यों की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है—इनकी भाषा। विद्वानों ने इसे 'डिंगल' भाषा का नाम दिया है। साहित्यिक राजस्थानी मिश्रित पुरानी हिन्दी को 'डिंगल' कहते हैं। इस भाषा की रूप-रचना के सम्बन्ध में हम आगे इसी अध्याय में विशिष्ट प्रकाश डाल रहे हैं। इन काव्यों में संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों के अतिरिक्त अरबी और

---

१. उसके शरीर में शिशुत्व और यौवन का समावेश जल-मध्य कमल और ज्वलित अग्नि के रूप में हैं। अब उसके शरीर में शिशुत्व केवल जल-मध्य झलमलाते हुए चन्द्रमा के सदृश है।

पृथ्वी० रा० (सा० सं०) पृष्ठ २९४

२. पृ० रा० (सा० सं०) पृष्ठ २९१।

फ़ारसी के भी शब्द पाये जाते हैं। बहुलता तद्भव शब्दों की है, जिनकी व्याकरण-सम्मत रूप-रचना डिंगल भाषा के अनुरूप है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के समान इस भाषा के अधिकांश शब्द-रूप संश्लिष्ट हैं।

निष्कर्ष यह है कि—

(१) चारण-काव्य ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वहीन हैं क्योंकि आजीविका-प्राप्ति की दृष्टि से इनमें अतिरंजना से काम लिया गया है; और कवित्व की दृष्टि से कल्पना से। इधर शताब्दियों पर्यन्त इनमें परिवर्तन तथा परिवर्द्धन भी होता रहा है।

(२) इन काव्यों से तत्कालीन संकुचित राष्ट्रिय भावना का आभास मिलता है; पर साहित्यिक दृष्टि से यह उत्तम कोटि के काव्य हैं, जिनमें प्रधान रस वीर है और उसके पोषक रस रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि हैं। कथानक की पृष्ठभूमि के रूप में शृंगार रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है।

(३) चारण-काव्य दो रूपों में उपलब्ध हैं—प्रबन्धात्मक रूप में और वीरगीतों के रूप में।

(४) इन काव्यों की भाषा 'डिंगल' है।

(५) वीर-काव्य की यह परम्परा इसी काल में समाप्त नहीं हो गई, शताब्दियों पर्यन्त आगे भी चलती रही। आदिकालीन सभी वीरगाथा-काव्य भाटों के हाथों परिवर्द्धित होते रहे। यह तो इस विकास-परम्परा का प्राचीन रूप था, पर इसे नवीन रूप भी मिलता गया। भक्तिकाल में पृथ्वीराज, दुरसा जी, बांकीदास, सूर्यमल्ल आदि ने डिंगल भाषा में वीरकाव्य प्रस्तुत किये। इनके अतिरिक्त तुलसी के 'रामचरितमानस' और 'कवितावली' तथा केशव की 'रामचन्द्रिका' के युद्ध-वर्णनों में वीररस का सुन्दर परिपाक हुआ है। इस दिशा में रीतिकाल में भूषण, लाल और सूदन के अतिरिक्त पद्माकर, गुरु गोविन्दसिंह, सबलसिंह, गोकुलनाथ, श्रीधर, जोधराज और चन्द्रशेखर के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल में देशानुराग ने राष्ट्रियता का आवरण धारण कर लिया। मैथिलीशरण

गुप्त और रामधारीसिंह 'दिनकर' 'राष्ट्रकवि' कहे जाते हैं। वियोगी हरि, श्यामनारायण पाण्डेय वीररस के अमर गायक हैं।

चारण-कवियों का परिचय

१. दलपत विजय

'खुमानरासो का मूल-लेखक कौन है?'—यह प्रश्न अभी तक समस्या बना हुआ है। शिवसिंह सेंगर इसके रचयिता के विषय में मौन हैं। हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज में 'खुमानरासो' की जो प्रतियाँ मिली हैं, उनमें से कुछ प्रतियों में लेखक का नाम 'दलपत विजय' अंकित है। पर अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका कि दलपत विजय रचना का मूल-लेखक है अथवा उसका उद्धर्ता है।

राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक जनरल टॉड ने चित्तौड़ के खुम्मान नाम के तीन शासकों का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में जिस खुम्मान का चरित्र है वह अनुमानतः खुम्मान द्वितीय है।[१] क्योंकि इस रचना में बग़दाद के ख़लीफ़ा (धर्मगुरु) का उल्लेख है। इस ख़लीफ़ा ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया था और जिस खुम्मान ने उसे परास्त किया था, वह खुम्मान द्वितीय ही हो सकता है क्योंकि उक्त ख़लीफ़ा संवत् ८७० से ८९० तक अलमामूँ बग़दाद के धर्मगुरु रहे और खुम्मान द्वितीय का शासनकाल भी अनुमानतः संवत् ८७० से ९०० तक माना जाता है। अतः इस अनुमान से 'खुमानरासो' का चरितनायक खुम्मान द्वितीय ही हो सकता है। पर चूँकि इस ग्रन्थ में प्रताप तक का वर्णन है, अतः इसे परवर्ती अर्थात् १७वीं शताब्दी की रचना मानने को बाध्य होना पड़ता है। अनुमान यह भी है कि दलपत विजय खुमानरासो का मूल-लेखक रहा होगा। वह या तो खुम्मान द्वितीय का समकालीन होगा या कुछ काल परवर्त्ती।

---

१. वंशावलि : कालभोज बाप्पा→खुम्माण प्रथम→मत्तट→भर्तृपट-सिंह→खुम्माण द्वितीय→मयायक→खुम्माण तृतीय।

श्री मोतीलाल मेनारिया ने दलपत विजय के सम्बन्ध में लिखा है कि दलपत विजय तपागच्छीय जैन-साधु शान्तिलाल के शिष्य थे। जैन-दीक्षा लेने के बाद इसका नाम दौलत विजय पड़ा।

२. नरपति नाल्ह

आदिकाल के गेय साहित्य में नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेवरासो' की चर्चा विशेष रूप से की जाती है। गेय साहित्य होने के कारण वस्तुतः 'बीसलदेवरासो' ही 'रासो' कहाने योग्य है। अन्य पृथ्वीराजरासो आदि ग्रन्थों में 'रासो' शब्द का व्यवहार रूढ़ अर्थ में किया जाता है। आदिकालीन अन्य ग्रन्थों की भाँति इस ग्रन्थ के भी रचयिता, रचना-काल और चरितनायक के सम्बन्ध में सभी इतिहासकार एकमत नहीं हैं।

रचयिता—इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में अधिक चर्चा तब चली जब श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'अजमेर' के नरपति नाल्ह को 'गुजरात' के नरपति नाल्ह से अभिन्न मान लिया। इस सम्बन्ध में उनका प्रमुख तर्क यह है कि दोनों कवियों के ग्रन्थों में भाव-साम्यता है। पर विद्वानों ने प्रथम का समय तेरहवीं शताब्दी माना है और दूसरे का समय सोलहवीं शताब्दी। अतः मेनारिया जी की धारणा संगत प्रतीत नहीं होती। शायद इस सम्बन्ध में आगे अधिक चर्चा न चलती, पर डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने "वे (मेनारिया जी के तर्क) हँसकर उड़ा देने योग्य नहीं हैं"—कहकर मेनारियाजी के तर्कों और प्रमाणों का अपरोक्ष रूप से समर्थन किया है। वस्तुतः देखा जाय तो केवल भाव-साम्य से किसी रचना तथा रचयिता के सम्बन्ध में ऐकान्तिक निर्णय नहीं दिया जा सकता क्योंकि मानव-मन की एकता के कारण इस साम्यता का पाया जाना नितान्त संभव है। इधर स्वयं कवि ने अपने ग्रन्थ का रचनाकाल 'बारा सौ बहोत्तराँ' दिया है। इसमें 'बहोत्तराँ' पाठ तो भ्रमपूर्ण हो सकता है, पर 'बारह सौ' तो स्पष्ट है। अतः १६वीं शती के कवि को १३वीं शती के कवि से अभिन्न मानना समुचित नहीं है।

रचनाकाल—इस ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में उठा प्रश्न भी

अकारण प्रतीत नहीं होता। रासो के पाठ—

बारह सौ बहोत्तरां मझारि जेंठ बदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसायण आरंभई सारदा तूठी ब्रह्म-कुमारि॥

—के अनुसार ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् १२१२ कहा गया है। यह शक-संवत् है या विक्रम संवत्?—इस समस्या का समाधान श्री सत्यजीवन वर्मा को म० म० ओझाजी द्वारा लिखे पत्र में इस कथन से कि "राजस्थान में विक्रम संवत्सर का प्रचलन था" किंचित् सरल हो गया है। ऐसी समस्याओं का समाधान प्रायः प्रचलित रूढ़ियों के आधार पर ही किया जाता है। 'बहोत्तरां' से तात्पर्य द्वादशोत्तर (१२) न लेकर बहत्तर (७२) लेने से इस ग्रन्थ का रचना-काल सं० १२७२ भी माना गया है। पर यह समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इस काल में बीसलदेव चतुर्थ का—जिसका कि कवि समकालीन है—होना इतिहास-सम्मत नहीं है।

इधर श्री गजराज बी० ए० (बीकानेर निवासी) ने 'बीसलदेव-रासो' की एक प्राचीन प्रति के अनुसार उसका निर्माण-संवत् १०७३ माना है—

संवत सहस तिहत्तर जाणि, नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि।

अब दो संवतों की समस्या उपस्थित है। संवत् १२१२ और संवत् १०७३। इसका निर्णय ग्रन्थ की भाषा को देखकर किया जा सकता है। यद्यपि भाषा के संबंध में भी विद्वानों के मदभेद हैं जिसकी चर्चा हम आगे यथा-स्थान कर रहे हैं। 'बीसलदेवरासो' की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश नहीं है। यदि संवत् १०७३ सूचित करने वाली प्रति परिनिष्ठित अपभ्रंश का रूप उपस्थित करती है तो उसे मूल मानना चाहिए, पर संभवतः 'संवत सहस तिहत्तर' पाठ भी किसी भट्ट की कृपा से प्रक्षिप्त हो गया है। अतः हमारे विचार में सं० १२१२ ही ठीक प्रतीत होता है। इस धारणा के समर्थन में यह तर्क भी उपस्थित किया जा सकता है कि बीसलदेव (विग्रहराज) चतुर्थ का शासन-काल संवत् १२१० से १२२० माना जाता है, और यह कवि इसका समकालीन था।

चरितनायक—इसके चरितनायक के विषय में भी विवाद है। नरपति

नाल्ह विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन है, यह हम ऊपर कह आये हैं। पर इसका चरितनायक विग्रहराज चतुर्थ है, यह मानने के लिए हमारे सम्मुख कोई आधार नहीं है। इस ग्रन्थ के कथानक के अनुसार एक तो विग्रहराज चतुर्थ का विवाह परमारनरेश भोज की पुत्री राजमती से होना संभव नहीं है, क्योंकि भोज का शासनकाल विक्रम की ११वीं शती है, न कि १३वीं शती। यदि विग्रहराज तृतीय को रासो का चरितनायक मान लिया जाय तो इस समस्या का समाधान हो जाता है। विग्रहराज तृतीय का शासनकाल संवत् १०३० से सं० १०५६ माना जाता है। इधर म० म० ओझाजी भी यह सिद्ध कर चुके हैं कि भोज की पुत्री विग्रहराज तृतीय से ही विवाहित थी। कोई आश्चर्य नहीं यदि मुस्लिम आक्रमणों के भय से हिन्दू राजा विग्रहराज तृतीय के नेतृत्व में संगठित होने लगे हों और भोज ने अपनी पुत्री देकर उसकी राजनयिक अधीनता पुष्ट की हो।

निष्कर्ष यह कि—

(१) 'बीसलदेवरासो' का रचयिता नरपति नाल्ह विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन और उसका सभाकवि है। इसका आधारभूत तर्क संवत् १२१२ का उल्लेख है।

(२) वह गुजरात के नरपति नाल्ह से सर्वथा भिन्न है।

(३) रासो का रचना-काल संवत् १२१२ विक्रमी है; आगे-पीछेकी तिथियाँ भट्टभणन्त प्रतीत होती हैं।

(४) बीसलदेवरासो का चरितनायक 'बीसलदेव' चतुर्थ (सं० १२१०–१२२०) नहीं है, बल्कि बीसलदेव तृतीय (सं० १०३०–१०५६) है; ऐतिहासिक घटनाएँ इस धारणा की पुष्टि करती हैं।

भाषा—इस ग्रंथ की भाषा ने एक ओर अपभ्रंशपन नहीं छोड़ा; तथा दूसरी ओर उसका हिन्दीपन भी—चाहे उसे प्रक्षिप्त समझा जाय—पूरी तरह से विकसित नहीं हुआ। इस प्रकार इस ग्रंथ की भाषा को उस युग की भाषा का संधिस्थल कह सकते हैं। वस्तुतः भाषा का यही सन्धिस्थल ही

उसे संवत् १२१२ की कृति सिद्ध करता है। ग्यारहवीं शती की अधिकांश रचनाएँ परिनिष्ठित अपभ्रंश में हैं और चौदहवीं शती की रचनाएँ ठेठ डिंगल या पिंगल में लिखी गई हैं। अतः यह रचना १३वीं शती की प्रतीत होती है।

इस ग्रन्थ की भाषा के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० रामकुमार वर्मा के निम्न कथन उल्लेखनीय हैं—

"भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है।.........इस ग्रन्थ से एक बात का आभास अवश्य मिलता है। वह यह कि शिष्ट काव्य-भाषा में ब्रज और खड़ीबोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान में भी व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा हिन्दी ही थी जो 'पिंगल' भाषा कहलाती थी। 'बीसलदेवरासो' में बीच-बीच में बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिन्दी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है।" —पं० रामचन्द्र शुक्ल।

"बीसलदेवरासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं। अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्यःविकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

—डॉ० रामकुमार वर्मा।

इस ग्रन्थ का काव्य-सौन्दर्य अनूठा है। इस काव्य का कथानक नवोढा प्रोषितपतिका की विरह-व्यंजना पर आधारित है। काव्य के कतिपय पद्य देखिए—

हूं बराकी धणी। मोकियउ रोस।
पांव की पाणही सुं कियउ रोस॥
मे य हसंतो बोलीयो।
आपणइ मान हतो मानस छइ सांस॥
उभी मेल्हे चालीयो।
जल विण राजा क्युं जीवइ ह्वांस॥

३. चंदवरदाई

चारण-साहित्य के प्रसंग में कविवर 'चंद' तथा उसकी महाकाय रचना 'पृथ्वीराजरासो' का उल्लेख बड़े समादर के साथ किया जाता है। ऐतिहासिक पक्ष पर घोर मतभेद होने पर भी उसके काव्यपक्ष पर सभी सहृदय आस्था रखते हैं। इस आस्था का आभास केवल इतने मात्र से लगाया जा सकता है कि चंद हिन्दी भाषा के 'आदिमहाकवि' माने जाते हैं और इनका ग्रन्थ 'आदि महाकाव्य'। अर्थात् इस दृष्टि से हम इन्हें 'हिन्दी का वाल्मीकि' मानते हैं। 'रासो' पर इतिहासकार विवाद कर सकते हैं, पर सहृदयजन नहीं। वे तो इसे पढ़-सुनकर मुग्ध हो जाते हैं।

जीवनी—चंद कवि के जन्म आदि के सम्बन्ध में नाना मत पाये जाते हैं। यहाँ तक कि लब्ध पृथ्वीराजरासो के अन्तःसाक्ष्य पर भी विचार करने से किसी एक निर्णय तक पहुँचने में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। यथा—

तब बोलाय सोमेसवर लौहानौ अरु चंद।
लै आवहु अजमेर घर पहौते घरह सु इंद॥

इससे ज्ञात होता है कि चंद पृथ्वीराज चौहान से आयु में काफ़ी बड़े थे। यहाँ तक कि वे उसके पिता सोमेश्वर की राजसभा में भी विद्यमान थे। यदि इसे सत्य मान लें तो चंद की पृथ्वीराज के बालसखा, सामन्त और मन्त्री होने वाली बात—जिसे कि सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं—बनती नज़र नहीं आती। हालाँकि दोनों के एक-साथ जन्म-मरण की चर्चा भी स्वयं चन्द ने उठाई हुई है। यथा—

"इक ठाम उप्पजै इकथल मरण निधानं॥"
"इक दीह ऊपन्न इक्क दीहँ समाय क्रम॥"

इसी बात को कई छन्दों में बार-बार दुहराया गया है। 'चन्द के पिता का नाम क्या था ?'—इसका उत्तर भी निर्भ्रान्त शब्दों में नहीं दिया जा सकता। कुछ पद्यों में 'वेनराव' का उल्लेख आता है, कुछ पद्यों में 'मल्लराव' का।

इधर कुछेक इतिहासकारों ने चन्द की वंशावलि की भी चर्चा की है,[1] पर वह कहाँ तक ठीक है ? इसका निर्णय कर सकना कठिन है। इनकी जाति ब्रह्म भाट्ट थी। इन्होंने अपने परिचय-वाक्यों में यथास्थान 'भट्ट' संज्ञा का उल्लख किया है। इनके दस पुत्र बतलाये जाते हैं पर उनमें पिता के अनुरूप योग्य, गुणी और कवि केवल 'झल्ल' या 'जल्हन' था जिसने अपने पिता की रचना को पूर्ण किया। 'पृथ्वीराजरासो' में प्राप्य एक पंक्ति के अनुसार चन्द का निवास-स्थान लाहौर माना जाता है।[2]

रचना—चन्द की जीवनी के सम्बन्ध में इतनी सी चर्चा करने के उपरान्त अब उसकी रचना के ऐतिह्यपक्ष और काव्यपक्ष पर विचार किया जाता है।

प्रतियाँ—इस समय तक रासो की भिन्न-भिन्न प्रतियाँ पाँच कलेवरों में मिलती हैं—

(क) बृहत् रूपान्तर—इस रूपान्तर की प्रतियाँ सं० १७५० के बाद लिखी गई हैं। इनमें अध्यायों के स्थान पर 'समयो' (समय) का प्रयोग है। इसमें ६९ समयो तथा १६३०६ छन्द हैं।[3]

(ख) मध्यम रूपान्तर—ये प्रतियाँ संवत् १७२३ तथा संवत् १७३९–४० में लिपिबद्ध हुई हैं। इनमें समयों के स्थान पर 'प्रस्ताव' का प्रयोग हुआ है। इनमें ७००० पद्य हैं।[4]

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य शुक्ल : छठा संस्करण : पृष्ठ ३९।

२. **बलिभद्र सु नागौर चंद उप्पजि लाहौरह। पृ० रासो १।५८४।**

३. यह प्रति जयपुर-राज्य-पुस्तकालय में है, काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इसी संस्करण को छापा है।

४. इसकी प्रतियाँ पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर, साहित्यसदन अबोहर तथा जयपुर के जैन-पुस्तक-भण्डारों में सुरक्षित हैं। म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इसी प्रति का सम्पादन किया है।

(ग) लघुरूपान्तर—ये प्रतियाँ सत्रहवीं शताब्दी में लिपिबद्ध हुईं। इनमें अध्याय के स्थान पर खण्ड का प्रयोग हुआ है। इनमें १९ खण्ड और ३५०० पद्य हैं।[1]

(घ) लघुतम रूपान्तर—ये प्रतियाँ भी सत्रहवीं शताब्दी में लिपिबद्ध हुई हैं। इनमें अध्याय या प्रस्ताव या खण्ड—किसी का भी निर्देश नहीं है। पद्य सं० १३०० है।[2]

(ङ) नवीन रूपान्तर—इस प्रति में केवल छप्पय छन्द का प्रयोग है। इसका लिपिकाल संवत् १४०३ है। यह प्रति जैनमुनि कांतिसागरजी ने खोज निकाली है।[3]

इन पांच रूपान्तरों से ये तीन बातें स्पष्ट हैं—

१. उत्तरोत्तर रूपान्तरों में श्लोक संख्या बढ़ती गई है।

२. उत्तरोत्तर रूपान्तरों में भाषा भी बदलती गई है।

३. रूपान्तरों का उपलब्धि-क्षेत्र विस्तृत होता गया है।

उद्धर्ता—रासो के उद्धार अथवा कलेवर-विस्तार करने वालों में तीन व्यक्तियों की चर्चा की जाती है—

भल्ल—भल्ल या जल्हन चन्दकवि का पुत्र था। पिता ने पुत्र को स्वयं आज्ञा दी है कि अपूर्ण रासो-ग्रन्थ का निर्माण आगे चलना चाहिए; यथा—

पुस्तक जल्हन हत्थ दे चलि गज्जन नृपकाज

भारतीय साहित्य में इस दायित्व-भार-वहन का उदाहरण नया नहीं है। बाणभट्ट के पुत्र ने भी पिता की मृत्यु के उपरान्त उक्त दायित्व को निभाते हुए 'कादम्बरी' का शेष भाग लिखा था। वस्तुतः भल्ल कवि को

---

१. इसकी प्रति अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में है।

२. यह प्रति तथा 'ख-ग' वाली प्रतियाँ भी श्री अगरचन्द नाहटा के पास हैं।

३. अपभ्रंश साहित्य : डॉ० हरिवंश कोछड़ : पृष्ठ ११०।

इसका उद्धर्ता न मानकर कर्ता मानना चाहिए। इसी बात को झल्ल ने स्वयं भी लिखा है—

प्रथिराज सुजस कवि चन्दकृत चन्दनन्द उद्धरिय इमि।

चंदसिंह—रासो के लघुरूपान्तर में "चन्द नन्द उद्धरिय इमि" पाठ के स्थान पर "चन्दसिंह उद्धरिय इम" यह पाठ है। यह रूपान्तर सोलहवीं शताब्दी से मिलना आरम्भ होता है। यह चन्दसिंह कौन है ?—इसका उत्तर पं० उदयनरायण तिवारी ने इस प्रकार दिया है—चाँदसिंह अथवा चन्दसिंह महाराजा मानसिंह के छोटे भाई तथा अकबर के सेनापति सूरजसिंह के पुत्र थे। इस प्रकार चन्दसिंह मानसिंह का भतीजा था।

अमरसिंह—रासो का उद्धार करने वालों में महाराज अमरसिंह भी कहे जाते हैं। ये अमरसिंह द्वितीय बताये जाते हैं। इनका राज्यकाल संवत् १७५५ से १८०८ है। बृहत् रूपान्तर की प्रतियाँ भी संवत् १७५० के बाद की हैं। इनके उद्धार-कर्ता होने के प्रमाण में यह दोहा उपस्थित किया जाता है—

छन्द प्रबन्ध कवित्त यति, साटक गाह दुहत्थ।
लघु गुरु मंडित खण्डियह पिंगल अमर भरत्थ॥

पृथ्वीराजरासो का ऐतिहासिक पक्ष—

रासो हिन्दी का आदिमहाकाव्य है। इस काव्य में अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ भी प्रसंगवश आ गई हैं। पर इसमें वर्णित ऐतिहासिक घटनाएँ उसके लिए उत्कर्षदायक सिद्ध न होकर अपकर्षदायक सिद्ध हो रही हैं; और इसे अप्रामाणिक ग्रन्थ मानने को बाध्य करती हैं। तीस-पैंतीस वर्षों से इन घटनाओं की शोध हो रही है जिनका सिंहावलोकन करना हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए अनिवार्य हो जाता है।

रासो की प्रामाणिकता के विषय में दो विचारधाराएँ पाई जाती हैं—एक विपरीत खण्डनमूलक विचारधारा है जिसके प्रतिपादक हैं—प्रो० बूलर, श्री मुरारीदान जोधपुरी, कविराज श्यामलदास, मुन्शी देवी-

प्रसाद, म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० रामकुमार वर्मा। दूसरी मण्डनमूलक अनुकूल विचारधारा है जिसके प्रतिपादक हैं—डॉ० श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, म० म० हर प्रसादशास्त्री, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या और म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित। इनके अतिरिक्त कुछ एक विद्वान् तटस्थ रहे हैं जैसे कि डॉ० ग्रियर्सन; और कुछेक विद्वान् तटस्थभाव से अनुसन्धान में संलग्न हैं जैसे—अगरचन्द नाहटा और नरोत्तम स्वामी। इनके पक्ष-विपक्ष पर कई उपशीर्षकों के अन्तर्गत विचार करना उपयुक्त होगा।

(क) चन्द का अस्तित्व—

पहले-पहल प्रो० बूलर ने (अपनी काश्मीर-यात्रा सन् १८७७ में उपलब्ध) जयानक-रचित 'पृथ्वीराजविजय' नामक संस्कृतकाव्य के आधार पर पृथ्वीराजरासो की अप्रामाणिकता घोषित करते हुए चन्द कवि के अस्तित्व में ही सन्देह प्रकट किया था। क्योंकि जयानक ने अपने काव्य में पृथ्वीराज की राजसभा का वर्णन किया है, पर उसमें चन्द का कहीं नाम नहीं है। उसमें पृथ्वीराज के दरबारी बन्दीजन 'पृथ्वीभट्ट' का तो उल्लेख है, पर 'चन्द' का उल्लेख नहीं है। उस काव्य के निम्नोक्त उद्धरण से—

तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत्।
संग्रहं यः सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात्॥

—'चन्द्रराज' नामक किसी कवि का होना तो सिद्ध होता है, पर यह नाम चन्दबरदाई का सूचक प्रतीत नहीं होता। म० म० ओझा जी ने इसे 'चन्द्रक' कवि का सूचक बताया है जिसका उल्लेख क्षेमेन्द्र कश्मीरी ने भी किया है। इसी तथ्य की पुष्टि कुछेक शिलालेखों से भी हो जाती है। उनमें भी चन्द का कहीं उल्लेख नहीं है। इनके अतिरिक्त पन्द्रहवीं शताब्दी के नयनचन्द्र सूरि-कृत संस्कृत-ग्रन्थ 'हम्मीरमहाकाव्य' में चौहान-वंश का वर्णन है पर चन्द का नाम कहीं भी नहीं। इसी प्रकार उनके

'रंभामंजरी' नामक नाटक में, जिसका नायक जयचन्द है, रासो या चन्द का उल्लेख नहीं है। इस प्रकार ये सभी तथ्य यद्यपि चन्द के अस्तित्व को न मानने के लिए बाध्य करते हैं, पर किसी ग्रन्थ अथवा शिला-लेख में अन्य कवि का नाम न होना कोई बहुत बड़ा तर्क नहीं है कि वह व्यक्ति उस काल में विद्यमान नहीं था। ईर्ष्यावश या किसी अन्य कारणवश उसका उल्लेख न किया जाना भी नितान्त सम्भव है।

इधर कतिपय विद्वान् चन्द का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। म० म० हरप्रसादशास्त्री तथा प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी ने तो चन्द के वंशधरों का पूरा वंशचित्र भी दिया है। यह वंशावलि इन्हीं के वंशज भक्त-कवि सूरदास की वंशावलि से साधारण हेर-फेर के साथ पूरी-की-पूरी मिल जाती है।

(ख) घटनाएँ—

रासो में वर्णित घटनाएँ इतिहास के अनुकूल नहीं हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. चौहान, परमार तथा सोलंकी राजाओं की अग्निकुल से उत्पत्ति।

२. रासो में पृथ्वीराज को अनंगपाल का दौहित्र माना गया है; पर वस्तुस्थिति यह है कि सांभरी नरेश अर्णोराज की पत्नी (जयसिंह की पुत्री) के गर्भ में सोमेश्वर का जन्म हुआ था। उसका विवाह चेदिराज की कन्या कर्पूरदेवी से हुआ था। अतः अनंगपाल का 'मातामह' के रूप में उल्लेख सम्भव नहीं है।

३. रासो में पृथ्वीराज को दिल्लीश्वर लिखा है। इसके विपरीत तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने पृथ्वीराज को केवल अजमेर-नरेश ही लिखा है।

४. शहाबुद्दीन ग़ौरी की मृत्यु रासो में शब्दवेधी बाण से हुई बताई गई है पर इतिहासकारों ने ग़ौरी की मृत्यु का कारण गक्खरों का विद्रोह बताया है।

५. रासो में चित्तौड़-नरेश समरसिंह से पृथ्वीराज की बहन पृथा

का विवाह होना लिखा है और यह भी लिखा है कि शहाबुद्दीन ग़ौरी से युद्ध करते हुए समरसिंह वीरगति को प्राप्त हुए। पर इसके विपरीत संवत् १३३५–४२ में समरसिंह द्वारा लिखवाये गये शिलालेख उसका जीवित होना सिद्ध करते हैं।

(ग) तिथियाँ—

रासो में लिखित संवत् भी इतिहास से मेल नहीं खाते। चन्द ने संवत् १११५ में पृथ्वीराज का दिल्ली में जन्म होना, संवत् ११२२ में गोद जाना, संवत् ११५१ में कन्नौज-प्रस्थान तथा संवत् ११५८ में शहाबुद्दीन ग़ौरी से युद्ध होना लिखा है। पर इन तिथियों के विरोध में निम्नलिखित तथ्य इतिहास में इतस्ततः बिखरे पड़े हैं। यथा—

(क) पृथ्वीराज के स्वयं के लिखवाये हुए चार दानपत्र और शिलालेख उपलब्ध हैं; इनका उत्कीर्ण-समय संवत् १२२४ और १२४४ के मध्य पड़ता है।

(ख) जयचन्द के लिखवाये दानपत्र व शिलालेख भी उपलब्ध हैं जो संवत् १२४३ तक के समय में लिखवाये गये हैं।

(ग) इसी प्रकार परमर्दिदेव के भी शिलालेख व दानपत्र प्राप्य हैं जिनका समय १२२३ से १२५८ का मध्यवर्ती है।

(घ) फ़ारसी इतिहासकारों ने पृथ्वीराज तथा ग़ौरी के मध्य प्रथम युद्ध का समय ५८७ हिजरी (अर्थात् १२४८ संवत्) लिखा है।

पर इन विरोधी संवतों के समाधान के लिए पं०मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने एक युक्ति खोज निकाली है। रासो के इस—

एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनन्द।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भै पृथिराज नरिंद॥

दोहे के आधार पर 'अनन्द' अर्थात् अ=शून्य (०) और नन्द=नौ (९) के अंक जोड़ने से ९० वर्ष का व्यवधान सभी तिथियों में ठीक बैठता है। अर्थात् इतिहास-सम्मत संवत्सरों में ९० वर्ष कम कर दें तो रासो-लिखित संवत् ठीक उतरते हैं। दूसरे शब्दों में, रासो-लिखित संवत्सरों में यदि

९० वर्ष जोड़ दें तो तिथियाँ इतिहास के विरुद्ध नहीं पड़तीं।[1]

निःसन्देह ऐतिहासिक तिथियों में और रासो-लिखित तिथियों में ९० वर्ष का अन्तर सर्वत्र पाया जाता है। पर अब प्रश्न उठता है कि इस संवत्सर का नाम क्या दें ? इस सम्बन्ध में म० म० ओझा जी का कहना है कि राजस्थान में विक्रम संवत् का प्रचलन रहा है, किसी अन्य का नहीं। यदि रासो की रचना राजस्थान में हुई होती अथवा किसी राजस्थानी कवि ने इसकी रचना कहीं अन्यत्र की होती तो इसे विक्रम-संवत् मान लिया जाता। पर इस ग्रन्थ की रचना दिल्ली में हुई है, तथा ग्रन्थकार लाहौर (पंजाब) का निवासी है। अतः इस स्थिति में निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह कौनसा संवत् था जिसमें विक्रम-संवत् से ९० वर्ष का अन्तर पड़ता है।

पृथ्वीराज रासो का काव्य-पक्ष—रासो एक सफल महाकाव्य है। इसमें प्रधानतया दो रस हैं—शृंगार और वीर। पृथ्वीराज जितना रणबांकुरा है, उतना सजीला-कटीला, बाँका जवान भी है। कवि ने उसके इन दोनों रूपों को बड़ी सुघड़ता से निभाया है। राजा पृथ्वीराज समर के लिए तैयार हो गये हैं, संयोगिता ने जब सुना तो प्रथम विरहानु-भूति के कारण वह मूर्च्छित हो गई। सखियों ने उसे प्रेरित किया कि वह एक बार अपने स्वामी का जयकार बोल दे पर उसके होंठ काँपकर रह गये और उधर राजा युद्ध के लिए चल दिया—

नृप पयान पोमिनी परषि घटि साहस घटि एक।
सुकथ केलि पीयूष पिय जतन करहि सषि केक।
जतन करहिं सषि केक हाय करि जय जय जंपहि।
दन्त कष्टकर मिंडि थरकि थरहर जिय कंपहि।
इह पयान नृप करत परी संजोगि धरा धपि।
सषी करत सब जतन चलत पयान तहाँ नृप॥

---

१. इससे मिलते-जुलते अन्य दोहे का उल्लेख भी किया जाता है, जिसमें श्लेष द्वारा 'नौ' अंकों की गुप्ति की चर्चा है।

इसी प्रकार जुगुप्सा, शृंगार, और वीर आदि भावों की अनूठी व्यञ्जनाओं से यह काव्य भरा पड़ा है।

इस काव्य में ऋतु, नखशिख, नगर, आखेट, वन, सेना, युद्धादि के वर्णन बड़े मनोमोहक और मुँह-बोलते रूपचित्र जैसे लगते हैं। देखिए, कन्नौज के गंगातट पर पानी भरने वाली सुन्दरियों का वर्णन कितना आकर्षक है—

द्रिग चंचल चंचल तरुनि चितवत चित्त हरंति।
कंचन कलस झकोरि कै सुन्दरि नीर भरंति॥

भावपक्ष के अतिरिक्त इस काव्य का कलापक्ष भी चमत्कारपूर्ण है। अलंकारों की सुन्दर योजनाएँ दर्शनीय हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, उदाहरण, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा को सर्वाधिक स्थान मिला प्रतीत होता है। अनुप्रास तो कहीं छूटने नहीं पाया। सांगरूपक का एक चित्र देखिए—

भर अरत्त सांई विरत्त गौरी सुरतानं।
संभरूप संजोगि गिल्यौ चहुआन सुभानं॥

इस एक ही उदाहरण से चित्रों की स्वाभाविकता का अनुमान लगाया जा सकता है।

रासो में लगभग ७२ छन्द देखने में आते हैं जिनमें मात्रिक ३२ प्रकार के, वर्णिक ३० प्रकार के, उभयवृत्त ६ प्रकार के तथा अन्य छन्द ४ प्रकार के हैं। इसमें मूल रासो के कितने हैं और क्षेपक भाग के कितने?—इस प्रश्न का उत्तर दे सकना असम्भव है।

भाषा—इस ग्रन्थ की भाषा के विषय में भी विवाद है। प्रायः सभी आलोचकों ने इसकी भाषा को राजस्थानी या डिंगल कहा है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इसे पिंगल माना है। जैनमुनि ने जिन पद्यों को पुरातन प्रबन्ध-संग्रह से उद्धृत करके यह बताया है कि वे मूल पृथ्वीराजरासो के प्रतीत होते हैं, वे छन्द विशुद्ध अपभ्रंश के हैं। अतः इसे मूलतः किस भाषा की निधि माना जाय?—यह एक समस्या है। इसके अतिरिक्त इस

ग्रन्थ में वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, पैशाची, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, ब्रज आदि आर्यभाषाओं के अतिरिक्त अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के शब्द भी उपलब्ध हो जाते हैं। विभिन्न भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में कवि ने स्वयं भी उल्लेख किया है; यथा—

षट्भाषा पुराणं च कुराणं कथितं मया।

रासो के कई पद्यों में कवि के षड्भाषाज्ञान की भी चर्चा है। इस प्रकार बहुभाषा-प्रयोग तथा क्षेपक पाठों की बहुलता के कारण निश्चयपूर्वक कोई निर्णय दे सकना कठिन है। इसकी भाषा को 'अपभ्रंश' इसलिए नहीं कह सकते कि उसका यह रूप परिमार्जनजन्य है, मौलिक नहीं। उसका 'राजस्थानीपन' भी कुछ-कुछ ऐसा ही है क्योंकि चन्द्रसिंह तथा अमरसिंह ने राजस्थान में इसका अपने ढंग से सम्पादन किया है, अतः उस पर डिंगलपन का मुलम्मा चढ़ गया है। वस्तुतः रासो में न तो परिनिष्ठित अपभ्रंश का रूप है, न राजस्थानी का और न पिंगल का। इसमें अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के मध्यवर्ती रूप का—जिसे गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' कहा है—होना सर्वथा संगत प्रतीत होता है, जिसको इस समय रासो में से ढूँढ़ निकालना असम्भव-सा नज़र आता है।

रासो के कतिपय पद्यों का निदर्शन लीजिए—

(१)

इक्कु बाण पुहवीसु जु पइं कइंवासह मुक्कओ।
उर भितरि खड़हडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउं भंभइ सुमेसर नंदण।
एहु सु गडि दाहिमओं खणइ खद्दइ सइंभरिवण।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह।
नं जाणउं चंद बलिद्दिउ कि न वि छुट्टइ इह फलह॥

(२)

अगहु म गहि दाहिमओ रिपुराय खयंकरु ।
कूडु मंत्र मम ठवओ एहुं जं बूयमिलि जग्गरु ।
सहनामा सिक्खवउं जइ सिक्खिविउं बुज्झई ।
जंप्पइ चंद वलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ ।
पहु पहुविराय सहंभरि धणी सयंभरि सउणइ संभरिसि ।
कइंवास विग्रास विसट्ठविणु मच्छिबंधि बद्धओ मरिसि ।।

(३)

त्रिण्हि लक्ष तुसार सवल पाषरी अइं जसु हय ।
चऊदसइं भयमत्त दंति गज्जंति महाभय ।
बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर ।
ल्हूसडु अरु वलुयान संख कु जाणइ तांह पर ।
छत्तीस लक्ष नराहिवर बिहि बिनडिओ हो किम भयउ ।
जइचंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मुड कि धरि गयउ ।।

(४)

जिम जिम तन जर जरयो वहसि वर धायो तिम तिम ।
जिम जिम अन्त रुलंत लछ्ब दल तिन गनि तिम तिम ।
जिम जिम करिवर परत उठत जिम सीस सहित वर ।
जिम जिम रुधिर झरंत सघन घन बरषत सद्धर ।
जिम जिम सु षग्ग बज्यो उरह तिम तिम सुरनर मुनि मन्यो ।
जिम जिम सु चाव धरनी पर्‌यो तिम तिम संकर सिर धुन्यो ।

४-५. केदार भट्ट और मधुकर

जयचंद के दरबारी कवि केदार भट्ट तथा मधुकर द्वारा रचित 'जयचंद-प्रकास' और 'जसमयंकजसचन्द्रिका' नामक दो ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है। इन रचनाओं की सूचना सिंघायत दयालदासकृत 'राठौरां री ख्यात' से मिली है, पर ये रचनाएँ अभी तक नहीं मिलीं। 'पृथ्वीराज-

रासो' में भी एक स्थान पर चंद तथा केदार भट्ट के संवाद का प्रसंग आया है।

शिवसिंह सेंगर ने केदार भट्ट को गौरी का दरबारी कवि माना है। इस कथन का आधार 'भट्टभणंत' के सवैये की यह पंक्ति बताई जाती है—

"चंद चौहान के केदार गौरी साहजू के गंग अकबर के बखाने गुनगात हैं।"

यह 'केदार' वही है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं या इससे भिन्न?—इसका निर्णय कर सकना कठिन है। यह माना जाता है कि ग़ज़नी में महमूद से पहले ब्राह्मणों का शासन था। हो सकता है कि ब्राह्मणनरेश के आश्रय टूट जाने पर कवि ने नये शासक का आश्रय लिया हो और ग़ज़नी से चलकर कवि ने कन्नौज में आश्रय पाया हो। पर इस धारणा को सिद्ध करने के लिए प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

६. जगनिक

'जगनिक' कालिंजर (चन्देल राज्य) के राजा परमर्दिदेव का भाट कहा जाता है। परमर्दिदेव कन्नौजनरेश जयचन्द के सामन्त थे या अधीनस्थ कोई राजा थे। जब-जब जयचन्द को युद्ध में उतरना पड़ता था, तब-तब परमर्दिदेव उसकी सहायता के लिए पहुँचते थे। किसी व्याज से पृथ्वीराज ने चन्देल राज्य पर आक्रमण भी किया था जिसमें आल्हा, ऊदल नामक दो वीर वीरगति को प्राप्त हुए थे। ये 'बनाफर' शाखा के क्षत्रिय थे। परमर्दिदेव के दरबारी कवि जगनिक ने इन्हीं दो वीरों की गाथा को लेकर गेय काव्य लिखा होगा। पर उसकी उस समय की लिखी या बाद में लिखी कोई रचना नहीं मिली। केवल श्रुतिपरम्परा से चली आ रही वह अब कन्नौज-साम्राज्य के आसपास लोकगीत-सम्पदा बनकर रह गई है।

इतनी लम्बी काल-यात्रा करती हुई गेय रचना ने—जिसका बाद में 'आल्हा-खण्ड' नाम पड़ा—नाना कंठों में उतरने से अपनी मूल सरसता खो दी है, नाना मस्तिष्कों से टकराकर अपना मूल कथानक भी बदल लिया है। फिर भी इतने सुदीर्घकाल से जगनिक की हृदयस्पर्शी भावधारा

अजस्र बहती चली आ रही है—कवि के लिए यह कम महत्त्व की बात नहीं है।

फर्रुख़ाबाद के डिप्टी कमिश्नर मि० चार्ल्स इलियट ने सन् १८६७ में इस रचना को लोकगीतों से संग्रह कर छपवाया था। यह 'आल्हाखण्ड' आज भी वर्षाऋतु में गाया जाता है। संभवत: इन गीतों को 'आल्हा-रासो' कहा जाता हो, क्योंकि उस समय गेय साहित्य को 'रासो' ही कहा जाता था।

आदिकाल के अन्य कवि

१. फ़रीद-उद्-दीन शकरगंज

बाबा फ़रीद-उद्-दीन का जन्म संवत् १२४६ (तदनुसार ५८० हिजरी) कसबा खेतवाल, ज़िला मुल्तान में हुआ। आपके पिता हज़रत कमाल-उद्-दीन महमूद ग़ज़नवी के भाँजे थे। सुलतान शहाबुद्दीन के आक्रमणकाल में आप काबुल से लाहौर आकर बसे। वहाँ से कसूर, कसूर से मुलतान में जाकर रहे। वहाँ मौलाना वज़ीउद्दीन की पुत्री से विवाह किया। हज़रत के तीन पुत्र हुए—अज़ीज़ुद्दीन, फ़रीदुद्दीन और नजीबुद्दीन। बालक फ़रीद ने बचपन में कुरान कण्ठ कर लिया था। आपका सम्बन्ध ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के सूफ़ी-सम्प्रदाय से है। आपकी अमर रचनाएँ सिखों के आदि-ग्रन्थ में संगृहीत हैं। एक नमूना देखिए—

कागा करंज ढंढोलिया सगला खाइया मासु।
ऐ दोऊ नैना मति छुहऊ पिय देखन की आसु॥
कागा चुंडि न पिंजरा बसै त उडरी जाय।
जित पिंजरै मेरा सहु बसै मास न तिदु खाय॥
फरीदा ख़ाकु न निन्दिए ख़ाकु जेड न कोइ।
जीवन्दियाँ पैरा तले मोइयाँ ऊपर होइ॥
बुढ़ा होइया शेख़ फ़रीद कंभन लागी देह।
जे सो वरहियाँ जीवणां भी तनु होसी खेह॥

२. अमीर खुसरो

अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अबुलहसन था, पर इनका उपनाम इतना प्रसिद्ध हुआ कि असली नाम लुप्तप्राय हो गया। इनका जन्म सन् १२५५ (सं० १३१२) में पटियाली, जिला एटा में हुआ। इनका अधिकांश जीवन शासकीय सेवा में बीता। इन्होंने अपनी आँखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान तथा तुग़लक वंश का आरम्भ देखा। इनके समय में दिल्ली के तख़्त पर ग्यारह सुलतान बैठे जिनमें से सात की इन्होंने सेवा की थी। ये बड़े प्रसन्नचित्त, मिलनसार और उदार थे। सुलतानों और सरदारों से जो-कुछ धन आदि मिलता था वे उसे बाँट देते थे। सल्तनत के अमीर होने पर और कविसम्राट् की पदवी मिलने पर भी ये अमीर और दरिद्र—सभी से बराबर मिलते थे। इनमें अन्य मुसलमानों की तरह धार्मिक कट्टरपन नाम को भी नहीं था। इनके ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इनके एक पुत्री और तीन पुत्र थे।

खुसरो अरबी, फ़ारसी, तुर्की और हिन्दी भाषाओं के पूरे विद्वान् थे और संस्कृत का भी कुछ ज्ञान रखते थे। ये फ़ारसी के प्रतिभाशाली कवि थे। इन्होंने कविता की ९९ पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें कई लाख के लगभग शेर थे, पर अब उनके केवल २०-२२ ग्रन्थ प्राप्य हैं। इन्हीं ग्रन्थों में 'किस्सा चहार दरवेश' और 'खालिक बारी' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। दूसरा ग्रन्थ तुरकी, अरबी, फ़ारसी और हिन्दी का पर्याय-कोश है। एक उदाहरण लीजिए—

ख़ालिक बारी सिरजनहार।
वाहिद एक बिदा कर्त्तार॥
मुश्क काफ़र अस्त कस्तूरी कपूर।
हिंदवी आनंद शादी औ सरूर॥
मूश चूहा गुर्बः बिल्ली मार नाग।
सोज़नो रिश्तः बहिंदी सुई ताग॥

गंदुम गेहूँ नख़ूद चना शाली है धान।
जरत जोन्हरी अदस मसूर बर्ग है पान।।

कहा जाता है कि खुसरो ने फारसी से कहीं अधिक हिन्दी भाषा में कविता की थी पर अब कुछ पहेलियों, मुकरियों और फुटकर गीतों को छोड़कर और सब अप्राप्य हैं।

इनकी रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

बूझ-पहेली : **पांचों का सिर काट लिया, ना मारा न ख़ून किया।**

—नाखुन

बिन बूझ-पहेली: **खेत में उपजे सब कोई खाय।**
घर में उपजे घर को खाय।। —फूट।

दो सुखने : **पान सड़ा क्यों ? घोड़ा अड़ा क्यों ?**

—फेरा न था।

अनार क्यों न चखा ? वज़ीर क्यों न रखा ?

—दाना न था।

मुकरी : **वह आवे तब शादी होय, उस बिन दूजा और न कोय।**
मीठे लागें वाके बोल, का सखि साजन, ना सखि ढोल।।

अनमेलियाँ या **खीर बनाई जतन से चर्खा दिया जला।**
ढकोसला : **आया कुत्ता खा गया बैठी ढोल बजा।**
ला पानी पिला।।

भादों पक्की पीपली झड़ झड़ पड़े कपास।
बी मेहतरानी दाल पकाओगी या नंगा सो रहूँ।।

इतने समय तक बहुकण्ठ होने पर भी इनकी रचना का स्वरूप स्थिर रह गया होगा, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। हो सकता है कि प्राप्य हिन्दी-रचनाओं में कुछेक खुसरो के नाम पर प्रसिद्ध कर दी गई हों। फिर भी खुसरो को खड़ीबोली का प्रथम कवि स्वीकृत किया जाता है।

इसके अतिरिक्त खुसरो ने फ़ारसी के साथ कंधा भिड़ाकर ब्रजभाषा में भी रचना की है, जोकि उनकी विनोदी प्रकृति की परिचायक है—

चू ँ शमा सोज़ां चू ँ ज़र्रा हैरां हमेशा गिरियां बइश्के-आमह ।
न नींद नैना न अंग चैना न आप आवें न भेजे पतियां ।
बहक्क रोजे विसाले-दिलबर कि दाद मारा फ़रेब ख़ुसरो ।
सपीत मन दुराय राखूं जो जान पाऊँ पिया की घत्तियां ।

इस प्रकार खुसरो को खड़ीबोली और ब्रजभाषा के मनोरंजक लोक-साहित्य के प्रथम निर्माता के रूप में बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है ।

खुसरो प्रसिद्ध गवैये भी थे । ध्रुपद के स्थान पर कौल या कव्वाली बनाकर इन्होंने बहुत से नये राग निकाले थे, जो अब तक प्रचलित हैं । कहा जाता है कि बीन को घटा कर इन्होंने सितार बनाया था ।

सन् १३२४ में जब इनके गुरु निज़ामुद्दीन औलिया की मृत्यु हुई तो उन दिनों ये दिल्ली के प्रसिद्ध तुग़लक सुलतान ग़ियासुद्दीन के साथ बंगाल गये हुए थे । उनकी मृत्यु का समाचार सुनते ही ये झट वहाँ से चल दिये । कहा जाता है कि जब वे उनकी कब्र के पास पहुँचे, तब यह दोहा पढ़कर बेहोश होकर गिर पड़े—

गोरी सोभे सेज पर, मुख पर डारे केस ।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस ।।

इनके पास जो कुछ था, इन्होंने सब लुटा दिया और वे स्वयं उनके मज़ार पर जा बैठे । अन्त में कुछ ही दिनों में उसी वर्ष इनकी मृत्यु हो गई । ये अपने गुरु की कब्र के नीचे की ओर पास ही गाड़े गये । सन् १६०५ ई० में ताहिर बेरा नामक अमीर ने वहाँ पर मक़बरा बनवा दिया ।

३. विद्यापति

विद्यापति का जन्म संवत् १४२५ में बिहार के दरभंगा ज़िला के विसपी गाँव में हुआ था । वे तिरहुत के महाराज शिवसिंह के आश्रय में रहते थे । महाराज शिवसिंह के अतिरिक्त उनकी रानी लखिमा देवी भी उनकी बड़ी भक्त थीं । विद्यापति ने 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में

अपने आश्रयदाता शिवसिंह और कीर्तिसिंह की वीरता का बड़े ही ओजस्वी और प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है।

विद्यापति की प्रसिद्ध रचना है—पदावली। इसमें उन्होंने राधा-कृष्ण की प्रणय-लीलाओं का बड़ा ही हृदयस्पर्शी चित्रण किया है। बंगाली लोग प्रायः अत्यन्त भावुक भक्त होते हैं। जयदेव और चण्डीदास के साथ विद्यापति के गीतों को भी वे लोग सैकड़ों वर्षों से गाते चले आ रहे हैं। पूर्वी बंगाली और बिहारी भाषाएँ भी बहुत अंशों तक आपस में मिल-जुल जाती हैं। फिर, गेय-गीत तो स्थान-भेद और काल-भेद से रूपान्तरित होते ही रहते हैं। इसीलिए बंगालियों द्वारा गाये जाने वाले विद्यापति के अधिकतर गीत बंगला रूप ग्रहण कर गये। फलतः विगत शताब्दी तक बहुत से विद्वान् विद्यापति को भी चण्डीदास के समान बंगाली ही मानते रहे, पर अब यह भ्रम दूर हो गया है और सर्वसम्मति से मान लिया गया है कि विद्यापति बंगाली नहीं प्रत्युत बिहारी थे; और इनकी 'पदावली' की भाषा बंगला न होकर मैथिली है।

विद्यापति कृष्णोपासक नहीं अपितु शैव थे। अतः भक्ति-भाव से प्रेरित होकर उन्होंने केवल शिव-सम्बन्धी रचनाएँ लिखीं। शैव धर्म के योग-प्रधान होने के कारण उसमें विलासिता या प्रेम की प्रवृत्तियों के लिए कहीं स्थान नहीं है। अतः प्रेमपूर्ण हृदयोद्गार प्रकट करने के लिए उन्होंने जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के आधार पर राधा-कृष्ण को नायक-नायिका मानकर अपने पदों या गीतों की रचना की। प्रमुखतः इसी आधार पर कहा जाता है कि इनकी पदावली भक्ति की अपेक्षा शृङ्गार-रस-प्रधान है।

विद्यापति के आदर्श कवि जयदेव रहे हैं। उनकी शैली और भावों को तो इन्होंने अनेक स्थानों पर अपनाया ही है। साथ ही इनकी निरूपण-शैली भी जयदेव से मिल जाती है। इसी कारण विद्यापति के गीत भी जयदेव के समान अत्यधिक सुकोमल और भावपूर्ण बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ—

विद्यापति—

नन्दक नन्दन कदम्बक तरु तरे धिरे धिरे मुरली बजाव ।
समय संकेत-निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव ।।

जयदेव—

नामसमेतं कृत-संकेतं वादयते इह वेणुम् ।

कहने को तो पदावली में विद्यापति ने शृङ्गार के दोनों रूपों—संयोग और विप्रलम्भ का यथोचित रूप में सफल चित्रण किया है किन्तु इसमें भी वे संयोग-शृङ्गार के ही प्रमुख रूप से गायक थे। संयोग-शृङ्गार का चित्रण करने में उनकी तूलिका तन्मय हो गई है। पाठक उन हृदयहारी दृश्यों को देखते-देखते कुछ क्षणों के लिए दिव्य आनन्द-लोक में विहार करने लगता है। भाषा का माधुर्य्य और भावों का सौकुमार्य—-इन दोनों का एक अलौकिक संगम इस रचना में मिलता है। देखिए—

सहजहि आनन सुन्दर रे, भौंह सुरेखलि आंखि ।
पंकज मधु-पिबि मधुकर रे, उडए पसारल पाँखि ।।

सद्यःस्नाता का एक नयनाभिराम चित्र देखिए—

कामिनी करए सनाने ।
हेरतहि हृदय हनए पँचबाने ।।
चिकुर गरए जलधारा ।
जनि मुख-ससि उर रोअए अँधारा ।।

राधा को देख लेने पर कामदेव के प्रति कृष्ण का एक उपालम्भ सुनिए—

मनमथ तोहे की कहब अनेक
दिठि अपराध परान पए पीड़सि
ते तुअ कौन बिबेक ।।

राधा का नखशिख-सौंदर्य भी दर्शनीय है—

चांद-सार लए मुख घटना करु लोचन चकित चकोरे ।
अमिय धोय आंचर धनि पोछलि दहा दिसि भेलउँजो रे ।।

इस प्रकार राधा-कृष्ण के विरह और मिलन का तथा नखशिख-सौंदर्य का सर्वाङ्गपूर्ण, सरस, सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण हिन्दी में सर्वप्रथम विद्यापति ने प्रस्तुत किया है।

विद्यापति वस्तुतः संक्रमण-काल के कवि थे। एक ओर वे वीरगाथा-काल का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो दूसरी ओर वे हिन्दी में भक्ति और शृंगार-परम्परा के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में वे पूर्णतः वीरकवि प्रतीत होते हैं। अपनी शिवभक्ति सम्बन्धी रचनाओं—'शैव-सर्वस्वसार' आदि में वे भक्तिभाव में झूमते हुए दिखाई देते हैं; और पदावली में वे शृङ्गार और प्रणय के रस में आकण्ठ-मग्न हैं। इस प्रकार विद्यापति को आप वीरकवि, भक्त-कवि या शृंगारी कवि जिस भी रूप से देखें वे उसी में परिपूर्ण दिखाई देते हैं। एक ओर उनकी 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' चारणकाव्य की वीरगाथाओं की स्मृति दिलाती है, और दूसरी ओर इनकी पदावली कृष्ण-कवियों तथा विशेषतः रीतिकालीन कवियों की शृंगारपरक सुकोमल भाव-सामग्री की मूल प्रेरक सिद्ध हो जाती है।

पदावली, कीर्तिलता और कीर्तिपताका के अतिरिक्त संस्कृत में भी उनकी ग्यारह पुस्तकें मिलती हैं—

(१) शैव सर्वस्वसार, (२) शैव सर्वस्वसार-प्रमाण-भूत-पुराण-संग्रह, (३) भूपरिक्रमा, (४) पुरुष-परीक्षा, (५) लिखनावली, (६) गंगा-वाक्यावली, (७) दान-वाक्यावली, (८) विभाग-सार, (९) गयापत्तलक, (१०) वर्षकृत्य और (११) दुर्गाभक्ति-तरंगिणी। विषय की दृष्टि से ये रचनाएँ भक्ति, सामयिक समाज तथा शृंगार—इन तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं।

आदिकाल की भाषा

पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल में चार प्रकार की भाषाओं में साहित्य का निर्माण हुआ—अपभ्रंश, डिंगल, मैथिली और खड़ी-

बोली। इनमें से खड़ीबोली केवल बोल-चाल की भाषा है और अभी अपरिष्कृत ही है। अतः आधुनिक काल में इस पर प्रकाश डालेंगे। इस प्रसंग में शेष तीन भाषाओं का व्याकरण-सम्बन्धी सरल और अत्यन्त उपयोगी परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

१. अपभ्रंश—

साहित्यिक अपभ्रंश भाषा को हम तीन रूपों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) ५वीं-६ठी शती से ९वीं-१०वीं शती की अपभ्रंश भाषा—इस का रूप संस्कृत के नाटकों में उपलब्ध है। यह भाषा हमारे विवेच्य काल की अपभ्रंश भाषा से पूर्ववर्ती है, अतः हमारी विषय-सीमा से बाहर है।

(ख) परवर्ती अपभ्रंश भाषा—इसमें पुष्पदन्त, धनपाल, धवल, यशःकीर्ति, नयनन्दी, कनकामर आदि ने साहित्यिक रचनाएँ की हैं।

(ग) संक्रान्ति काल की अपभ्रंश भाषा, अर्थात् परवर्ती अपभ्रंश भाषा और आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के मध्यवर्ती युग की भाषा—इसमें अद्दहमाण, दामोदर, ज्योतिरीश्वर ठाकुर, विद्यापति आदि ने अपनी साहित्यिक रचनाओं का निर्माण किया है।[1]

निम्न प्रसंग में परवर्ती अपभ्रंश की व्याकरण-सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ प्रस्तुत की जाती हैं। लगभग यही सभी विशेषताएँ संक्रान्ति-कालीन अपभ्रंश भाषा में भी पाई जाती हैं—

(क) वर्णावलि—स्वर— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ओ के अतिरिक्त एँ (ह्रस्व) और ओँ (ह्रस्व)।

व्यञ्जन—ङ, और ञ के अतिरिक्त शेष २३ स्पर्श वर्ण; ४ अन्तस्थ और ष के अतिरिक्त शेष ३ ऊष्म।

(ख) स्वर-विकार—(१) अपभ्रंश-शब्दों में एक स्वर का प्रायः दूसरा स्वर हो जाता है। जैसे—बाहु—बाह, बाहा; तृण—तणु, तृणु;

---

१. ये चारों व्यक्ति क्रमशः सन्देशरासक, उक्तिव्यक्तिप्रकरण, वर्णरत्नाकर और कीर्तिलता के लेखक हैं।

गौरी—गउरी, गोरी आदि ।

(२) अन्तिम स्वर कभी दीर्घ हो जाते हैं और कभी ह्रस्व । जैसे, (क) श्यामल—सामला; (ख) धन्या—धरण; रेखा—रेह आदि ।

(३) शब्द के अन्तिम वर्ण से पूर्व स्वर की—उससे युक्त व्यंजन के लुप्त हो जाने पर भी—प्रायः रक्षा की जाती है । जैसे; अन्धकार—अन्धआर; गोरोचन—गोरोअरण आदि ।

ऐसी स्थिति में कभी य् अथवा व् की श्रुति आ जाती है । जैसे सहकार—सहयार आदि ।

(ग) व्यञ्जन-विकार—(१) अपभ्रंश में आदि-व्यञ्जन को सामान्यतः सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति है । 'अरण्य' से 'रण्य'-जैसे प्रयोग बहुत कम मिलते हैं । मध्यवर्ती व्यञ्जनों का प्रायः लोप हो जाता है । जैसे, राजन्—राअ; चतुर्थ—चउत्थ आदि ।

(२) महाप्राण व्यञ्जनों के स्थान पर प्रायः 'ह' रह जाता है । जैसे, दीर्घ—दीह, कथा—कहा, शोभा—सोह आदि ।

(३) कभी-कभी व्यञ्जनों के साथ र् का आगम हो जाता है । जैसे, व्यास—व्रास, पश्यति—प्रस्सदि आदि ।

(घ) शब्दरूप—(१) किसी शब्द का अन्तिम अकार कर्ता कारक में कभी 'उ' अथवा 'ओ' में बदल जाता है, और करण तथा अपादान कारक में 'इ' अथवा 'ए' में । जैसे—

(क) दशमुख—दहमुहु; भयंकर—भयंकरु; पुत्र—पुत्तो

(ख) यः—जो; सः—सो

(ग) मधुना—महुएं (मधु से); देवेन—देवें (देव से)

(घ) तलेन, तलात्—तलि अथवा तले (तल से) ।

(२) अपभ्रंश के सर्वनाम-शब्दों के कुछ उदाहरण लीजिए—

अहम्—हउं (मैं) ।

माम्, मया—मइं (मुझको, मुझसे)

मह्यम्, मम, मयि—महु, मज्झु (मेरे लिए, मेरा, मुझ में)

मयि—मइं (मुझ में) ।

यस्मिन्—जहिं (जिसमें) ।

तस्मिन्—तहिं (तिस में) ।

भवान्—होन्तउ (आप)

(ङ) **धातु रूप**—निम्न धातु-रूपों से अपभ्रंश की क्रियाओं का सामान्य परिचय मिलेगा—

करोति—करइ, करेइ (वह करता है)

करोषि—करहि, करसि (तू करता है)

करोमि—करहुं, करिमि (मैं करता हूँ)

करिष्यति—करेसइ, करेहइ (वह करेगा)

भूतः–हुअ (हुआ), कृतः–किअ (किया हुआ), गतः–गय (गया हुआ)

कृत्वा—करि, करिवि, करोवि (करके)

उपर्युक्त रूपरचना से स्पष्ट है कि—

अपभ्रंश भाषा संस्कृत के समान संश्लिष्ट भाषा है, विश्लिष्ट नहीं है; अर्थात् इसमें संस्कृत के समान विभक्तियाँ और प्रत्यय शब्दों और धातुओं के साथ संयुक्त रहते हैं, हिन्दी के समान वियुक्त नहीं ।

२. डिंगल भाषा—

स्वरूप—साहित्यिक राजस्थानी मिश्रित पुरानी हिन्दी को 'डिंगल' कहते हैं । भाषा-विकास की दृष्टि से यह भाषा एक ओर पतनोन्मुखी प्राकृत तथा अपभ्रंश और दूसरी ओर विकासोन्मुखी ब्रजभाषा के बीच की साहित्यिक भाषा है ।

व्युत्पत्ति—इस भाषा के नामकरण एवं व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न विचार हैं—

(१) डाक्टर एल० पी० टेसीटरी 'डिंगल' शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गँवारू लेते हैं । ब्रजभाषा परिमार्जित तथा व्याकरण-सम्मत थी, पर डिंगल भाषा इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी । इसीलिए इसका 'डिंगल' नाम पड़ा ।

(२) डॉ० हरप्रसाद शास्त्री के मत में पहले इसका नाम 'डगल' था, पर बाद में पिंगल (ब्रजभाषा) शब्द के साथ तुक मिलाने के लिए इसे भी डिंगल कह दिया गया।

(३) डॉ० श्यामसुन्दरदास भी पिंगल के अनुकरण पर ही इस शब्द को निर्मित मानते हैं।

(४) श्री गजराज ओझा के मत में यह भाषा डकार-बहुला होने के कारण 'डिंगल' कहाई।

(५) पुरुषोत्तमदास स्वामी ने डिंगल को 'डिम+गल' का यौगिक शब्द माना, जिसका अर्थ है—डमरु की आवाज़ अर्थात् रणचण्डी का आह्वान करने वाली और वीरों को उत्साहित करने वाली ध्वनि।

(६) मोतीलाल मेनारिया ने डिंगल शब्द को 'डींगल' से विकृत माना है, जिसका अर्थ है डींग (दर्पोक्ति) से युक्त भाषा। बोझिल, धूमिल आदि शब्दों के समान यहाँ भी 'ल' प्रत्यय 'युक्त' अर्थ का सूचक है।

इन मन्तव्यों में हमें श्री मेनारिया और डॉ० श्यामसुन्दरदास के संयुक्त मन्तव्य अपेक्षाकृत अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

(क) उच्चारण—१. डिंगल की वर्णमाला में ॠ, ऌ और ॡ अक्षर नहीं हैं।

२. डिंगल में 'ल' का उच्चारण कहीं 'ल' के समान और कहीं लगभग 'ल्ह' के समान मूर्धन्य होता है।

३. मूर्धन्य 'ष' को 'ख' के रूप में लिखा जाता है। तालव्य 'श' को 'स' के रूप में लिखा जाता है, पर पढ़ते समय उसका उच्चारण 'श' ही होता है। उदाहरणार्थ—

बियौ बान संधान हन्यौ सोमेसर नन्दन।

यहाँ सोमेसर का उच्चारण 'सोमेशर' होगा।

(ख) शब्द-रूप—डिंगल में कुछ विभक्तियाँ ऐसी हैं, जो दो-दो तीन-तीन कारकों में प्रयुक्त होती हैं और कुछ एक ही कारक में। जैसे—

'इ' विभक्ति का प्रयोग कर्त्ता कारक के एकवचन में और करण

तथा अधिकरण कारक के बहुवचन में होता है। जैसे—क्रमशः ढोलइ, मुखि, मगि आदि।

'उ' विभक्ति का प्रयोग कर्ता और कर्म कारक के एकवचन में होता है। उदाहरणार्थ क्रमशः करहउ, कलेजउ आदि।

'ए' विभक्ति का प्रयोग सम्प्रदान कारक के एकवचन तथा अधिकरण कारक के बहुवचन में होता है। जैसे—क्रमशः घरे, निसाणे आदि।

'इ इ' विभक्ति का प्रयोग केवल करण कारक के बहुवचन में होता है, आँ का केवल सम्प्रदान कारक के एकवचन में और 'हां' का केवल सम्बन्ध कारक के बहुवचन में। उदाहरणार्थ—क्रमशः कामिइ, अहाँ, करहाँ आदि।

इस भाषा के कुछेक सर्वनाम-रूप देखिए—

हूँ, मइँ—मैं; मूझ, अम्ह—मुझे; तू—तू; तुम्हाँ—तू, तुझको, तुझसे, सोइ, सोय, सु—सो–वह; तिणइ—उससे, उसमें; कावण, कउँण—कौन आदि।

(ग) क्रिया–रूप—(१) डिंगल की 'छइ' क्रिया हिन्दी के 'है' के लिए प्रयुक्त होती है। पर इसके रूप तीनों पुरुषों में विभिन्न प्रकार से होते हैं। जैसे—

छं (उत्तम पुरुष एकवचन); अछइ छइ (मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष एकवचन)

(२) वर्तमानकालिक क्रिया-पद बहुधा इकारान्त होते हैं जैसे भरइ, पलट्टइ आदि।

(३) सामान्य भूतकाल के लिए मूलक्रिया के पीछे 'यउ' तथा 'इउ' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। जैसे—कहिउ (कहा), उड़िउ (उड़ा) आदि।

(४) भविष्यत् काल के रूप दो तरह से बनते हैं—(क) सी, स्यूँ तथा स्यां प्रत्यय लगाकर। जैसे—रहसी (रहेगा), रहस्यूँ (रहूँगा) मिलस्याँ (मिलेंगे) आदि। (ख) ला, ली तथा लो लगाकर। जैसे—बूडेला (डूब जायगा), बूडेली (डूब जायगी) आदि।

(५) पूर्वकालिक क्रिया के लिए क्रिया के अन्त में इ, ई, करि, एवि, एविय आदि प्रत्ययों का प्रयोग होता है। जैसे—दौड़ि, दौड़ि करि, पणमेवि पणमेविय आदि।

३. मैथिली—

विद्यापति की पदावली की भाषा मैथिली है। यह भाषा मागधी अपभ्रंश की पश्चिमी शाखा से विकसित मानी जाती है। मगही और भोजपुरी भाषाएँ मैथिली की बहनें हैं। पर इनमें उल्लेखनीय साहित्य की रचना नहीं हुई। मैथिली, मगही और भोजपुरी—इन तीनों को पश्चिमी बिहारी भी कहा जाता है। विद्यापति की पदावली की मैथिली स्वभावतः आधुनिक मैथिली से भिन्न है, और इसका पाँच-छः सौ वर्ष प्राचीन रूप है। इस भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ देखिए—

(क) वर्ण-परिवर्तन—(१) मैथिली भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों में अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो जाता है। जैसे—मनस्—मन; कर्मन्—कर्म; जन्मन्—जन्म; यशस्—यश आदि।

(२) अन्तिम दीर्घ स्वर कभी-कभी ह्रस्व हो जाते हैं। जैसे—नागरी, परिपाटी, सुन्दरी—क्रमशः नागरि, परिपाटि, सुन्दरि आदि।

(३) अन्तिम आ, इ और उ प्रायः 'अ' में परिणत हो जाते हैं। जैसे—रेखा–रेह; बाहु–बाह; लघु–लहअ आदि—

सुपहु सुनारि सिनेह चान्द कुसुम सम रेह,
बलअ भांगल बांह ममोलि।
समभागह ताहि लहुअ मुणिज्जसु।

(ख) शब्द-रूप—कारक-चिह्न—मैथिली में निम्नलिखित आठ विभक्तियों का प्रयोग होता है—(१) ए, एं, एँ; (२) हि; (३) क; (४) के; (५) एरि; (६) कें; (७) काँ, का; (८) सञो। इनके अतिरिक्त कुछ शब्दों का प्रयोग भी विभक्ति रूप में होता है, जैसे—'में' के लिए 'मइ' (मध्य) आदि।

लिंग—अधिकांशतः पुल्लिंग से स्त्रीलिंग बनाने के लिए 'इ', 'ई'

प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसे, क्रिया-रूप—पुं० भेल (हुआ), स्त्री० भेलि (हुई); पुं० होएत (होता है), स्त्री० होइति (होती है)। इसी प्रकार विशेषण-रूपों में भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। उदाहरणार्थ—

कानकटु भेलि कहिनी तोरि
हमे अभागिलि नारि
तअे दुति भोरि
ई बड़ि लाज

इन कथनांशों में तोरि, अभागिलि, भोरि और बड़ि विशेषण इकारान्त हैं।

(**ग**) **क्रिया-रूप**—(१) भूत और भविष्यत् कालों में कर्ता के अनुसार क्रिया का लिंग होता है। उदाहरणार्थ—

'राजा भेल वसन्त' में 'भेल' क्रिया 'वसन्त' के अनुसार पुल्लिंग है; और 'अवसर भेलि सम्रानी' में 'सम्रानी' के अनुसार स्त्रीलिंग। पर वर्त्तमान काल में यह भेद नहीं पाया जाता।

(२) मैथिली में वर्त्तमान काल में अन्य पुरुष एकवचन के लिए 'इ' और 'ए' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। जैसे—भनइ (भणति—बोलता है); करए (करता है) आदि।

(३) भूतकाल के लिए प्रायः 'ल' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। जैसे—भेल (हुआ); गेल (गया), जानल (जाना); हरल (हर लिया) आदि।

(४) भविष्यत् काल के लिए प्रायः 'ब' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। जैसे—करब (करेगा), जानब (जानेगा), पेखब (देखेगा)।

४. खड़ी बोली—

अमीर खुसरो की खड़ीबोली अभी अपरिष्कृत रूप में है। उदाहरणार्थ—

एक नार करतार बनाई। सूहा जोड़ा पहिन के आई।
हाथ लगाए वह शर्माय। या नारी को चतुर बताय।।

(उत्तर—**बीरबहूटी**)

एक गुनी ने यह गुन कीना। हरियल पिंजरे में दे दीना।
देखो जादूगर का हाल। डाले हरा निकाले लाल॥

(उत्तर—**पान**)

फिर भी यह रूप इस तथ्य का प्रमाण है कि विक्रम की १४वीं शती में यह भाषा लोकभाषा के रूप में व्यवहृत होती होगी, तथा इसमें साहित्य-रचना के बीज विद्यमान थे। ये बीज आगे चलकर आधुनिक काल के भारतेन्दु-युग में गद्य के रूप में तथा द्विवेदी-युग में गद्य और पद्य के रूप में पनपने प्रारम्भ हुए और प्रसाद-युग में पूर्णतः विकसित हो गये। आज वही खड़ीबोली राष्ट्रभाषा के गौरवास्पद पद पर आसीन होकर फलवती बन गई है।

भक्तिकाल

विक्रमी संवत् १३७५—१७०० (सन् १३१८—१६४३)

परिस्थितियाँ

(क) राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थिति—

हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल लगभग तीन सौ वर्ष का सुदीर्घ काल है। भारतीय राजनीतिक इतिहास के अनुसार इस काल को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—संवत् १३७७ से १५८३ तक और १५८३ से १७०० तक। प्रथम भाग में दिल्ली पर तुग़लक और लोधी वंश के पठान शासकों ने राज्य किया और द्वितीय भाग में मुग़ल वंश के बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने। शाहजहाँ के शासन-काल (सन् १६२८–५८; सं० १६८५–१७१५) में ही रीतिकाल का प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि रीति-काव्य के प्रवर्तक चिन्तामणि का रचनाकाल संवत् १७०० माना गया है।

भक्तिकाल के प्रमुख भक्त-कवि चार हैं—कबीर, मलिक मुहम्मद जायसी, तुलसीदास और सूरदास। किसी देश की राजनीतिक परिस्थिति उसके काव्य को प्रभावित करती है—यदि इस धारणा को लक्ष्य में रख कर इन तीन शताब्दियों की राजनीतिक परिस्थिति की जाँच की जाय तो उक्त धारणा भ्रान्त सिद्ध हो जाती है क्योंकि उक्त चारों कवियों अथवा इनके सह-विचारकों की वर्ण्य सामग्री युग के राजनीतिक वातावरण के ठीक प्रतिकूल है। इस वातावरण के अनुकूल भी इनकी रचनाओं में कुछेक

उद्धरण इधर-उधर बिखरे हुए अवश्य मिल जाते हैं[1] पर वे इनकी रचनाओं के मूल विषय नहीं है। इस काल के अधिकांश भाग का राजनीतिक वातावरण समूची प्रजा के लिए विशेषत: हिन्दुओं के लिए अशान्त है, पर इधर इन भक्तों की वाणी धर्मप्रधान एवं शान्ति-प्रधान है। इस विरोधात्मक स्थिति का कारण प्रस्तुत करने से पूर्व उस काल की राजनीतिक परिस्थिति पर विचार कर लेना आवश्यक है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की दृष्टि से मुस्लिम राज्यकाल की प्रमुख घटना है—हिन्दुओं पर अत्याचार। मुस्लिम शासकों पर तत्कालीन 'उलमा'[2] का पर्याप्त प्रभाव रहा। इन्हीं उलमा के बताये आदेशों पर

---

१. उदाहरणार्थ—

(क) **वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये।**
साधु सीद्यमान जान रीति पाप पीन की॥

—तुलसी कवितावली (उ० १७७)

(ख) **कलि बारहिं बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।**

—तुलसी (राम० उ० १००—१०)

(ग) **कलिजुग कठिन वेद विधि रह्यो, धर्म कहूँ नहिं दीखत सह्यो।**
कह्यो भलो कोऊ ना करै॥
उदबस विश्व भयो सब देस, धर्म रहित मेदिनी नरेस।
म्लेच्छ सकल पहुमी बढ़े॥
सब जन करहिं आधुनिक धर्म, वेद विहित जाने नहिं कर्म।
मर्म भक्ति को क्यों लहैं॥

× × ×

धर्म रहित जानी सब दुनी, म्लेछनि भार दुखित मेदिनी।
धनी और दूजो नहीं॥

—सेवक (सेवक-वाणी १-४-५५)

२. 'उलमा' शब्द 'आलम' शब्द का बहुवचन है। यहाँ इसका अभिप्राय मजहबी कट्टरपन्थी काज़ियों से है।

चलकर सर्वप्रथम फ़िरोज़ तुग़लक ने जिम्मी (मुसलिमेतर जाति) होने के रूप में हिन्दुओं पर 'जजिया' लगाया, जिससे उनके जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा की जा सके। इसी बादशाह ने बहुत से मन्दिर भी तोड़े और एक ब्राह्मण को तो अपने महल के सामने जीवित ही जलवा दिया।[१] उसने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लेने के प्रलोभन भी दिये तथा यह नियम बना दिया कि जो हिन्दू इस्लाम-धर्म स्वीकार करेगा, उसे राज्य में नौकरी दी जायगी। अनेक मुसलमान शासकों ने नये मन्दिरों के निर्माण कराने पर प्रतिबन्ध तथा पुरानों की मुरम्मत पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था। सिकन्दर लोधी ने मथुरा के मन्दिरों को नष्ट करके उनके स्थान पर सराय और मस्जिदें बनाने की आज्ञा दी। उनके अत्याचारों को लक्ष्य में रखकर गुरु नानक का उन्हें कोसना इतिहास-प्रसिद्ध तथ्य है।

निस्सन्देह कुछेक शासकों ने इन कट्टरपन्थी उलमा की साम्प्रदायिकतापूर्ण आज्ञा का स्पष्टतः उल्लंघन भी किया। इस दिशा में पठान शासकों में अलाउद्दीन ख़िलजी का और मुग़ल शासकों में अकबर का नाम उल्लेखनीय है। पर इस उल्लंघन का कारण हिन्दुओं के प्रति उदाराशयता एवं सद्भावना नहीं था, अपितु स्वेच्छाचारिता तथा शासन को बहुसंख्यक हिन्दुओं की सहायता से सुदृढ़ बनाना था। इसका प्रमाण यह है कि इन दोनों ने भी हिन्दुओं पर कम अत्याचार नहीं किये। अलाउद्दीन ख़िलजी की रूप-लिप्सा एवं काम-पिपासा चित्तौड़ की रानी पद्मिनी के जौहर का कारण बनी। इसी ने कोष को भरने के विचार से 'दोआब' के हिन्दुओं से उपज का ५० प्रतिशत भाग कर के रूप में कड़ी कठोरता से उगहाया। अकबर की यह कूट-नीति ही सही, पर उसके अन्तःपुर में हिन्दू रानियाँ बहु-संख्या में विद्यमान थीं। वस्तुतः इसी प्रवृत्ति का आरम्भ भी ख़िलजी-काल से हो चला था। अलाउद्दीन ख़िलजी ने गुजरात के राजा कर्ण को परास्त करके उसकी रानी कमलादेवी को दिल्ली लाकर उसके साथ विवाह कर लिया।

---

१. भारत का इतिहास—ईश्वरीप्रसाद (१९४९), पृ० १६५।

उस युग के हिन्दुओं की आर्थिक विपन्नता, दुर्भाग्य एवं अपमानित अवस्था का वर्णन करते हुए तारीख़-ए-फ़ीरोज़शाही के लेखक बर्नी ने लिखाहै—"उन (हिन्दुओं) के पास धन संचित करने के कोई साधन न रह गये थे, और उनमें से अधिकांश को निर्धनता, अभावों एवं आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष में जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा के रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था। करों का सारा भार उन्हीं पर पड़ता था। राजपद उनको अप्राप्य थे।"[1]

निस्सन्देह इन अत्याचारों के पीछे मुस्लिम शासकों की धर्मान्धता एवं संकीर्ण-हृदयता थी, पर मुस्लिम प्रजा भी विशेष सुखी रही हो—यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मुसलमानों की हिन्दुओं के प्रति द्वेष एवं वैर की भावना बहुत प्रबल थी, पर मुसलमानों में भी परस्पर वह भावना कम न थी। धर्म के आधार पर सुन्नी और शिया मुसलमानों में तो झगड़ा रहता ही था, साथ ही विदेशीयता के आधार पर भी द्वेष की आग सुलगती रहती थी। अरबी, ईरानी, अफ़ग़ान, तुर्क आदि मुसलमान आपस में एक-दूसरे से जलते रहते थे। यों भी अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ के समय (सन् १५५५-१६५८) को छोड़कर मुस्लिम-काल का शेष सारा पूर्व युग (सन् १२००–१५५५) मारकाट, गृह-कलह, विदेशी आक्रमणों के आतंक तथा युद्ध का काल रहा है। चंगेज़ख़ाँ से लेकर बाबर के आगमन तक मुग़लों के आतंक ने सभी शासकों को भयभीत कर रखा था। अलाउद्दीन के शासनकाल में कतलग़ ख़्वाजा के नेतृत्व में दो लाख मुग़ल दिल्ली पर चढ़ आये थे। इधर तैमूरलंग के रक्त-पात और लूट-खसोट ने शासन-व्यवस्था और प्रजा की बची-खुची सुख-सुविधा को नष्ट कर दिया। शेरशाह के भय से हुमायूँ जैसा शासक १५ वर्ष तक लाहौर से ईरान तक इधर-उधर भटकता रहा।

इसके अतिरिक्त स्वयं सभी शासक राज्य-विस्तार की लिप्सा के वशीभूत होकर इधर राजस्थान, गुजरात, मालवा, महाराष्ट्र तथा बंगाल

---

१. भारतीय मध्ययुग का इतिहास—ईश्वरीप्रसाद, (सन् १९५५), पृ० ५१०

और उधर सुदूर दक्षिण तक की रियासतों को हथियाने के विचार से भयंकर युद्धों में लिप्त रहे। ये सब रियासतें जी-जी कर मरतीं और मर-मर के फिर जी उठतीं और दिल्ली के मुस्लिम शासक इन्हें फिर मारने के लिए इन पर धावा बोल देते।

इन शासकों में राजसिंहासन-प्राप्ति की लालसा भी कितनी प्रबल रही होगी, यह इस तथ्य से प्रकट है कि अधिकतर पठान शासकों का राज्यारोहण अपने निकटतर सम्बन्धी अथवा वास्तविक राज्याधिकारी की निर्मम हत्या अथवा प्रवञ्चना की भित्ति पर अवस्थित है। अल्तमश के सिर पर आरामशाह का खून है। सुल्ताना रज़िया और नासिरुद्दीन ये दोनों बहन-भाई अपने भाइयों को पद वंचित करके राज्यसिंहासन पर आ बैठे। स्वयं रज़िया और उसका प्रेमी भी षड्यन्त्र का शिकार बने और उनका वध कर दिया गया। अलाउद्दीन ख़िलजी अपने चाचा जलालुद्दीन की और मुहम्मद तुग़लक अपने पिता ग़ियासुद्दीन तुग़लक की हत्या करके सिंहासनारूढ़ हुए। स्वयं अलाउद्दीन ख़िलजी को उसके सेनापति तथा मुख्यमन्त्री मालिक काफ़ूर ने (जो मूलतः गुजरात का हिन्दू था, और बाद में मुसलमान बन गया था) विष-प्रयोग द्वारा धीरे-धीरे मृत्यु के समीप पहुँचा दिया। इसी प्रकार राज्यशासन की बागडोर सम्हालते ही सिकन्दर लोधी को अपने भाई बारबद को ठिकाने लगाना पड़ा। यहाँ तक ही क्यों, इस काल के मुग़ल-सम्राटों में भी ख़ुर्रम को बाबर की सन्तान के सब पुरुषों की गुप्त रूप से हत्या करानी पड़ी और उसके ससुर ने उसके भाई शहरयार की आँखें निकलवा दीं, तब कहीं जाकर खुर्रम 'शाहजहाँ' की उपाधि से भूषित हो पाया।

देश की इस भयंकर स्थिति में सम्पूर्ण प्रजा की—क्या हिन्दू और क्या मुसलमान की—आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति क्या रही होगी, इसका अनुमान सहज-बोध्य है। इस स्थिति में हिन्दुओं पर अत्याचार हुए, तो यह कोई आश्चर्यजनक एवं अप्रत्याशित घटना नहीं थी। पर आश्चर्यजनक और अप्रत्याशित घटना तो यह है कि उस अशान्त वातावरण में भी

भक्ति-सम्बन्धी साहित्य का निर्माण हुआ।

इस विरोधात्मक स्थिति का एक ही कारण सम्भव है—हिन्दू-जाति की अपनी परम्पराओं एवं प्राचीन रूढ़ियों में असीम और अखण्ड श्रद्धा। उन्हें इनमें एक प्रकार का मोह-सा रहा है। उन्होंने अपनी सभ्यता एवं संस्कृति पर सदा गर्व का अनुभव किया है और अन्य जातियों की तुलना में वे अपने-आपको सदा शिष्ट, सुसंस्कृत तथा सुशिक्षित समझते रहे हैं। इसी स्वाभिमान का ही परिणाम है कि धार्मिक एवं राजनीतिक कारणों से मुसलमानों के असंख्य अत्याचार सहने पर भी वे इनका कड़ा विरोध करते रहे। पूरे मुस्लिम शासन-काल में (१२वीं शती से १८वीं शती तक) जब भी कभी हिन्दू-रियासतों को अवसर मिला वे स्वतन्त्र हो बैठीं। दास, खिलजी, तुग़लक, लोधी और मुग़ल वंश के सभी शासक राजपूतों को परास्त करते रहे, पर अवसर पड़ने पर वे फिर उठ खड़े होते।

हिन्दू-जाति की यही जीवट-शक्ति उसके आध्यात्मिक क्षेत्र में भी है। उसमें विपरीत परिस्थिति में भी जीवित रहने की शक्ति रही है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्क, रामानन्द, चैतन्य, वल्लभाचार्य—ये सभी धार्मिक आचार्य विक्रम की ९वीं शती से १६वीं शती तक के समय, अर्थात् मुस्लिम-युग की उपज हैं। इसे गुण कहें अथवा अवगुण, भारतीय धार्मिक आचार्य देश की राजनीतिक परिस्थिति से सदा निर्लिप्त रहे हैं। उक्त आचार्यों की शिष्य-परम्परा में कबीर, नानक, तुलसी, सूर, नन्ददास आदि सब की यही दशा है। यदि ये देश की स्थिति से प्रभावित होकर रचना करते, तो इनका मूल वर्ण्य-विषय अपने युग की शासकीय क्रूरता का चित्रण होता, अपने युग के हिन्दू वीरों का गुणगान होता। वे एक ओर सिकन्दर लोधी की धर्मान्धता तथा अकबर की कूटनीति को अपने काव्य का विषय बनाते और दूसरी ओर राणा सांगा और प्रताप की महिमा गाते न अघाते। कबीर और सूर मुक्तक गायक थे, पर तुलसी में तो महाकाव्य-निर्माण की प्रतिभा थी। वे प्रताप की वीरता को अपनी कविता का विषय बना सकते थे।

निस्सन्देह यही स्थिति इस काल के संस्कृत-भाषा के लेखकों की भी रही है। इस अभाव का कारण देश की तत्कालीन परिस्थिति से विमुखता है। पर इधर मुस्लिम-युग के अनेक देशी-विदेशी अहिन्दू लेखकों ने तत्कालीन परिस्थिति को ही अपनी रचना का विषय बनाया है।

भक्त-कवियों की इस विमुखता तथा उनके द्वारा भक्ति-साहित्य-निर्माण का यह कारण बताया जाता है कि हिन्दू-जाति की उस शोचनीय एवं दयनीय दशा के उस युग में हिन्दुओं और उनके धर्म-नेताओं के सम्मुख अब ईश्वर की शरण में जाना ही एक मार्ग शेष रह गया था। पर इस कारण से मनस्तुष्टि नहीं होती। जायसी, कुतबन, मंझन, उसमान—ये सभी भक्तिकालीन मुसलमान सूफ़ी कवि थे। कबीर भी मुसलमान था। पर इन मुसलमानों द्वारा भक्ति-पद्धति को अपनाने के लिए उक्त तर्क उपस्थित नहीं किया जा सकता। यदि तुलसी और सूर का काव्य हिन्दू-जाति की शोचनीय दशा के प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न माना जाता है, तो शंकर, रामानुज आदि आचार्यों की वेदान्त-प्रणालियों के लिए भी यही तर्क उपस्थित किया जा सकता है पर ऐसा करने के लिए कोई भी उद्यत न होगा।

वस्तुत: यह सदा आवश्यक नहीं कि किसी काल की प्रत्येक रचना पर उसकी राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव पड़े ही। भक्त कवियों की रचनाएँ इसी कोटि में गिनी जायेंगी। कबीर और तुलसी मूलत: रामानन्द से प्रभावित हैं। जायसी के काव्य पर परम्परागत सूफ़ी-सम्प्रदाय का प्रभाव है। सूर-काव्य वल्लभाचार्य का अनुयायी है। इस प्रकार यह भक्ति-धारा-चतुष्टय लौकिक प्रभाव से शून्य है। जैसे शंकर आदि की रचनाओं के लिए किसी राजनीतिक प्रभाव की स्वीकृति नहीं की जाती, वैसे ही हिन्दी के इन भक्त कवियों के लिए भी नहीं की जानी चाहिए। वास्तव में हिन्दी का भक्ति-साहित्य धर्म-प्रधान देश भारत की परम्परागत दर्शन-प्रवाह की एक अविच्छिन्न धारा का एक अभिनव रूप है। अन्तर इतना है कि इनसे पूर्ववर्ती दार्शनिकों की रचनाएँ कोरा शास्त्र मात्र हैं,

इनकी रचनाएँ काव्य भी हैं। एक अन्तर और भी है। उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम अधिकांशतः संस्कृत रहा है, पर इनका लोक-भाषा। इधर यही धारा अद्यावधि अक्षुण्ण बनी आ रही है। यह अलग प्रश्न है कि आधुनिक रचनाओं में पाश्चात्य दार्शनिकता का प्रभाव भी सम्मिलित है; शंकर, रामानुज आदि की तुलना में इसमें क्रान्तिकारी चिन्तन का लगभग अभाव-सा ही है, और तुलसी, सूर आदि के समान इन्होंने पद्य-बद्धता एवं काव्यत्व को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बनाया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जो रचनाएँ तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होती हैं, उनकी स्थिति दो विकल्पों में सम्भव है—अनुकूलात्मक और प्रतिकूलात्मक। आदिकालीन चारण-साहित्य अनुकूलात्मक है और रीतिकालीन शृंगार-साहित्य प्रतिकूलात्मक। निस्सन्देह इन दरबारी कवियों पर राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था भी। पर इन भक्तों को न 'सीकरी से कोई काम' था और न 'प्राकृत-जन के गुणगान' से। इनका साहित्य व्यक्तिगत मानसिक साधना पर आधारित है, सामाजिक परिस्थिति पर नहीं। समाज इससे भले ही लाभान्वित हो जाय, पर इनका उद्देश्य मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही था।

निष्कर्ष यह कि—

(१) भक्तिकालीन हिन्दू-जनता पर मुसलमान शासकों ने अत्याचार ढाये अवश्य, पर अहिन्दू-जनता की स्थिति भी विशेष अच्छी रही हो, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

(२) भक्तिकाल का भक्ति-साहित्य वस्तुतः प्राचीन दर्शन-प्रवाह की एक अविच्छिन्न धारा है, यह मुस्लिम-अत्याचार से जन्य दुरवस्था की प्रतिक्रिया नहीं है। यह अलग प्रश्न है कि हिन्दुओं को इस भक्ति-साहित्य के श्रवण-श्रावण से उस युग में सान्त्वना मिलती रही हो।

(ख) साहित्यिक परिस्थिति—

भक्तिकाल की तीन शताब्दियों में उत्तर-भारत में हिन्दी-साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत तथा फ़ारसी भाषा का साहित्य भी निर्मित हुआ। पर

इन दोनों प्रकार के साहित्य का इस काल के हिन्दी-साहित्य पर किसी भी रूप में प्रभाव नहीं पड़ा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अधिकांश संस्कृत-साहित्य लोक-निरपेक्ष है और अधिकांश फ़ारसी-साहित्य उस युग का इतिहास प्रस्तुत करता है। संस्कृत के लेखकों में मल्लिनाथ, सायण, भट्टोजि दीक्षित, रामचन्द्र और जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है,[१] और फ़ारसी के मुग़लकाल-पूर्ववर्ती इतिहास-लेखकों में अल्बेरूनी, मिनहाज-सिराज, ज़ियाउद्दीन बर्नी और अफ़ीफ़ का; तथा मुग़लकालीन इतिहास-लेखकों में जौहर, अब्बुलफ़ज़ल, बदांउनी, निज़ामुद्दीन अहमद, फ़ैज़ी, अब्दुल हमीद, अमीन और इनायतख़ाँ का। इनके अतिरिक्त मुग़लकाल में अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का फ़ारसी में भी अनुवाद हुआ।

(ग) धार्मिक परिस्थिति—

भक्तिकाल जिस धार्मिक परिस्थिति में उत्पन्न हुआ है, वह एक-दो वर्षों की अथवा दो-तीन दशकों की उपज नहीं है; बल्कि दो-तीन शताब्दियों में कहीं बन सकी है। इस धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव आदिकालीन हिन्दी-साहित्य पर तो लक्षित नहीं हो रहा—ऐसा पहले लिख आये हैं; उसका प्रभाव भक्ति-साहित्य पर—असाक्षात् रूप से ही सही—आकर पड़ा है, अतः इतिहासकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दो-तीन शताब्दी पीछे हटकर उन धार्मिक परिस्थितियों पर विचार करे। तत्कालीन भारतीय धार्मिक परिस्थिति को दो रूपों में विभक्त कर आये हैं—बौद्धधर्म की विकृत परिस्थिति और वैष्णवधर्म की परम्पागत परिस्थिति। इनके अतिरिक्त एक तीसरी विदेशीय धार्मिक परिस्थिति ने भी भारत में स्थान बनाया, जिसे हम सूफ़ी-धर्म कहते हैं।

---

१. मल्लिनाथ—संस्कृत काव्यों के प्रसिद्ध टीकाकार; सायण—वेद के भाष्यकार; भट्टोजि दीक्षित—सिद्धान्तकौमुदी के कर्त्ता; रामचन्द्र—प्रक्रियाकौमुदी के कर्त्ता; और जगन्नाथ—रसगंगाधर और गंगा-लहरी के कर्त्ता।

(१) बौद्धधर्म की विकृत परिस्थिति—

शंकराचार्य के तथा कुमारिल भट्ट के भाषणों तथा शास्त्रार्थों का यह लाभ हुआ कि शिक्षितवर्ग का विश्वास बौद्ध-धर्म पर से उठ गया। महात्मा बुद्ध के महानिर्माण के बाद ही बौद्ध-धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था—हीनयान और महायान। सैद्धान्तिक जटिलता, ज्ञानार्जन, किताबी पाण्डित्य और अनिवार्य रूढ़ियों के कारण 'हीनयान' सम्प्रदाय अनुदारपंथी और कट्टर बन गया। वहुत कम लोगों की आस्था इस पर टिक सकी। सिद्धान्त, ज्ञान और पाण्डित्य आदि शर्तों की ढील देकर और केवल जनकल्याण तथा आचार-सम्बन्धी पवित्रता को ही निर्वाण का साधन मानकर दूसरा सम्प्रदाय उदारपंथी कहलाया—इसमें सभी वर्गों के लोगों को सम्मिलित होने की आज्ञा मिल गई। सैद्धान्तिक विशालता के कारण ही यह सम्प्रदाय 'महायान' नाम से प्रसिद्ध हुआ। हीनयान अधिक कट्टरता के कारण संकुचित होता चला गया और महायान अधिक उदारता के कारण विकृत।

शंकर तथा कुमारिल भट्ट ने सुसंस्कृत वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट किया, और महायान सम्प्रदाय ने शेष असंस्कृत वर्ग को जंत्र, मंत्र, अभिचार तथा चमत्कारबाज़ी द्वारा वशीभूत रखा। इसी एक कारण से कालान्तर में उसका नाम 'मंत्रयान' प्रसिद्ध हुआ।[1] उन दिनों मंत्रयान के साथ-साथ वाममार्ग भी चल रहा था, जिसमें स्त्रियों को वश में लाने के लिए नाना प्रकार के जंत्र, मंत्र, अभिचार आदि सब का प्रयोग किया जाता था; मंत्रयान और वाममार्ग की साधना-शैली लगभग एक ही थी, फिर इनके परस्पर मिल जाने में क्या रुकावट थी? मंत्रयान ने वाममार्ग की मद्य, मांस, मैथुन-मुद्रा आदि अनेक विकृतियाँ आत्मसात् कर लीं; फलतः उसके आध्यात्मिक 'सुखवाद' ने मुद्रा-साधना का विकृत रूप धारण कर

---

१. मंत्रयान के आदि-आचार्य श्री नागार्जुन थे, मंत्रयानियों का साधना-केन्द्र दक्षिण में धान्यकटक के समीप श्रीपर्वत था। 'मंजुश्रीमूलकल्प' उसके मंत्राचार का विधानग्रन्थ है।

लिया। इसके लिए 'युगनद्धता' जैसे गर्हित उपचारों का प्रयोग किया गया और नारी के प्रति वासनात्मक सम्बन्ध को साधना का आवश्यक अंग समझ लिया गया। उनके विचारानुसार इन गर्हित कृत्यों की आवश्यकता भी थी—जैसे शारीरिक विष के उतारने के लिए बाह्य विष खिलाया जाता है, वैसे आत्मिक वासना-रूप विष के निवारणार्थ नारी-रूपी विष की आवश्यकता बनी रहती है।

कहते हैं—पतन की पराकाष्ठा पर नवीन शुभ उत्थान का प्रारम्भ होता है। जब मंत्रयान ने अत्यन्त विकृत एवं गर्हित रूप धारण कर लिया और 'वज्रयान' नाम से प्रसिद्ध हुआ, तब से उसमें सुधरे हुए रूप का भी विकास होने लगा। हमारा संकेत वज्रयान में से प्रकट होने वाले सिद्ध-सम्प्रदाय की ओर है। आने वाले चौरासी सिद्धों ने (संवत् ७९७ से लेकर १२५७ संवत् तक) वज्रयानियों की यंत्र-मंत्र आदि साधना-शैली को अपनाते हुए भी उसमें क्रान्तिमूलक परिवर्तन किये तथा नई स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात किया। वज्रयानियों और सिद्धों की परिवर्तनसूचक तुलना यह है—

वज्रयानी	सिद्ध
१. घोर अनीश्वरवादी	१. ईश्वरवाद की पुनर्मान्यता
२. यंत्रमंत्र द्वारा लक्ष्यप्राप्ति	२. योग और हठयोग द्वारा लक्ष्य-प्राप्ति
३. मांस, मद्य, मैथुनादि विहित	३. भोग और योग के समन्वय में गृहस्थ-जीवन की मान्यता
४. युगनद्धता को ही महासुखवाद समझना।	४. शून्यवाद को महासुख का रूप मानना।

चौरासी सिद्धों को वज्रयान का सुसंस्कृत रूप ही समझना चाहिए। सिद्धों ने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यंत्र-मंत्र को न अपना कर, योग और हठयोग के सहारे उसे पाने का यत्न किया। जहाँ तक चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का प्रश्न है, वहाँ वज्रयानियों और सिद्धों में कोई अन्तर नहीं।

जहाँ इन सिद्धियों और चमत्कारों द्वारा उद्देश्य-प्राप्ति का प्रश्न है, वहाँ एक ओर वज्रयानी आचार-विचार तक गँवा बैठे, दूसरी ओर सिद्धों ने आचार-विचार को स्वाभाविक और नियमित रूप में परखा और अपनाया। कठोर इन्द्रियदमन से साधना में विघ्न पड़ता है, इन्द्रियों को उन्मुक्त छोड़ देने से भी कोई लाभ नहीं। फलतः सिद्धों ने योग और भोग—दोनों का समन्वय करके गृहस्थ जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति को अपनाकर मनो-विज्ञान-मूलक सूझ-बूझ का परिचय दिया। इधर नाथ सम्प्रदाय को भी सिद्धों की एक शाखा समझना चाहिए। नाथ-पंथ में योग और हठयोग की साधना मुख्य मानी गई है। इन्द्रियों के निग्रह को 'योग' कहते हैं तथा शरीर को असह्य यातना देकर किया गया योग 'हठयोग' कहलाता है। सिद्ध तथा नाथपंथ के प्रमुख सिद्धान्त ये हैं—

(क) कर्मकाण्ड कुछ नहीं;

(ख) वर्णव्यवस्था अनावश्यक है;

(ग) जीवनयात्रा की सफल समाप्ति और मोक्ष के लिए गुरु की परम आवश्यकता है;

(घ) ईश्वर एक, निरंजन और घट-घट व्यापक है; आदि आदि।

कहना न होगा कि हमारे आलोच्यकाल से पहले-पहल जो परि-स्थितियाँ घिर-घिर कर जमा होने लगी थीं, अब वह समय आ गया कि वे उभर कर साहित्य पर अपना प्रभाव डालें; और सचमुच ऐसा हुआ। वज्रयान की परिवर्तित तथा सुसंस्कृत सिद्धसम्प्रदाय की मुख्य-मुख्य रूढ़ियाँ आलोच्यकाल के सन्तमत की धार्मिक पृष्ठभूमि हैं। सन्त साहित्य तथा सन्त मत के पनपने का थोड़ा-बहुत उत्तरदायित्व सिद्धसम्प्रदाय की इन्हीं रूढ़ियों पर भी है।

(२) वैष्णव धर्म की परम्परागत परिस्थिति—

भक्ति की लहर दक्षिण से आई। दक्षिण-भारत ने समय-समय पर उत्तर-भारत का सांस्कृतिक नेतृत्व किया है—यह एक इतिहास-प्रसिद्ध तथ्य है। एक बार पहले भी लगभग ६०० वर्ष पूर्व जब बौद्धधर्म पूर्व से

लेकर उत्तर-पश्चिम तक छा गया था, दक्षिण के प्रकाण्ड विद्वान् शंकराचार्य ने आगे बढ़कर भारत का पथ-प्रदर्शन किया और वैदिक-धर्म की मान्यता नये ढंग से स्थापित की। दूसरी बार फिर उत्तर-भारत को सांस्कृतिक पथ-निर्देश की आवश्यकता पड़ी, तो वल्लभाचार्य तथा रामानुजाचार्य के रूप में दक्षिण-भारत ने नेतृत्व किया।

वैष्णव-धारा का विकास[1]—शंकर से लेकर वल्लभाचार्य तक भक्ति ने नाना रूप बदले हैं। शंकराचार्य अपने युग के बड़े धार्मिक क्रान्तिकारी समझे जाते हैं। शंकराचार्य से पूर्व भारतीय संस्कृति के मुख्य तत्त्व ये थे—

(क) बहुदेवतावाद पर आस्था;
(ख) उनकी उपासना के लिए यज्ञ और यज्ञों में पशुबलि का विधान;
(ग) कर्मकाण्ड की जटिलता; और
(घ) प्रवृत्तिमूलक जीवनचर्या।

इस परिस्थिति से लाभ उठाकर बौद्धधर्म वैदिक संस्कृति का खण्डन कर रहा था। शंकराचार्य ने जहाँ अपने भाषणों से बौद्धधर्म के प्रभावों को निरस्त किया, वहाँ वैदिक संस्कृति के उक्त तत्त्वों में आमूल-चूल परिवर्तन भी किये—

(क) बहु-देवतावाद के स्थान पर सीधा ब्रह्म से सम्बन्ध-स्थापन;
(ख) यज्ञों के स्थान पर अद्वैतवादमूलक भक्ति का प्रचार;
(ग) कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञानकाण्ड की प्रतिष्ठा; और
(घ) निवृत्तिमूलक जीवनचर्या।

शंकराचार्य के इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के मुख्य तत्त्व दो हैं—अद्वैतवाद और माया। अद्वैतवाद का अर्थ है—आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता; आत्मा कोई स्वतन्त्र सत्तावान् पदार्थ नहीं है, बल्कि ईश्वर का अंश है। अभेदवाद के ज्ञान से मुक्ति होती है, अर्थात् जिस मनुष्य ने अपने जीवनकाल में अद्वैतवाद का निश्चय कर लिया है, वही मरने के बाद मुक्त होता है; जिसने अभेदवाद का निश्चय नहीं किया, वह निरन्तर

१. इस विकास का सर्वाङ्गीण चित्र परिशिष्ट-भाग में देखिए।

जन्म-मरण के चक्कर में रहता है।[1] द्वैतवाद केवल भ्रम है, माया का जाल है। माया का विनाश केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है।

शंकर की चलाई भारतीय संस्कृति का भारत में पर्याप्त प्रचार हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्धधर्म का सामना करने में शंकराचार्य के इस सिद्धान्त ने जादू का काम किया। विक्रम की आठवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत में अद्वैतवाद और मायावाद का प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा। इतनी लम्बी अवधि के बाद इसमें कुछेक दोष भी उभर कर सामने आने लगे; यथा—

(क) माया के अतिवाद के कारण लोगों को संसार से विरक्ति होने लगी। कर्मकाण्ड का लोप होने लगा तथा उसके स्थान पर संन्यास-प्रथा बढ़ने लगी।

(ख) जीव और ब्रह्म की पूर्ण अभिन्नता की भावना ने आचार-सम्बन्धी नियमों को शिथिल कर दिया।

इसका फल यह निकला कि ग्यारहवीं शताब्दी में शंकराचार्य द्वारा स्थापित 'अद्वैतवाद' का संस्कार होना प्रारम्भ हो गया। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानन्द तथा वल्लभाचार्य ने अपने मन्तव्यानुसार शंकर के सिद्धान्तों को नया रूप दिया और अपने-अपने सम्प्रदाय खड़े किये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शंकर के परवर्ती आचार्यों ने एक-स्वर से मायावाद को अस्वीकार कर दिया है।

(१) रामानुजाचार्य[2]

श्री रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य-प्रतिपादित मायावाद को स्वीकार

१. **जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे स च केवलः।**
यत् किंचित् पश्यतो भेदं भयं ब्रूते यजुः श्रुतिः॥ —शंकर

इस प्रसंग में यजुर्वेद का मंत्र यह है—**यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति।**

२. रामानुजाचार्य का जन्म परम वट्टूर (दक्षिण) में संवत् १०७४ में हुआ। इन्हें 'शेष' का अवतार माना जाता है। इन्होंने शंकर-

नहीं किया। शंकर के मायावाद के अनुसार (ब्रह्म को छोड़कर) जीव और जगत् मिथ्या हैं। उनके मत में जीव और जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है; ब्रह्म इन दोनों का उपादान कारण है। पर रामानुजाचार्य ने इसे दार्शनिक नियमों के विरुद्ध बताया है। सत्य कारण (ब्रह्म) से असत्य कार्य (जीव और जगत्) की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है ? अतः सत्य से उत्पन्न होकर जीव और जगत् भी सत्य हैं।

श्री रामानुज ने मायावाद की अस्वीकृति को पुष्ट करते हुए मोक्ष की नई परिभाषा दी है। शंकर ने जीव की ब्रह्मलीनता को मोक्ष कहा है, पर इनके मतानुसार ब्रह्म की समीपता ही मोक्ष है। ब्रह्म 'सत्', चित्' और 'आनन्द' रूप है। जीव सत्-चित् होने से ब्रह्म का समानधर्मा तो है, पर 'आनन्द' तत्त्व की कमी के कारण वह उससे पृथक्-धर्मा भी है। जगत् ब्रह्म-समुद्भव होने से मिथ्या नहीं है, सत्य है। वह अपनी पृथक् सत्ता रखता है। अतः इनके मतानुसार 'विशिष्ट द्वैतवाद' ही यथार्थ है।

(२) मध्वाचार्य[1]

मध्वाचार्य ने रामानुज का 'विशिष्ट द्वैतवाद' मान तो लिया है, पर उनकी इस सम्बन्ध में दी हुई परिभाषा नहीं मानी। रामानुज ने जीव-

मतानुयायी अनन्तश्री यादवप्रकाश से दीक्षा ली। पर विचारों की भिन्नता के कारण आपने नाथमुनि के पौत्र यामुनाचार्य के चलाये सम्प्रदाय में कुछ नवीन मान्यताएँ देकर 'श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय' की नींव रखी। इनके सिद्धान्त-ग्रन्थ ये हैं—वेदार्थ-संग्रह, श्रीभाष्य और गीताभाष्य। भारत की दो बार यात्रा करने के बाद आप श्रीरंगम् में संवत् ११६४ में भगवद्विलीन हुए।

१. मध्वाचार्य आनन्दतीर्थ को 'वायु' का अवतार माना जाता है। इनका जन्म संवत् १३१४ मंगलौर से ६० मील उत्तर में हुआ था। नई मान्यता देकर अलग से सम्प्रदाय चलाने के कारण इनका 'मध्वाचार्य' नाम विख्यात हुआ। वेदान्त-सूत्र-भाष्य और अणुभाष्य—आपकी ये दो रचनाएँ हैं। आपको 'द्वैतवाद' का प्रतिपादक माना जाता है।

ब्रह्म से उत्पन्न तो माना है, पर इन्हें मिथ्या नहीं माना; 'सत्' और 'चित्' होने के कारण 'ब्रह्म' और 'जीव' समानधर्म हैं—पर मध्वाचार्य ने इसे स्वीकार नहीं किया। इनके मत में 'जीव' और 'ब्रह्म' दो परस्पर-निरपेक्ष तत्त्व हैं। ये नित्य पृथक् हैं। कारण से कार्य उत्पन्न होता है, पर न तो समूचा कारण ही कार्य बन जाता है और न कार्य कभी बदलकर कारण बन सकता है। कारण से एक बार कार्य बन जाने पर 'कार्य' सदा कार्य रहता है और 'कारण' सदा कारण। इसी प्रकार जीव ब्रह्म से उत्पन्न होकर न ब्रह्म बना रहता है और न ब्रह्म में विलीन हो सकता है। यह इन दोनों के मतों की विभिन्नता है; पर हाँ, मोक्ष की परिभाषा पर दोनों सहमत हैं।

मध्वाचार्य ने विष्णु को परम ब्रह्म माना है और कृष्ण को उसका पूर्णावतार। इस सम्प्रदाय में राधा को मान्यता प्राप्त नहीं है। विष्णु स्वामी भी मध्वाचार्य के समान कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म का अवतार मानते हैं, पर उनके विचार में शंकर का अद्वैतवाद ही यथार्थ है। चैतन्य महाप्रभु ने मध्वाचार्य-सम्प्रदाय में राधा की प्रतिष्ठा कर इसे नया रूप दिया है।

(३) निम्बार्काचार्य[१]

निम्बार्काचार्य ने माया को नहीं माना, ब्रह्म और जीव की नित्य-पृथक्ता को भी स्वीकार नहीं किया। उपाधिभेद से ईश्वर-जीव भिन्न हैं, उपाधि-भेद से वे अभिन्न भी हो सकते हैं। उनकी भिन्नता सत्य है और अभिन्नता भी सत्य है। भिन्नता को केवल माया या भ्रम नहीं कह सकते। कारण से कार्य उत्पन्न होकर भी पुनः कारण-रूपता को प्राप्त हो सकता है। जीव और ब्रह्म का चिर-मिलन ही मोक्ष है और भक्ति उसका साधन है। निम्बार्काचार्य का मूलाधार रामानुजाचार्य का सम्प्रदाय है। आप

१. निम्बार्काचार्य को 'सूर्य' का अवतार माना गया है। आपका जन्म १३वीं शती में माना जाता है। आपने तेलगू प्रदेश में जन्म लिया और वृन्दावन में आकर जीवन-यापन किया। 'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव आपके शिष्य हैं। 'वेदान्त-कौस्तुभ' आपकी रचना है।

कृष्ण को पूर्णावतार मानते हैं, आपके सम्प्रदाय में राधा की सत्ता स्वीकृत है।

(४) रामानन्द[1]

रामानन्द ने इस भक्ति-परम्परा को नये मोड़ दिये। पहला यह कि इन्होंने विष्णु के अवतार कृष्ण की अपेक्षा राम की उपासना पर अधिक ज़ोर दिया। दूसरा, उपासना का माध्यम संस्कृत से हटाकर प्राकृत भाषाओं को माना। तीसरा, भगवद्भक्ति सभी वर्णों के लिए मान्य ठहराई। आगे चलकर कबीर, तुलसी ने इनके द्वारा प्रतिपादित रामोपासना को और अधिक जनप्रिय बनाया है।

(५) वल्लभाचार्य[2]

वल्लभाचार्य तक भक्तिवल्लरी का पूर्ण विकास और विस्तार हो चुका था। आपके सम्प्रदाय में विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य के मतों का सुन्दर समन्वय मिलता है। यथा—

विष्णुस्वामी—माया रहित अद्वैतवाद }
निम्बार्काचार्य—पूर्णावतार कृष्ण और राधा की स्वीकृति } वैष्णव उपासना।

वल्लभाचार्य ने शंकर-प्रतिपादित अद्वैतवाद की तो स्वीकृति दी, पर माया को आपने भी स्वीकार नहीं किया। माया की स्वीकृति का अर्थ जीव-

---

१. रामानन्द का जन्म १५वीं शती में हुआ। आपने काशी में स्वामी राघवानन्द के आश्रय में विद्याभ्यास किया। आपके विचारों के व्यापक होने का कारण आपका भारत-भ्रमण है।

२. वल्लभाचार्य अग्नि के अवतार माने जाते हैं। आपका जन्म किसी विष्णुस्वामी मतावलम्बी भक्त के घर में हुआ। छोटी अवस्था में ही आपने संस्कृत पढ़कर तथा अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ कर अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया था। आपका जन्म संवत् १५३६ में हुआ, १५८७ में बैकुण्ठवास हुआ। आप चैतन्यमहाप्रभु के समकालीन थे और वैष्णव सम्प्रदाय के आदि-आचार्य हुए।

जगत् का मिथ्यात्व है, वास्तव में जीव और जगत् मिथ्या नहीं हैं। इनके मत में ब्रह्म के 'सत्' गुण के आविर्भाव तथा 'चित्' और 'आनन्द' के तिरोभाव से प्रकृति की, और ब्रह्म के 'सत्' और 'चित्' गुण के प्राकट्य तथा 'आनन्द' के तिरोभाव से जीव की उत्पत्ति होती है। सच्चिदानन्द रूप भगवान् सर्वव्यापक ब्रह्म है। जीव और जगत् ब्रह्म से प्रकट होते हैं और ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ईश्वर स्वयं अनुग्रह-रूप है। श्रीकृष्ण ब्रह्म के सब दिव्य गुणों से सम्पन्न अवतार हैं। भगवान् की दो लीला-भूमियाँ हैं--नित्य और अनित्य। नित्य लीलाभूमि में यमुना, वृन्दावन, निकुंज, गोपिकाएँ--सब नित्य हैं। भूमिस्थ यमुना, वृन्दावन और निकुंज आदि अनित्य हैं, और उस नित्य लीला-भूमि के प्रतीक हैं। आत्मा का उस नित्य लीला-भूमि में पहुँचना और विहार करना मोक्ष है। मोक्ष-प्राप्ति का साधन भगवद्-अनुग्रह है। भगवद्-अनुग्रह को पुष्टि कहते हैं। पुष्टि के अनुसार जीव चार प्रकार के हैं—

(१) **प्रवाहपुष्ट**—जो अन्य लोगों को भक्ति में प्रवृत्त देखकर गतानुगतिक भक्ति करता है और भगवदनुग्रह का पात्र बन जाता है। जैसे--सधना कसाई।

(२) **मर्यादापुष्ट**—वेदविहित कर्मकाण्डपूर्ण भक्ति करने वाला जीव मर्यादापुष्ट कहलाता है। जैसे—सुदामा आदि।

(३) **पुष्टिपुष्ट**—जो जन्मजात भगवदनुग्रह का पात्र हो। जैसे—उद्धव और स्वयं वल्लभाचार्य।

(४) **शुद्धपुष्ट**—जो ज्ञान और अनुभव के वाद रचनात्मक रूप में कृष्णमय हो जाय। जैसे—गोपियाँ।

इस प्रकार अद्वैतवाद शंकर से लेकर वल्लभाचार्य तक विकसित होता चला गया।

विष्णु के स्वरूप का राम और कृष्ण के रूप में विकास—धर्मप्रधान देश भारत को 'देवतावाद' ने वैदिककाल से ही अनुप्राणित किया है। देवताओं में विष्णु की महिमा भी यथेष्ट रूप से गाई गई है। समय-समय

पर विष्णु के स्वरूप में अन्तर आता गया है। वैदिककालीन 'विष्णु' सूर्य का ही एक रूप है। उसका वर्णन कई स्थानों पर इस रूप में किया गया है कि उसने विश्व के सात विभागों को केवल तीन पग में ही पार कर लिया।[1] ये तीन पग सूर्य के आकाश-मार्ग की तीन स्थितियों—उदय, उत्कर्ष और अस्त के उपमान-स्वरूप हैं। आगे चलकर 'शतपथ ब्राह्मण' में विष्णु वामन रूप में चित्रित किये गये हैं। वे यज्ञ-रूप होकर असुर से सारी पृथ्वी प्राप्त कर लेते हैं।[2] महाभारत में विष्णु को स्रष्टा, प्रजापति तथा ब्रह्म रूप में निरूपित किया गया है। ब्रह्म रूप में उनकी तीन स्थितियाँ हैं—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र। इन स्थितियों में वे क्रमशः उत्पादक, रक्षक और संहार रूप में वर्णित हुए हैं। आगे चलकर विष्णु-पुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण और भागवत पुराण में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला है। वे 'सर्वशक्तिमयो विष्णुः' की संज्ञा से विभूषित किये गये हैं। अब वे अधिकांशतः संरक्षक के रूप में निरूपित हुए हैं, और 'अवतार' पद पर भी प्रतिष्ठित हो गये हैं। वैष्णव (भागवत) धर्म के अनुयायी जन शैव और शाक्त धर्मानुयायियों के विपरीत, केवल विष्णु को ही परब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके मत में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति से भी परे विष्णु 'ब्रह्म' के आदिरूप हैं। इस प्रकार 'विष्णु' का स्वरूप वैदिककाल से पुराणकाल तक धीरे-धीरे विकसित एवं परिवर्तित होता चला गया।

---

१. (क) अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्याः सप्त धामभिः॥

(ख) इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदं।
समूलहमस्य पांसुरे॥ ऋग्वेद

२. ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्य ईयुः···। —शतपथब्राह्मण

पर यह विकास यहाँ तक पहुँचकर भी रुक नहीं गया। आगे चलकर ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में आभीरों ने वैष्णव धर्म में श्रीकृष्ण की भावना सम्मिलित कर दी। ८वीं शती से यह धर्म शंकर के अद्वैतवाद के सम्पर्क में आया। शंकर का अद्वैतवाद रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य जैसे महामना साधकों के चिन्तन-स्वरूप किस प्रकार विभिन्न रूप बदलता चला गया, इस पर हम यथास्थान प्रकाश डाल आये हैं। 'विष्णु' का रूप इन्हीं साधकों के विभिन्न वादों से भी प्रभावित हुआ। निम्बार्काचार्य ने इस विष्णु-रूप में कृष्ण-रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया और उसमें राधा के स्वरूप को भी जोड़ दिया। मध्वाचार्य ने विष्णु को अपने द्वैतवाद के रूप में ढाला। आगे चलकर वल्लभाचार्य ने कृष्ण और राधा का प्रेमात्मक निरूपण किया और बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने बालकृष्ण की भावना पर ज़ोर दिया। इन्होंने बालकृष्ण और राधा को मिलाकर वैष्णव धर्म में प्रेम के मार्ग को प्रशस्त रूप दे दिया। वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु की इसी परम्परा को हिन्दी-साहित्य में सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों तथा मीराबाई ने अपने काव्य के रस से सींचा और इसी माध्यम से इसे सामान्य जनता तक पहुँचा दिया।

इस प्रकार 'विष्णु' का स्वरूप एक ओर कृष्ण के रूप में विकसित हो गया। उधर दूसरी ओर रामानुजाचार्य के श्री-सम्प्रदाय के अनुगामी रामानन्द ने विष्णु के रामरूप का प्रचार किया। हिन्दी में रामानन्द का अनुगमन तुलसी और कबीर ने किया। पर आगे चलकर कबीर का दृष्टिकोण बदल गया। तुलसी का 'राम' दशरथ-पुत्र साकार राम बना रहा, पर कबीर का 'राम' दशरथ-पुत्र राम से बदलकर निर्गुण 'ब्रह्म' का पर्याय बन गया।

(३) सूफ़ीमत की विकासोन्मुख परिस्थिति—

'सूफ़ी' शब्द 'सूफ़' शब्द से बना है। इस शब्द के दो अर्थ हैं। सूफ़ या सुफ़ा 'बरामदे' अथवा 'ऊनी वस्त्र' को कहते हैं। इन्हीं दोनों अर्थों की

संगति इस प्रकार है। मुहम्मद साहब के समय में कुछ ऐसे फ़कीर पैदा हो गये थे, जो घर-बाहर त्याग कर मसजिद के बरामदे में निवास करते थे और इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या और प्रचार करते थे। ये अलमस्त जीवन बिताते थे। संभवतः इनकी वेशभूषा भी निराले ढंग से चल निकली, एक लम्बा-सा कन्था और कान तक ऊनी टोपी। कुछ विद्वान् इनकी वेशभूषा के आधार पर इनका 'सूफ़ी' नाम रूढ़ हुआ बताते हैं। 'सूफ़' शब्द से वे ऊनी कनटोप लगाते हैं। संभवतः ये फ़कीर ऊनी टोपी से अपना सिर ढके रहते होंगे।

मुहम्मद साहब से पूर्व मध्य-एशिया के लोग मूर्ति-पूजक थे और बहुदेवतावाद में विश्वास रखते थे। इनमें 'बाद', 'कादेश', 'ईस्तर' आदि अनेक देवताओं की पूजा प्रचलित थी। यह सर्वांशतः सत्य है कि देवपूजा का आधार भक्ति है और भक्ति का आधार प्रेम। मुहम्मद साहब द्वारा मूर्तिपूजा के विरोध करने पर इनसे मूर्तिपूजा तो छिन गई, बहु-देवतावाद भी हट गया, पर भक्ति, श्रद्धा या प्रेम की भावनाएँ एकदम लुप्त नहीं हो गई थीं। पहले प्रेम की प्रवृत्ति देवतावाद की ओर थी, मुहम्मद साहब के विरोध-स्वरूप वह प्रवृत्ति ईश्वरोपासना की ओर उन्मुख हो गई। इस्लाम-मत में नमाज़, रोज़ा आदि के लिए 'प्रेम' की ज़रूरत नहीं पड़ती; इसलिए परम्परागत प्रेम के वातावरण में पले कई ईश्वर-उपासकों का दल अलग-सा खड़ा हो गया। प्रेम के आकर्षण से ये अलमस्त फ़कीर घर से निकल खड़े हुए और मस्जिद के बरामदों में डेरा डालकर रहने लगे। अवसर पाकर ये मुसलमानों में इलहामी विचारों का प्रवचन भी करते थे। वस्तुतः ये फ़कीर भी मुहम्मद साहब के अनुयायी थे। अन्तर केवल यह था कि इनकी जीवन-साधना में प्रेमतत्त्व का मुख्य स्थान था।

मुहम्मद साहब के बाद ख़लाफ़त (गुरुत्ववाद) की परम्परा चली। इस्लाम के प्रचारार्थ ये अलमस्त फ़कीर अब देश-देशान्तरों के पर्यटन के लिए निकले। भारत में इनका आगमन हिजरी की पहली शताब्दी—

(विक्रम की लगभग ७वीं शताब्दी) में हो गया था। तेज (सिंध), देवल (सिन्ध), थाना (गुजरात), कोलयमली (मद्रास) तथा कामरूप में अरबी व्यापारियों के साथ ये सूफ़ी फ़कीर भी पहुँचने लगे। इन्हें भारत की विचारधारा बड़ी पसंद आई। यद्यपि 'अद्वैतवाद' इस्लाम के अनुकूल नहीं है। इस्लाम खुदा और रूह को एक नहीं मानता, वल्कि इन्हें दो पृथक् पदार्थ मानता है, तथापि इन फ़कीरों ने बड़ी उदारता से 'अद्वैतवाद' को अपना लिया।

सूफ़ियों ने भारत से मध्य एशिया में लौटकर 'अनलहक' (सोऽहम्) का नारा लगाया, पर इसे इस्लाम ने सहन नहीं किया। मन्सूर जैसा सूफ़ी इसीलिए फाँसी पर चढ़ा दिया गया कि यह इस्लाम के विपरीत 'सोऽहम्' सिद्धान्त को मानता है। ये सूफ़ी मध्य एशिया से खदेड़े हुए पुनः भारत में आकर बस गये। परिणामतः सूफ़ी-सिद्धान्तों में अद्वैतवाद को भी स्थान मिल गया। भारत में मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व ही इन सूफ़ियों ने यहाँ इस्लामी वातावरण तैयार कर लिया था और कतिपय सम्प्रदाय भी खड़े कर लिये थे। जिनमें से निम्नोक्त प्रसिद्ध हैं—चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, कादरी सम्प्रदाय, नक्शबन्दी सम्प्रदाय।

चिश्ती सम्प्रदाय—ख्वाजा मुईन-उद्दीन चिश्ती (सन् ११४४—१२३६) मुहम्मद ग़ौरी की सेना के साथ भारत आये थे। सन् ११६५ में अपनी साधना के लिए वे अजमेर में रहने लगे। वे खुरासान, नैशापुर, मक्का मदीना में यात्रा कर चुके थे। शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी तथा मख़दूम अब्दुल कादिर जीलानी के सत्संग में धर्मशिक्षा प्राप्त कर चिश्ती साहब अपने सिद्धान्तों में पारंगत हो गये। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सबसे अधिक हैं। मुगल-सम्राट् अकबर भी इन्हीं के अनुयायी थे। कहते हैं कि शेख़ सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से अकबर को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी, जिसका नाम सलीम रखा गया।

सुहरावर्दी सम्प्रदाय—मुल्तान के समीप उच्चशरीफ (बहावलपुर) में सैयद जलालुद्दीन सुर्ख़पोश ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की। इनका जन्म

११९९ ई० बुख़ारा में और मृत्यु सन् १२९१ में भारत में हुई। इनकी वंश-परम्परा में अनेक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। सिन्ध, मुल्तान, गुजरात, बिहार और बंगाल में इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार हुआ।

कादरी सम्प्रदाय—सन् १४८२ में सैयद बंदगी मुहम्मद ग़ौस ने उच्चशरीफ़ में इस सम्प्रदाय की स्थापना की। वैसे इसके आदि-आचार्य शेख अब्दुलकादिर जीलानी (सन् १०७८—११६६) बग़दाद में हुए थे। इनके वंशजों ने अपने चमत्कारों के कारण विशेष प्रसिद्धि पाई। कश्मीर इसका प्रचार-केन्द्र रहा।

नक्शबंदी सम्प्रदाय—इसके आदि-आचार्य बहा-उल्दीन नक्शबंद तुर्किस्तान में हुए थे। ख्वाजा मुहम्मदबाकी गिल्लाह इस सम्प्रदाय को भारत में लाये थे। इसके सिद्धान्त अधिक बुद्धिलभ्य थे, अतः जनता को स्वीकार्य नहीं हुए। दूसरा, यह सम्प्रदाय भारत में बहुत विलम्ब से आया था, अतः जनता में इसके लिए यथोचित स्थान न बनाया जा सका।

मुसलमान इन्हीं केन्द्रों से प्रेरणा प्राप्त करते थे। इस प्रकार धार्मिकता की जागृति के साथ-साथ उनकी साहित्यिक चेतना भी उद्बुद्ध रहती थी। सूफ़ियों ने प्रेम-काव्य की सृष्टि कर अपना धर्म-प्रचार तो किया ही, साथ ही हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में भी उनका योग अनायास हो गया। जायसी आदि सूफ़ियों ने जनसम्पर्क के लिए ठेठ अवधी भाषा को अपनाया।

काव्य-रूप

भक्तिकाल में उपलब्ध समस्त साहित्य का विभिन्न दृष्टियों से वर्गीकरण किया जाय तो उसे निम्नलिखित काव्य-रूपों में कर सकते हैं—

१. उपासना-पद्धति की दृष्टि से भक्तिकालीन प्रमुख साहित्य दो धाराओं में विभक्त है—(क) निर्गुण धारा और (ख) सगुण धारा। प्रथम धारा के अन्तर्गत सन्त-काव्य और प्रेम-काव्य निर्मित हुआ और द्वितीय धारा के अन्तर्गत कृष्ण-काव्य और राम-काव्य।

२. विषय की दृष्टि से ये रचनाएँ चार प्रकार की हैं—

(क) सन्त-काव्य, जिसमें सन्तों ने अधिकांश रूप में आपबीती और आंशिक रूप में जगबीती कही है।

(ख) प्रेमकाव्य, जिसमें सूफियों ने हिन्दू-गृहस्थ के रूढ़िगत कथानकों का आश्रय लेकर इसलामी साधना की सरल व्याख्या की है।

(ग) कृष्ण-काव्य, जिसमें कृष्णलीलाओं के साथ-साथ आत्मसमर्पण की भावना निहित है।

(घ) राम-काव्य, जिसमें रामगुण और रामचरित के साथ-साथ जातीयता और राष्ट्रीयता का भी अमर सन्देश है।

३. प्रबन्ध की दृष्टि से समस्त साहित्य तीन कोटि का है—

(क) कथानकबद्ध साहित्य—इसके अन्तर्गत सूफ़ियों के प्रेमकाव्य तथा रामचरितमानस जैसी रचनाएँ हैं।

(ख) विशुद्ध गेय विष्णुपद—इनमें सन्तों तथा कृष्ण-भक्तों ने अन्तर्मुखी स्थिति अपना कर अपनी हृदयवेदना की गाँठ खोली है।

(ग) सूक्तियाँ—इनके माध्यम से कतिपय सन्तों ने सांसारिक अनुभव की अभिव्यक्ति की है।

४. इस प्रकार भक्तिकाल के समस्त साहित्य में विषय और निरूपण-शैली सम्बन्धी विभिन्नता होने पर भी एक अद्भुत समानता है। समूचा साहित्य किसी-न-किसी पद्धति से गेयकोटि में आता है। सगुण और निर्गुण साहित्य की विष्णुपदावलियों के अतिरिक्त दोहा-चौपाई, कवित्त-सवैया आदि भी सफलतापूर्वक गाये जा सकते हैं।

५. भक्तिकाल में 'हनुमन्नाटक' आदि कतिपय पद्य-नाटक भी निर्मित हुए हैं। नाटकीयता के अतिरिक्त 'गेयता' का गुण इनमें भी विद्यमान है।

इस काल में कुछ अन्य फुटकर रचनाओं का भी निर्माण हुआ, हमने कहा है।

अब हम सन्तकाव्य, प्रेमकाव्य, कृष्णकाव्य और रामकाव्य का सामान्य परिचय तथा उनके कवियों का परिचय प्रस्तुत करेंगे, तदनन्तर

भक्तिकालीन अन्य कवियों पर प्रकाश डालेंगे।

१. सन्तकाव्य

भारत में विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी से मुसलमानों के आक्रमण तीव्र से तीव्रतर होने लगे थे। अब मुस्लिम आक्रान्ता भारत के नागरिक जीवन को शनैः-शनैः अपनाने लगे थे। इस्लाम का प्रचार बादशाहों द्वारा हुआ, सो हुआ; सबसे अधिक प्रचार मुस्लिम फ़कीरों द्वारा हुआ। इन मुस्लिम फ़कीरों के धर्मप्रचार से भारतीय धार्मिक धारणाओं को धक्का-सा लगा। ठीक इसी विषम परिस्थिति में सन्तों का उदय हुआ। मुस्लिम-धर्मप्रचार के कारण जिन निम्नजातियों के पतन की आशंका हो चली थी, उन्हें इन सन्तों ने खूब सँभाल लिया।

सन्तकाव्य विभिन्न धर्मसंस्थानों का विकसित रूप और विचित्र संमिश्रण है। इस पर भारतीय वेदान्त का प्रभाव है; सूफ़ीमत से इसने कुछेक विधान लिये हैं; और सबसे बढ़कर यह सिद्धों और नाथपंथियों के सिद्धान्तों की नींव पर खड़ा है। यथा—

१. माया को सभी सन्तों ने स्वीकार किया है। कबीर पर तो माया का विशेष जादू है। यह माया शंकर से आई प्रतीत होती है। कबीर ने इसके दो रूप माने हैं—एक कनक और दूसरा कामिनी।

२. सन्तों ने ब्रह्म और आत्मा के बीच प्रेमभाव को 'पति-पत्नी' रूप में अभिव्यक्त किया है। उधर सूफ़ियों में यही अभिव्यक्ति 'पत्नी-पति' रूप में की गई है। सन्तों ने सूफ़ियों की इस रूपक-पद्धति को अपनाते हुए भी भारतीय आदर्श के अनुसार इसे समर्पण भाव के रूप में स्वीकार किया है।

३. सन्तों पर सर्वाधिक प्रभाव सिद्धों और नाथों का पड़ा है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से भी और बाह्यरूप से भी। उदाहरणार्थ—

(क) सन्तमत का ईश्वर सिद्धों के 'शून्यवाद' का प्रतीक है। वह ओंकार रूप है; इसलिए निराकार है, जगत् का कर्ता है, निर्भय है, निर्वैर

है, अजन्मा है। वह आकाश की तरह सर्वत्र व्यापक है। न उसका मुँह है और न ही उसका कोई रंग-रूप है। वह अलख-निरंजन है। उसकी प्राप्ति भक्ति और योग द्वारा ही सम्भव है। इसलिए सन्तों ने पूजाचार का विरोध कर केवल नामोपासना पर ज़ोर दिया है। नाम-स्मरण से मानव भवबन्धन से छूट सकता है। नामोपासना के लिए सहज-समाधि की आवश्यकता पड़ती है। सहज-समाधि का अर्थ है—गृहस्थजीवन में रहते हुए भी तटस्थभाव से इष्ट साधना करना। कबीर ने ऐसे व्यक्ति को 'मर-जीवा' कहा है, जिसकी तुलना शंकर के 'जीवन्मुक्त'[1] से की जा सकती है। सहज-समाधि में रमकर नाम-स्मरण को भक्ति कहते हैं और 'मर-जीवा' बनकर निर्लिप्त भाव से संसार में रहना योग कहाता है।

(ख) कबीर ने हठयोग पर भी आस्था प्रकट की है। हठयोग का अर्थ है—शारीरिक यातनाएँ उठाते हुए प्राणायाम आदि करना।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछेक सन्तों ने केवल भक्ति का आश्रय लिया है; जैसे—गुरु नानकदेव तथा गुरु अर्जुनदेव। कुछ सन्तों ने केवल योग का सहारा लिया है; जैसे—मलूकदास, दादूदयाल। पर कबीर ने भक्ति, योग और हठयोग—सभी रास्तों को अपनाया है। सन्तों में योग-परम्परा सिद्धों से आई है और हठयोग नाथों से आया है।

(ग) सन्तों ने सिद्धों की तरह, ईश्वर के बाद गुरुवाद का महत्त्व स्वीकृत किया है। कबीर ने उसे गुरु से भी बड़ा बतलाया है। ईश्वर रूठ जाय तो कोई हानि नहीं, गुरु रूठ जाय तो विश्व में कहीं भी त्राण व शरण नहीं है। यह प्रभाव भी नाथ-सम्प्रदाय से आया प्रतीत होता है।

(घ) भाषा के विषय में भी सन्तों ने सिद्धों और नाथों का अनुकरण किया प्रतीत होता है। उनकी तरह सन्तों ने दो प्रकार की भाषा अपनाई है—(१) सामान्य लोक भाषा, (२) सन्ध्या भाषा।

---

१. **यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः।**
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते।

—शंकर

सामान्य लोक-भाषा—सन्तों ने अपनी 'वाणी' परम्परागत भाषा या परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा में न कहकर सर्वजनकल्याणार्थ लोक-भाषा में कही है। इधर-उधर भ्रमण-स्वभाव के कारण अथवा बहुप्रान्तीय जन-सम्पर्क के कारण इन सन्तों की 'भाषा' अनेक क्षेत्रिय भाषाओं का मिश्रण बन गई है। अतः इसे 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा गया है।

सन्ध्या भाषा—जहाँ अपने सिद्धान्तों को रहस्यमय ढंग से प्रतिपादन करने की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ सिद्धों के समान सन्तों ने 'सन्ध्या भाषा' का प्रयोग किया है। सन्ध्या भाषा का अर्थ है—कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट भाषा अथवा मिलीजुली भाषा। कबीर की 'उलटबासियाँ' सब इसी कोटि में आती हैं।

निष्कर्ष यह कि

सिद्धों और नाथों के मन्तव्यों को सर्वात्मना अपनाकर भी सन्तों की मौलिकता स्पष्ट है। इसे उनके प्रखर व्यक्तित्व का चमत्कार ही कह सकते हैं। वस्तुतः सन्तकाव्य सिद्धों और नाथों के सिद्धान्तों का सुसम्पादित और परिवर्धित संस्करण है।

इस काव्य के प्रतिनिधि सन्त-कवियों का परिचय इस प्रकार है –

(१) कबीर

जीवन—कबीर-पंथियों ने अन्य सम्प्रदायों के अवलम्बियों की भाँति इनके जन्म और जीवन को अलौकिक महत्त्व देने की कामना से अनेक चमत्कारी कथाएँ गढ़ी हैं। परन्तु आज उनपर विश्वास करना कठिन है। कबीर का जन्म संवत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा के चन्द्रवार (सोमवार) को हुआ।[१]

कहा जाता है कि इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी से हुआ था जिसनें लोक-लाजवश इन्हें काशी के लहरतारा तालाब के पास छोड़ दिया। नीरू नामक जुलाहे ने इसे यहाँ से उठा लिया और अपने घर में

१. **'चौदह सौ पचपन साल गए, चन्दवार एक ठाट ठए।**
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥'

उसका पोषण किया। इनका अधिकांश जीवन काशी में बीता। इन्होंने स्वयं लिखा है—**'सकल जनम सिवपुरी गंवाया'**। इनकी पत्नी का नाम लोई था। जिनसे इनका एक कमाल नामक पुत्र भी हुआ था। इनका जीवन आत्मसंयम और समाज-सुधार का जीवन था। आपने आजीवन अपनी अध्यात्मवाणी से जनता के कल्याण का पथ प्रशस्त किया। संवत् १५७५ में आपका देहावसान हुआ, जिसकी पुष्टि में यह दोहा प्रचलित है—

संवत् पन्द्रह से पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
मागसुदी एकादसी, रलो पौन में पौन॥

रचनाएँ—कबीरदास की रचनाओं की संख्या ५८ और ६१ के मध्य कही जाती है। इनमें से सर्वश्रेष्ठ 'बीजक' है। यह उनकी विभिन्न रचनाओं का संग्रह है और 'साखी', 'शब्द' और 'रमैनी' नाम से तीन भागों में विभाजित है। इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय आचार्य शुक्ल के शब्दों में निम्नलिखित है—वेदान्त-तत्त्व, हिन्दू-मुसलमानों को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, प्रेम-साधना की कठिनता, माया की प्रबलता, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि की निस्सारता, हज, नमाज़, व्रत-आराधन आदि की गौणता, आदि।

सिद्धान्त और मन्तव्य—कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। इन्हीं से उन्हें राम नाम की दीक्षा मिली थी। परन्तु इनके राम दाशरथि राम न होकर निराकार ब्रह्म के प्रतीक हैं—

'दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।

इसी राम के लिए उन्होंने अनेक स्थलों पर समरथ, कर्ता, निरच्छर, खसम साहब आदि निर्गुण मत के पोषक नामों का व्यवहार किया है। इसी राम की अनन्य भाव से भक्ति और उपासना कबीर को अभीष्ट है। उनकी भक्ति 'भाव-भगति' कही जाती है—

भाव भगति बिसवास बिनु, कटै न संसै मूल।
कहै कबीर हरि भगति बिनु मुक्ति नहीं रे मूल॥

इस भक्ति का आधारभूत तत्त्व है प्रेम, जिससे भक्त सदा छका रहता है—

हरि रस पीया जानिये, जे कबहूं न जाय खुमार।

इस प्रेम की साध में साधक को अपने सिर की बलि देने के लिए तत्पर रहना चाहिए—

कबीर जो तुंई साध पिरम की, सीस काटि करि गोई।

भक्त और भगवान् के इस प्रेम-पथ की सबसे बड़ी बाधा माया है। इसके मोहन मन्त्र से पण्डित-पांडे, मुल्ला-मौलाना सभी मत्त हो जाते हैं। इस माया के दो विकट रूप हैं, कनक और कामिनी—

एक कनक अरु कामिनी दुरगम घाटी दोय।

माया के मोहन मंत्र से मुक्ति प्राप्त करने के लिए किसी सद्गुरु की शरण लेना आवश्यक है। गुरु की कृपा से माया-नागिन का विष प्रभावशून्य हो जाता है और स्वयं नागिन भी दग्ध हो जाती है—

नागिन डरपै संत पै उहवां नहिं आवै।
कह कबीर गुरु मंत्र से आपै जरि जावै॥

इसीलिए गुरु-भक्ति भी कबीर की दृष्टि में प्रभु-भक्ति के समान गौरवास्पद है; और कभी तो भावावेश में आकर कबीर गुरु को भगवान् से भी ऊँचा समझने लग जाते हैं जिनके चरणों पर वे परम प्रफुल्ल भाव से अपना सर्वस्व तक अर्पित कर सकते हैं।

कबीर की साधना में उनकी समन्वयात्मक भावना के अनुरूप अपने समय की सभी स्वीकृत पद्धतियों का सम्मिश्रण हुआ है। भारतीय अद्वैतवाद, सूफ़ियों का भावनात्मक रहस्यवाद, योगियों का साधनात्मक हठयोग और वैष्णवों का अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद—इन सब का सामञ्जस्य आपने अपनी वाणी में किया है। कबीर की रहस्यवादी साधना में प्रेम का रस है और भावना की स्निग्धता है। वेदान्त के अनुसार आपका विश्वास है कि आत्मा और परमात्मा की मूल एकता को माया ने भ्रान्त कर रखा है। पर गुरु की कृपा से इस माया का आवरण छिन्न-भिन्न हो जाता है और फिर 'जल-कुम्भ-न्याय' से आत्मा

और परमात्मा का द्वैत भाव तिरोहित हो जाता है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहिं समाना, यह तत्त कह्यो गियानी ।।

परमात्मा के प्रति आत्मा के रहस्यमय प्रेम-सम्बन्ध को कबीर ने बहुधा दाम्पत्य-प्रणय के प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त किया है—

हरि मेरो पीव मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े में छुटक लहुरिया।

निश्छल मन से एकमात्र राम-नाम के जाप पर बल देते हुए कबीर ने नाथों, सिद्धों और योगियों की भाँति धर्म के सभी वाह्याडम्बरों का खण्डन किया है। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की अर्थहीन रूढ़ियों और उथली निस्सार बातों की भर्त्सना में कबीर का स्वर तीखा और ऊँचा हो गया है। हिन्दुओं की मूर्तिपूजा में पुजारी का दम्भ है और मुसलमानों की बाँग में खुदा के बहरा होने का संकेत है। दोनों धर्म के मर्म को नहीं जानते—

कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मूये, मरम न काहू जाना ।।

हिन्दू और तुरुक का, ब्राह्मण और शूद्र का, ऊँच और नीच का भेद-भाव मिथ्या है, भ्रममूलक है। सभी उसी एक परम परमेश्वर की सन्तान हैं—

हम तौ एक एक करि जाना
दोई कहैं तिनहीं कौं दो जग, जिन नाहिन पहिचाना।

वाह्याडम्बर और वेश-भूषा पर उनका आघात बड़ा निर्मम हैं—

साधु भया तो क्या भया, माला पहिरी चार।
बाहर भेष बनाइया भीतर भरी भंगार ।।

निरूपण-शैली और भाषा—कबीर ने अपने भावों को सुबोध भाषा में व्यक्त करने की चेष्टा की है। उनकी वाणी में कलापक्ष की हीनता होते हुए भी मार्मिकता अधिक है, अनुभूति की तीव्रता उनकी उक्तियों का प्राण है। उनकी कविता के कला-पक्ष पर आचार्यों की दृष्टि से विवेचन

करना व्यर्थ होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका काव्य प्रमुख रूप से प्रचारात्मक है अतः उसमें सिद्धान्त-तत्त्व की प्रधानता है, काव्य-तत्त्व की नहीं, और न ही काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से कबीर की वाणी का अध्ययन होना चाहिए। उनकी बातें एक सीधे-सादे सन्त की बातें हैं जो अपनी निष्कपटता की शक्ति से सीधे हृदय को छूती हैं। न उनमें अलङ्कार है न गुण, न रस। वे आपबीती कहते हैं, स्वानुभूत सत्य को जैसा बन पड़े कह देते हैं और यही उनकी मौलिकता है। इसी का उन्हें गर्व भी है। वे ताल ठोक कर कहते हैं—

तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता अँखियन की देखी।

कबीर ने अपनी सरल वाणी में भी अपूर्व चमत्कार भर दिया है। अपनी रहस्यमयी अनुभूतियों को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने कहीं-कहीं उलटबांसियों, अन्योक्तियों और रूपकों को भी अपनाया है। इस पद्धति की विशेषता यह है कि इनका चयन हिन्दू और मुसलमानों के घरेलू जीवन से हुआ है, जिसके कारण वे सुबोध और हृदयग्राही बन पड़ी हैं। अन्योक्तियों और रूपकों के अतिरिक्त अन्य कई अलङ्कार भी अनायास इनके पद्यों में आ गये हैं, जैसे विरोधाभास, दृष्टान्त, भावना, यमक आदि।

कबीर की भाषा पूरबी है। उन्होंने स्वयं भी कहा है कि **'बोली मेरी पूरब की'**। परन्तु इस पूरबी भाषा में भी घाट-घाट का पानी मिला है। पंजाबी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, गुजराती और राजस्थानी प्रयोगों के अतिरिक्त अन्य प्रदेशीय शब्दों की भी उसमें भरमार है। कारण यह है कि कबीर सत्सङ्गी जीव थे। इसी धुन में आपने पर्यटन भी खूब किया और स्थान-स्थान पर अपने सरल उपदेश से आपने जनता को भी तृप्त किया। कुछ पर्यटन के प्रभाव से और कुछ अपने आशय को तात्कालिक जनता के सम्मुख उन्हींकी प्रचलित भाषा में स्पष्ट करने के उद्देश्य से कबीर को अपनी वाणी में ये बेमेल सम्मिश्रण करना वाञ्छनीय था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी भाषा इससे सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा बन गई। परन्तु इसका परिणाम कबीर के लिए अच्छा हुआ। हिन्दू

और मुसलमान दोनों के लिए सुबोध होने के अतिरिक्त पश्चिम-पञ्जाब से लेकर बंगाल तक और हिमालय से लेकर गुजरात तथा मालवा तक, यह भाषा उनके सिद्धान्तों का सर्वसुलभ वाहन बन सकी। इसी भाषा में ही उन्होंने राम और रहीम की एकता का प्रचार करके हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक परवरदिगार का बन्दा बताया है—

हिन्दू तुरुक की एक राह है सतगुर इहै बताई।
कहै कबीर सुनो हो संतो राम न केहुऊ खोदाई॥

उपसंहार—कबीर मानवता से ममता रखने वाले, क्रान्ति की प्रतिमूर्ति, परमहंस सन्त थे। उन्होंने अपने युग के भावों, विचारों और आदर्शों में एक प्रबल परिवर्तन लाकर मानव-मात्र के ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय के उद्देश्य से श्रेय-साधना का एक सरल और सीधा पथ प्रशस्त किया। 'राम की माया के द्वन्द्व में पड़ा हुआ समाज भ्रम के हिंडोले में झूल रहा था। धर्म के नाम पर अभिनय की प्रधानता थी। ऐसे समय में बनारस के इस संत-जुलाहे ने 'ज्ञान और प्रेम के ताने-बाने से नई दुनियाँ और नये स्वर्ग की सृष्टि करने का बीड़ा उठाया।' कर्मकाण्ड के वितण्डावाद में उलझी हुई जनता को उसने निःसन्दिग्ध शब्दों में बतलाया कि ईश्वर किसी विशेष स्थान पर अड्डा जमाकर नहीं बैठा। उसका निकेतन तो मानव का मन है और तत्पर अन्वेषण से उसे प्राप्त किया जा सकता है। निम्नलिखित पद में कबीर के मुख से उपनिषदों के किसी ऋषि की मानो ध्वनि-सी आ रही है—

मो को कहाँ ढूंढो तू बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलाश में॥
ना तौ कौनो क्रिया कर्म में, नाही जोग बैराग में।
खोजी होय सो मोहीं पावै, पल भर की तालास में॥
मैं तो रहौं सहर के बाहर, मेरी पुरी सुवास में।
कहै कबीर सुनो भई साधो, सब सांसों की सांस में॥

कबीर निर्गुण अथवा सन्तमत के प्रवर्तक हैं। यह मत उनके बाद

कबीर-पंथ के नाम से फला-फूला और जिसके प्रभाव से सन्तों की एक परम्परा का सूत्रपात हो गया। यही परम्परा विक्रम की १८वीं शती तक देश को अपने उपदेशामृत से प्लावित करती रही।

(२) रैदास

जीवन—कबीर के सामयिक सन्तों में रैदास (रविदास) का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। ये जाति के चमार और रामानन्द के शिष्य थे। इनके विषय में धन्ना भगत ने कहा है कि इन्होंने नित्यप्रति ढोरों का व्यवसाय करते हुए भी माया का परित्याग कर दिया और भगवान् का दर्शन करने में सफलता प्राप्त की। रैदास के एक पद से स्पष्ट है कि गण्यमान्य पण्डित भी इन्हें वीतराग महात्मा मानकर इन्हें साष्टांग दण्डवत् करते थे—

जाके कुटुँब सब ढोर ढोवंत
फिरहिं अजहुँ बानारसी आसपासा।
आचार सहित बिप्र करहिं डंडउति
तिन तनै रविदास दासानुदासा॥

उक्त पद्य से स्पष्ट है कि इनका निवासस्थान काशी था। सन्त रविदास की शिक्षा आदि के सम्बन्ध में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हुआ। सम्भावना यही है कि ये अशिक्षित रहे होंगे।

रचना—'ग्रन्थ साहब' अथवा अन्य कई संग्रहों में इनके अनेक पद बिखरे हुए मिलते हैं। कहा जाता है कि इनकी बहुत-सी रचनाएँ राज-स्थान में अभी तक हस्तलिखित रूप में पड़ी हुई हैं। इनकी कुछ फुटकर रचनाओं का संग्रह 'रैदास जी की बानी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

मन्तव्य—सन्त रविदास के विचार अत्यन्त उदात्त और उदार थे। तर्क और वितर्क द्वारा प्राप्त कोरे ज्ञान के स्थान पर सत्य की पूर्ण अनुभूति ही इनके लिए महत्त्वपूर्ण थी। इस साधन से ही मनुष्य राम का परिचय पाकर दुविधा से मुक्त होता है और पिंड का रहस्य जानकर जल के ऊपर तूम्बे की भाँति सदा विश्व में विचरण करता है। रविदास ने इस सत्य

को अनुपम रूप में कहा है—

जस हरि कहिए तस हरि नाहीं, है अस जस कुछ तैसा ।

किन्तु फिर भी इस सत्य का आभास दृश्यमान प्राकृतिक वैभव में इस प्रकार मिलता है जिस प्रकार जलराशि में उसकी वीचियाँ ।

साधना—इनकी भक्ति 'प्रेम भगति' कही जाती है । इसका मूलाधार है अहंकार की निवृत्ति । अहं की भावना साधक के पथ की सबसे बड़ी बाधा है । कबीर का माधुर्यभाव (ब्रह्म और आत्मा में पति-पत्नी-सम्बन्ध) इन्हें भी अभीष्ट है । इन्होंने स्पष्ट कहा है कि यथार्थ परिचय प्राप्त करने का सच्चा रहस्य केवल सच्ची 'सोहागिन' जानती है जो अपना मन-प्राण सब कुछ अर्पण कर देती है और अहंकार का रंचमात्र भी अपने मन में नहीं आने देती और न ही किसी भेदभाव को प्रश्रय देती है । अपने पति से एकनिष्ठ प्रेम न करने वाली स्त्री सदा दुःखिनी वा दुहागिन हुआ करती है ।

इन्होंने ईश्वर-विषयक जो नाम प्रयुक्त किये हैं, वे सगुणात्मक हैं, परन्तु उनका संकेत निस्सन्देह निर्गुण ब्रह्म की ही ओर है ।

भाषा—रैदासजी की कविता बहुत सरल और सुगम है । इसमें भाषा का प्रचलित रूप अपनाया गया है । अरबी और फ़ारसी शब्दों की बहुलता भी इसकी एक विशेषता है । नीचे के पद में विदेशी शब्दों की अविच्छिन्न शृंखला कौतूहलवर्धक बन पड़ी है—

खालिक सिकस्ता मैं तेरा
दे दीदार उमेदगार, बेकार जिव मेरा ।।
औवल आखिर इलाह, आदम फरिस्ता बन्दा,
जिस की पनह पीर पैगम्बर, मैं गरीब क्या गन्दा ।।

मूल्यांकन—'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास के अनुसार 'इन्होंने सदाचार के जिन नियमों के उपदेश दिये थे, वे वेदशास्त्रादि के विरुद्ध न थे और उन्हें नीर-क्षीर-विवेक वाले महात्मा भी अपनाते थे ।' सन्त रविदास की विमल वाणी सन्देह की गुत्थियों को सुलझाने में परम

सहायक है। सन्त रविदास के नाम पर रविदासी वा रैदासी सम्प्रदाय भी प्रचलित है। इनके अनुयायी प्रतिवर्ष इनकी जयन्ती मनाया करते हैं। आज के हरिजनों के पूज्य पैग़म्बर आप ही हैं। भारत सरकार ने इनके जन्म-दिवस पर सार्वजनिक अवकाश घोषित करके इनके सांस्कृतिक और आध्यात्मिक गौरव पर राजकीय स्वीकृति की मोहर लगा दी है। सन्त रविदास वास्तव में इसी प्रतिष्ठा के पात्र हैं।

(३) नानकदेव

सिखमत के आदि-गुरु नानकदेव का जन्म कार्तिक सुदी पूर्णिमा संवत् १५२६ विक्रमी में तलवंडी नामक गाँव में हुआ था, जिसे आजकल 'ननकाना साहिब' कहते हैं और जो विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान में रह गया है। इनके पिता का नाम कालूराम बेदी और माता का नाम तृप्ता था। इनके पिता साधारण पटवारी थे।

गुरु नानक जी बचपन से ही साधुवृत्ति के थे। बाल्यकाल में इनका पठन-पाठन पं० ब्रजनाथ शर्मा तथा मौलाना कुतुबुद्दीन के यहाँ हुआ। इनका विवाह पक्खो-निवासी मूलचंद खत्री की कन्या सुलक्षणा से हुआ। इनके दो पुत्र हुए—श्रीचंद और लक्ष्मीचंद। इनमें श्रीचंद उदासीन सम्प्रदाय के आचार्य हुए।

गुरु नानक ने दो बार देश-विदेश की यात्रा की। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् वासदेव शास्त्री से इनकी ज्ञानचर्चा की बात एक प्रसिद्ध घटना है। रैदास, नामदेव से भी इनकी भेंट बताई जाती है। कबीर-नानक भेंट की बात भी बड़ी प्रसिद्ध है, पर यह कहाँ तक सत्य है, निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है।

गुरु नानकदेव ने अपने सिद्धान्तों में संस्कारवाद के विरोध, देवता-वाद की अस्वीकृति, ऊँच-नीच के भेद-भाव के निवारण, सत्य की स्थापना और अकालपुरुष की उपासना आदि का उपदेश दिया।

गुरु नानकदेव जी की वाणियों का संचय गुरु अंगददेव जी ने किया, और ये प्रतियाँ संचिकाएँ कहलाईं। गुरु अर्जुनदेव जी ने प्रथम चार

गुरुओं की संचिकाएँ, अपनी रचनाएँ तथा अन्य अनेक सन्तों की वाणियाँ लेकर एक संग्रह तैयार किया, जिसका नाम 'आदिग्रन्थ' रखा। ऐसा कहा जाता है कि उक्त संचिकाएँ सर्वप्रथम देवनागरी लिपि में लिखी गई थीं।

इनकी भाषा सधुक्कड़ी है। इसमें ब्रजभाषा और पंजाबी का अद्भुत मिश्रण है। एक नमूना देखिए—

साकु अंति होइ सखाई।
हरिबिनु होर रासि है कूड़ी, चलदियाँ नालि न जाई।
हरि मेरा धनु मेरे साथ चाले जहाँ हौं जाऊँ तहँ जाई।।
सो झूठा जो झूठे लागै झूठे करम कमाई।
कहै नानकु हरि का भाणा होआ कहणा कछु न जाई।।

(४) दादूदयाल

जीवन—दादूपंथ के अनुयायियों के अनुसार दादूदयाल का जन्म गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर में हुआ था। कहा जाता है कि दादूदयाल एक छोटे से बालक के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए किसी ब्राह्मण को मिले थे। इनका जन्म फाल्गुन सुदी २, बृहस्पतिवार वि० संवत् १६०१ को हुआ। इनकी शिक्षा के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता, परन्तु इनकी रचनाओं में निहित गम्भीर भावनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह निरक्षर साधक थे। इनकी साधना का आधार भी कबीर और गुरु नानक की भाँति स्वानुभूति और सत्संग था। बुड्ढन बाबा अथवा वृद्धानन्द नाम के कोई साधु इनके गुरु बताये जाते हैं। संवत् १६३० में सांभर में आपने अपने पंथ 'परब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना की। आज यह पंथ 'दादूपंथ' नाम से प्रसिद्ध है। संवत् १६४३ में सीकरी नामक स्थान पर अकबर बादशाह से आपकी भेंट हुई थी। इनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अकबर ने अपनी मुद्राओं पर एक ओर 'अल्लाहो अकबर' और दूसरी ओर 'जल्ल जल्लालहु' कीलित कराया था। सांभर के निकट नराना की एक गुफ़ा में जेठ वदी ८, संवत् १६६० में आपने अपना नश्वर शरीर छोड़ा।

रचनाएँ—दादूदयाल की रचनाओं की संख्या प्रायः बीस सहस्र कही जाती है। इनमें इनके पद, साखियाँ और अन्य संगृहीत बानियाँ भी सम्मिलित हैं। फिर भी इतनी बड़ी संख्या की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। संभव है यह संख्या उनके पदों की हो।

भाषा—दादू की बानी कबीर की साखी से पर्याप्त सादृश्य रखती है। इनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। अरबी और फ़ारसी शब्दों का भी इनकी कृतियों में बहुत प्रयोग हुआ है। कबीर-जैसा वाग्वैदग्ध्य न होते हुए भी इनकी उक्तियों में सरसता और गम्भीरता काफ़ी है। इनकी वाणी के विषय वही हैं जो प्रायः सभी सन्तों के कथनों में हमें उपलब्ध हैं—ईश्वर की व्यापकता, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, सत्गुरु का माहात्म्य, जातपात का खण्डन, आत्मज्ञान, नश्वर विश्व की निस्सारता आदि। इनकी कविता बड़ी प्रभावशालिनी है। सुबोध और सहज होते हुए भी वह एक आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि कर देती है। इनका पंथ सर्वसुलभ है। निम्नलिखित पद में शायद इसी ओर संकेत हुआ है—

भाई रे ऐसा पंथ हमारा
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा।
बादबिबाद काहू सौं नाहीं में हूँ जग थें न्यारा।
समदृष्टि सूँ भाई सहज में आप हि आप बिचारा।
मैं, तैं, मेरी यह मति नाहीं निरबैरी निरविकारा।
काम कल्पना कदे न कीजे पूरन ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुंचि पार गहि दादू सो तत सहज सँभारा॥

(५) गुरदास

सिख-इतिहास में गुरुओं के पश्चात् भाई गुरदास का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इसका प्रधान कारण है—इनका पंजाबी तथा विशेषतः ब्रजभाषा का सिद्धहस्त कवि होना। इनकी तुलना में फ़रीद-उद्दीन शकरगंज का नाम भी लिया जा सकता है, पर उनकी ब्रजभाषा की पृष्ठभूमि मुलतानी (लहंदा) भाषा है। पंजाब में विशुद्ध ब्रजभाषा के

प्रथम कवि भाई गुरदास ही हैं।

भाई गुरदास के जन्म-संवत् के विषय में बड़ा मतभेद है। डॉ० गोपालसिंह ने संवत् १६१६ माना है और भाई प्यारासिंह पद्म ने सं० १६१०। पर उधर मौला बख्श कुश्ता ने आपका जन्मवर्ष संवत् १५५१ माना है। १७ आश्विन, संवत् १६८६ में आपका निधन प्राय: सर्वसम्मत है। आपका सम्बन्ध भल्ला कुल तथा गुरु अमरदास के वंश से बताया जाता है।

गुरु अर्जुनदेव के आदेशानुसार आपने 'आदिग्रन्थ' का संकलन १६६१ संवत् में किया। साथ ही अपने सिखधर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया। आपकी रचना को 'आदिग्रन्थ' की कुञ्जी माना जाता है। रचना का भावपक्ष और कलापक्ष व्यवस्थित और पूर्ण हैं। इनके ७०० के लगभग कवित्त-सवैये गुरुमुखी लिपि में लब्ध हैं। रचना का नमूना देखिए—

(१)

सफल बिरछ फल देत ज्यों पखान मारे,
सिर करवत सहि तरु पार-पार है।
सागर से काढि मुख फोरियत सीप ज्यों,
देत मुक्ताहल अवग्या न विचार है।।
जैसे खनवारा खनि खानत रतन धन,
मानक अमोल हीरा पर उपकार है।
ऊखमें पियूख जैसे प्रकास हो कोल्हू परें,
अवगुन किये गुन साधुन के द्वार है।।

(२)

जैसे सर सरिता सकल में समुंद बड़े,
मेरु में सुमेरु बड़े जगत बखान है।
तरवर विखें जैसे चंदन विरख बड़े,
धातु में कनक अति उत्तम के मान है।।

पच्छिन में हंस मृगराजन में सारदूल,
रागन में सिरी राग पारस पखान है।
ग्यानन में ग्यान अरु ध्यानन में ध्यान गुरु,
सकल धरम मांहि गृहस्थ परधान है॥

६. अर्जुनदेव

जीवन—गुरु अर्जुनदेव जी का जन्म गुरु रामदास के घर वैशाख कृष्णा ७, संवत् १६२० मंगलवार को हुआ। गुरु अमरदास जी की पुत्री बीवी भानी इनकी माता थीं। १८ वर्ष की आयु में आपको गुरु-पदवी मिली। जहाँगीर ने किसी के बहकावे में आकर विद्रोही खुसरो की सहायता के अपराध में गुरु जी को बंदी बना लिया और उन पर दो लाख का दण्ड किया तथा 'गुरु ग्रन्थ साहिब' से यह पंक्ति निकालने की आज्ञा दी—

मिट्टी मुसलमान दी पेड़े पई कुंभार

गुरु जी ने दोनों आज्ञाएँ अस्वीकार कर दीं। फलतः जेठ सुदी ४ संवत् १६६३ में आप निरंकारी जोत में लीन हुए।

महत्त्व—सिख-मत में गुरु अर्जुनदेव का विशेष स्थान है। इसके कई कारण हैं—

१. आपको आदि-ग्रन्थ के संकलन का श्रेय प्राप्त है। इनके प्रधान शिष्य भाई गुरुदास ने गुरु जी के निर्देशानुसार सं० १६६१ में इसका संग्रह किया था। इसमें पहले पाँच गुरुओं की रचनाएँ संगृहीत हैं, जिनकी पदसंख्या निम्नलिखित है—

श्री गुरु नानकदेव ९७६, श्री गुरु अंगददेव ६१, श्री गुरु अमरदास ९०७, श्री गुरु रामदास ६७९, श्री गुरु अर्जुनदेव २२१६ और भाटों के १२३ पद तथा सोलह अन्य सन्तों के न्यूनाधिक पद भी उसमें संगृहीत हैं।[1]

---

१. उनके नाम ये हैं:—कबीर, त्रिलोचन, बेणी, रविदास, धन्ना, नामदेव, फ़रीद, जयदेव, भीखन, साईं, पीपा, रामानन्द, परमानन्द', सधना, सूरदास, मीराबाई।

२. इन्होंने अमृतसर में 'हर मण्डल' (स्वर्ण मन्दिर) नामक सिखतीर्थ सम्पूर्ण कराया।

३. सिखों में भक्ति के साथ-साथ शक्ति का भाव जागृत किया।

४. यहीं से गुरु-पदवी वंशानुगत चली।

रचनाएँ—गुरु जी की रचनाएँ ये हैं—बारहमासा, बावन-अक्खरी, सुखमनी साहब। आपकी रचना में शान्तरसपूर्ण भक्ति का अमन्द सन्दोह बह रहा है। इनकी रचनाओं में हरि, नारायण, राम, गोविन्द आदि पदों को देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ये सगुणभक्त हैं, क्योंकि इनके प्रेमरस-सिंचित ज्ञान-मार्ग के पद इतने गंभीर हैं कि उनमें भारतीय दर्शन तथा सन्तमत सभी मन्तव्यों का विशद व्याख्यान मिल जाता है। गुरु अर्जुनदेव जी की भाषा ठेठ ब्रज है और उधर गुरु नानकदेव जी की भाषा सधुक्कड़ी कही जाती है। वस्तुतः गुरु नानक जी से लेकर गुरु अर्जुनदेव जी तक पूज्य गुरुजनों की भाषा का ब्रजपन उत्तरोत्तर निखरता गया है। गुरु अर्जुनदेव की भाषा का नमूना देखिए—

जाकी राम नाम लिव लागी।
सजनु सुहृद सुहेला सहजे सो कहिए बड़भागी।
रहित विकार अलिप माया तै अहं बुधि बिख त्यागी।
दरस प्यास आस एक ही की टेक हिये प्रिय पागी।
अचिंत सोई जागनु उठि बैसनु अचिंत हसत बैरागी।
कहु नानक जिनि जगतु ठगाना सुमाया हरिजन ठागी।

७. मलूकदास

जीवन—मलूकदास नाम से कई महात्मा उत्तर-भारत में प्रसिद्धि पा चुके हैं। आलसियों का यह वेदमन्त्र—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम॥

भी किसी मलूकदास से सम्बद्ध किया जाता है। सम्भवतः संत मलूकदास इनसे भिन्न व्यक्ति हैं। इन्होंने अपना मलूक-पंथ चलाया था। इस पंथ के

अनुयायियों के अनुसार इनका जन्म वैशाख वदी ५, सं० १६३१ को इलाहाबाद ज़िले के कड़ा नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता सुन्दरलाल जी जाति के खत्री थे और कक्कड़ उनकी उपाधि थी। साधु-सत्सङ्ग की इन्हें प्रबल कामना रहती थी और इसीके परिणाम-स्वरूप आध्यात्मिक वृत्ति का इनके हृदय में पूर्ण विकास हुआ। कहते हैं कि किसी मुरार स्वामी नाम के महापुरुष से इन्हें ज्ञान-प्राप्ति हुई थी और अध्यात्म-साधना की वास्तविक दीक्षा भी मिली थी। दीक्षित होकर भी इन्होंने गृहस्थ-जीवन से मुँह नहीं मोड़ा और कड़ा गाँव में ही रहकर जीवन के सुख-संतोषमय क्षणों का यापन करते हुए वैशाख कृष्णा चतुर्दशी सं० १७३९ में इन्होंने अपना नश्वर शरीर छोड़ा। इस समय उनकी अवस्था १०८ वर्ष की थी।

रचनाएँ—मलूकदास की शिक्षा के विषय में बहुत कम ज्ञात हो सका है। उनकी प्राप्य रचनाओं से यह संकेत अवश्य मिलता है कि वे बहुश्रुत महात्मा थे। निम्नलिखित नौ रचनाएँ इनसे सम्बद्ध की जाती हैं—(१) ज्ञानबोध, (२) रतनखान (३) भक्त-बच्छावली (४) भक्त-विरुदावली (५) पुरुष-विलास (६) दस रत्न-ग्रन्थ (७) गुरु प्रताप (८) अलख बानी और (९) रामावतारलीला। इनका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ और पूर्ण आलोचनात्मक तथा परस्पर तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में यह कहना कठिन है कि इनमें कितनी मलूक की प्रतिभा की प्रसूति हैं और कितनी यूँ ही इनके नाम से सम्बद्ध है। हाँ इनके चुने हुए ग्रन्थों और साखियों का एक संग्रह 'मलूकदास जी की बानी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इससे मलूकदास के मन्तव्यों का कुछ ज्ञान हो सकता है।

सिद्धान्त—सन्त मलूकदास ने 'सतगुरु' और भगवान् को एक कहा है। 'सतगुरु' नितान्त अनिर्वचनीय है। इसकी महिमा का वर्णन करना सुई के मुख से सुमेरु को पार करने की चेष्टा करना है। इनके मत में मुक्ति यही है कि अपना आपा खोजो जिससे भ्रान्ति का नाश हो और

तीनों लोकों का मर्म ज्ञात हो। आत्मज्ञान इनके मत का सार है।

ईश्वर के अस्तित्व में सन्त मलूकदास का विश्वास इतना दृढ़ और एकनिष्ठ था कि वह प्रतिक्षण उसके सान्निध्य की अनुभूति करते हुए उसे अपना आत्मीय समझते थे। निम्नलिखित सवैया में भगवान् के प्रति उनका विनम्र दैन्यमय निवेदन है—

दीनदयाल सुनी जब तै, तब तै हिय में कछु ऐसी बसी है,
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ, मैं तेरे हित की पट खेंच कसी है।
तेरो ई एक भरोस मलूक को, तेरो समान न दूजो जसी है,
एहो मुरारी पुकारि कहौं, अब मेरी हँसी नहीं तेरी हँसी है।।

कितना अनन्य भावमयपूर्ण और आत्मसमर्पण है! यही कारण है कि अब उनका सुख-दुःख अथवा हास-उपहास उनका नहीं प्रभु का है और उसकी टेक प्रभु को रखनी है। अधोलिखित दोहे में यह आत्मसमर्पण पूर्ण विलय की सीमा तक पहुँच गया है—

माला जपौं न कर जपौं, जिभ्या कहौं न राम।
सुमरिन मेरा हरि करैं, मैं पाया बिसराम।।

भाषा—अरबी और फ़ारसी शब्दों का प्राचुर्य होते हुए भी उनकी भाषा सरल, सुव्यवस्थित और स्वाभाविक है। कहीं-कहीं तो पदविन्यास अच्छे कवियों की रचनाओं से टक्कर लेता है। उपदेश और उद्बोधन के पदों में इनकी भाषा में ओजस्विता आ गई है जो प्रसङ्गानुरूप भी है। कुछ पद्य बिल्कुल खड़ीबोली में हैं।

एक उदाहरण देखिए—

अब तो अजपा जपु मन मेरे।
सुर नर असुर टहलुवा जाके मुनि गंध्रव हैं जाके चेरे।
दस औतार देखि मत भूलो, ऐसे रूप घनेरे।
अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तें नैननि हेरे।
कह मलूक तू चेत अचेता काल न आवै नेरे।।

८. बाबालालदास

पंजाब की सन्त-परम्परा में बाबालालदास का विशेष स्थान है। इनका मठ गुरुदासपुर में है। पंजाब में इस नाम के चार सन्त सुने जाते हैं—

१. पिंड दादनखाँ के टाहली वाले बाबालालदास;

२. भेरा-म्यानी वाले लालदास;

३. गुरदासपुर वाले सन्त लालदास;

४. कसूर वाले लालदास।

यह कह सकना कठिन है कि ये चारों सन्त भिन्न-भिन्न हैं; या एक ही सन्त चार अलग-अलग स्थानों में भ्रमण करने से चार व्यक्तियों के रूप में प्रसिद्ध हो गया है। जो हो, गुरदासपुर वाले बाबालालदास ही हमारे आलोच्य सन्त हैं।

इनकी जन्मतिथि के विषय में बड़ी भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। कुछ लोगों का मत है कि संवत् १४१२ में सन्त जी प्रकट हुए। वे उनकी मृत्यु का संवत् १७२० बतलाते हैं। पर ३०८ वर्ष की आयु पर विश्वास कर लेना सुगम नहीं है। बाबाजी की दाराशिकोह से भेंट होना बड़ी प्रसिद्ध घटना बताई जाती है। यह घटना सं० १७०६ में हो सकती है।[1]

---

१. संवत् १७०६ में कश्मीर से लौटती बार सन्त बाबालालदास की दाराशिकोह से लाहौर में भेंट हुई थी। यह भेंट पाँच-छः दिन निरन्तर होती रही। इस अवसर पर यदुनाथ खत्री, रामचन्द्र शर्मा तथा मीरमुंशी उपस्थित थे। इनके वार्तालाप का कुछ अंश इस प्रकार है, जो बाबाजी की निरीहता एवं त्यागवृत्ति का परिचायक है—

दारा—घर फकीर दा किहड़ा है ? (फकीर का घर कौन-सा है ?)

बाबा—सारा जगत्

दारा—जंदड़ा घर का ? (ताला घर का ?)

अतः उक्त निधन-तिथि पर तो विश्वास किया जा सकता है, पर जन्मतिथि पर नहीं। परशुराम शर्मा का अनुमान है कि इनका जन्म संवत् १६४७ में हुआ।

सन्त जी की माता का नाम कृष्णादेवी तथा पिता का नाम भोलानाथ था। १० वर्ष की आयु में आपमें वैराग्योदय हुआ था। शाहदरा (लाहौर) के निकट सन्त चेतनदास से आपने दीक्षा ले ली।

बाबालालदास ने अपने शिष्यों के साथ पेशावर, गजनी, काबुल, कन्धार, देहली, बड़ौदा तथा राजस्थान का भ्रमण किया था। आपकी रचनाओं का प्रामाणिक संग्रह अभी तक देखने को नहीं मिला; पर यत्र-तत्र संग्रह-ग्रन्थों में कुछ रचनाएँ मिल जाती हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि आपकी भाषा मूलतः ब्रज है। उसमें पंजाबी तथा खड़ीबोली का आभास भी मिल जाता है और राजस्थानी के शब्द भी नजर पड़ जाते हैं। नमूना देखिए—

जाके अन्तर ब्रह्म प्रतीत, धरै मौन भावें गावे गीत।
निसदिन उन्मन रहित खुमार, शब्द सुरत जुड़ एको तार।
ना गृह रहे न बन कौ जाय, लाल दयाल सुख आतम पाय।

बाबा—त्याग भोगों का;
दारा—न्याँऊ फकीर का ? (न्याय साधु का ?)
बाबा—सभ किसी सों निरवैर; (सबसे निर्वैर-भाव)
दारा—जामा फकीर का क्या है ? (साधु का वस्त्र कौनसा है ?)
बाबा—सभ किसी का पाप कजरणा; (सब किसी का पाप गुप्त रखना)
दारा—दुश्मन फकीर दा कौन है ? (साधु का शत्रु कौन है ?)
बाबा—मन आपणा; (अपना मन)
दारा—बादशाही फकीर दी क्या है ? (फ़क़ीर की बादशाही क्या है ?)
बाबा—बेपरवाही जगतसों, अर अपने सरीर सों।
(संसार से बेपरवाही, और अपने शरीर पर दोष।)

आशा विषय विकार की बान्ध्या जग संसार।
लख चौरासी फेर में भरमत बारंबार॥
जिह् की आशा कछु नहीं आतम राखै शून्य।
तिह् की कछु नहीं भरमणा लागै पाप न पुन्य॥
देहा भीतर स्वास है, स्वासे भीतर जीव।
जीवे अन्तर वासना किस विध पाइए पीव॥
जाकै अन्तर वासना बाहर धारै ध्यान।
तिह् कौ गोविन्द ना मिले अन्त होत है ध्यान॥

(६) सुन्दरदास

सुन्दरदास की गणना संत दादूदयाल के योग्यतम शिष्यों में की जाती है। ये बसूर गोत के खण्डेलवाल वैश्य थे। इनका जन्म चैत सुदी संवत् १६५३ को जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौसा में हुआ। ग्यारह वर्ष की आयु में इन्होंने काशी जाकर दर्शन और साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। लगभग १८ वर्ष ये काशी में रहे और संस्कृत, व्याकरण, वेदान्त, पुराण आदि अनेक शास्त्रों में निष्णात हो गये। फ़ारसी से भी इनका अच्छा परिचय था। देशाटन की ओर इनकी विशेष रुचि थी। जीवन के अन्तिम दिनों में आप सांगानेर चले गये थे। वहाँ कार्तिक सुदी ८ संवत् १७४६ को इनका प्राणान्त हुआ।

रचनाएँ—सुन्दरदास ने छोटे-बड़े कुल मिलाकर ४२ ग्रन्थों का प्रणयन किया था। ये सभी रचनाएँ 'सुन्दर-ग्रन्थावली' के नाम से संकलित हैं। इनके ग्रन्थों में 'सुन्दर-विलास' अथवा 'सवैया' पर्याप्त ख्याति-लब्ध है। इसमें कुल ५६३ छन्द हैं जिनमें अत्यन्त सरस और हृदयग्राही भाषा में भिन्न-भिन्न विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

निरूपण-शैली तथा वर्ण्य-विषय—संत कवियों में इन्हें अपने काव्य-कौशल के कारण शीर्षस्थान प्राप्त है। यतिगति-हीन रचना अथवा बेतुकी बातें इन्हें बिलकुल रुचिकर नहीं थीं। इस विषय में अपने मत को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है—

बोलिये तो तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तो मुख मौन गहि चुप होय रहिये ।
जोरिये तो तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक, छन्द अरथ अनूप जामें लहिये ।।

काव्य-शास्त्र का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था । यही कारण है कि इनकी कविता में रसनिरूपण अथवा अलङ्कारों की सृष्टि प्रचुर मात्रा में हुई है । शृङ्गार-रस के ये प्रबल विरोधी थे । नारी-निन्दा भी इन्होंने भरपूर की है । संत होते हुए भी हास्य-रस से इन्हें विशेष अनुराग था । वेदान्त की गम्भीर उक्ति-युक्तियों को आपने मनोरंजक रूप में प्रस्तुत किया है । इनके हास्य-विनोदमय व्यंग्य के प्रमाण में इनकी कृति 'दशों दिशा के सवैया' है, जिसमें आपने भिन्न-भिन्न देशों की विभिन्न आचार-पद्धति पर बड़ी चुटीली और मनोरंजक फवतियाँ कसी हैं ।[1] इनकी रचनाओं में इनकी भाषा का सौष्ठव अपने सहज प्रकृत रूप में निखरा है । शिक्षा-सम्पन्न होने के कारण अन्य निर्गुणपंथियों के समान आप लोकरीति और मर्यादा के प्रति उदासीन न थे । इनके शिक्षा-सम्बन्धी कथन भी सारगर्भित हैं ।

२. सूफ़ी-काव्य

सूफ़ियों के काव्य में ईश्वर की परिभाषा हिन्दू-मुस्लिम सिद्धान्तों के अनुरूप पड़ती है । उसका नाम 'हक़' है । वह निराकार है, बेमिसाल है

---

१. जैसे गुजरात पर—

आभड़ छीत अतीत सो होत, बिलार औ कूकर चाटत हाँडी ।

मारवाड़ पर—

बृच्छ न नीर न उत्तम चीर, सुदेसन में गत देस है मारू ।

दक्षिण पर—

रांधत प्याज, बिगारत नाज, न आवत लाज, करें सब भच्छन ।

पूरब देश पर—

बाम्हन छत्रिय बैस रु सूदर, चारोइ बर्न के मच्छ बघारत ।

और अजन्मा है। वह व्यापक और सृष्टिकर्ता भी है। परन्तु वह आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मा साधना की चार मंजिलें तै करके ही उस तक पहुँच पाता है। यह पीछे बताया गया है कि सूफ़ियों पर वेदान्तवादियों का प्रभाव है और यही वेदान्तवाद सूफ़ियों को कट्टर इस्लामवाद से पृथक् करता है और भारतीय सन्तमत के निकट लाता है। सूफ़ियों ने ईश्वर के बाद गुरु को ऊँचा दर्जा दिया है। कहीं-कहीं गुरु ईश्वर-रूप हो गया है[1]; और कहीं-कहीं गुरु को प्रेम का स्वरूप मान लिया गया है[2]। ईश्वर की प्रथम रचना प्रेम है और प्रेम के माध्यम से उसने शेष सृष्टि की रचना की है[3]। सूफ़ीमत में माया का कोई स्थान नहीं है। जायसी ने अल्लाउद्दीन को माया का प्रतीक[4] माना है, पर यह केवल अपवाद मात्र है। हाँ, मुस्लिम संस्कारों के कारण सूफ़ी-काव्यों में 'शैतान' का दर्जा बराबर बना हुआ है। शैतान के प्रभावों को निरस्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता सदा बनी रहती है।

सूफ़ी-साहित्य का सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त है—प्रेम। प्रेम के सम्बन्ध में ईश्वर और गुरु की चर्चा हो चुकी है। सूफ़ी-साहित्य में प्रेम के दो पक्ष हैं—संयोगपक्ष और वियोगपक्ष। पुनः प्रेम के दो रूप हैं—सात्त्विक प्रेम और तामसी प्रेम। सूफ़ीमत दोनों रूपों को ग्रहण करता है। नायक-नायिकाओं में सात्त्विक प्रेम की अवतारणा हुई है और खलनायकों में तामसी प्रेम की। सात्त्विक प्रेम को भी 'सुखमय प्रेम' और 'दुःखमय प्रेम' के भेद से दो धाराओं में विभक्त कर सकते हैं। जायसी-प्रणीत 'पद्मावत'

---

१. **गुरु गोविन्द हर एकै जानौ, याही भाव तुम मन में ठानौ।**
—अली मुराद

२. **प्रेम गुरु है ध्यान कर मनसों सुमिरन लाव।** —अली मुराद

३. **प्रेम सों तीनों लोक संवारा नये-नये रूप औ नये अवतारा।**
निराकार जब प्रेम बनायो, पहले प्रेम वही मो समायो।।
—अली मुराद

४. **माया अल्लाउदीं सुलतानू।** —जायसी

में नागमती का सात्त्विक प्रेम दुःखमय है और पद्मावती का सुखमय।
सूफ़ी साधना के चार अंग हैं—

(१) **शरीअत**—अर्थात् धर्मग्रन्थों के विधिनिषेध के अनुसार जीवन-यापन करना और उपासना में रत रहना।

(२) **तरीकत**—अर्थात् जगत् से विमुख रहकर अन्तर्लीनावस्था में ईश्वरी सत्ता का चिन्तन करना। इसकी तुलना भारतीय उपासना-कांड से की जा सकती है।

(३) **हकीकत**—अर्थात् ईश्वरी सत्ता का परम ज्ञान प्राप्त कर लेना।

(४) **मारिफ़त**—अर्थात् परम सत्ता में अवस्थित होने की सिद्धि हासिल करना।

सूफ़ियों की ये साधनाएँ विशुद्ध इस्लामवाद की सूचक हैं। साधक को मुक्त तभी माना जा सकता है, जब वह इन घाटियों को पार कर जाय।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि सूफ़ियों का हिन्दी-साहित्य में उतरना तथा भारतीय विचारधाराओं और कथानकों को अपनाना अनायास-सी घटना है। मूलतः इसका उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था। उन्हीं के कथनानुसार मुहम्मदी धर्म ही संसार में सर्वश्रेष्ठ धर्म है—

विधना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते।
तेहि पंथ महँ कहौ भल गाई। जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई।
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कबिलास बसेरा।

—जायसी

सूफ़ियों का कलापक्ष बड़ा रमणीय है। इनके महाकाव्यों में सरस-नीरस पदों और प्रसंगों का समाहार बड़े सुन्दर ढंग से हो जाता है। इनकी दोहा-चौपाई की (मसनवी) गायन-पद्धति बड़ी निराली और आकर्षक है। सभी सूफ़ियों की भाषा ठेठ अवधी है। वस्तुवर्णन और सालंकार अभिव्यक्ति सूफ़ियों की निजी विशेषता है।

हिन्दी के भक्तिकालीन प्रसिद्ध सूफ़ी कवि ये हैं—कुतुबन, मंझन, जायसी, उसमान और न्यामतखाँ (जान कवि)। पर यह सूफ़ी-परम्परा आगे भी चलती रही। शेख नबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद, हुसैन अली, शेख निसार, नजफ अली, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, नसीर कवि, अली मुराद आदि सूफ़ी कवि हिन्दी रीतिकाल की उपज हैं। भक्तिकालीन सूफ़ी-कवियों का परिचय इस प्रकार है—

(१) कुतबन

कुतुबन का आविर्भाव-काल विक्रम की १६वीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। आचार्य शुक्ल ने इन्हें चिश्ती वंश के शेख बुरहान का शिष्य बतलाया है। परन्तु निम्नलिखित दोहे से—

सेख बुढ़न जग साचा पीरू, नाम लेत सुध होय सरीरू।
कुतबन नाम लेई पा धरे, सरवर दो बुहूं जग नीर भरे॥

ऐसा प्रतीत होता है कि कुतुबन का शेख बुढ़न के प्रति बहुत आदर-भाव था और उन्हें ये **'सब सो बड़ा सो पीर हमारा'** कह कर याद करते थे। ये शेख बुढ़न और आईन-ए-अकबरी के शेख बुढ़न शत्तारी एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। ये मुस्लिम सुलतान शाह सिकंदर लोदी (राज्य-काल सं० १५४६—१५७४ वि०) के समसामयिक थे। कुतुबन ने 'मृगावती' में शाहे वक्त की प्रशंसा में लिखा है—

साहे हुसैन अाहे बड़ राजा, छत्र सिंघासन उनको छाजा।

इस हुसैन शाह को लेखक ने युधिष्ठिर और कर्ण के समान धर्मात्मा और दानवीर भी कहा है। जौनपुर का शासक हुसैन शाह इन गुणों से सम्पन्न धर्मपरायण व्यक्ति था और उसका राज्य-काल भी सं० १५५० से १५७६ तक था। सम्भावना यही है कि कुतुबन इसी हुसैन शाह के आश्रित थे। कुतुबन की रचना 'मृगावती' (मृगावति) का रचनाकाल स्वयं कवि के कथनानुसार सं० १५६० है, इसलिए हुसैन शाह की प्रशस्ति असंगत भी प्रतीत नहीं होती।

रचना—कुतुबन की मृगावती की कथा भी रूपक-रूप में लिखित

है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है—चन्द्रगिरि के राजा गरणपति का पुत्र कंचन नगर के राजा रूपमुरारी की कन्या मृगावती के रूप पर मुग्ध हो गया। मृगावती उड़ने की कला जानती थी। राजकुमार ने उसे प्राप्त करने के लिए अनेक संकटों का सामना किया और अन्त में उसे प्राप्त करने में सफल हुआ। परन्तु मृगावती एक दिन उसे झाँसा देकर उड़ गई। राजकुमार उसके विरह में योगी बनकर उसे खोजने लगा। एक दिन उसने एक पहाड़ी पर रुक्मिरणी नाम की एक सुन्दरी की एक राक्षस से रक्षा की। इससे प्रसन्न होकर सुन्दरी के पिता ने उसका विवाह राजकुमार से कर दिया। अन्ततः राजकुमार मृगावती के राज्य में पहुँचा। यहाँ अपने पिता की मृत्यु के बाद मृगावती राज्यासीन थी। राजकुमार १२ वर्ष वहाँ रहा। राजा गरणपति को यह ज्ञात हुआ तो उसने अपने पुत्र को बुलवा भेजा। पिता का संदेश पाकर राजकुमार मृगावती को साथ ले अपने राज्य चन्द्रगिरि की ओर चला और मार्ग में रुक्मिरणी को भी उसने साथ ले लिया। सुदीर्घ काल तक सुखी जीवन व्यतीत करने के बाद आखेट के समय हाथी से गिरकर राजकुमार की मृत्यु हो गई। दोनों रानियों ने सतीधर्म का पालन किया।

भाषा—'मृगावती' की भाषा ठेठ अवधी है और दोहा-चौपाई की शैली में रचित है। पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहे का क्रम है। काव्य-सौन्दर्य नगण्य है। स्पष्ट है कि सूफ़ी-सिद्धान्तों का प्रचार ही इस का उद्देश्य है। साधना-मार्ग के त्याग और कष्टों का निरूपरण करते हुए कवि ने स्थान-स्थान पर सूफ़ी शैली में रहस्यात्मक संकेत भी किये हैं।

(२) मंझन

मंझन के जीवन और जन्मकाल के सम्बन्ध में अभी तक कुछ सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इनकी रचना 'मधुमालती' की केवल खण्डित और अधूरी प्रतियाँ ही मिली हैं। इसके आधार पर इतना कहा जा सकता है कि 'मधुमालती' का प्रणयन शाह सलीम के राज्यकाल में हुआ। सलीम शेरशाह का उत्तराधिकारी था और सं० १६०२ में

राज्यासन पर बैठा । निम्नलिखित पंक्तियाँ इन तथ्यों की ओर निर्देश करती हैं—

साह सलेम जगत बलिहारी, जेहि यह बरनै मंद न मारी ।
सत हरिचंद, दान बलि केरा, धरम युधिष्ठिर कलि अवतेरा ।।

शेख़ बदी और शेख़ मुहम्मद आदि मुस्लिम महात्माओं को इन्होंने पूज्य-भाव से स्मरण किया है—

शेख बदी जग सिद्ध पिआरा, ग्यान सुमन्द और दलयारा ।

× × ×

शेख मुहम्मद पीरु अमारा, सात समंद नांव कंठ हारा ।

'मधुमालती' की रचना दोहा-चौपाई छन्दों में हुई है । पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहे का क्रम है ।

काव्य सौन्दर्य—कवि ने दो कथाओं को एक-साथ गुम्फित किया है । ताराचंद और प्रेमा को उपनायक और उपनायिका का स्थान दिया जा सकता है । मंझन की दृष्टि में जीवन और जगत् का सार प्रेम है : '**इस सरब सार जग पेम**' । यह प्रेम व्यापक और अखण्ड है । दूसरे जन्म में भी इसका आभास अविच्छिन्न रूप से मिलता है । सूफ़ियों की दृष्टि में समस्त सृष्टि-प्रेम के रहस्यमय सूत्र से अनुबद्ध है और सर्वत्र उसका प्रसार ही दृष्टिगोचर होता है—

यहै रूप परगट यहु रूपा, यहै रूप जेहि भाव अनूपा ।
यहै रूप सभ नैनन्ह जोती, यहै रूप सभ सागर मोती ।
यहै रूप सभ फूलन्ह वासा, यहै रूप रस भंवर तरासा ।
यहै रूप ससिहै औ सूरा, यहै रूप जग पूरा पूरा ।
यहै रूप अन्त आदि निदाना, यहै रूप सभ सिष्टि समाना ।।

यह रचना मंझन के कोमल और संवेदनशील हृदय का निदर्शन है । इनकी रचना समसामयिक सूफ़ी-प्रेमकाव्यों की भाँति दुःखान्त नहीं है । मंझन ने भारतीय आदर्श का आदर करते हुए इसे सुखान्त बनाया है । इसकी कल्पना में विशदता है और वर्णनों में विस्तार के साथ-ही-साथ मार्मिकता

भी। प्रकृति के सुन्दर दृश्यों के मनोरम चित्रों से आध्यात्मिक प्रेम-भाव की व्यञ्जना सुचारु रूप से हुई है। विरह के करुण-चित्र कवि की प्रत्यक्षानुभूति पर आश्रित जान पड़ते हैं। मधुमालती वस्तुतः एक सरस और भावात्मक कृति है।

(३) मुहम्मद जायसी

जीवन—मौलिक मुहम्मद जायसी के जन्म संवत् के विषय में कोई सुनिश्चित मत अभी तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका। उनकी कृति 'आखिरी कलाम' के इस पद—

'भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी।'

से यह समझा जाता है कि उन्हें हिजरी ९०० (संवत् लगभग १४९२) में नर-रूप में अवतार मिला। परन्तु 'पद्मावत' की निम्नोक्त पंक्तियाँ इस निष्कर्ष को सही समझने में कठिनाई उपस्थित करती हैं—

सन नव सै सत्ताईस अहा
कथा-अरम्भ बैन कवि कहा।

इस कथन के अनुसार पद्मावत की रचना हिजरी ९२७ में हुई अर्थात् जब जायसी की आयु २७ वर्ष की थी। पद्मावत के उत्कृष्ट काव्य-कौशल को देखते हुए उसे २७ वर्ष के चढ़ते यौवन की रचना मानना आपत्तिजनक लगता है। जायसी-काव्य के गम्भीर अध्येताओं ने उक्त कथन में 'नव सै सत्ताईस' के स्थान पर 'नव सै सैंतालीस' पाठ को अधिक उपयुक्त समझा है। उनके इस विचार के अनुसार पद्मावत की रचना कवि की ४७ वर्ष की अवस्था में हुई होगी, और यह युक्ति-युक्त भी है। अतः जायसी का जन्म 'आखिरी कलाम' के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर हिजरी ९०० अर्थात् सं० १४९२ में हुआ। इसका समर्थन पद्मावत के आरम्भ में तत्कालीन बादशाह शेरशाह के प्रति की गई प्रशस्ति से भी हो जाता है, क्योंकि शेरशाह का शासनकाल ९४७ हिजरी (सं० १५३९) में आरम्भ हुआ।

आप रायबरेली ज़िला के जायस नामक गाँव के निवासी थे। इनके

माता-पिता किसान थे जिनका देहान्त इनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। इनका पालन-पोषण नाना के घर हुआ। बचपन से ही भाग्य ने इन्हें अपने कोप का भाजन बना लिया। ७ वर्ष की अवस्था में चेचक ने बाईं आँख को बेकार कर दिया और इसके साथ ही बायाँ कान भीविकल हो गया। गृहस्थ-जीवन का सुख भी इन्हें न मिला। पत्नी का देहान्त हो गया और सात सन्तानें छत के नीचे दफ़न हो गई। ईश्वर की ओर रुचि बचपन से थी ही, इन विपत्तियों ने उसे और भी उद्दीप्त किया और संसार से विरक्त होकर इन्होंने प्रसिद्ध सूफ़ी महात्मा शेख़ मोई-उद्दीन से दीक्षा ले ली। अमेठी के राजा रामसिंह के ये विशेष कृपा-भाजन थे। कहते हैं कि इनके आशीर्वाद से ही राजा को पुत्र-प्राप्ति हुई थी। यह भी कहते हैं कि अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में इन्होंने पहले ही बता दिया था कि इनकी मृत्यु एक शिकारी के बाण से होगी। राजा रामसिंह ने अपने राज्य में इसलिए शिकार का निषेध कर दिया परन्तु जो होना था होकर रहा। एक दिन एक शिकारी ने भ्रमवश इन्हें बाघ समझकर अपनी गोली का निशाना बना दिया।

रचनाएँ—इनके तीन ग्रन्थ अब तक प्रकाश में आये हैं—आख़िरी कलाम, पद्मावत और अखरावट। इनमें प्रथम और तृतीय सिद्धान्त-मूलक ग्रन्थ हैं। आखिरी कलाम में मरणानन्तर जीव की अवस्था और प्रलयकालीन न्याय का वर्णन है और अखरावट में वर्णमाला के एक-एक अक्षर से आरम्भ करके साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का उल्लेख है।

पद्मावत—जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार 'पद्मावत' नामक प्रबन्ध-काव्य है, जिसकी रचना दोहा-चौपाई में की गई है। यह ग्रन्थ उनके कवि-कर्म का उत्तम निदर्शन है। इसके प्रेम-कथानक में इतिहास और कल्पना का सम्मिश्रण है। कथा का पूवार्ध कल्पना की उपज है और उत्तरार्ध राजस्थान के इतिहास के एक उज्ज्वल परिच्छेद से लिया गया है।

फ़ारसी की प्रेम-कथाओं (दास्तान-ए-इश्क) की मसनवी पद्धति पर

भारतीय आदर्शों का निरूपण करने में कवि को बहुत सफलता मिली है। इस पद्धति में कृति का विभाजन अध्यायों और सर्गों में न होकर घटनाओं के शीर्षक पर आधारित होता है। कथा के आरम्भ में एक प्रशस्ति-खण्ड होता है जिसमें ईश्वर की प्रार्थना, मुहम्मद और उनके चार मित्रों का अभिवादन और समसामयिक महीपति को प्रणामाञ्जलि अर्पित की जाती है। पद्मावत की कथा ५७ घटनात्मक खण्डों में विभक्त है। इसके प्रारम्भ में भी ईश्वर का विनम्रतापूर्वक स्मरण है, मुहम्मद और उनके सुहृच्चतुष्टय का सादर उल्लेख है, तथा शाहेवक्त अर्थात् तत्कालीन सुल्तान की गौरव-गाथा है। इसके उपरान्त आत्मकथात्मक संकेत है। यह सब उसी मसनवी ढङ्ग का अनुसरण है—

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोई विमोहा जेह कवि सुनी॥
जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥
हौं पण्डित केर पछलगा। किछु कहि चला तबल देई डगा॥

प्रबन्ध सौष्ठव—

पद्मावत घटना-प्रधान महाकाव्य है। इसमें कथावस्तु की प्रधानता है, जिसका विकास आधिकारिक और प्रासङ्गिक कथाओं के योग से हुआ है। रत्नसेन और पद्मावती के कथा-प्रसंग को आधिकारिक कथा कहते हुए अन्य कथाओं को प्रासङ्गिक कहा जा सकता है। इनमें से उल्लेखनीय घटनाएँ ये हैं—

(१) राघवचेतन का षड्यन्त्र,
(२) हीरामन तोते का प्रसङ्ग,
(३) समुद्र का रौद्र रूप (तूफ़ान),
(४) देवपाल-दूती का प्रकरण,

जायसी ने इन सभी प्रसङ्गों को आधिकारिक कथा के साथ एक निपुण कलाकार की भाँति गूँथ दिया है। सत्य तो यह है कि पद्मावत के इस विशाल कलेवर में किसी अनावश्यक प्रसङ्ग को स्थान नहीं मिला। उदाहरणार्थ, समुद्र से जो रत्न रतनसेन को मिले थे वे भी अला-

उद्दीन के साथ सन्धि करते समय राजस्व-रूप में काम आये। यही प्रबन्ध-कौशल पात्रों के चित्रण में भव्य एवं मनोवैज्ञानिक रूप में प्रस्फुटित हुआ है। संयोग तथा वियोग शृंगार रस के अतिरिक्त वीररस के चित्र भी सुन्दर बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ, गोरा बादल का उत्साह वीरोचित दर्प और आत्मसम्मान का प्रतिरूप है।

रूपक-महाकाव्य—पद्मावत का वस्तुविन्यास वस्तुतः एक आध्यात्मिक रूपक के रूप में गठित है। कवि का मुख्य उद्देश्य लौकिक आलम्बनों के माध्यम से अलौकिक जगत् की झलक दिखाना है, जहाँ एकमात्र प्रेम का ही साम्राज्य है। पद्मावत के उपसंहार में जायसी ने स्वयं स्पष्ट किया है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ एक अप्रस्तुत योजना है। सभी पात्र एक रूपक में सम्बद्ध हैं—

तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ?
नागमती यह दुनियां धंधा, बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोइ सैतानू, माया अलाउदीं सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भांति विचारेहू, बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥

इसके अतिरिक्त दर्पण में पद्मावती की छाया को अलाउद्दीन द्वारा देखने का यह तात्पर्य भी लिया जा सकता है कि परमात्मा के दर्शन विश्व के मुकुर में ही होते हैं। स्वयं जायसी ने कहा है—

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ-जहँ विहँसि सुभावहि हंसी, तहँ तहँ छिटक ज्योति परगसी॥

इस दृष्टि से देखने पर यह सारा प्रबन्ध व्यङ्गय-गर्भित है, परन्तु फिर भी रूपक का निर्वाह पूर्णरूप से नहीं हो पाया। 'नागमती जैसी सती-साध्वी नारी को 'दुनियां-धंधा' कहकर उससे सावधान रहने की बात कही गई है, पर यह भी नितान्त अनुचित है। वस्तुतः 'दुनियां-धंधा' और 'माया' में मूलतः कोई अन्तर ही नहीं है। अतः हमें इनके प्रतीक अलाउद्दीन और नागमती को एक ही स्तर पर रखना पड़ेगा जो निस्सन्देह अनुचित एवं अमान्य है। फिर भी कुल मिलाकर अपने धार्मिक

श्रौर दार्शनिक सिद्धान्तों को—विशेषत: 'प्रेम की पीर' की श्रभिव्यक्ति को सरस रूपक के रूप में प्रस्तुत करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

पद्मावत में यों तो प्रेम के दोनों पक्ष संयोग श्रौर वियोग का चित्रण कवि के काव्य-कौशल का द्योतक है। पर विप्रलम्भ पक्ष का निरूपण जिस श्रन्तर्दृष्टि, गम्भीरता श्रौर सरसता से चित्रित किया गया है, वह देखते ही बनता है। हिन्दी-साहित्य में जायसी के इस विरहवर्णन ने श्रपने लिए एक श्रलग स्थान बना लिया है। 'नागमती का विरह' वस्तुत: कवि की प्रतिभा का विलक्षण निदर्शन है। नागमती विरहाग्नि में दग्ध-हृदय के साथ वन-वनान्तर की ख़ाक छानती फिरती है। समस्त विश्व उसके श्राँसुश्रों से श्रार्द्र है, उसकी विरह-ज्वाला से भस्मीभूत हो रहा है। वन के पक्षियों से वह श्रातुर प्रार्थना करती है—

पिउ सौं कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहि क धुंवां हम लाग॥

विरहाग्नि ने उसकी कमनीय काया को श्रत्यन्त कृश श्रौर क्लान्त बना दिया है—

दहि कोइला भई कंत सनेहा, तोला मांसु रहि नहीं देहा।
रकत न रहा, विरह तन जरा, रती रती होई नैनन्ह ढरा॥

विरह-प्रसंग में जायसी ने 'बारहमासा' का वर्णन भी किया है, जिसमें प्राकृतिक परिवर्तनों के साथ विरही हृदय का सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। वियुक्त व्यक्ति को प्रकृति के सभी सुन्दर दृश्य विपरीत प्रभाव दिखाते हैं—

खड़ग बीजु चमकै चहुँ श्रोरा, बुन्द बान बरसहिं घनघोरा।
कातिक सरद चंद उजियारी, जग शीतल हौं विरहै जारी॥

नागमती के हृदय की चरम श्रभिलाषा यह है कि—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव॥

इस कथन में कितना दैन्य और आत्मविसर्जन भरा हुआ है ! तभी तो कवि की लेखनी यह लिखने के लिए विवश हो गई है—

गिरि समुद ससि मेघ रवि, सहि न सकहिं वह आगि ।
मुहमद सती सराहए, जरै जो अस पिय लागि ।।

दोष—पद्मावत हिन्दी-साहित्य का एक अत्यन्त मूल्यवान् रत्न है। साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से यह हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में उच्च स्थान का अधिकारी है, फिर भी यह रचना निर्दोष नहीं है—

(१) घटना-प्रधान रचना होने के कारण इसमें विवरणों की बहुलता स्वाभाविक है। परन्तु कई स्थलों पर इसके विवरण वर्णन की समुचित सीमा को लांघ गये हैं। उदाहरणार्थ, सिंहल द्वीप और तत्सम्बन्धी यात्रा का वर्णन, समुद्र, विवाह और युद्ध का वर्णन। बादशाह के भोज के वर्णन में भोज्य पदार्थों की लम्बी सूची पाठक के धैर्य की परीक्षा करने वाली है। इसी प्रकार षट्ऋतु और बारहमासा के वर्णनों में भी अवाञ्छित विस्तार से काम लिया गया है। इन्हीं लम्बे वर्णनों के कारण प्रबन्ध-प्रवाह भी कुंठित हो जाता है।

(२) हिन्दू-कथाओं से कवि का परिचय अधूरा प्रतीत होता है।

(३) फ़ारसी-मुहावरों को हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं बनाया जा सकता। उदाहरणार्थ, 'होय मुख रात सत्य के बाता में फ़ारसी-परम्परा के अनुरूप लाल मुँह को प्रफुल्लता का द्योतक बताया गया है जो कि हिन्दी-भाषा में उचित नहीं जँचता।

(४) विप्रलम्भ-शृङ्गार के वर्णन बीभत्सपूर्ण हो गये हैं। यह भी फ़ारसी-संस्कार का प्रभाव है। इस प्रकार के चित्रण से रति का पोषण होने के स्थान पर हृदय को आघात-सा लगता है—

रोवँ रोवँ वै बान जो फूटे, सूतहि सूत रुधिर मुख छूटे ।
नैनहिं चली रकत कै धारा, कंथा भीजि भएउ रतनारा ।।

भाषा—पद्मावत की भाषा पूर्वी अवधी है। फ़ारसी लिपि में लिखी होने के कारण उसमें अवधी का ठेठ रूप अब तक भी सुरक्षित रह सका

है। हिन्दी के अन्य उत्कृष्ट ग्रन्थों की भांति इसके शब्दों का अंगभंग अथवा शब्द-शोधन की इच्छा से उनमें अन्य किसी प्रकार का विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इस सुरक्षा का कारण यह है कि देशीय विद्वान् फ़ारसी लिपि से प्रायः अपरिचित थे और न ही फ़ारसी लिपि के ग्रन्थों की ओर उनकी विशेष रुचि ही थी।

जायसी को संस्कृत भाषा का ज्ञान न था और दूसरे, उन्होंने अपनी रचना द्वारा सूफ़ी-सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाना था। अतः पद्मावत की भाषा एक ओर संस्कृत भाषा की परम्परागत पाण्डित्य-प्रणाली से रहित है और दूसरी ओर फ़ारसी-अरबी के साधारण प्रचलित शब्दों और मुहावरों से संयुक्त है।

जायसी का अलङ्कार-विधान पूर्ण स्वाभाविक है। वैसे तो सम्पूर्ण पद्मावत अन्योक्ति अथवा समासोक्ति के रूप में आबद्ध है, परन्तु इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अन्य अलङ्कारों का भी यथा-स्थान प्रयोग सुन्दर तथा मौलिक रूप से हुआ है।

महत्त्व—जायसी का मुख्य उद्देश्य सूफ़ीमत के मूल सिद्धान्त 'प्रेम की पीर' का प्रतिपादन करना था, जिसका प्रतिफलन पद्मावत में हुआ है। उनका यह ग्रन्थ इसी प्रेम की स्निग्ध आर्द्रता से परिप्लावित है। सूफ़ी सिद्धान्त की बात छोड़ दें, तो भी उनके प्रेम-तत्त्व का व्यावहारिक रूप भी है। पद्मावत दो प्रमुख-विरोधी जातियों के तत्त्वों से निर्मित है—हिन्दू-कथा को मुसलिम शैली में ढालने का सफल प्रयास है और इस प्रकार यह ग्रन्थ पारस्परिक वैमनस्य को दूर करके उन्हें एक-दूसरे के निकट लाने में समर्थ हुआ है। स्वयं जायसी को दोनों जातियों की मूलगत एकता में दृढ़ विश्वास था—

बिरिछ एक लागी दुइ डारा, एकहिं ते नाना परकारा।
मातु कै रकत पिता के बिन्दू, उपजे दुवौ तुरुक औ हिन्दू॥

सन्तों की शुष्क साधना से जो सम्भव न हो सका, जायसी ने उसे प्रेम-प्रबन्ध द्वारा बड़े सरस और मनोरम रूप में निष्पन्न कर दिया। इनके

काव्य की अन्य महत्ता है—तत्कालीन ठेठ अवधि भाषा की सुरक्षा, और इसीके माध्यम से चमत्कारपूर्ण सरस काव्य की सृष्टि। इन विशेषताओं से पूर्ण ग्रन्थ का यह लेखक भक्तिकालीन कवियों में अपना महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान रखता है।

(४) उसमान

जीवन—उसमान जहाँगीर के समकालीन थे। इनके पिता का नाम शेख़ हुसैन था। ये गाज़ीपुर के रहने वाले थे और शाह निज़ामुद्दीन की शिष्य-परम्परा में हाजी बाबा के शिष्य थे। सुविज्ञ पण्डित होते हुए भी अपने को 'अच्छर चारि' का पढ़ा हुआ कहकर इन्होंने अपनी निरभिमानता प्रकट की है। 'मान' इनका उपनाम था। निम्नलिखित पंक्तियों में इनका आत्मपरिचय निहित है—

आदि हुता विधि माथे लिखा, अच्छर चारि पढ़ै हम सिखा।
देखत जगत चला सब जाई, एक बचन पै अमर रहाई।
बचन समान सुधा जग नाहीं, जेहि पाए कवि अमर रहाहीं।
मोहूं चाऊ उठा पुनि हीरा, होऊं अमर यह अमरित पीरा।

रचना—इनकी कृति का नाम **'चित्रावली'** है। इसकी कथा कल्पित है। स्वयं कवि ने कहा है—

कथा एक मैं हिए उपाई, कहत मीठ औ सुनत सुहाई।
कहौं बनाय जैस मोंहि सूझा, जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा॥

इस ग्रन्थ पर जायसी के पद्मावत का बहुत प्रभाव पड़ा है। यदि इसे उसकी छाया भी कहा जाय, तो असंगत न होगा। जायसी ने जिस प्रकार सात-सात अर्धालियों (चौपाइयों) के बाद एक दोहे का क्रम रखा है, उसमान ने भी 'चित्रावली' का गठन उसी प्रकार किया है और इसके वर्णनों में भी पद्मावत का ही आभास लगता है। केवल इतना अन्तर है कि पद्मावत का कथानक मिश्र है और चित्रावली का कल्पना-प्रसूत है।

इस ग्रन्थ की कथा का सारांश यह है—नैपाल के राजा धरनीधर पवार के पुत्र सुजान अनेक कष्टों और कठिनाइयों को झेलने के बाद

कंवलावती और चित्रावली, दोनों राजपुत्रियों का पाणिग्रहण करने में समर्थ हुए। सुजान की उद्देश्यपूर्ति में जो भौतिक अथवा दैवी बाधाएँ आती हैं और जिन लौकिक अथवा अलौकिक शक्तियों की सहायता से राजकुमारी को अभीष्ट की प्राप्ति होती है, सबका विशद और सविस्तर वर्णन उसमान ने किया है।

यह कथा भी अन्य सूफ़ी प्रेम-कथाओं की भाँति एक रूपक है जिसमें साधक के अध्यात्म-पथ की भयङ्कर बाधा-विपदाओं को पात्रों के रूप में साकार करने की चेष्टा की गई है। सुजान को साधक और चित्रावली तथा कंवलावती को विद्या और अविद्या के प्रतिरूप में प्रस्तुत किया गया है। स्थान-स्थान पर वेदान्त और अद्वैतवाद के संकेत देने में भी कवि नहीं चूकता। जलविहार के वर्णन में प्रकारान्तर से 'ईश्वरोपलब्धि' की रहस्यमय साधना की ओर निर्देश किया गया है। चित्रावली गम्भीर जल में तिरोहित हो जाती है और उसकी बहिन उसे खोजने में असमर्थ रहती है। मनुष्य की ईश्वर के लिए खोज भी इस प्रकार सफल नहीं होती—

सरबर ढूंढ़ि सबै पचि रहीं, चित्रिनि खोज न पावा कहीं।
निकसी तीर भई बैरागी, धरे ध्यान सब बिनवै लागीं।
गुपुत तोहिं पावहिं का जानी, परगट महँ जो रहै छपानी।
चतुरानन पढ़ि चारौ बेदू, रहा खोजि पै पावै न भेदू।
हम अंधी जेहि आपुन सूझा, नेह तुम्हार कहाँ लौं बूझा।
कौन सो ठाऊँ जहाँ तुम नाहीं, हम चषु जोति न देखहि काहीं।।

और फिर हमें उपनिषदों के उस वचन की—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' की ध्वनि सुनाई पड़ती है—

पावै खोज तुम्हार सो, जेहि दिखलावहु पंथ।
कहा होई जोगी भये, औ पुनि पढ़े गरंथ।।

लोक-नीति विषयक उक्तियाँ भी इस ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ भरी पड़ी हैं—**मूसहि तसकर धर अंधियारे'; 'जस जस देस करै तस भेसा', 'आगे चले सो पंवरि उघारे'** आदि लोकोक्तियाँ उसमान के व्यावहारिक ज्ञान की साक्षी हैं।

इस प्रकार सूफ़ी-परम्परा को प्रत्येक रूप में आगे बढ़ाने में उसमान ने भी बहुत बड़ा सहयोग प्रदान किया है।

(५) जान कवि

'जान कवि' कवि का उपनाम है, वास्तविक नाम नहीं है। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने इनका असली नाम अलिफ़खां बताया है, पर अगरचन्द नाहटा ने इसका खण्डन करके इसे 'अलिफ़खां का बेटा' कहते हुए इनका असली नाम न्यामतखां सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह प्रमाण दिये हैं—

(क) **कायमखां दादा अलिफ़खां............**
सोलह सै इक्कीस में जनमें दीवाण।
कीये ऊजले न्यामतखां चकवै चौहाण।
संवत हुआ तियासिया छड़इ दिया जहाण।

(ख) **कहत जान अब बरनिहैं अलिफ़खान की बात।**
पिता जानि बढ़ि न कहौं भाखों साँची बात।।

—कायमरासो

(ग) जान कवि रचित बुद्धिसागर में न्यामतखाँ का स्पष्ट उल्लेख है।

जान कवि की एक रचना 'उत्तररासो' में अलिफ़खां के पाँच पुत्रों का नाम दिया गया है—दौलतखां, न्यामतखां, शरीफ़खां, ज़रीफ़खां, फ़कीरखां। इससे सिद्ध होता है कि न्यामतखां अलिफ़खां का पुत्र है और 'जान कवि' इसका उपनाम है।

न्यामतखां का जन्म कब हुआ—यह निश्चित नहीं हो सका। उपर्युक्त प्रथम पद्य में अलिफ़खाँ का जन्म सं० १६२१ तथा मृत्यु सं० १६८३ में हुई बताई गई है। अतः न्यामतखाँ का जन्म अनुमानतः सं० १६४० में हुआ होगा। न्यामतखाँ ने अपने गुरु का नाम पीर शेख़ मुहम्मद बताया है, जो कि हाँसी (पंजाब) के निवासी थे—

पीर सेख मुहम्मद है चिश्ती। बदन नूरि भाषत है फिस्ती।
रहन गांव जानहु तिहि हांसी। देखत कहै चित्त की फांसी।।

न्यामतखाँ अपनी बहुसंख्यक पुस्तकों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनमें से उनके प्रेमकथात्मक ग्रन्थ ये हैं—कथा-रतनावली, कथा-कनकावती, कथा-कँवलावती आदि। इनके कुछ साधारण प्रेम-काव्य भी हैं, जिनमें सूफ़ी सिद्धान्तों की चर्चा नहीं है; यथा—कविमोहिनी, नलदमयन्ती, लैला-मजनू आदि। जान कवि का रचना-काल बड़ा विस्तृत है; यथा—रसकोष (सं० १६६७), कथा-रूपमंजरी (सं० १६७१), कनकावती (सं० १६७५), वियोगसागर (सं० १६८०), बुद्धिसागर (सं० १६९१), रतनावली (सं० १६९१), सिंगारतिलक (सं० १७००) आदि। इससे वे अनुमानतः दीर्घजीवी माने जा सकते हैं। कवि ने कई स्थानों पर अपने समय के शासकों का भी स्मरण किया है; यथा—

साहिजहाँ साहिन को साह। जहाँगीर सुत जगत पनाह।
दीनदार कबझमौ भूभार। औरंगजेब साहि मूछार॥

न्यामतखाँ की सामान्य भाषा व्रज है, पर उस पर पंजाबी की छाप स्पष्ट है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि न्यामतखाँ कुछ समय अपने गुरु के पास हाँसी में रहा होगा।

न्यामतखाँ भावपक्ष का बड़ा धनी है। इनकी वर्णनशैली बड़ी अनूठी है, विशेषतः वियोगप्रसंग अत्यन्त हृदयग्राही हैं। इन्होंने दोहा-चौपाई के अतिरिक्त कवित्त, सवैये आदि भी लिखे हैं।

न्यामतखाँ की कतिपय सुन्दर रचनाएँ देखिए :—

घूँघट पट मेलो नउढा अति निरझाई दुराइ।
बरिषा रित के चँद ज्यों झाँकि-झाँकि फिर जाइ।

नैन बान कवि जान कहि जिह उर लागत आइ।
सालि करेजे में रहे करक न कबहुँ जाइ।

नैनिन के रसना नहीं बरनत रूप सुभाइ।
रसना बिन देखो कहें ताते कहो न जाइ॥

यहे पुरान में लिष्यो जानु लेहु कवि जान।
सुष काजे दुख देषिए तो सुषु होई निदान ।।
चंद चांदनी देखि कै संजोगिनी हुलास।
विरहिनी भाये जरि उठे धरनी और अकास ।।
कौन काज मनु पेमु बिन कहा दीप बिनु गेहु।
जैसे धरती मेह बिनु नेह बिना ज्यों देहु ।।

सन्तमत और सूफ़ीमत की तुलना

किसी देश में दो विभिन्न जातियों के एक साथ बस जाने पर उनका एक-दूसरे पर सांस्कृतिक प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक है। भारत में भी मुसलिम फ़कीर और भारतीय सन्त बहुत शीघ्र एक-दूसरे के प्रभाव में आ गये। भारत में पहुँचकर मुसलिम फ़कीरों ने भारत से दार्शनिक सिद्धान्त ग्रहण किये। यद्यपि भारत से बाहर भारतीय दार्शनिकता को स्वीकार नहीं किया गया, यहाँ तक कि दर्शनवाद पर निष्ठा रखने वाले मुसलिम फ़कीरों को सूली पर चढ़ा दिया गया; फिर भी भारत में मुसलमान फ़कीरों ने इस दिशा में पर्याप्त रुचि दिखाई। फ़कीरों के अतिरिक्त दारा शिकोह जैसे मुसलिम बादशाह ने उपनिषद्-ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार राजा से लेकर फ़कीरों तक—सब दरवेशों ने भारतीय दर्शन पर आस्था प्रकट की। इधर भारतीय सन्तों ने भी इस्लाम से कुछ ग्रहण किया। निस्सन्देह निर्गुण उपासना के लिए तो भारतीय सन्त मुसलिम सूफ़ियों के ऋणी नहीं हैं, पर वे कुछेक सामाजिक सुधारों के लिए अवश्य ऋणी हैं। निर्गुणोपासना-पद्धति भारत में कोई नवीन नहीं है। पर फ़कीरों के संसर्ग से यह पद्धति सन्तों तथा उनके अनुयायियों में यथेष्ट प्रचार अवश्य पा गई। हाँ जातिपाति-विच्छेद, सामाजिक समता, सह-भोज आदि सामाजिक विशेषताएँ इस्लाम से चलकर सन्तों तक पहुँचीं। उपासक-पद्धति में विशिष्ट प्रकार के गुरुवाद के लिए भी सन्त जन मुसलिम

फ़कीरों से प्रभावित हैं। यदि इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान को एक वाक्य में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि—

(क) सन्तमत इस्लाम का विशुद्ध भारतीय संस्करण है।

(ख) सूफ़ीमत भारतीय औपनिषद् ज्ञान का विशुद्ध इस्लामी अनुवाद है।

सन्तमत और सूफ़ीमत में कुछ बातें समान हैं; और कुछ विषम।

समानताएँ—

१—दोनों मतों में गुरुवाद की स्वीकृति की गई है। गुरु के बिना ईश्वर तक पहुँच सकना असम्भव है। सन्तों में यह गुरुवाद सूफ़ियों के 'ख़लाफ़त' का भारतीयकरण है, क्योंकि भारतीय संस्कृति में गुरु अथवा आचार्य का अस्तित्व केवल ज्ञानदाता अथवा विद्याप्रदाता के रूप में स्वीकृत है, सूफ़ीमत के समान वह मुक्ति-प्राप्ति का साधन नहीं है।

२—प्रेम आत्मा-परमात्मा का मध्यवर्ती मिलन-सूत्र है—ऐसा दोनों मत मानते हैं। फिर भी सूफ़ीमत में प्रेम-तत्त्व मुख्यरूप में स्वीकृत है और सन्तमत में गौण रूप से।

३—दोनों मतों को ईश्वर का निराकार रूप एक-सा स्वीकार्य है।

४—साधना दोनों मतों का अवलम्बन है। सन्तमत में इसे 'हठयोग' के रूप में अपनाया गया है, और सूफ़ी-मत में 'शरीयत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारफ़ित' के रूप में।

विषमताएँ—

१—सन्तमत धर्मनिरपेक्ष उपासना करता है, इनका परमात्मा ईश्वर है, अल्लाह है, अकालपुरुष है, आदि। परन्तु सूफ़ीमत उपासना के द्वारा इस्लाम का प्रचार भी साथ-साथ चाहता है। इन्हें मिशनरी ढंग का साधक कह सकते हैं।

२—सन्त कर्मकाण्ड की उपेक्षा कर केवल ज्ञान का अवलम्बन चाहते हैं, पर सूफ़ी कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों में रुचि रखते हैं।

३—सन्तों ने भाषाभिव्यक्ति के लिए स्फुट पद, राग-रागनियों तथा

दोहों को चुना है, सूफ़ियों ने मसनवी ढंग से गा-गाकर प्रबन्ध काव्य रचे हैं।

४—सन्त साधक हैं, केवल साधक; सूफ़ी साधक भी हैं, और महाकवि भी।

३. कृष्ण-काव्य

पीछे लिख आये हैं कि श्री वल्लभाचार्य ने उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति की लहर चलाई। उन्हीं की शिष्या-परम्परा में हिन्दी कृष्ण-काव्य का उद्‌भाव हुआ। इस काव्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

रचना एवं भाषा-शैली—कृष्ण-काव्य के रचयिताओं में अष्टछाप के सूरदास आदि भक्त-कवियों के अतिरिक्त मीरा और रसखान का नाम उल्लेखनीय है। कृष्णकाव्य प्रायः मुक्तक रूप में ही लिखा गया है। इस काव्य का प्रतिनिधि विशाल ग्रन्थ सूरदास-प्रणीत 'सूरसागर' मुक्तक रचना ही है। कृष्ण-काव्य में रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत आदि प्रसंग अवश्य प्रबन्धात्मक नज़र आते हैं, पर वे आनुषंगिक रूप में—अनायास ही—प्रबन्धवत् बन पड़े हैं, इन्हें मूलतः प्रबन्ध-रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया। इस मुक्तक रचना को दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—गेयपदों के रूप में और कवित्त-सवैयों के रूप में। रसखान ने अधिकांशतः द्वितीय रूप को अपनाया है और शेष कवियों ने अधिकांशतः प्रथम रूप को। कृष्ण-काव्य ब्रजभाषा में रचित है। भावुक कृष्ण-भक्तों के हाथों यह भाषा अत्यन्त मधुर, स्वाभाविक, ठेठ, साहित्यिक और संगीत-सक्षम बन गई है। ब्रजभाषा का ऐसा अनुपम प्रयोग भक्तिकाल को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है।

उपासना—वल्लभाचार्य ने बाल-कृष्ण की उपासना-पद्धति की स्थापना की। उनके अनुसार बाल-कृष्ण की उपासना या सेवा दो रूपों में की जा सकती है—सखा या सखी बनकर अथवा माता बनकर। सखी का प्रतीक राधा है और माता का प्रतीक यशोदा। उनके मतानुसार कोई भी साधक—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बाल हो या वृद्ध, राजा हो या रंक—

यदि अपने ऊपर सखी राधा का अथवा माता यशोदा का आरोपण करके बालक कृष्ण को सर्वात्मना आत्म-समर्पण कर देता है, तो वह मोक्ष का अधिकारी है। इस प्रकार के आत्मसमर्पण की भावना उसी के हृदय में जागृत होती अथवा हो सकती है, जिसपर स्वयं साक्षात् भगवान् कृष्ण की कृपा हो जाती है। कृपा का पारिभाषिक पर्याय है—अनुग्रह तथा पुष्टि। अतः वल्लभाचार्य के अनुयायी पुष्टिमार्गीय कहलाते हैं। पुष्टिमार्ग में आत्मसमर्पण की भावना अति मधुर एवं सरस है।

भक्ति—कृष्ण-काव्य में वर्णित भक्ति माधुर्य-भाव से ओत-प्रोत है। इसके कई कारण हैं। एक यह कि कृष्ण-भक्तों ने ज्ञान और कर्म का उल्लंघन करके एकमात्र 'प्रेम' का अवलम्बन लिया है। दूसरा—बाल-चरित्र यों भी अत्यन्त मनोमोहक होता है और यहाँ तो कृष्ण की मधुर एवं सलोनी मूर्ति विशेष आकर्षक है, तथा उसकी बाल-लीलाएँ अत्यन्त मनोमोहक हैं। तीसरा—इस माधुर्य भाव का कारण इन कृष्ण-भक्तों की व्यक्तिगत गहन अनुभूति भी है। वे रामभक्तों के समान अपने इष्टदेव के लोकरञ्जक एवं लोकमर्यादा-पालक रूप पर आसक्त न होकर इनके मनोमुग्धकारी बाह्य रूप पर ही अधिक आसक्त हैं। यही कारण है कि इन कवियों द्वारा वात्सल्य रस का निर्वाह अत्यन्त प्रभावपूर्ण, सजीव, सशक्त तथा मनोवैज्ञानिक बन गया है। इसकी तुलना में संसार की सम्भवतः किसी भी भाषा का काव्य इस रस को इतने सुन्दर रूप में प्रस्तुत नहीं कर सका।

प्रेम—कृष्ण-भक्तों से पूर्व नाथ, सिद्ध, संत और सूफ़ी साधक प्रेम की अभिव्यंजना करते चले आ रहे थे। कृष्ण-भक्तों ने भी 'प्रेम' को अपनाकर अपने सिद्धान्तों में उसे प्रमुख स्थान दिया है। गोपिकाएँ इस प्रेम की प्रतीक मानी जाती हैं। इन्होंने 'संयोग' और 'वियोग' दोनों कोटियों के प्रेम-सम्बन्ध का निर्वाह बड़ी निपुणता के साथ किया है। रासलीला, दानलीला, मानलीला, वनविहार आदि में संयोग-पक्षीय प्रेम का मार्मिक चित्रण है, तथा भ्रमरगीत विरह-पक्षीय प्रेम का मार्मिक प्रसंग।

विरह-प्रसंग (भ्रमरगीत)—कृष्ण-काव्य में विरह-प्रसंग का सूचक 'भ्रमरगीत' एक असाधारण प्रसंग है। प्रायः प्रत्येक कृष्ण-भक्त कवि ने इस प्रसंग पर रचना की है। इस प्रसंग के असाधारण होने के कई कारण हैं। एक—इसमें 'ज्ञान' और 'प्रेम' की सीधी टक्कर है। तर्क, प्रमाण, युक्ति आदि से प्रेमपक्ष द्वारा ज्ञानपक्ष का खण्डन अत्यन्त रमणीय बन पड़ा है। दूसरा—इसमें हास्य-रस और करुण-रस का अद्भुत मिश्रण है। प्रेम-पात्र कृष्ण और आदर-पात्र उद्धव पर व्यंग्यपूर्ण चोटों के साथ इस प्रकार की निर्व्याज हृदय की अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। तीसरा—कृष्ण-भक्त कवियों ने जिस बालप्रेम का निरूपण अनेक लीलाओं में वर्णित किया है, यह प्रसंग उस प्रेमलीला की चरम परिणति है। चौथा—इसमें पुरुष और स्त्री की, यों कहिए, मस्तिष्क और हृदय का तर्कपूर्ण विवाद वर्णित है।

अब कतिपय वरिष्ठ कृष्ण-कवियों का परिचय लीजिए—

अष्टछाप

सं० १६०२ में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने पिता श्री वल्लभाचार्य जी के चार शिष्यों और अपने चार शिष्यों के मेल से अष्टछाप की स्थापना की और सूरदास को उसमें प्रमुख स्थान दिया। इस अष्टक के नाम निम्नलिखित हैं—

महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य—(१) कुम्भनदास, (२) सूरदास, (३) परमानन्ददास, (४) कृष्णदास;

गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य—(१) गोविन्द स्वामी, (२) नन्ददास, (३) छीतस्वामी, (४) चतुर्भुजदास।

ये आठों महानुभाव 'पुष्टि-सम्प्रदाय' के एकनिष्ठ सेवक, महाभक्त, विश्रुत कवि और संगीत-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। ये भक्तजन श्रीनाथजी के कीर्त्तन के अवसर पर स्वनिर्मित पदों को अति मधुर स्वर में गाते भी थें। इन कवियों का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत है। इनमें से

प्रमुख कवि सूरदास हैं, अतः सर्वप्रथम उनका परिचय दिया जा रहा है।

(१) सूरदास

जीवन—सूरदास का जन्म दिल्ली के पास ४ कोस के अन्तर पर सीहीं ग्राम में सं० १५३५ की वैशाख शुक्ला ५ मङ्गलवार को हुआ। मिश्र-बन्धुओं और आचार्य शुक्ल आदि कई विद्वानों ने उनका जन्म संवत् १५४० अनुमानित किया है परन्तु अधोलिखित प्रमाणों से सूर का जन्म संवत् १५३५ ही सिद्ध होता है—

१. श्री वल्लभाचार्य की जन्मतिथि सं० १५३५ की वैशाख कृष्णा १० उपरांत ११ रविवार मानी गई है। पुष्टिमार्ग की परम्परा में सूरदास को आचार्य जी से १० दिन छोटा माना गया है और यह परम्परा अव्याहत रूप से इस बात का समर्थन करती आ रही है। गोसाईं श्री गोकुलनाथ ने 'निज वार्ता' में लिखा है—"**सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभु कौ प्रागट्य भयौ है, तब इनकौ जन्म भयौ है। सो श्री आचार्य जी सौं ये दिन दस छोटे हते।**"

२. 'सूरसारावली' का रचनाकाल सं० १६०२ है—इस समय कवि की आयु ६७ वर्ष की थी—

'गुरु परसाद होत यह दर्शन सरसठ बरस प्रवीन'।

इस दृष्टि से भी सं० १५३५ ही सूर का जन्म संवत् निश्चित होता है।

सूरदास के जीवन का प्रामाणिक वृत्त उपलब्ध नहीं है। 'साहित्य-लहरी' में दिया हुआ उनका वंशवृक्ष पूर्णतया अविश्वसनीय सिद्ध किया जा चुका है। इसके अनुसार सूर का सम्बन्ध वीरगाथाकाल के प्रसिद्ध कवि चन्द की कुल-परम्परा से माना जाता था। परन्तु अब यह मत भी निर्भ्रान्त नहीं रहा। नई-नई खोजों ने भी इस विषय पर अधिक प्रकाश नहीं डाला। श्री हरिराय के 'भाव-प्रकाश' के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि सूरदास का पिता एक दीन दरिद्र ब्राह्मण था। सूरदास जी उसके चार पुत्रों में सबसे छोटे थे। छः वर्ष की आयु में ये अपने माता-पिता से अलग होकर सीहीं से कुछ दूर एक सरोवर के तट पर रहने लगे।

कुछ वर्ष यहाँ रहते-रहते उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और ये मथुरा होते हुए ब्रज में गऊघाट पर आकर रहने लगे। ३१ वर्ष की अवस्था में वल्लभाचार्य जी से इनका साक्षात्कार हुआ और पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो कर ये उनके साथ गोवर्धन को चले गये। गोवर्धन के पास पारसौली गाँव भगवान् कृष्ण की लीला-स्थली होने के कारण इन्हें विशेष प्रिय था और यहीं सं० १६४० में इनका देहान्त हुआ। इनकी निधन-तिथि के विषय में भी मनीषियों में एक मत नहीं है। परन्तु इतना सभी मानते हैं कि सूरदास संवत् १६२८ तक विद्यमान थे और गो० विट्ठलनाथ जी (मृत्यु सं० १६४२) इनकी मृत्यु के समय इनके पास थे।

रचनाएँ—सूरदास जी की पाँच कृतियाँ मानी जाती हैं—सूरसागर, साहित्य-लहरी, सूरसारावली, नल-दमयन्ती और ब्याहलो। इनमें अन्तिम दो रचनाएँ उपलभ्य नहीं हैं।

(क) **सूरसारावली**—तीसरी रचना 'सूरसारावली' की प्रामाणिकता पर आपत्ति करते हुए डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने इसी ग्रन्थ की एक तुक को प्रस्तुत किया है, जिसमें ये शब्द आये हैं—

एक लक्ष पदबंद,

ताको सार 'सूरसारावली' गावत अति आनंद।

अर्थात् यह कृति 'सूरसागर' के एक लाख पदों का सार-सम्पुट है। इस सम्बन्ध में डॉ० वर्मा का कथन है कि सूरसागर के एक लाख पद ही नहीं हैं, अतः यह रचना उसका सार नहीं हो सकती। श्री प्रभुदयाल मीतल ने डॉ० वर्मा के इस निष्कर्ष को भ्रान्त बताते हुए लिखा है कि वस्तुतः 'सूरसारावली' सवा लाख पदों का सूचीपत्र नहीं है जैसा कि कई विद्वान् मानते हैं। यह एक स्वतन्त्र रचना है और प्रामाणिक रूप से सूरदास की कृति है। कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण से 'सूर-सारावली' का सूक्ष्म अध्ययन इस तथ्य का समर्थन करता है। रचना में आये हुए 'ताको सार' का अर्थ 'सूचीपत्रात्मक सार' नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है 'सैद्धान्तिक तत्त्व'। श्री मीतल जी ने लिखा है—"सूरदास ने जिन

कथात्मक और संवादात्मक हरिलीलाओं का वर्णन सं०१६०१ तक किया था, उन्हीं के सैद्धान्तिक तत्त्व-रूप से उन्होंने 'सारावली' की रचना की है, जैसे परम्परा नन्ददास जी ने 'रासपञ्चाध्यायी' के कथात्मक वर्णन के अनन्तर उसी के सैद्धान्तिक सार रूप से 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' की रचना की है।" निस्सन्देह इस तर्क का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। 'सूरसारावली' की प्रामाणिकता एक मानी हुई बात है। "कवि ने श्री वल्लभ गुरु से तत्त्व-श्रवण कर जिस लीला का रहस्य समझा, उसे उन्होंने 'एक 'लक्ष'-स्वरूप श्रीकृष्ण की पदवन्दना करते हुए गाया"। इस ग्रन्थ में उन्हीं का सैद्धान्तिक सार निहित है। कवि के अपने शब्दों में यह संकेत स्पष्ट है—

करम योग पुनि ग्यान उपासन, सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ, लीला भेद बतायौ।।
ता दिन ते हरिलीला गाई, एक लक्ष पद वंद।
ता कौ सार 'सूरसारावलि', गावत अति आनंद।।

(ख) **साहित्य-लहरी**—यह सूरदास की एक कूट-प्रधान रचना है। इसमें कुल ११८ दृष्टिकूट-पदों का संकलन हुआ है। राधा-कृष्ण के नख-शिख के सौन्दर्य और नायिका-भेद की पद्धति पर कृष्ण की रंग-रास-लीला का रमणीय रूप यमक और श्लेष अलङ्कारों में प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में सूर का साहित्यिक पाण्डित्य अपने विदग्ध रूप में यहाँ प्रकट हुआ है। राधा के रूप की रम्य रेखाओं का एक प्रसिद्ध कूटमूलक रूपक देखिए—

अदभुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, ता पर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।।

इस प्रकार समस्त रचना 'नवल किशोर' और 'नवल नागरिया' के रसमय रमण का वर्णन पारिभाषिक गूढ़ोक्तियों में प्रस्तुत करती है।

(ग) **सूरसागर**—सूरदास को हिन्दी-साहित्य का 'सूर' रूप से ख्याति

प्रदान करने वाली उनकी कृति है 'सूरसागर'। कवि की यह सर्वश्रेष्ठ कृति हिन्दी-कामिनी का कोमल कमनीय कण्ठहार है। इसमें सूरदास ने अपने उपास्यदेव की लीलाओं का अत्यन्त सरस और मर्मस्पर्शी गेय पदों में मधुर गान किया है। इसमें बारह स्कन्ध हैं। इसकी कथा श्रीमद्भागवत पर आधारित है। परन्तु सूर ने इस ग्रन्थ से कथा का केवल आश्रय मात्र ही लिया है। रूप-विधान तथा रंग-रेखाएँ इनकी अपनी हैं। इसे सगुण सिद्धान्त पर ढाल कर इसे प्राणवान् भी इन्होंने किया है। किसी भी दशा में इसे श्रीमद्भागवत का अनुवाद अथवा रूपान्तर-मात्र नहीं कहा जा सकता। कथा के क्रम-विन्यास की रक्षा करते हुए, कवि ने बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग रूप से इसकी जो रूप-सज्जा की है वह उसकी अपूर्व मौलिकता का अनूठा प्रमाण है। इस ग्रन्थ का दशम स्कन्ध सारी रचना का शृङ्गार है। कवि ने इसी स्कन्ध में ही अपने हृदय-सम्राट् कृष्ण की मुग्धकारी क्रीड़ा-केलियों का अत्यन्त मनोयोग से चित्रण किया है। इस स्कन्ध में ३६३२ पद हैं जो दूसरे स्कन्धों के पदों के पूर्ण योग से भी कहीं बढ़कर हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'भागवत' और 'सूरसागर' की विषय की दृष्टि से तुलना करते हुए लिखा है कि भागवत के ३३५ अध्यायों में केवल ९० ही कृष्णावतार से सम्बद्ध हैं, परन्तु 'सूरसागर' के ४०३२ पदों में ३६३२ पद पूर्णतया कृष्ण-लीला की गीतियाँ हैं। स्पष्ट है कि 'सूरसागर' में कवि का प्रमुख उद्देश्य भगवान् की लीला अथवा बाल-क्रीड़ाओं को ही चित्रित करना है और इस लीला में भी उन्होंने प्रधानता कृष्ण की ब्रजलीला को दी है। भगवान् का बाल्य और यौवन ब्रज में ही अंकुरित, विकसित और पल्लवित हुआ। ब्रज में ही उसके बाल्य-सारल्य और तरुण-चापल्य के वे चारु-चटुल, मंजुल-मृदुल और रंग-रस-बहुल मधुमय क्षण व्यतीत हुए। जिन्होंने सूर की प्रतिभा को प्रवण, कल्पना को कुशल और कवि-कर्म को कोमल एवं कमनीय बनाया।

'सूरसागर' की पदसंख्या के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार पदों की कुल संख्या एक लाख है और दूसरे मत के

अनुसार सवा लाख। परन्तु ये केवल जनश्रुतियाँ हैं और प्रामाणिक अनुशीलन से निराधार ठहरती हैं। 'चौरासी बैष्णवन की वार्ता' में गो० गोकुलनाथ जी ने लिखा है—**'और सूरदास ने सहस्रावधि पद कीये हैं, ताको सागर कहियें सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।'** इस कथन का 'सहस्रावधि' पद ही उपर्युक्त जनश्रुतियों का प्रतिवाद कर रहा है। अब तक 'सूरसागर' की जितनी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं किसी में भी पदों की संख्या दस हज़ार से अधिक नहीं है। यह ग्रन्थ एक संकलन है। भिन्न-भिन्न राग और रागिनियों में नटवर प्रभु की मनोरम लीला की गीतिमय झाँकियाँ प्रज्ञाचक्षु कवि ने प्रस्तुत की हैं। इसे एक बृहद् गीति-काव्य कहना अधिक उपयुक्त है।

काव्य-सौष्ठव—सूर ने अपनी कृतियों में रसराज शृङ्गार के भव्य और मनोमुग्धकर चित्र प्रस्तुत किये हैं। उनके 'सूरसागर' में कृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीला का दिव्य उल्लासमय रूप नव-नवोन्मेषों में देखने को मिलता है। बाललीला के प्रसङ्ग में कवि ने नन्द और यशोदा के प्रेम-विभोर हृदय को मूर्त करने का प्रयास किया है। वात्सल्य भाव का ऐसा सरस चित्रण अन्यत्र बहुत कम मिलता है। कृष्ण की बाल-सुलभ चपलता को देख-देखकर माँ यशोदा बलि-बलि जाती है। समस्त संसार का निरीह सौन्दर्य मानो शिशु कृष्ण की बालक्रीड़ा में समाहित हो गया है। श्याम की तोतली बातें, उसकी विकासोन्मुख मुकुल सी छोटी-छोटी दँतियाँ, और कमल-सा आनन—यशोदा इस छवि पर अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है। सूरदास बाल-प्रकृति के एक चतुर चितेरे थे। अबोध बालक की निश्छल प्रमोद-क्रीड़ा और कल किलकारियाँ निम्नोक्त पद में कितने कलित भाव से कूजित हो रही हैं—

हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक तनक चरननि सो नाचत, मनहिं मनहिं रिझावत।
बाँह ऊँचाई कजरी धौरी गैयनि टेर बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द पुकारत, कबहुँक घर में आवत।

माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ में, लौनी लिये खवावत॥

बालक की यह सरल नैसर्गिक छवि माँ के हृदय को हर्ष-विभोर कर दे तो क्या आश्चर्य है। यशोदा का मानस प्रफुल्लता के अतिरेक से उर्मिल हो उठता है और कहीं मोदमग्न शिशु के स्वर्गिक उल्लास में बाधा न पड़े, वह छुपकर समस्त दृश्य को मानो तृषातुर आँखों से पीती रहती है—

दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरखि अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बालचरित ये नित देखत ही भावत॥

सूर ने वात्सल्य के वियोग-पक्ष का अङ्कन भी अत्यन्त ललित रूप में किया है। कजरी के गोरस और हृदय के सुधारस से पोषित ऐसे पुत्र का वियोग भी अतिशय दुःखद होता है। कंस के बुलाने पर कृष्ण के मथुरा जाने पर माँ यशोदा का मन असह्य यातना से मथित हो जाता है। उसका प्रेमकातर हृदय अनेक प्रकार की आशङ्काओं से आकुल है। एक पथिक को देखकर अपने आतुर हृदय की मर्मव्यथा को माता यशोदा कितने विह्वल छन्दों में अभिव्यक्त करती है, देखिए—

यद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि, मेरे मोहन के मुख जोग।
प्रातकाल उठि माखन रोटी, को बिनु माँगे दैहैं।
अब उहि मेरे कुँवर कान्ह को, छिन छिन अंकम लैहैं।
कहियो पथिक! जाइ घर आवहु, रामकृष्ण दोउ भैया।
सूर स्याम कत होत दुखारी, जिन के मो सी मैया॥

सुत-स्नेह और शिशु-केलि के सीमित क्षेत्र में भी सूर ने अपनी उर्वर प्रतिभा से जिन नव-नवीन प्रसङ्गों की उद्भावना की है वे उनके कल्पना-कौशल के सवाक् साक्षी हैं। बालक ने मिट्टी खाई है। माँ की कृत्रिम रोष से भरी मुद्रा कितनी मार्मिक बन पड़ी है। एक हाथ में कान्ह को थामे और दूसरे हाथ में दण्ड को उठाये हुए यशोदा का चित्र देखिए—

इक कर सों भुज गहि गाढे करि इक कर लीने सांटी ।
मारति हौं तोहि अबहि कन्हैया बेगिन उगलो माटी ।।

वात्सल्य का चित्रण सूर-काव्य में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा है। आलोचकों ने सूर को वत्सल रस का अवतार कहा है। वस्तुतः सूर के इन चित्रों में एक अपूर्व स्वाभाविकता, बाल-मनोवैज्ञानिकता और मार्मिकता के दर्शन होते हैं। इस क्षेत्र में सूर अद्वितीय हैं। यहाँ तक कि विश्व-साहित्य में इस विषय में उनका प्रतियोगी मिलना दुर्लभ है।

सूर के कृष्ण की यौवनलीला के चित्र भी अनूठे बन पड़े हैं। यहाँ भी शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रयोग—का अङ्कन सूर की लेखनी का एक चमत्कृत रूप प्रस्तुत करता है। कृष्ण का सारा गोकुल-जीवन प्रेम के संयोग पक्ष का निदर्शन है। इस पक्ष के बड़े भव्य चित्र, दानलीला, माखनलीला, चीरहरणलीला और रासलीला आदि रमणीय प्रसङ्गों में अङ्कित हुए हैं। राधा और कृष्ण का प्रेम प्रस्फुटित और पल्लवित होकर स्वतः ही विविध वक्र क्रीड़ाओं में प्रकट होने लगता है। गोदोहन के समय प्रेम का कल कौतुक देखिए—

धेनु दुहत रति अति हि बाढ़ी ।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी
मोहन करतैं धार चलति पय, मोहनी मुख अति हि छवि बाढ़ि ।

दूध दोहते हुए नागर प्रेमी अपनी वल्लभा को दूध पिलाने का कैसा निपुण नाट्य करता है, रसिक पाठक इसका आनन्द लेते हुए नहीं अघाता।

सूर के संयोग-चित्र छिछली भौतिक वासना से दूषित नहीं हुए। उनका उद्देश्य भौतिक आनन्द का आस्वादन कराना कभी नहीं रहा। उनके लौकिक प्रेम में भी आध्यात्मिकता की एक अन्तर्धारा बह रही है जो उनके उत्कृष्ट और पावन व्यक्तित्व की परिचायक है।

शृंगार का विप्रलम्भ पक्ष भी सूरकाव्य में अपने पूर्ण विस्तार के साथ प्रकट हुआ है। वियोग की समस्त अन्तर्दशाओं की व्यञ्जना सूर ने की

है । कृष्ण की अनुपस्थिति में दिन-रात अथवा सायं-प्रभात के सभी दैनिक और स्वाभाविक व्यापार बदल गये हैं—

मदन गोपाल बिना या तन की सभी बात बदलीं ।

संयोग के दिनों में उल्लसित करने वाले प्राकृतिक दृश्यों में न जाने यह कठोरता कहाँ से आ गई है । वृन्दावन के उर्वर, श्यामल वन और शाद्वल कुंज अब विरहिणी व्रजाङ्गनाओं को परितृप्त नहीं करते । अब तो इनकी ललित हरीतिमा गोपियों के हृदय को दग्ध करती है । कितने करुण शब्दों में वे मधुवन को उपालम्भ देती हैं—

मधुवन तुम कत रहत हरे
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ।

सूर का विरह-वर्णन 'भ्रमरगीत' में अपने चरम विकास को प्राप्त हुआ है । 'भ्रमरगीत' को हम 'सूरसागर' का एक उज्ज्वल रत्न कह सकते हैं । कवि ने इस प्रसङ्ग से दो कार्य सिद्ध किये हैं । गोपियों की विरह-जर्जर दशा का अङ्कन तो इसमें उत्कट रूप में सम्पन्न हुआ ही है, साथ ही सूर ने इसमें एक सामयिक माँग की पूर्ति भी की है । सूर और तुलसी के युग में सन्तों की निर्गुण-साधना जन-मन को शुष्क और नीरस करके जनसाधारण के हृदय में एक प्रकार की विरक्ति का बीज बो रही थी—वह विरक्ति जो मनुष्य को जीवन के सक्रिय सौन्दर्य से विमुख करके उसे अन्तःसाधक बनाकर अन्ततः जीवन और उसके संघर्षमय सौन्दर्य से पराङ्मुख कर देती है । निर्गुण की यह अन्तःसाधना जनता को भक्ति के प्रकृत मार्ग अथवा हृदय की रागात्मिका वृत्ति से कैसे परे हटा रही थी, इस बात को तुलसी और सूर दोनों ने लक्षित किया । जहाँ तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में इसकी भर्त्सना की—

(क) **गोरख जगायो जोग, भक्ति भगायो लोग**
(ख) **'तुलसी' अलख हि का लखै रामनाम जपु नीच**

वहाँ सूरदास ने अपने भ्रमरगीत में प्रेम की हार्दिक भावना के उत्कट आवेगमय प्रवाह में जन-मन के इस विकार को बहा देने की चेष्टा की

और उनका यह प्रयास सफल सिद्ध हुआ।

भ्रमरगीत का प्रसङ्ग इस प्रकार है—कृष्ण ने विरह-दग्ध गोपियों को उद्धव द्वारा योगसाधना करने की प्रेरणा की। उद्धव यह सन्देश लेकर गोपियों के पास आये। परन्तु गोपियों ने इस सन्देश पर मर्माहत होकर एक अलि के रूपक में ऊधो का जो तिरस्कार-तर्जन किया वह सूर की प्रतिभा का प्रचुर प्रमाण है—

अविगत गति कछु कहत न आवे।
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन, निरालम्ब मन आवे।।

इन शब्दों में निर्गुण का प्रतिवाद करके स्पष्ट शब्दों में गोपियों ने कह दिया—

ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को अवराधै ईस।

× × ×

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसहु निकसत नहीं ऊधो, तिरछे ह्वै जो अड़े।।

अन्त में अनन्त के विराट् सौन्दर्य और मधुर संगीत को संकेत करते हुए गोपियों ने सगुण भक्ति की विजय-दुन्दुभि बजा दी—

ऊधो कोकिल कूजत कानन।
तुम हम को उपदेस करत हो, भस्म रमावत आनन।

इसलिए ऊधो—

बार बार ये बचन निबारो।
भक्ति-विरोधी ज्ञान तिहारो।

और परिणामतः गोपियों की प्रेम-पराकाष्ठा से प्रभावित होकर उद्धव उनकी स्तुति करते हुए वापस चले गये।

भाषा—सूर-काव्य की भाषा ब्रजभाषा है। यह सूर के समय की प्रचलित भाषा थी जिसे उन्होंने काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करके साहित्यिक और लोकव्यवहार की भाषा में समन्वय स्थापित किया। सूर ने

अपनी प्रतिभा से इसे सुसंस्कृत और समृद्ध किया। इसे कोमल-कान्त पदावली से भूषित किया। सूर साहित्यिक ब्रजभाषा के प्रथम अधिकारी कवि थे, अतः उन्हें 'ब्रजभाषा का वाल्मीकि' कहना असंगत न होगा। वस्तुतः सूर के हाथों में आकर ब्रज भाषा का स्वाभाविक माधुर्य और भी कोमल हो गया। सूर ने परुष वर्णों का प्रयोग यथासम्भव बहुत कम किया है। 'श' के स्थान में 'स' और 'ण' के स्थान में 'न' का व्यवहार सूर-काव्य में बहुत हुआ है। इसी प्रकार पञ्चम वर्ण के स्थान पर उन्होंने अनुस्वार का प्रयोग किया है और संयुक्त वर्णों में स्वरागम कर दिया है। जैसे विश्वास के लिए बिसास, जन्म के लिए जनम आदि। इन प्रक्रियाओं से भाषा-लालित्य बढ़ गया है। अरबी और फ़ारसी के शब्द भी सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं पर वे हिन्दी के सांचे में ढले हुए हैं। मुहावरों के प्रयोग से सूर-काव्य में सजीवता आ गई है—

तुमको प्रेम-कथा को कहिबो, मानो काटिबो घास।

और—

खल, कालो कामरी चढ़ै न दूजौ रङ्ग।

आदि लोकोक्तियों से इनके काव्य का सौन्दर्य निखर उठा है।

महत्त्व—सूरदास हिन्दी-साहित्य की अमर विभूति हैं। उनकी प्रतिभा तुलसी की भाँति सर्वतोमुखी न होते हुए भी उर्वर और सर्जनशील है। अपने परिमित क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी कुशल कल्पना से नवीन प्रसङ्गों की उद्‌भावना की है। उनकी प्रतिभा वस्तुतः 'नव-नवोन्मेषशालिनी' है। आप हिन्दी-साहित्य में माधुर्य-भावना के सबसे बड़े साधक हैं। आपने मनोवैज्ञानिक स्तर पर कृष्ण-जीवन का विकास किया। आपके चित्रात्मक वर्णन अपनी भव्यता और मार्मिकता में देश-काल-निरपेक्ष हो गये हैं। मातृ-हृदय की विप्रयुक्त वेदना के विह्वल चित्र आपकी तूलिका से उत्कृष्ट रूप में उतरे हैं। भाषा में साहित्यिकता और ग्रामीणता का सामञ्जस्य करके आपने लोक-हृदय को शिष्ट साहित्य के सन्निकट लाने का प्रयत्न किया। आपका साहित्य अनेक समसामयिक

और परवर्ती कवियों के लिए प्रेरणा-स्रोत बना, परन्तु वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्र में अभी तक आपकी टक्कर का कवि पैदा नहीं हुआ। आपके पदों की मनोमोहक मधुरता पर मुग्ध होकर ही तानसेन ने कहा था—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को तीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेधत सकल सरीर॥

(२) कुम्भनदास

जीवन—ये सूरदास से आयु में दस वर्ष बड़े थे और इनसे पूर्व श्रीनाथजी के कीर्तन का प्रमुख दायित्व इन पर था। इनका जन्म संवत् १५२५ की चैत्र कृष्णा ११ को गोवर्धन के समीप जमुनावतौ ग्राम में हुआ। परासौली गाँव के पास इनकी कुछ पैतृक भूमि थी जहाँ खेती करके ये अपने कुटुम्ब का पालन करते थे। उनके सात पुत्र थे। बाल्यकाल से ही इनकी रुचि काव्य-रचना और संगीत की ओर थी। अवकाश के समय भगवद्भक्ति के पदों को बनाकर ये गाया करते थे। सं० १५५० के आसपास महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित किया। गोवर्धन पर श्रीनाथ जी की सेवा और पूजा का भार आपको सौंपा गया।

ये परमभक्त थे। इनकी भक्ति-भावना और ललित पदरचना की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी। अनेक साधु-महात्मा और राजा भी इनके दर्शनों को आया करते थे। सं० १६२० में राजा मानसिंह ने इनसे भेंट की और श्रीनाथ जी के मन्दिर में इनके कीर्तन पर मुग्ध होकर बहुत सी द्रव्य-राशि इन्हें अर्पित की। परन्तु आपने उसे स्वीकार नहीं किया। इनके स्वभाव में संतोष और निर्लोभ कूट-कूट कर भरा हुआ था। श्रीनाथ जी की मूर्ति से इन्हें अनन्य अनुराग था और उससे ओझल होना इन्हें बिल्कुल सह्य न था। सं० १६३१ के लगभग गो० विट्ठलनाथ के आदेश से इन्होंने उनके साथ द्वारिकापुरी की यात्रा करना स्वीकार तो किया, परन्तु पहले ही पड़ाव अप्सरा-कुण्ड पर, जो श्रीनाथ जी के

मन्दिर से थोड़ी दूर पर था, ये श्रीनाथ जी के विरह से आतुर होकर यह पद गाने लगे—

केते ह्वै जुग गे बिन देखें

इनकी यह दशा देखकर गोस्वामी जी ने इन्हें वापिस भेज दिया।

इनके एक पद को एक गायक के मुँह से सुनकर राजा अकबर ने इनसे मिलने की उत्सुकता प्रकट की और बड़े सम्मान और समारोह के साथ इन्हें फतेहपुर सीकरी आने का निमन्त्रण दिया। परन्तु बड़ी अनिच्छापूर्वक ये वहाँ गये। अकबर के अनुरोध करने पर इन्होंने एक पद गाया जिसमें उनके हृदय की रोष-भरी व्यथा प्रकट की गई थी—

भक्तन को कहा सीकरी सो काम।
आवत जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम।
जाको मुख देखे दुख लागै, ताको करन परी परनाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम।।

कहते हैं कि इनकी स्पष्टवादिता पर बादशाह रुष्ट नहीं हुआ और उसने इन्हें आदरपूर्वक घर पहुँचा दिया। अकबर से इनकी भेंट सं० १६३८ में हुई थी। उस समय इनकी अवस्था ११३ वर्ष की थी।

ये अनासक्त गेही थे, रूखी-सूखी खाकर भी परम तुष्ट रहने वाले। इन्हें केवल श्रीनाथजी के दर्शनों का ही व्यसन था। एक दिन वे श्रीनाथ-जी की सेवा के बाद घर लौटते हुए संकर्षण-कुण्ड पर ठहर गये। उन्हें ज्ञात हुआ कि अब आगे उनसे नहीं जाया जायगा और उनका अन्त समय सन्निकट है। कहते हैं वहीं उनका प्राणान्त हुआ। इनकी मृत्यु लगभग संवत् १६४० में हुई। उस समय ये ११५ वर्ष के पूर्ण वृद्ध थे।

रचना—इनके द्वारा निर्मित कोई विशेष रचना प्राप्त नहीं है। हाँ, कीर्तन-संग्रहों में उनके स्फुट पद पर्याप्त रूप में मिलते हैं। कांकरौली विद्या-विभाग में उनके २०० पद संकलित हैं। गो-दोहन और गो-चारण सम्बन्धी पदों में कुछ सरसता है अन्यथा काव्यतत्त्व की दृष्टि से इनकी कविता सामान्य कोटि की है। भक्ति-भावना का अतिरेक ही उसे कुछ

सरसता प्रदान करता है। नीचे उनकी कविता के कुछ पद दिये जाते हैं। इनसे उनके सन्त-हृदय की सरल भक्ति-भावना का दिग्दर्शन होगा—

(१)

कबहुँ देख हौं इन नैननु।
सुन्दर स्याम मनोहर मूरत अंग-अंग सुख दैननु।
बृन्दाबन बिहार दिन-दिन प्रति गोपवृन्द संग लैननु।
हँसि-हँसि हरषि पलौवन पावन बांटि-बांटि पथ फैननु।
कुम्भनदास किते दिन बीते किये रेणु सुख सैननु।
अब गिरिधर बिन निस और वासर मन न रहत क्यों चैननु॥

(२)

माई गिरिधर के गुन गाऊं।
मेरे तो व्रत ये हैं निसिदिन और न रुचि उपजाऊं।
खेलन आंगन आउ लाड़िले नैकहुं दरसन पाऊं।
कुम्भनदास इह जग के कारन लालच लागि रहाऊं।

(३) परमानन्द दास

जीवन—इनका जन्म सं० १५५० मार्गशीर्ष शुक्ल सोमवार को कन्नौज में हुआ। इनके पिता एक साधारण स्थिति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। परमानन्द जी बाल्यकाल से ही काव्य और संगीत में निष्णात थे। युवक होते-होते इनकी प्रसिद्धि एक कवि और कीर्तनकार के रूप में हो चुकी थी। इनके कीर्तन में अपूर्व आकर्षण रहता था। श्रोतृवृन्द मन्त्र-मुग्ध हो इनके पदों को सुनते थे। अपने कीर्तन-कौशल के कारण ही ये 'स्वामी' नाम से प्रसिद्ध हो गये। विरक्ति इनकी प्रकृति थी और ये आजीवन अविवाहित रहे।

संवत् १५७६ में मकर-संक्रान्ति के अवसर पर प्रयाग में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से इनका साक्षात्कार हुआ। आचार्य जी इनके विरह-पदों को सुनकर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने अपना शिष्य बनाकर परमानन्द स्वामी से परमानन्द दास बना दिया। आचार्य जी ने इन्हें विरह के

स्थान पर कृष्ण की बाललीला का गान करने की प्रेरणा की और इन्हें श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणिका सुनाई। महाप्रभु से ये प्राय: भागवत की कथा और उसकी सुबोधिनी टीका सुना करते थे और एक प्रसङ्ग का पारायण होने के उपरान्त तत्सम्बन्धी पद रचकर उन्हें सुनाते थे। महाप्रभु के साथ ही ये व्रज में गये। कुछ दिन गोकुल में रहकर ये गोवर्धन में सुरभी-कुण्ड पर श्याम तमाल वृक्ष के नीचे स्थायी रूप से रहने लगे। वहाँ भगवद्भजन और पदरचना करने में इनका सारा जीवन बीता। सं० १६४१ की जन्माष्टमी के दूसरे दिन भाद्रपद कृष्णा नौ दोपहर को ६१ वर्ष की अवस्था में इनका देहावसान हुआ।

रचनाएँ—पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ही परमानन्द दास एक कवि और गायक के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनकी कृतियाँ परमानन्द स्वामी, परमानन्द, परमानन्द दास और परमानन्द प्रभु नामों से उपलब्ध हुई हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि महाप्रभु से सम्पर्क स्थापित होने के पूर्व की रचनाओं पर 'परमानन्द स्वामी' की छाप है।

सूरदास के समान परमानन्द दास ने भी कृष्णचरित्र की बाललीलाओं को अपने पदों का विषय बनाया है। इन लीला-कथाओं का आधार भागवत है जिसके प्रसङ्गों का पारायण महाप्रभु इनके सम्मुख बहुधा किया करते थे। इनके निर्मित पदों की संख्या काफ़ी विपुल है। इनका संकलन कवि के जीवनकाल में ही 'परमानन्द-सागर' नाम से हो गया था। इस कृति की उपलब्ध प्रतियों में कुल मिलाकर २००० पद मिलते हैं। परमानन्द दास के निम्नलिखित ग्रन्थ मिले हैं—

(१) परमानन्द-सागर (२) परमानन्द दास जी कौ पद (३) दानलीला (४) उद्धवलीला (५) ध्रुवचरित्र (६) संस्कृत-रत्नमाला।

काव्य-सौष्ठव—परमानन्द दास की कविता में सरसता और भाव पर्याप्त मात्रा में हैं। इन्हें एक भावुक हृदय मिला था। कृष्ण के विरह में इनके व्याकुल हृदय के उद्गार तो पूर्णतया मनोहारी हैं। प्रसिद्ध है कि इनके निम्न विरह-पद को सुनकर महाप्रभु तीन दिवस मूर्छित पड़े रहे—

हरि तेरी लीला की सुधि आवै।
कमलनैन मनमोहनी मूरत, मन मन चित्र बनावै।
एक बार जाय मिलत मया करि, सो कैसे बिसरावै।
मुख मुसिक्यान, बंक अवलोकन, चाल मनोहर भावै।
कबहुँक निबिड़ तिमिर आलिङ्गन, कबहुँक पिक सुर गावै।
कबहुँक संभ्रम क्वासि-क्वासि कहि, संगहीन उठि धावै।
कबहुँक नैन मूंदि अन्तरगति, मनिमाला पहिरावै।
'परमानन्द' स्याम-ध्यान करि, ऐसें बिरह गंवावै॥

सरल भक्त हृदय की निश्छल कामना यही है कि उसे अपने एकमात्र प्रेमालम्बन का सम्पर्क सदा प्राप्त रहे। नन्द-नन्दन के अभाव में स्वर्ग के सब वैभव तुच्छ हैं, स्वयं मुक्ति भी अवाञ्छनीय है—

'कहा करौं बैकुण्ठहि जाय।
जहँ नहीं नंद, जहां न जसोदा, जहँ नहीं गोपी-ग्वाल न गाय।
जहँ नहीं जल जमुना कौ निर्मल और नहीं कदबन की छाय।
'परमानन्द प्रभु' चतुर ग्वालिनी, ब्रज रज तजि मेरी जाय बलाय॥

इनकी कविता में सहृदयों के मर्म को स्पर्श करके काव्यानन्द की उच्छल तरङ्गें उत्पन्न करने की क्षमता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कुछ नमूने देखिए—

(१)

बड़भागिन गोकुल की नारि।
माखन रोटी दै जू नंचावति, जगदाता मुख लेति पसारि।
सोभित बदन कमल-दल लोचन सोभित केस मधुप अनुहारि।
सोभित मकराकृत कुंडल छवि, सोभित मृगमद-तिलक लिलारि।
सोभित गात, चरन-भुज सोभित, सोभित किंकिनी करत उचारि।
सोभित नृत्य करत परमानंद, गोप बंधु वर भुजा पसारि।

(२)

रंचक चाखन दै री दह्यौ ।
अद्भुत स्वाद स्रवन करि मो पै, नाँहिन परत रह्यौ ।
ज्यों ज्यों कर-अम्बुज कुच झंपति, त्यों त्यों मर्म लह्यौ ।
नंदकुमार छबीलो ढोटा, अंचल धाय गह्यौ ।
हरि हठ करत दास परमानंद इहि में बहुत सह्यौ ।
इन बातन खायो चाहत हौ, संत न जात बह्यौ ।।

(४) कृष्णदास

जीवन--इनका जन्म सं० १५५३ में गुजरात के चलोतर ग्राम में हुआ। इनके पिता कायस्थ थे और गाँव के मुखिया भी थे। सत्संग और कथा-वार्ता में बाल्यकाल से ही इनकी विशेष रुचि थी। स्वल्प आयु में ही, अपने पिता के अनैतिक आचरण के कारण उनसे इनका विरोध हो गया और ये विरक्त होकर यात्रा करते हुए ब्रज में आ गये। यहाँ से सं० १५६८ में, जब इनकी आयु १३ वर्ष की थी, इन्होंने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा ली। ब्रज में आकर कृष्णदास ने ब्रजभाषा, काव्य और संगीतशास्त्र का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनकी प्रतिभा असाधारण थी। मन्दिर के कार्य से अवकाश मिलने पर इनका समय धर्मशास्त्रों के अनुशीलन और काव्य एवं संगीत के अभ्यास में बीतता था। यह एक निपुण गायक और कवि भी थे। स्वरचित पदों को कई बार ये श्रीनाथ जी के सम्मुख गाते थे। कीर्तन में भी इन्हें काफ़ी कुशलता प्राप्त थी।

रचना—कृष्णदास ने अनेक पदों की रचना की है। इनमें शृङ्गार-भावना की प्रधानता है। उनके ६७६ पदों का एक संग्रह कांकरौली विद्या-विभाग में विद्यमान है। 'जुगलभान-चरित्र' भी एक छोटा-सा ग्रन्थ इनका रचा हुआ मिला है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट के अनुसार निम्नलिखित ग्रन्थ भी इनके रचे बताये गये हैं—भ्रमर-गीत, प्रेमतत्त्व-निरूपण, भक्तमाल की टीका, वैष्णववन्दन, बानी, प्रेम-रसराशि, हिंडोरा-लीला आदि।

कृष्णदास की रचना पर सूरदास का प्रभाव काफ़ी लक्षित होता है। इनकी रचना में शैली की स्वाभाविकता कम मिलती है। वस्तुतः ये प्रयास-सिद्ध कविता करते थे। अतः इनका काव्य उच्चकोटि का नहीं बन सका। फिर भी राधाकृष्ण की प्रेमलीला, रासलीला और खण्डिता नायिका से सम्बद्ध पदों में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। नीचे उनकी कविता के कुछ निदर्शन प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१)

कमल मुख देखत कौन अघाय।
सुन री सखि ! लोचन अलि मेरे, मुदित रहे अरुझाय।
मुक्तामाल लाल उर ऊपर, जनु फूली बन जाय।
गोवर्धन के अंग अंग पर, कृष्णदास बलि जाय।

(२)

राधा रंग भरी नहीं बोलति।
मोहन मदनगोपाल लाल सों, अपनौ यौवन तोलति।
चाहति मिलन प्रानप्यारे कों, मेरौ मन टकटोलति।
छाँडहु बहुत चातुरी भामिनि, कहँ हमसों झकझोरति।
प्रात होन लागौ सुनि सजनी, अब ही तमचर बोलति।
कृष्णदास प्रभु गिरिधर पिय हित सारंग नैन सलोलति॥

(५) गोविन्द स्वामी

इनका जन्म सं० १५६२ में वर्तमान भरतपुर राज्य के अन्तर्गत आंतरी ग्राम में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके कुटुम्ब तथा माता-पिता के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं हुआ। इतना ज्ञात हुआ है कि इनका विवाह हुआ था और इनकी एक लड़की भी थी। गृहस्थ-जीवन से इन्हें विरक्ति हुई और यह व्रज के महाबन ग्राम में जाकर भगवद्-भजन और कीर्तन में लीन रहने लगे। इनकी शिक्षा साधारण थी, परन्तु काव्य एवं संगीत-शास्त्र में इनका अभ्यास अच्छा था। वार्त्ताकार ने लिखा है कि ये गान-विद्या में निष्णात, प्रथम श्रेणी के गायक और श्रेष्ठ कवि थे।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अद्भुत चरित्र और उनकी हरि-भक्ति पर मुग्ध होकर सं० १५९२ में गोविन्द स्वामी ने उनसे पुष्टि-सम्प्रदाय की दीक्षा ली और गोवर्धन को अपना स्थायी निवास बना लिया। गोवर्धन के समीप की एक सुन्दर वाटिका आज भी 'गोविन्द की कदमखण्डी' के नाम से प्रसिद्ध है। संवत् १६४२ में गोस्वामी विट्ठलनाथ के लीला-संवरण के उपरान्त, उसी वर्ष ही इनका भी देहान्त हुआ। अन्त समय आपकी आयु ८० वर्ष थी।

ये उत्कृष्ट कोटि के गायक थे। प्रसिद्ध गायक तानसेन भी कभी-कभी इनका गाना सुनने आया करते थे। परन्तु इनकी काव्य-रचना सामान्य श्रेणी की है। इन्होंने कई स्फुट पद लिखे हैं। इनके पदों का एक संग्रह मिलता है। इसमें २५२ पद हैं। कीर्तन-संग्रहों में भी इनके कुछ पद बिखरे हुए मिलते हैं।

अन्य कृष्णभक्त कवियों के समान इनके काव्य का विषय है, राधा-कृष्ण की रमणीय रंग-लीला। कालिन्दी के तट पर युगल किशोर की रास-लीला देखिये कवि ने रागविद्या की पारिभाषिक पुट भी इसमें दे दी है—

आजु गोपाल रच्यौ है रास, देखत होत जिय हुलास,
नाचत वृषभानु सुता संग रस भीने।
गिडि गिडि तक, थंग थंग, तत तत तत, थेई थेई,
गावत केदारौ राग, सरस तान लीने।
फूले बहु भाँति फूल, परम सुभग जमुना कूल,
मलय पवन बहत गगन, उडुपति गति छीने।
गोविन्द प्रभु करत केलि, भामिनि रस-सिंधु मेलि,
जै जै सुर शब्द करत, आनन्द रस कीने।

उपर्युक्त पद्य में रासगत उल्लास की अपेक्षा वातावरण का विवरण देने में ही कवि का मन अधिक रमा है। सम्पूर्ण पद्य एक इतिवृत्त-सा बनकर रह गया है।

(६) नंददास

जीवन—इनका जन्म सं० १५७० के लगभग सूकरक्षेत्र (सौरां ज़ि० एटा) के समीपवर्ती ग्राम रामपुर में हुआ। सम्भवतः यह सनाढ्य ब्राह्मण थे। गोस्वामी तुलसीदास इनके चचेरे भाई थे। इनकी बाल्यावस्था में ही इनके माता-पिता का देहान्त हो गया और दादी ने इनका पालन-पोषण किया। बचपन में ही इन्होंने संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। काव्य-रचना और संगीत की ओर भी इनका झुकाव बाल्यकाल से था। इन दोनों विषयों में भी यह शीघ्र सिद्धहस्त हो गये। एक बार द्वारिका-यात्रा पर जाते हुए आप मार्ग भूलकर एक ग्राम सिंहनद में जा निकले। वहाँ की एक रूपवती स्त्री पर यह इतने लट्टू हुए कि उसके पीछे-पीछे गोकुल जा पहुँचे। यहाँ गो० विट्ठलनाथ जी के सदुपदेश से इनका सारा मोह-तम दूर हो गया और उनसे आपने पुष्टि-सम्प्रदाय की दीक्षा ले ली। इस समय इनकी अवस्था अनुमानतः तीस वर्ष की थी। दीक्षित होने के अनन्तर इनकी अनुरक्ति भगवद्भक्ति की ओर खूब बढ़ी। विद्वानों के सम्पर्क, कथा-वार्ता और शास्त्र-चर्चा से इनका भक्तिभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। काव्य और संगीत में प्राकृतिक रुचि होने के कारण कीर्तन इनकी वृत्ति के विशेष अनुकूल था। शास्त्रीय विधि से भक्ति-भावित पदों का गान आपने आरम्भ कर दिया। इनकी पदरचना में इनकी कवि-प्रतिभा का विकास देखने को मिलता है। पुष्टि-सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों में आपकी गणना थी। कवि सूरदास के सात्त्विक जीवन का इनपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्हीं के सत्संग से ही इनमें दैन्य-भाव का उदय हुआ और इनकी काव्य-कला भी बहुत कुछ समृद्ध हुई। कहते हैं कि सूरदास ने इन्हें विवाह करने का परामर्श दिया और इन्होंने अपने ग्राम रामपुर में वापिस आकर कमला नामक एक कन्या से विवाह किया। इनके एक कृष्णदास नामक पुत्र भी हुआ। परन्तु कुछ काल तक गृहस्थ-सुख भोगने के बाद यह फिर विरक्त होकर सं० १६२४ के लगभग गोवर्धन चले गये और आमरण वहाँ रहे। सं० १६४० के

आसपास गोवर्धन में मानसी गंगा के किनारे एक पीपल वृक्ष के नीचे भक्त नन्ददास ने अपने नश्वर शरीर को त्याग कर लीला-प्रवेश किया। इनका अधिकांश जीवन भजन-कीर्तन और काव्य-सर्जन में व्यतीत हुआ।

रचनाएँ—नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्ट के अनुसार नन्ददास निम्नलिखित ग्रन्थों के रचयिता कहे जाते हैं—

१. अनेकार्थ-भाषा, २. अनेकार्थ-मञ्जरी, ३. जोगलीला, ४. दशम स्कन्ध भागवत, ५. नाम चिन्तामणि माला, ६. नाममाला, ७. नाम-मञ्जरी, ८. नासिकेत पुराण भाषा, ९. रासपञ्चाध्यायी, १०. विरह मंजरी, ११. भंवरगीत, १२. रसमंजरी, १३. राजनीति हितोपदेश, १४. रुक्मिणीमंगल, १५. श्याम-सगाई, १६. सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी। इन सोलह ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी अनेक पदों की रचना करने का श्रेय इनको दिया जाता है।

रासपञ्चाध्यायी—लेखक ने इस ग्रन्थ की रचना के पीछे एक परम मित्र की प्रेरणा स्वीकार की है—

परम रसिक इक मित्र मोहि तिन आशा दीनी।
ताही ते यह कथा यथामति भाषा कीनी॥

भागवत के २९ से ३३ अध्यायों को आधार बनाकर कवि ने इस कृति में श्रीकृष्ण की रासलीला का रोला छन्द में वर्णन किया है। श्रीकृष्ण का नखशिख, वृन्दावन की चाँदनी रात की शोभा, कृष्ण का मधुर मुरली-वादन और फिर सहसा अन्तर्धान होना, गोपियों का कुञ्ज-कुञ्ज में कृष्ण को खोजना, उनका प्रलाप और उपालम्भ, कृष्ण का फिर अपने-आपको प्रकट करना, गोपियों का उत्सुकतापूर्ण मिलन और अन्त में कृष्ण और गोपियों की रासलीला का कवि ने अत्यन्त मनोरम चित्रण ग्रन्थ के पाँच अध्यायों में किया है।

काव्य-सौन्दर्य—कथानक की दृष्टि से मुख्यतः भागवत का रूपान्तर होते हुए भी, कवि ने रासपंचाध्यायी में अपनी मौलिकता का रंग ऐसा भरा है कि यह एक स्वतन्त्र रचना बन गई है। इसकी वर्णनशैली और

शब्द-मधुरता नन्ददास की अपनी है। कवि की कला का विकास यहाँ उत्तम रूप में हुआ है। नन्ददास का साहित्यिक पाण्डित्य ग्रन्थ की कोमल-कान्त पदावली और श्रुतिमधुर शैली में पूर्ण-रूप से अभिव्यक्त हुआ है। 'गीत-गोविन्द' के माधुर्य पर मुग्ध होकर सम्भवतः कवि ने इस कृति की सृष्टि की है। वियोगी हरि के शब्दों में 'रासपञ्चाध्यायी' को हिन्दी का गीतगोविन्द कहा जा सकता है।'

भंवरगीत—'भंवरगीत' भ्रमरगीत शब्द का अपभ्रष्ट रूप है। कृष्ण-काव्य के कवियों में सूरदास के अनुकरण पर भ्रमरगीत लिखने का प्रचलन हो गया था। गोपियों के भक्ति-विभोर प्रेम की तुलना में ज्ञान-मार्ग की शुष्क नीरसता का प्रदर्शन एवं खण्डन करने के लिए यह प्रणाली बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हुई। नन्ददास ने इस ग्रन्थ में निर्गुण की अपेक्षा सगुण भक्ति का सापेक्ष्य महत्त्व प्रदर्शित किया है। हाँ, सूरदास की सरसता और भावात्मकता को वे इस ग्रन्थ में प्रस्तुत नहीं कर सके। कारण यह है कि इन्होंने निर्गुण साधना का प्रतिवाद तर्कपद्धति का आश्रय लेकर किया है। इसलिए यहाँ दार्शनिकता को प्रमुखता मिल गई है और मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी हो गई है। सूरदास की भाँति नवीन प्रसङ्गों की उद्भावना भी वे नहीं कर सके। यों भी भंवरगीत में कथा के केवल उपदेश-अंश और उसके निराकरण का विस्तार हुआ है, किसी प्रासङ्गिक उद्भावना अथवा सूर के भ्रमरगीत की-सी प्रस्तावना को यहाँ स्थान नहीं मिला। ग्रन्थ का आरम्भ सीधे उपदेश से हो गया है—

ऊधव को उपदेश सुनो ब्रजनागरी।

शैली—भँवरगीत की रचना 'रोला' और 'दोहा' के मिश्रण से बने हुए एक नवीन छन्द में हुई है। सूरदास इस छन्द का सूत्रपात अपने गीत में कर चुके थे। अलङ्कार-योजना सुन्दर हुई है, परन्तु रासपञ्चाध्यायी की उत्तमता को प्राप्त नहीं कर सकी। इसका कारण भी यही है कि कवि का ध्यान काव्य-सौन्दर्य की ओर कम और ज्ञानभक्ति की चर्चा की ओर अधिक है। इस ग्रन्थ में प्रधानता विप्रलम्भ शृंगार की है। शान्त और

अद्भुत रस भी गौण रूप में प्रस्तुत हुए हैं। भाषा में सरसता और प्रवाह है। कुशल शब्द-योजना में नन्ददास अत्यन्त निपुण थे। इसीलिए उनके सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है—**'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया'**। मुहावरों के प्रयोग से भाषा को सरल और व्यावहारिक बनाकर कवि ने इसकी अभिव्यञ्जना-शक्ति में वृद्धि की है—

'घर आयो नाग न पूर्जाहि, बांबी पूजन जाहिं।'

और—

'जो तुम को अवलम्बहि तिन को मेला कूप।'

आदि लोकोक्तियों के प्रयोग से कवि ने रचना की प्रभावशालिता को बढ़ा दिया है। इनकी भाषा में सानुप्रासता स्वभावतः आ जाती है। कहीं-कहीं नाद-सौन्दर्य इससे मिलकर चित्र को और भी मधुर बना देता है—

ब्रज बनितन के पुंज मांहि गुंजत छबि छाया।

नन्ददास की रचनाओं के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे न केवल परम भक्त थे बल्कि एक उच्च कोटि के कवि भी थे। पाण्डित्य और अभ्यास ने उनके सहज कवित्व को व्युत्पन्न कर दिया था। काव्य शास्त्र में उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने विविध शैलियों में रचना की है। 'रासपञ्चाध्यायी' शैली के विचार से एक खण्डकाव्य का रूप लिये हुए है। 'रसमंजरी' उन्हें रीतिशास्त्र का आचार्य भी सिद्ध करती है। छोटे-छोटे छन्द जैसे 'रोला' और 'चौपाई' लिखने में नन्ददास विशेष अभ्यस्त थे। भाषा-कोष के भी आप धनी थे। अपने विपुल शब्द-भण्डार में से प्रसङ्ग के अनुरूप शब्द चुनकर और उसे यथास्थान प्रयुक्त करके अपनी रचनाओं में आपने रुचिर चयनशक्ति का चमत्कार दिखाया है। कवित्व की दृष्टि से अष्टछाप में सूर के बाद आपका ही गौरवपूर्ण स्थान है। भक्ति के क्षेत्र में भी इनका दृष्टिकोण उदार रहा है। राम-कृष्ण दोनों का भजन इन्हें अभीष्ट है। दोनों का सौन्दर्य और शौर्य इनको मुग्ध करता है—

राम कृष्ण कहियै उठि भोर।
अवध ईस वे धनुष धरें हैं, ये ब्रज माखन चोर।
उनके छत्र चँवर सिंहासन, भरत सत्रुहन लछमन जोर।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर, नित गायन संग नंदकिसोर।
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यो गिरि नख की कोर।
नंददास प्रभु सब तजि भजियै, जैसे निरखति चंद चकोर।।

(७) छीतस्वामी

जीवन—छीतस्वामी का जन्म सं० १५७२ के लगभग मथुरा में हुआ। ये मथुरा के चौबे और तीर्थ-पंडा थे। इनका प्रारम्भिक जीवन काफ़ी बुरा रहा। यहाँ तक कि अपने दुष्कृत्यों के कारण मथुरा के गुण्डों में इन्हें कुख्यात स्थान मिला हुआ था। इनके अक्खड़पन और उद्दण्डता के कारण 'छीतु चौबे' के नाम से इनकी प्रसिद्धि हो गई थी। कहते हैं गोस्वामी विट्ठलनाथ के चमत्कार से इनका भेंट किया हुआ खोटा रुपया और थोथा नारियल दोनों ठीक हो गये। रुपया बाज़ार में चल गया और नारियल को तोड़ने पर उसमें से बड़ी मधुर सफ़ेद गिरी निकली। इस चमत्कार ने छीतस्वामी का मन बदल दिया। वे गोस्वामी जी के शिष्य बनकर पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। दीक्षित होने के बाद ये स्थायी रूप से गोवर्धन के पास पूँछरी नामक स्थान पर श्याम तमाल के वृक्ष के नीचे रहने लगे। इनका सारा समय श्रीनाथ जी के कीर्तन में ही बीतता था। काव्य और संगीत के प्रति इनका आकर्षण आरम्भ से ही था और कुछ-कुछ पद-रचना भी आप करते थे। ठाकुर जी के कीर्तन में उनकी काव्य-प्रतिभा को विकसित होने का सुयोग मिला और अपने भक्तिभाव को यह पदों में ढालने लगे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के निधन के बाद संवत् १६४२ में इनका भी देहान्त हो गया। मृत्यु के समय आप ७० वर्ष के थे।

रचना—ग्रन्थ-रूप में इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं हुई। इससे यह समझा जाता है कि इन्होंने केवल फुटकर पदों की ही रचना की थी।

ये पद भी, जो कई कीर्तन-संग्रहों में मिले हैं, संख्या में अधिक नहीं हैं। इन पदों में काव्य-तत्त्व साधारण कोटि का है। भाषा सीधी और सरल है। इनके पदों में शृङ्गार के अतिरिक्त ब्रज-भूमि के प्रति असीम प्रेम का प्रदर्शन भी हुआ है। इनकी कविता की बानगी देखिए—

(१)

जैं श्री बल्लभ राजकुमार।
पर पाखंड कपट खंडन करि, सकल वेद धुनि धार।
परम पुनीत तपोनिधि पावन, तन भूजित भू-भार।
निज मुख कथित कृष्न लीलामृत, सकल जीव निस्तार।
निज मति सुदृढ़ सुकृत कृत हरिपद, नवधा भजन प्रकार।
दुरित करत अचेत प्रेत गति, दलित पतित उद्धार।
नहिं मति नाथ कहाँ लौं बरनों, अगनित गुन विस्तार।
छीतस्वामी गिरधरन श्री विट्ठल प्रगट कृष्न अवतार।।

(२)

भई भेंट अचानक आई।
हौं अपने गृह ते चली जमुना, वे उततें चले चारन गाई।
निरखत रूप ठगोरी लागी, उत को डगर अरी चल्यौ न जाई।
छीतस्वामी गिरिधरन कृपा करि, मो तन चितए मुरि मुस्काई।।

(८) चतुर्भुजदास

जीवन—इनका जन्म सं० १५७५ के लगभग गोवर्धन के पास जमुनावतौ ग्राम में हुआ था। इनके पिता अष्टछाप के वयोवृद्ध कवि कुम्भनदास जी थे। यह अपने पिता के आज्ञाकारी पुत्र थे और खेती-बाड़ी के काम-काज एवं श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा में अपने पिता का हाथ बटाते थे। अपने पिता के सत्संग से बाल्यकाल में ही इन्हें काव्य और संगीत की शिक्षा मिली थी। कीर्तन में सम्मिलित होकर यह अपने उत्तम पदों को गाया करते थे। श्रीनाथ जी की अनन्य भक्ति और निस्पृह सेवा-भावना के कारण यह गोस्वामी विट्ठलनाथ के विशेष कृपापात्र बन गये। इनका

जीवन एक अनासक्त गृहस्थ का जीवन था। आजीवन इन्होंने तन्मय एकाग्र भाव से श्रीनाथ जी की पूजा-परिचर्या की। अपने गाँव से प्रति-दिन श्रीनाथ जी के दर्शन के लिए जाना इनका नित्य नियम था। संवत् १६४२ में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के निधन से इन्हें इतना दुःख हुआ कि कुछ काल बाद रुद्र कुण्ड पर इमली के वृक्ष के नीचे श्रीनाथ का स्तोत्रगान करते हुए इनकी लौकिक लीला समाप्त हुई।

रचना—इनकी काव्य-रचना केवल फुटकर पदों में मिलती है। इनके स्फुट पदों के तीन संग्रह चतुर्भुज-कीर्तन-संग्रह, कीर्तनावली और दानलीला नाम से कांकरौली विद्या-विभाग में सुरक्षित हैं। 'मधुमालती' और 'भक्ति-प्रताप' नामक दो कृतियाँ भी इनके नाम से जोड़ी जाती हैं, परन्तु उनकी प्रामाणिकता में पर्याप्त सन्देह है। इनकी कविता में भक्ति-भावना और शृङ्गार की झलक मिलती है। काव्य-सौष्ठव साधारण श्रेणी का है। जन्म से लेकर गोपी-विरह पर्यन्त इन्होंने कृष्णचरित का गान अपने पदों में गाया है। उनकी कविता का निदर्शन देखिए—

भोर भयो नन्द जसुदा जी बोलत, जागो जागो मेरे गिरधरलाल।
रतन जटित सिंहासन बैठो, देखन को आई ब्रजबाल।
नियरे जाइ सुपेती खैंचत, बहुरौ हरि ढाँपत बदन रसाल।
दूध दही और माखन मेवा, भामिनी भरि लाई हैं थाल।
तब हरि हरषि गोद उठि बैठे, करत कलेउ तिलक दै भाल।
दै बीरा आरति वारति हैं, चतुर्भुज गावत गीत रसाल॥

अन्य कृष्णभक्त कवि

(१) मीराबाई

मीराबाई मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री थीं। इनका जन्म सं० १५५५ में कुड़की गाँव में हुआ था। बचपन में ही इनकी माता का देहान्त हो गया था, अतः इनके पालन-पोषण का भार इनके पितामह दूदा जी ने ले लिया। दूदा जी परम वैष्णव थे। इनके संसर्ग से दो बालिका

मीरा के हृदय में वैष्णव-धर्म के संस्कार पड़े जो आगे चलकर उनकी भक्ति-भावना में विकसित हुए। जब यह १८ वर्ष की थीं तो इनका विवाह चित्तौड़ के महाराणा सांगा जी के ज्येष्ठ कुमार भोजराज के साथ हुआ। परन्तु कुछ वर्षों बाद ही इनके पति का देहान्त हो गया और तब से बाल्यकाल के वैष्णव संस्कारों ने अङ्कुरित होकर इनके हृदय को गिरिधर गोपाल की माधुर्योपासना की ओर उन्मुख कर दिया। भक्ति का स्रोत ऐसे उद्दाम वेग से इनके मन में उमड़ा कि लोक-लाज और राजमर्यादा के सभी आडम्बर त्यागकर मीरा ने साधु-सत्संग द्वारा अपने भक्ति-भाव को पल्लवित किया। इस दिशा में अपने राजकुल का विरोध भी मीरा ने सहन किया और घर छोड़कर वृन्दावन और द्वारिका की यात्रा की। द्वारिका-धाम में ही संवत् १६०३ में इनकी मृत्यु हुई। किंवदन्ती है कि मृत्यु के समय रणछोड़ जी की मूर्ति ने इन्हें अपने में अन्तर्हित कर लिया।

रचनाएँ—निम्नलिखित रचनाएँ इनके नाम से सम्बद्ध हैं—नरसीजी रो माहेरो, गीत-गोविन्द की टीका, राग सोरठ के पद, गर्वागीता और फुटकर पद। कहा जाता है कि 'नरसी जी रो माहेरो' की रचना पदों में हुई थी परन्तु इसकी कोई पूरी प्रामाणिक प्रति नहीं मिल पाई। इस कृति में प्रसिद्ध भक्त नरसी मेहता के 'माहेरों' वा 'भात' भरने की प्रथा का वर्णन है। 'माहेरा' राजस्थान की एक प्रचलित प्रथा है जिसके अनुसार लड़की अथवा बहन के घर उसकी सन्तान के विवाह के अवसर पर, पिता वा भाई पहरावनी ले जाते हैं। 'गीतगोविन्द की टीका' अभी तक अप्राप्य है। 'राग सोरठ के पद' में मीरा, कबीर और नामदेव के सोरठ पदों का संग्रह है। 'गर्वागीता' के गीत, रासमण्डली के गीतों की भाँति गाये जाते हैं। मीराबाई की कृतियों में सब से अधिक निश्चित पता 'फुटकर पदों' का ही मिला है। इनकी संख्या २०० के लगभग बताई जाती है। श्री पुरोहित हरिनारायण जी ने मीरा के पदों की संख्या ५०० बताई है और उनके पास इन पदों का एक संग्रह भी है।

काव्यत्व—मीरा का काव्य गीति-काव्य का एक आदर्श प्रस्तुत करता है। इस काव्य ने मीरा को 'दरद दिवानी' के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। 'गिरिधर गोपाल' उसके इष्टदेव थे। मीरा ने माधुर्य भाव से उसकी उपासना की है। शृङ्गारिक रचना होते हुए भी यह कविता आध्यात्मिक रंग में रंगी हुई है। वासना की गन्ध तक उसे छू नहीं गई। कुछ राजस्थानी-मिश्रित भाषा में और कुछ शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा में अपने पदों में मीरा ने प्रेम की तल्लीनता का मधुर गान किया है। नीचे उनके गीति-काव्य का कुछ परिचय कराया जाता है—

(१)

मेरो तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जा के सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
छाँड़ि दई कुल ही कानि, कहा करिहै कोई।
सन्तन ढिग बैठि बैठि, लोक लाज खोई।
अँसुवन जल सींचि सींचि, प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई, आनन्द फल होई।
भगति देखि राजी हुई, जगति देखि रोई।
दासी मीराँ लाल गिरधर, तारो अब मोहीं॥

(२)

हेरी में तो दरद दिवानी, मेरो दरद न जाणं कोइ।
घाइल की गति घाइल जाणं, की जिण लाई होइ।
जौहरी की गति जौहरी जाणं, की जिन जौहर होइ।
सूली ऊपरि सेज हमारी, सोवण किस विध होइ।
गगन मंडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होइ।
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोइ।
मीराँ की प्रभु पीर मिटे जब बैद सांवलिया होइ॥

(१०) रसखान

इनके जीवनवृत्त के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ ज्ञात नहीं हुआ।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इनके विषय में जो उल्लेख मिलता है, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने उसे भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। रसखान की कृतियों के अन्त:साक्ष्य से उक्त 'वार्ता' में उनके सम्बन्ध में लिखी हुई किसी बात की पुष्टि नहीं होती। श्री पाण्डेय ने निश्चयपूर्वक लिखा है कि रसखान न गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे और न उनका कृष्णकाव्य महाप्रभु वल्लभाचार्य की पुष्टि-सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति पर लिखा गया है। इनके काव्य में सूफ़ियों की 'प्रेम की पीर' को प्रधानता मिली है। रसखान ने अपने काव्य में इस प्रेम की पीर का सगुण (मूर्त) आलम्बन ढूँढ़ निकाला है। इनके विषय में प्रचलित किम्वदन्तियों अथवा 'वार्ता' के लेखों से हम केवल इतना निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि रसखान एक प्रेमी जीव थे। उनका जीवन लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की ओर उन्मुख हुआ था। उनकी प्रेमभक्ति को लक्ष्य करके श्री पाण्डेय ने लिखा है कि रसखान नारदी भक्त थे, श्री वल्लभी नहीं। प्रेम उनके जीवन का मूल आधार था। उन्होंने एक दोहे में स्पष्ट कहा है—

आनन्द अनुभव होत नहीं, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द, कै, ब्रह्मानन्द बखान॥

रचना—इनकी दो छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाश में आई हैं **'प्रेमवाटिका'** और **'सुजानचरित'**। प्रथम कृति इनके प्रेम-विषयक दोहों का संग्रह है और दूसरी कृति में इन्होंने कवित्त-सवैयों में शुद्ध एकनिष्ठ प्रेम की व्यंजना की है। 'बिलोकना' और 'बिकाना' इनके प्रेम की पृष्ठभूमि का काम करते हैं। सूफ़ी काव्य के 'दीदार' और 'दीवाना' की भाँति 'बिलोकना' और 'बिकाना' की इनके काव्य में भरमार है। प्रिय की मुस्कान उस प्रेम में अपना मोहक मधुर रंग भर देती है—

अब ही गई खरिक गाय के दुहाइबे को
बाबरी है आई डारि दोहनी यों पान की।
कोऊ कहै छरी कोऊ भौन परी डरी
कोऊ कहै मरी गति हरी अँखियान की।

सास व्रत ठाने नन्द बोलत सयाने
धाय दौरि-दौरि जानै माने खोरि देवतान की।
साखी सब हँसै मुरझान पहिचान कहूं
देखो मुस्कान वा अहीर रसखान की।

रसखान के काव्य को प्रेम का एक छलकता हुआ चषक कहा जा सकता है। इस प्रेम में पगा हुआ व्यक्ति फिर इसी का ही हो रहता है। इस नेह का बन्धन नहीं छूट सकता—

प्रेम पगे जू रंगे रंग सांवरे मानै मनायें न लालची नैना।
धावत है उत ही जित मोहन रोकै सकै नहीं घूँघट ऐना।
कानन लौं कल नाहिं परै सखि प्रीति में भीजे सुने मृदु बैना।
रसखान भई मधु की मखियाँ अब नेह को बन्धन क्यों हूँ छुटै ना।

रसखान का मन कृष्ण की किशोर लीला में अधिक रमा है। रासलीला और चीरहरण के वर्णन चलते-से कर दिये गये हैं। बांसुरी के हृदयहारी चमत्कार का वर्णन भी इन्होंने मनोयोग से किया है। कूबरी और ऊधो के प्रसङ्ग पर भी इन्होंने कुछ दृष्टिपात किया है। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रेम—रसविह्वल प्रेम—ही इनके काव्य की धुरी है। नन्दलाल से प्रेम नहीं तो फिर सब-कुछ कुबेर का वैभव तक तुच्छ है। रसखान का यह निनाद है—

कंचन कै मन्दिरनि दीठि ठहराती नाहिं
सदा दीपमाला लाल रतन उजारे सों।
और प्रभुताई सब कहा लौं बखानौं
प्रतिहारिनि की भीर भूप टरत न द्वारे सों।
गंगा जू में न्हाय मुक्ताहल हु लुटाय
बेद बीस बार गाय ध्यान कीजत सकारे सों।
ऐसे ही भये तौ कहा दीख रसखान जु पै
चित्त दै न कीन्हीं प्रीति पीत पटवारे सों।

रसखान जैसे भावुक कवियों के भक्ति-विह्वल उद्गारों को देखकर

ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने द्रवित हो कर कहा था—

इन मुसलमान हरिजनन पै, कोटिन हिन्दुन वारिये।

भाषा—रसखान की ब्रजभाषा में सरसता और स्वाभाविकता व्यवस्थित रूप में मिलती है। हार्दिकता और तन्मयता से इनकी भाषा सहज मधुर बन गई है। शब्दान्तकारों और अर्थालङ्कारों का प्रयोग इनकी काव्यश्री के अकृत्रिम सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक हुआ है। सानुप्रासता होते हुए भी इनकी भाषा में एक चुस्ती और सफ़ाई पाई जाती है। यह एक चलती हुई सरल, सरस और सुबोध भाषा है। अरबी और फ़ारसी के शब्दों का यथास्थान प्रयोग भी प्रभावपूर्ण एवं स्वाभाविक है।

कृष्ण-काव्य की परम्परा

कृष्ण-काव्य की यह परम्परा भक्तिकाल के उपरान्त भी अजस्र रूप से चलती रही। रीतिकाल में यह परम्परा राधाकृष्ण के श्रृंगार के कलुष-कर्दम में अपनी आध्यात्मिकता खो बैठी, पर इसका उद्धार आगे चलकर आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हाथों हुआ। इस काल के अन्य कृष्ण-काव्य के कवियों में अयोध्यासिंह उपाध्याय, सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त तथा द्वारकाप्रसाद मिश्र के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

४. रामकाव्य

पीछे लिख आये हैं कि दक्षिण भारतीय रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में स्थित रामानन्द ने उत्तर-भारत में रामभक्ति की लहर चलाई। उन्हीं के अनुकरण में हिन्दी के भक्तिकाल में रामकाव्य का उद्भव हुआ। इस काव्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

राम-भक्त कवि—भक्तिकाल में रामकाव्य के लिखने वालों में सर्वाग्रगण्य महात्मा तुलसीदास हैं। यद्यपि प्राणचन्द्र चौहान, अग्रदास, नाभादास, सेनापति, हृदयराम, केशव, कीरतसिंह आदि के नाम भी इस

दिशा में उल्लेखनीय हैं। पर रामकाव्य की वास्तविक महत्ता एकमात्र तुलसी पर ही अवलम्बित है, अन्य कवियों पर नहीं। अतः रामकाव्य की विशेषताएँ अधिकांशतः तुलसी-साहित्य को ही लक्ष्य में रखकर प्रदर्शित की जाती हैं।

राम-काव्य की विविधता—इन कवियों का, विशेषतः तुलसी का साहित्य विविध शैलियों का एक सुन्दर पुञ्ज है। उदाहरणार्थ तुलसी का रामचरितमानस प्रबन्ध-काव्य है; विनय-पत्रिका और गीतावली संगीत मुक्तक हैं; जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल, रामलला नहछू मंगल-काव्य हैं। प्राणचन्द्र चौहान की रामायण और हृदयराम का हनुमन्नाटक—ये दोनों ग्रन्थ दृश्यकाव्य हैं। अग्रदास की राम ध्यान-मंजरी एक रामभक्ति सम्बन्धी मुक्तक रचना है। सेनापति के कवित्त रत्नाकर की चौथी और पाँचवीं तरंगों में रामायण और रामरसायन के रूप में रामकथा को भी स्थान मिला है। राम की दिनचर्या का निर्देशक नाभादास का अष्टयाम अपने प्रकार का निराला काव्यरूप है। केशव की रामचन्द्रिका विविध छन्दों में रचित महाकाव्य है। कीरतसिंह की सतसैया-रमायण एक प्रकार का कोष-काव्य है।

इस प्रकार भक्तिकालीन रामकाव्य यद्यपि मात्रा की दृष्टि से कृष्ण-काव्य से न्यून है और शायद सन्तकाव्य और सूफ़ीकाव्य से भी न्यून हो जाय, पर काव्यरूपों एवं शैली की विविधता की दृष्टि से सर्वाग्रगण्य एवं पर्याप्त समृद्ध है। इसके अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से तो यह महान् है ही, क्योंकि इसमें तत्कालीन दोनों जन-भाषाओं—अवधी और ब्रज—में साहित्य की रचना की गई है।

राम का स्वरूप—राम के भक्तकवि अपने उपास्यदेव 'राम' को समझने और समझाने में नितान्त स्पष्ट हैं। कृष्ण-भक्तों के समान इनकी रामसम्बन्धी धारणाएँ अस्पष्ट या रहस्यपूर्ण नहीं हैं। कृष्ण-भक्तों का कृष्ण ब्रह्म का प्रतीक है, गोपियाँ जीवात्मा हैं। स्वयं कृष्ण-भक्त भी अपने पर गोपियों का आरोप करके कृष्ण-सेवा में आत्म-समर्पण करते

हैं। पर इधर रामभक्त उक्त प्रतीकवाद से नितान्त मुक्त होकर राम को विष्णु का अवतार और अपने-आपको मानव-रूप में राम का भक्त एवं साधक मानते हैं।

इनका राम शील, शक्ति और सौन्दर्य का पुंज है। वह हमें इसलिए प्रिय है कि वह संसार में सर्वाधिक सुन्दर है। संसार का प्रत्येक सुन्दर पदार्थ उसी महान् सौन्दर्य का एक अंश है। राम शक्तिशाली है। भक्तों के संकट-मोचन की उसमें अपूर्व सामर्थ्य है। इन दोनों में से किसी एक का सद्‌भाव अथवा दोनों गुणों का समन्वय भी आदर्शचरित्र के लिए पर्याप्त नहीं है, अतः राम महान् शील-सम्पन्न भी हैं। वे मर्यादास्थित हैं, और अपने शीलाचार से भक्त को आचार-पालन की शिक्षा देते हैं। यही कारण है कि रामभक्त कवियों ने 'राधा-कृष्ण' के असमान 'सीता-राम' को लक्ष्य में रखकर उच्छृङ्खल प्रेम को अपने काव्य का विषय नहीं बनाया। राम के नाम पर उच्छृङ्खल साहित्य का निर्माता 'सखी-सम्प्रदाय' न केवल रामकाव्य के नाम पर कलंक है, अपितु राम-भक्ति के मूलभूत आदर्शों एवं सिद्धान्तों के विपरीत है।

राम-भक्ति—राम-से इतर देवता को मानने वाले भक्तजन ज्ञान और कर्म का लोप करके भक्ति को श्रेष्ठ बतलाते हैं, पर रामभक्त ज्ञान और कर्म दोनों की अलग-अलग महत्ता स्वीकार करते हुए भक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। रामभक्त कवियों ने अपने और राम के बीच 'सेवक-सेव्य-सम्बन्ध' की स्वीकृति की है। विभीषण, हनुमान्, लक्ष्मण और भरत के समान ये राम के सेवक हैं और राम इनका सेव्य है। वस्तुतः इसी सम्बन्ध में ही वैष्णव-धर्म के आदर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा है।

आचार-शिक्षा—रामकाव्य की, विशेषतः तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की आचार-सम्बन्धी शिक्षाएँ एवं मान्यताएँ इतनी महान् हैं कि रामकाव्य को 'आचार-शास्त्र' भी समझा जाता है। इस काव्य में जीवन का मूल्यांकन आचार की कसौटी पर किया जाता है। राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, स्वामी-सेवक और पड़ोसी-पड़ोसी के सम्बन्धों में

सम्बद्ध समाज केवल आचार के बल पर ही जी सकता है। रामकाव्य के पात्र आचार और लोकमर्यादा की आदर्श व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इनका चरित्र महान् एवं अनुकरणीय है।

कतिपय राम-कवियों का परिचय

(१) तुलसीदास

हिन्दी-गगन में गोस्वामी तुलसीदास का उदय अद्भुत एवं चमत्कारपूर्ण है। वे परम भक्त, अनन्य साधक, समर्थ साहित्यिक और सात्विक सन्त थे।

जीवन-परिचय—इनके जन्म, जन्मस्थान, माता-पिता और अधिकांश जीवन-घटनाओं के सम्बन्ध में अभी तक विद्वान् एक निर्णय पर नहीं पहुँचे। अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के आधार पर इनका अनिर्णीत जीवन-परिचय इस प्रकार है—

(क) जन्मस्थान—वेणीमाधवदास-प्रणीत 'गोसाईं-चरित' और रघुबरदास-प्रणीत 'तुलसी चरित' के आधार पर इनका जन्मस्थान राजापुर है। तुलसी के अपने कथन—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।

के अनुसार सूकर क्षेत्र में उनका वास बताया जाता है। सूकर क्षेत्र सोरों (ज़िला एटा) में स्थित है। बांदा के गज़ेटियर में भी तुलसीदास का सोरों से आना तथा राजापुर गाँव का बसना लिखा है। इस गज़ेटियर के आधार पर उक्त दोनों स्थानों का समर्थन प्राप्त हो जाता है, पर फिर भी इनके जन्मस्थान के विषय में अभी कोई दृढ़ आधार विद्वानों के सम्मुख नहीं है।

(ख) जाति—इनकी जाति के सम्बन्ध में भी किसी एक निर्णय पर पहुँचना कठिन है, पर यह निर्विवाद है कि इनका जन्म ब्राह्मण वंश में हुआ था। जनश्रुति के अनुसार इनके पिता पत्यौजा के दुबे थे—

तुलसी परासर गोत दुबे पतिऔजा के।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य लोग इनको सरयूपारीण ब्राह्मण मानते थे और मिश्रबन्धु इनको कान्य-कुब्ज मानते थे। पत्यौजा के दुबे कान्यकुब्ज ही होते हों, पर इनका जन्मस्थान सोरों में मानने वाले इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण मानते हैं।

(ग) **सगे-सम्बन्धी**—जनश्रुति के आधार पर इनके पिता का नाम आत्माराम था, और 'तुलसी चरित' के आधार पर मुरारी मिश्र। जन-श्रुति, अन्तःसाक्ष्य तथा वहिःसाक्ष्य के आधार पर इनकी माता का नाम हुलसी था। गोकुलनाथ-प्रणीत 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि नन्ददास इनके बड़े भाई थे। सोरों के पक्ष वाले इनकी धर्मपत्नी का नाम रत्नावली बताते हैं। पत्नी द्वारा भर्त्सना किये जाने पर रामभक्ति में संलग्न होने की कथा भी जनश्रुति के आधार पर बहुत प्रसिद्ध है।

(घ) **जन्म और मृत्यु**—तुलसीदास जी के जन्मसंवत् के विषय में तो मतभेद है, पर मरण-संवत् के विषय में नहीं। 'गोसाईं-चरित' के अनुसार इनका जन्मसंवत् १५५४ है और रामगुलाम द्विवेदी आदि विद्वानों के अनुसार १५८९। 'रामचरितमानस' की रचना का प्रारम्भ सं० १६३१ में हुआ, यह निश्चित है। इस समय संवत् १५५४ के अनुसार इनकी आयु ७० वर्ष की होगी और संवत् १५८९ के अनुसार ४२ वर्ष की। ७० वर्ष की आयु की अपेक्षा ४२ वर्ष की आयु में ही 'मानस' का प्रारम्भ माना जाना अधिक जँचता है, अतः इनका जन्मसंवत् १५८९ ही युक्ति-संगत प्रतीत होता है। इनकी मृत्यु संवत् १६८० में असी गंग के तीर पर हुई—

संवत् सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

कोई विद्वान् इनकी निधन-तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी के स्थान पर श्रावण कृष्णा तीज भी कहते हैं।

रचनाएँ—इनके नाम के साथ वैसे तो बहुत-सी रचनाओं को सम्बद्ध

किया जाता है। परन्तु इनकी प्रामाणिक रचनाएँ १२ या १३ हैं। नीचे उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

रामलला नहछू—इसमें बीस छंदों में एक उपसंस्कार का वर्णन है, जिसका सम्बन्ध कुछ विद्वान् यज्ञोपवीत से और कुछ विवाह से मानते हैं। इसमें सोहर छन्द का प्रयोग है। मांगलिक अवसरों पर नारियाँ इसी छन्द में गाया करती हैं। वर्णन काफ़ी शृङ्गारिक है। तरुणी स्त्रियों की चटक-मटक और उनकी साज-सज्जा का चित्र कवि की यौवनकालीन रसिकता का द्योतक है। इसलिए इसे तुलसी की प्रारम्भिक रचना कहा गया है—

कटि कै छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो।
चन्द्रवदनि मृगलोचनि सब रस खानिहि हो॥

इस कृति का काव्यतत्व बहुत साधारण है। भाषा ठेठ अवधी है।

(२) **वैराग्य-संदीपिनी**—इसमें कुल ६२ पद्य हैं। इसके वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में कवि ने स्वयं लिखा है—

तुलसी वेद पुरान मत, पूजन शास्त्र विचार।
यह विराग संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार॥

सरल छन्दों में और सन्तुलित शब्दों में शान्त रस का वर्णन इस ग्रन्थ की विशेषता है। संस्कृत भाषा का इस पर स्पष्ट प्रभाव है।

(३) **रामाज्ञा-प्रश्न**—इस रचना में सात सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में सात-सात दोहों के सात-सात सप्तक हैं। इसके कुल दोहों की संख्या ३४५ है, जिनमें ग्रन्थारम्भ के दो दोहे भी सम्मिलित हैं। प्रसिद्ध है कि छः घण्टों के अनवरत परिश्रम से कवि ने इस रचना को अपने किसी मित्र गंगाराम के लिए तैयार किया था—

सगुन प्रथम उनचास शुभ, तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर, गोगन गंगाराम॥

(४) **जानकी-मंगल**—सीता-राम का विवाह इसका वर्ण्य-विषय है। इसमें कुल २१६ छन्द हैं जिनका क्रम इस प्रकार है—आठ अरुण छन्दों

के पीछे एक एक हरिगीतिका। इसकी कथा पर वाल्मीकि-रामायण का प्रभाव है। भाषा अवधी है और शैली वर्णनात्मक। इसमें परम्परागत वैवाहिक प्रथाओं का वर्णन स्वतन्त्र रूप में हुआ है।

(५) **रामचरितमानस**—यह ग्रन्थ कवि की काव्यकला का अपूर्व निदर्शन है। संसार-भर के साहित्य की सर्वश्रेष्ठ विभूतियों में इसकी गणना की जाती है। विश्व की प्रायः सभी प्रसिद्ध भाषाओं में इसका रूपान्तर हो चुका है। भारतीय जीवन का तो यह एक आदर्श मुकुट है। जनसाधारण की दृष्टि में इसका महत्त्व किसी धर्मग्रन्थ से कम नहीं है।

इस ग्रन्थ में राम की कथा सात काण्डों में विभक्त है। इसके छन्दों की संख्या लगभग दस हज़ार है। इसमें अधिकांशतः दोहा और चौपाई का प्रयोग हुआ है और कहीं-कहीं हरिगीतिका, त्रिभंगी, रथोद्धता, भुजंगप्रयात, वसंततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित आदि का भी।

रामचरितमानस की कथा का मूलाधार यद्यपि वाल्मीकि-रामायण है फिर भी 'अध्यात्मरामायण', 'हनुमन्नाटक','प्रसन्नराघव' आदि ग्रन्थों का सहारा लेकर गोस्वामी जी ने कथा में कुछ उलट-फेर किया है। नीति, धर्म और दर्शन की अन्य पुस्तकों से शिक्षा और उपदेश की सामग्री लेकर तुलसी ने अपने मानस को समृद्ध किया है। लेखक ने ग्रन्थ के आरम्भ में एक सामान्य उक्ति द्वारा अनेक शास्त्रों और ग्रन्थों के प्रति अपना आभार प्रकट किया है—

नानापुराण-निगमागम-सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमति मञ्जुलमातनोति॥

'रामचरितमानस' एक महाकाव्य है। इसमें राम की कथा का सांगोपांग वर्णन है। काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य की जो परिभाषा की है, उस पर यह पूरा उतरता है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि 'रचना कौशल, प्रबन्ध पटुता और सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें रामचरितमानस में मिलता है।' कथाकाव्य के सभी अंगों का समुचित समन्वय इसकी विशेषता है। किसी वर्णन का अनावश्यक

विस्तार नहीं हुआ और न ही किसी प्रसंग को उचित से अधिक महत्त्व दिया गया है। अयोध्या का सौन्दर्य, जनक का उद्यान, अभिषेक का आयोजन, सभी के वर्णनों में समानुपात की रक्षा की गई है। पात्रों के कथोपकथनों में भी सुसंगति और समुचित संक्षेप है। मानसिक आवेगों और भावों के निरूपण में कहीं भी अप्रयोजनीय आडम्बर नहीं है। समस्त इतिवृत्त सुव्यवस्थित और सुगठित है।

कवि कथा के मर्मस्पर्शी प्रसङ्गों से सुपरिचित है। सभी प्रसङ्गों का चयन और चित्रण मार्मिकता के आधार पर हुआ है। उसकी कल्पना का कौशल उन्हीं घटनाओं और दृश्यों के अङ्कन में अधिक प्रकट हुआ है, जो अपनी गम्भीरता और तीव्रता के कारण मानव-हृदय को द्रवित करनेवाले हैं। राम के जीवन में ऐसे स्थलों की कमी भी नहीं है। नियति की निर्मम लीला का निदर्शन राम के वृत्त से अधिक शायद ही कहीं हुआ हो। रामवनगमन-प्रसंग, वन में एक राजकुमार की वन्य वेशभूषा और जटाजूट पर वनवासियों का द्रवित होना, भरत की आत्मावमानना, सीता का विरह, लक्ष्मण-मूर्च्छा आदि सभी स्थलों को कवि ने अपनी चित्रण-कला और व्यञ्जना-शक्ति से सवाक् बना दिया है। रचना की सर्गबद्धता, शैली की उदात्तता और गम्भीरता तथा वर्ण्य-विषय की व्यापकता और महत्ता के कारण रामचरित मानस वस्तुतः एक उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है।

मानस की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ और परिमार्जित अवधी है। संस्कृत के प्रभाव ने इसे काफ़ी परिष्कृत कर दिया है। लेखक का भाषा पर असाधारण अधिकार है। इस अधिकार का कुशल निरूपण हुआ है, मानस की भाषा की प्रसङ्गानुरूपता में। रसों के अनुसार कोमल और परुष पदविन्यास तो उसमें है ही, साथ ही संवादों में भी भाषा का व्यवहार पात्रों की पदवी और प्रतिष्ठा के अनुरूप हुआ है। विदग्ध पात्र के कथन संस्कृत मिश्रित हैं और निम्नकोटि के चरित्रों की वाणी देहाती अवधी का रूप लिये हुए है। स्त्रियों के मुंह में चलते प्रयोगों की अधिकता है।

(६) **सतसई अथवा राम सतसई**—इसमें सात सर्ग और ७४७ दोहे हैं। इसकी भाषा अपरिपक्व है और कई स्थलों पर दृष्टकूटों ने इसे दुर्बोध बना दिया है। इसके सर्गों में भक्ति, उपासना, आत्मबोध, कर्म और ज्ञान आदि विषयों की मीमांसा की गई है। कई विद्वान् इसे तुलसीकृत नहीं मानते। उनका कथन है कि कूट पदों की रचना तुलसी के काव्यादर्श के विरुद्ध है।

(७) **पार्वतीमंगल** (८) **जानकीमंगल**—पार्वतीमंगल और जानकीमंगल में पर्याप्त साम्य है। दोनों ग्रन्थों की भाषा अवधी है और शैली विवरणात्मक है। छन्द भी दोनों में एक-से हैं और उनका व्यवस्था-क्रम-उपक्रम और उपसंहार भी एक-सा है। पार्वतीमङ्गल में शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन बड़ा ही रोचक बन पड़ा है।

(९) **गीतावली**—यह ग्रन्थ तुलसी के स्फुट गीतों का एक संकलन है। मानस की भाँति इसके भी सात काण्ड हैं। पदों की कुल संख्या ३२८ है। स्फुट संग्रह होने के कारण इस की कथा में व्यवस्था और विन्यास का अभाव है। तुलसी के जीवन-काल में ही इसके दो संस्करण हुए थे एक 'पदावली रामायण' और दूसरा 'गीतावली',। 'पदावली रामायण' को 'गीतावली' का रूप कब प्राप्त हुआ, यह कहना कठिन है। इसका काव्यत्व मनोहारी है और भावना-पक्ष अनूठा।

(१०) **विनयपत्रिका**—तुलसी की रचनाओं में श्रेष्ठता की दृष्टि से मानस के उपरान्त विनयपत्रिका का स्थान है। जैसाकि इसके नाम से स्पष्ट है कि भक्त तुलसी ने कलिकाल के उत्पात से पीड़ित होकर भगवान् राम के चरणों में अपनी प्रणत-प्रार्थना को एक पत्रिका के रूप में भेजा है। इसकी रचना गीति-काव्य के रूप में हुई है। इसी कारण इसमें अनेक राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है। विशेष भावना की अभिव्यक्ति के लिए उसके अनुरूप विशेष रागिनी का व्यवहार किया गया है। उदाहरणार्थ हर्ष और करुणा के लिए जयत श्री का प्रयोग हुआ है; शृङ्गार के लिए ललित गौरी और वीर भाव के लिए मारू, कान्हरा आदि रागों का। इस

ग्रन्थ में कुल २७६ पद हैं, जिन्हें विषयानुसार ६ कोटियों में विभक्त किया जा सकता है—प्रार्थना या प्रशस्ति; चित्रकूट, काशी आदि स्थलों का वर्णन; मन को सम्बोधन करके शिक्षा देना, विश्व की निस्सारता, आत्मबोध और विरक्ति; आत्मकथात्मक निर्देश। इस ग्रन्थ में घटनाओं की प्रबन्धात्मकता नहीं है, और न ही घटनाओं का कोई शृंखला-बद्ध सूत्र है। इस ग्रन्थ की विशिष्ट प्रसिद्धि का कारण यह है कि इस में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की विशद और समन्वयात्मक रूप से अभिव्यक्ति हुई है। ग्रन्थ में शान्त रस की प्रधानता है। इस में ब्रजभाषा का अपूर्व लालित्य दृष्टिगत होता है। सुललित पदावली, वाक्पाटव और उक्तिवैचित्र्य कवि के पण्डित्य के परिचायक हैं।

(११) **कृष्ण-गीतावली**—यह एक मुक्तक रचना है जिस में ६१ स्फुट पद संगृहीत हैं। आरम्भ में न मंगलाचरण है और न अंत में कोई शुभ कामना। काण्ड अथवा स्कंध आदि का विभाजन भी इसमें नहीं है। सूरसागर का अनुसरण करते हुए, तुलसी ने कृष्णचरित पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पद-रचना की है। कृष्ण के जीवन की बड़ी भव्य झाँकियां कवि ने प्रस्तुत की हैं। शैली में सरलता, स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता का अच्छा संयोग बन पड़ा है। बाल-लीला, ऊखल-बन्धन, गोपी-विरह, भ्रमर-गीत और द्रौपदी चीर आदि विविध घटनाओं का मनोरम वर्णन हुआ है। इस रचना के कुछ पद 'सूरसागर' से साम्य रखते हैं।

इसकी भाषा ब्रज है और कवि की विचक्षण प्रतिभा की द्योतक है।

(१२) **बरवै रामायण**—इसमें सात कांड हैं जिनका विस्तार ६६ छन्दों में हुआ है। वस्तुतः यह भी स्फुट पदों का एक संग्रह है। इसमें रामकथा संकेत रूप में कही गई है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि उसके प्रारम्भिक छन्दों का उद्देश्य अलङ्कार-निरूपण प्रतीत होता है। इस रचना में भाव-पक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की साधना अधिक हुई है।

(१३) **दोहावली**—यह एक संकलन है जिसमें ५७३ दोहे संगृहीत हैं। ये दोहे तुलसी के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से लिये गये हैं। इनके विषय भी विविध हैं। नीति, भक्ति, नाममाहात्म्य, प्रेम का आदर्श तथा आत्मसम्बन्धी विषयों की सुन्दर चर्चा इसमें हुई है। कई दोहों में अलङ्कार-निरूपण का प्रयास भी लक्षित होता है। प्रेम का उदात्त आदर्श प्रस्तुत करते हुए चातक सम्बन्धी अन्योक्तियाँ बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पड़ी हैं। परन्तु कुल मिलाकर देखने से इस रचना का काव्य-गुण साधारण कोटि का ही है।

(१४) **कवितावली और बाहुक**—इस ग्रन्थ के दो नाम ही यह बताते हैं कि ये दो ग्रन्थ हैं, परन्तु इनका मुद्रण एक ही पुस्तक के रूप में हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल ३६९ छन्द हैं जिसमें बाहुक के ४४ छन्द भी सम्मिलित हैं। इसका विभाजन सात कांडों में हुआ है। अन्तिम कांड का विस्तार बहुत अधिक हो गया है। वस्तुतः कवितावली एक सम्यक् ग्रन्थ न होकर समय-समय पर लिखे गये कवित्तों का संग्रह है। इसमें सवैया, कवित्त, छप्पय और झूलना छन्दों का प्रयोग हुआ है।

इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय भी राम की कथा है। 'राम चरित' के ओजस्वी और तेज-प्रधान रूप को प्रस्फुटित करना इसका उद्देश्य है। नायक के वीरत्व और शौर्य के प्रदर्शन के लिए कवित्त-सवैया आदि छन्दों का निर्वाचन हुआ है। ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य है—नायक के पौरुष और पराक्रम का सशक्त भाषा में चित्रण। उदाहरणार्थ लंका-दहन और युद्ध-वर्णन अत्यन्त ओजस्वी और परुषा वृत्ति में निरूपित हुए हैं। एक संकलन होने के नाते इस ग्रन्थ का कथा-सूत्र विच्छिन्न है और कथा का कांडों में विभाजन भी अनियमित है। ग्रन्थ के आदि में न कोई मङ्गलाचरण है और न कोई प्रस्तावना अथवा पूर्वकथा है। अन्तिम कांड (उत्तर कांड) की कथा का प्रधान कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसमें केवल उन छन्दों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध कवि के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं, समसामयिक परिस्थितियों तथा अन्यान्य विविध भावों से

है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के विषय इसमें बहुलता लिये हुए हैं। कवि के जीवन के आत्म-कथात्मक संकेत भी प्रचुर मात्रा में इस ग्रन्थ में मिलते हैं। इन संकेतों में तुलसी के व्यक्तिगत जीवन की कटु अनुभूतियों का वर्णन मिलता है।

कवितावली के बाहुकखण्ड की रचना छप्पय, झूलना, मत्तगयंद और घनाक्षरी छन्दों में हुई है। कुल पद्य-संख्या ४४ है। इस कृति में कवि ने हृदयद्रावक शब्दों में हनुमान जी के सम्मुख अपने भुजाशूल के शमन की प्रार्थना की है। कविता का स्वर अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। कवि के प्रति पाठक की संवेदना पूर्ण वेग से जागृत होती है। नियति की निष्ठुरता पर क्षोभ हुए बिना नहीं रहता। भाषा परिमार्जित और भावानुगामिनी है। व्रज भाषा में लिखित तुलसी की यह उत्कृष्ट कृति है।

रस की दृष्टि से कवितावली में प्रधानता वीर और रौद्र रसों को मिली है, शृङ्गार और शान्त के तथा वीभत्स और भयानक रसों के चित्र भी यथास्थान मिलते हैं।

तुलसी का महत्त्व—

तुलसी के महत्त्व को आचार्य शुक्ल ने एक ही वाक्य में समाहित कर दिया है—**"गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिये।"** तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी कृतियों में जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण सरल और अकृत्रिम रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनके महत्त्व को हम साहित्यिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण को लक्ष्य में रख कर प्रस्तुत करेंगे—

(क) साहित्यिक महत्त्व—

साहित्य-स्रष्टा के रूप में उन्हें अपने युग का प्रतिनिधि हिन्दी कवि कहा जाता है। उनका साहित्य अपने युग के प्रचलित और प्रमुख काव्य के रूपों और विधानों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है—

(१) उनके समय में साहित्य-क्षेत्र में काव्य-भाषा के दो रूप प्रचलित थे। व्रज और अवधी। तुलसी ने दोनों भाषाओं में काव्य-सृष्टि की।

उनकी भाषा का स्तर बहुत ही परिष्कृत एवं समुन्नत है। उनकी पदावली में प्रौढ़ता है। जो उनके पाण्डित्य की, और भाषा पर अधिकार की परिचायिका है।

(२) काव्य के रूपों में तुलसी ने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों क्षेत्रों में समान रूप से अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। इनके मुक्तकों और गीतों में सरस लालित्य है और प्रबन्ध-रचनाओं में जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण है।

(३) इनके समय में काव्याभिव्यक्ति के लिए कई शैलियाँ प्रचलित थीं, जिनमें से निम्नलिखित पाँच प्रमुख थीं। गोस्वामी जी ने इन्हीं पाँचों में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं—

(अ) वीरगाथाकाल की छप्पय-पद्धति—इस शैली में इन्होंने राम-जीवन के ओजस्वी चित्र प्रस्तुत किये और युद्ध-वर्णनों में इसे और भी सजीव एवं अनुप्राणित कर दिया।

(आ) गीत-पद्धति—हिन्दी में इसका प्रवर्तन विद्यापति और सूरदास कर चुके थे। गोस्वामी जी ने अपने गीतों में संस्कृत के लालित्य और देशभाषा के माधुर्य का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया। इनके गेय पदों में प्रसंगानुकूल कठिन और कोमल दोनों प्रकार के रूप देखने को मिलते हैं।

(इ) भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति—गोस्वामी जी की कविता-वलि इसी पद्धति पर रचित है।

(ई) दोहा-पद्धति—इस पद्धति में नैतिक शिक्षा को प्रकट करने का प्रचलन अपभ्रंश-काल से चला आता था। गोस्वामी जी ने भी इसी पद्धति में अपनी सारगर्भित सूक्तियाँ कही हैं।

(उ) दोहा-चौपाई की प्रबन्ध-पद्धति—हिन्दी में मलिक मुहम्मद जायसी आदि इसी पद्धति को अपना चुके थे। गोस्वामी जी ने अपने प्रबन्ध-काव्य 'रामचरित मानस' में इस पद्धति को विकास की चरम-सीमा पर पहुँचा दिया।

इनके अतिरिक्त अन्य लोक-प्रचलित छन्दों में भी गोस्वामी जी ने काव्य-रचना की ।[1]

तुलसी उक्त पारिभाषिक दृष्टि से तो युग-प्रतिनिधि कवि थे ही, वे साथ ही अपनी अप्रतिम प्रतिभा, उदात्त और गम्भीर कल्पना तथा प्रसङ्गानुकूल पदयोजना की चारु चातुरी के कारण भी रससिद्ध कवीश्वर थे। उनकी कविता आज तक सहृदयों का कल-कण्ठहार बनी हुई है। उनका मानस जनमानस का मराल बना हुआ है। उनका काव्य भावपक्ष और कलापक्ष का एक सुन्दर समन्वित चित्र है। रस, रीति, अलंकार, गुण, छन्द आदि कवि-कर्म के सभी उपादानों पर उनका एकच्छत्र अधिकार है। थोथा शब्दाडम्बर उनमें नहीं है। रचनाचातुरी का निरर्थक प्रदर्शन उनके काव्य में कहीं-नहीं हुआ। अलङ्कारों के भार से उनकी कविता कहीं नहीं दबी। उनका काव्यादर्श सरल और उदार था—

का भाषा का संस्कृत, भाव चाहिये सांच ।

उनकी कविता वस्तुत: कविता का शृंगार है। हरिऔध जी ने उनके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि—

कविता करके तुलसी न लसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला ।

'रामचरितमानस' में वास्तव में इस अद्वितीय कलाकार का मानस निहित है। डॉ० बलदेवप्रसाद ने 'तुलसीदर्शन' में इस अपूर्व कृति पर जो उद्गार प्रकट किये हैं वे यथार्थ में उपयुक्त हैं। उन्होंने लिखा है—

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद जी ने उपर्युक्त पाँच रूपों के साथ गोस्वामी जी के दस काव्य-रूपों की गणना की है—(१) दोहा-चौपाई वाले चरित-काव्य (२) कवित्त-सवैया (३) दोहों में अध्यात्म और नीति के उपदेश (४) बरवै छन्द (५) सोहर छन्द (६) विनय के पद (७) लीला के पद (८) वीर-काव्यों के लिए उपयोगी छप्पय, तोमर, नाराच आदि (९) दोहों में सगुन विचार (१०) मंगल-काव्य ।

'हिन्दी भाषा की पाचन-शक्ति का बढ़िया नमूना देखना हो तो 'रामचरितमानस' देखा जाय। भाषा के प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण की सच्ची बानगी देखना हो तो 'रामचरितमानस' देखा जाय। शब्दों की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों के चमत्कार देखने हों तो 'रामचरितमानस' देखा जाय। मुहावरों का सफल प्रयोग, उनका मूल्य और उनकी हृदयहारिता देखना हो तो 'रामचरितमानस' देखा जाय।

(ख) धार्मिक महत्त्व—

तुलसीदास के साहित्य का धार्मिक महत्त्व उनकी समन्वयात्मक साधना में निहित है। इस साधना के कुछेक निदर्शन ये हैं—

धर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय, शक्ति, शील और सौन्दर्य का समन्वय, निर्गुण और सगुण का—निराकार और साकार का समन्वय, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का समन्वय, श्रद्धा और आसक्ति के साथ विवेक और वैराग्य का समन्वय, बुद्धिवाद और हृदयवाद का समन्वय, सब धर्मों का समन्वय, दर्शनों का समन्वय और एकसूत्र में कहना चाहें, तो जीव, जगत् और ब्रह्म का समन्वय। इसी समन्वय ने ही तुलसी के युग में 'राम-रसायन' का रूप धारण करके धर्म और समाज की गिरती हुई दीवार को थामने का काम किया है।

इसी समन्वय-साधना का सुफल यह हुआ कि धार्मिक क्षेत्र में वैष्णवों और शैवों का विरोध जोकि उन दिनों उग्र रूप धारण कर रहा था, अधिकांश सीमा तक कम हो गया। तुलसी के राम ने अपने अनुयायियों को स्पष्ट चेतावनी दे दी कि—

शिवद्रोही मम दास कहावा, सपनेहु सोइ नर मोहि न पावा।
औरउ एक गुपुत मत सबहि कहहुँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावै मोहि॥

इसी प्रकार शाक्तों और पुष्टि-मार्गियों की विशिष्टताओं को भी उन्होंने अपने वैष्णव-धर्म में प्रतिष्ठा का स्थान दिया। राम के व्यक्तित्व में

उन्होंने सभी भव्य और विभिन्न आदर्शों का समाहार किया। ज्ञान और भक्ति के परस्पर विरोध का प्रबल प्रतिवाद करते हुए उन्होंने दोनों को सम्मान्य और समान रूप से उपादेय बतलाया। धार्मिकता के क्षेत्र में समन्वय-साधना के अतिरिक्त तुलसी की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता है उनकी सरल और ऋजु पन्थ की भक्ति। भक्त का दैन्य और आत्मसमर्पण ही उनकी भक्ति का सार है। उन्होंने इस भक्ति-पद्धति को सेवक-सेव्य-भाव की भक्ति कहा है—

सेवक-सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि॥

इस ऋजु पन्थ का प्रभाव यह हुआ कि उन दिनों योगियों और सिद्धों की गुह्य साधना के फलस्वरूप जो अनाचार फैल रहा था, भक्ति के नाम पर जो वाममार्गी प्रवृत्तियाँ, पनपने लगी थीं, निम्न वर्ग के लोगों में बाह्य करामातों को जो आदर मिलने लग पड़ा था, वह अब तुलसी की सरल पद्धति के आगे मन्द पड़ने लगा।

(ग) दार्शनिक महत्त्व—

तुलसी संस्कृत के दर्शन-शास्त्र से पूर्णतया परिचित थे। उनका दर्शन-ज्ञान गम्भीर और विपुल था। उनकी लेखन-शैली इतनी सरस थी कि कठिन और रहस्यमय दार्शनिक सिद्धान्तों को भी उन्होंने अत्यन्त सुगम और सुबोध रूप में प्रस्तुत किया है। दर्शन-क्षेत्र में उन्हें अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का सामञ्जस्य अभिप्रेत था। उनके राम **'विधि हरि शंभु नचावन हारे'** हैं। राम के लिए उन्होंने अद्वैतवादी विशेषणों का प्रयोग किया है, परन्तु साथ ही भक्तवत्सलता की पुट भी उसमें दे दी है। मूलतः अद्वैत होते हुए भी भक्त-हित के लिए वह विशिष्टाद्वैत भी हो जाता है—

एक अनीह अरूप अनामा, अज सच्चिदानन्द पर धामा।

परन्तु,

सो केवल भगतन हित लागी, परम कृपालु प्रनत अनुरागी॥

इसीलिए निर्गुण और सगुण में तत्त्वतः कोई अन्तर उनकी दृष्टि में

नहीं है—

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा, गावहि मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन, अरूप, अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।

'सब भाँति अलौकिक करनी' और सर्वथा अनिर्वचनीय होते हुए भी वह भक्ति के तार से बँधा हुआ है। 'भगतहित' वह 'दशरथ सुत' बनता है—

जेहि इमि गावहि बेद बुध, जाहि धरहि मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगत हित, कोसलपति भगवान ।।

जगत् को तुलसी ने ब्रह्म का चिदचिद्विशिष्ट रूप माना है, अतः 'सियाराम-मय' मान कर उसे प्रणाम किया है—

सियाराममय सब जग जानी। करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी ।।

(घ) सामाजिक महत्त्व—

तुलसी ने सामाजिक समन्वय की साधना में एक आदर्श समाज की प्रतिष्ठा की है जिसमें समाज के भिन्न-भिन्न अङ्ग अपने वर्ण और आश्रम की मर्यादा का पालन करते हुए लोकहित की सामान्य साधना में रत रहते हैं। तुलसी की इस व्यवस्था को हम एक 'यथार्थ समाजवाद' का नाम दे सकते हैं, जिसमें साम्य का दम्भ नहीं है, अपितु समभाव की पृष्ठभूमि पर अपने-अपने सामाजिक दायित्व का पालन करते हुए लोक-धर्म को सुदृढ़ करने की चेष्टा की गई है। तुलसी के 'रामराज्य' का भव्य चित्र देखिए—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई ।।
बरनाश्रम निज निज धरम। निरत बेदपथ लोग ।।
चलहि सदा पावहि सुख। नहि भय सोग न रोग ।।
सब नर करहि परस्पर प्रीति। चलहि स्वधर्म निरत श्रुतिरीती ।।
सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरन सेवक नर नारी ।।

समाहार—तुलसी निर्विवाद रूप से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक स्वर्णिम परिच्छेद जोड़ती हैं। उनकी बहुमुखी प्रतिभा अनेक रूपों में विकसित हुई। वह

एक साथ ही कवि, भक्त, पण्डित, सुधारक, लोकनायक और भविष्य-स्रष्टा तथा द्रष्टा थे। सभी रूपों में उनका काव्यकौशल समान विदग्धता से व्यक्त हुआ है। जीवन की जो सरस, सुन्दर और सामञ्जस्यपूर्ण व्याख्या उनकी लेखनी से प्रादुर्भूत हुई, वह अन्यत्र बहुत कम मिलती है। उनके समस्त काव्य का आधारभूत सिद्धान्त रहा है 'मर्यादा और माधुर्य का समन्वय।' उनकी कृतियाँ जनता के लिए एक अपूर्व मोहिनी ले कर तत्कालीन जनमन की गीता बन गईं। उनके साहित्य में संतप्त हृदय पर सुधावृष्टि करने की जो क्षमता है उसे देखकर किसी आलोचक ने उन्हें हिन्दी का 'ससी' कहकर आदृत किया है। उनकी कृतियाँ सहृदय के मानस को जिस अपूर्व रस से प्लावित करती हैं, उसका कुछ आभास निम्नलिखित उक्तियों से मिल जायगा। उनके समसामयिक और संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित श्रीमधुसूदन सरस्वती ने लिखा था—

आनन्दकानने ह्यस्मिन् जंगमः तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

कविवर अब्दुर्रहीम खानखाना ने उनके मानस की प्रशस्ति इस प्रकार की—

रामचरितमानस बिमल, सन्तन जीवन प्रान।
हिन्दुवान को वेदसम, जमनहिं प्रगट कुरान॥

तुलसी वस्तुतः सरस्वती के वरद पुत्र थे। अपनी रचनाओं के निर्माण द्वारा यद्यपि उनका मूल उद्देश्य 'स्वान्तःसुख' था, पर उससे जनमङ्गल की भी अधिकाधिक सिद्धि हो गई। उनका यह मत था—

कीरति भूति भनिति भलि सोइ
सुरसरि सम सब कर हित होइ॥

(२) हृदयराम

जीवन—हृदयराम का पूरा परिचय दे सकना कठिन है। पर प्रसिद्ध जनश्रुति के अनुसार हृदयराम भल्ला परिवार के क्षत्रिय थे। वे गुरु अमर-दास के वंशज और भाई गुरुदास जी के निकट-सम्बन्धी कृष्णदास के पुत्र थे। कृष्णदास गुरु गोविन्द जी के मामा थे। प्रसिद्ध है कि गुरु अर्जुन-

देव जी के दो विवाह हुए थे। उनका पहला विवाह संवत् १६३२ में चंदनदास खत्री की कन्या रामदेवी से तथा दूसरा विवाह संवत् १६४६ में कृष्णदास भल्ला की कन्या गंगादेवी से हुआ था। हृदयराम ने स्वयं भी अपने पिता का नाम कृष्णदास बताया है; यथा—

कृष्णदास तनु कुल प्रकास जस दीपक रच्छन।

गुरु हरगोविन्द के मामा और हृदयराम के पिता 'कृष्णदास' दो व्यक्ति हैं या एक—यह सिद्ध करने के लिए ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। उक्त कथन अभी तक कोरी किंवदन्ति-मात्र है।

रचना—हृदयराम की प्रख्यात रचना 'हनुमन्नाटक' है। कहते हैं कि गुरु गोविन्दसिंह जी 'हनुमन्नाटक' की प्रति सदा अपने पास रखते थे। बताया जाता है कि उक्त रचना संस्कृत हनुमन्नाटक की अनूदित कृति है। पर रचना का अनुशीलन करने पर ऐसा प्रतीत नहीं होता। दोनों रचनाओं में छन्द-संख्या एक-सी नहीं है; संस्कृत हनुमन्नाटक की पद्यसंख्या ५८१ है, और हिन्दी हनुमन्नाटक की पद्यसंख्या १४४०। वस्तुतः यह रचना मौलिक रूप में उपलब्ध नहीं है। गुरु गोविन्दसिंह के दरबारी कवि काशीराम और हंसराम ने इसके खंडित अथवा अप्राप्य स्थलों की पाठ-पूर्ति कर दी है। अतः रचना के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है। रचना का निर्माण संवत् १६८० दिया हुआ है। इसी के अनुसार हृदयराम का जन्म अनुमानतः संवत् १६२० के आसपास माना जा सकता है।

हनुमन्नाटक बड़ी हृदयग्राही रचना है। कवि ने कई मार्मिक प्रसंगों में काव्यकौशल खूब निभाया है। अनुप्रास तथा अन्य अलंकारों की योजना इतनी सरल और स्वाभाविक है कि इससे भावोन्मेष में किसी प्रकार की क्षति नहीं आने पाई। रचना का मुख्य विषय रामचरित ही है; अतः इसमें 'वीररस' की प्रमुखता है, पर शान्त, हास्य और शृंगाररस भी थोड़ी मात्रा में नहीं है। इस नाटक की भाषा ब्रजभाषा है, पर उसमें इधर-उधर पंजाबी शब्द भी मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ, इसमें 'भाई' के लिए

सर्वत्र पंजाबी भाषा में बहुप्रयुक्त 'वीर' शब्द का व्यवहार हुआ है। नाटक के कुछ पद्य देखिए—

(१)

श्री रघुवंश शिरोमणि की यह कीरति है किधौं दूती बखानौं।
आन दई कमला हरि की यह बात सुनै सुर लोक डरानौं।
जान यहै मुख चार किये विधि शंभु रहे अजहूँ लपटानौ।
सक्र सहस्र किये चख चौंक छँहूमुख व्याह कियौ न सयानौ।।

(२)

गाढ़ी कसीस लगी करकी करकी छिटकी कमठी करकी।
अरि की छतियाँ दरकी फरकी छुटी जोग जुटी अँखियाँ हरकी।
पलकी खरकी हरिकी निधि नीर धराधर की अहि ऊपर की।
भई चाप धुनी सुमहा डरकी भरकी भट भीर स्वयंवर की।।

(३) अग्रदास

स्वामी अग्रदास तुलसी के समकालीन थे और अष्टछाप के कवि श्री कृष्णदास जी के शिष्य थे। संवत् १६३२ में इनका आविर्भाव हुआ। प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तमाल' के लेखक श्री नाभादास जी इनके शिष्य थे। इन्हें रामानन्दी सम्प्रदाय में दीक्षा मिली थी। इनके बने हुए चार ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं—(१) हितोपदेश उपखाणां बावनी, (२) ध्यानमंजरी, (३) रामध्यान-मंजरी, (४) कुण्डलिया।

प्रथम ग्रन्थ में ६८ कुण्डलियाँ हैं। ग्रन्थ के नाम से इनकी संख्या बावन होनी चाहिए। प्रतीत होता है १६ और छन्द बाद में किसी ने जोड़ दिये हैं। इस ग्रन्थ में कवि को बहुत सफलता मिली है।

'ध्यानमंजरी' का विस्तार ६९ पदों में है। राम और उनके भाइयों के सौन्दर्य का निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है। सरयू और अयोध्या के वर्णन भी कवि ने किये हैं। इनकी काव्य-शैली कृष्णोपासक कवियों का अनुसरण करती है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। राम की मुखच्छवि निहारिए—

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
तिन को निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा।।
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए।
मुख पंकज के निकट मनो अलि छौना आए।।

(४) नाभादास

नाभादास का वास्तविक नाम नारायणदास था। कई लोग इन्हें जाति का डोम बताते हैं और कई क्षत्रिय। इनका जन्म सं० १६५७ के आसपास माना जाता है। ये बड़े भक्त और साधुसेवी वृत्ति के व्यक्ति थे। स्वामी अग्रदास जी इनके गुरु थे। रामोपासना के सम्बन्ध में इन्होंने बहुत सुन्दर पद लिखे थे। परन्तु उन पदों की अपेक्षा इनका ग्रन्थ 'भक्तमाल' बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ में लेखक ने भक्तों की कीर्तिगाथा का गान किया है। जीवन-चरित लिखना उनका उद्देश्य न था इसीलिए तिथि आदि के निर्देश इस ग्रन्थ में नहीं हैं। 'भक्तमाल' का विस्तार ३१६ छप्पयों में हुआ है। इनमें २०० भक्तों का माहात्म्य बड़ी श्रद्धा से वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ ने जनता में भक्तों, सन्तों और महात्माओं के प्रति पूज्य भावना उत्पन्न की। भक्ति के बल से इन महात्माओं ने जो करामातें और चमत्कार दिखाये थे, 'भक्तमाल' में उन सब का संकलन है। जनसाधारण पर इस ग्रन्थ का बहुत प्रभाव रहा है।

इसके अतिरिक्त नाभादास जी ने दो 'अष्टयाम' भी बनाये। इनमें से एक ब्रजभाषा का गद्य-ग्रन्थ है और दूसरे की रचना दोहा-चौपाई पद्धति पर हुई है।

गद्य का निदर्शन देखिए—

फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करि कै श्री महेंद्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठ गये।

पद्य का नमूना निम्नलिखित है—

अवधपुरी की शोभा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति जैसी।।
रचित कोट कलधौत सुहावन। विविध रंग मति अति मन भावन।।

(५) प्राणचन्द चौहान

ये जहाँगीर के समसामयिक थे। सं० १६६७ इनका आविर्भाव-काल माना जाता है। इन्होंने संस्कृत के संवाद-नाटकों की पद्धति पर 'रामायण महानाटक' लिखा। इसमें राम की कथा एक संवाद के रूप में वर्णित है। शैली में विवरणात्मकता अधिक है; काव्यसौष्ठव न्यून है। कुछ निदर्शन निम्नलिखित है—

आदि पुरुष बरनौं केहि भाँती। चाँद सुरज तहँ दिवस न राती।।
निरगुन रूप करै सिव ध्याना। चारि वेद गुन जोरि बषाना।।
तीनों गुन जानै संसारा। सिरजै पालै भंजन हारा।।
श्रवन बिना सो अस बहुगुना। मन में होइ सु पहले सुना।।

रामकाव्य की परम्परा

रामकव्य की इस परम्परा को भक्तिकाल में निर्वहित करने वालों में केशव का नाम उल्लेख्य है; पर मूलत: उन्होंने आचार्य रूप में ही रामकथा का गान किया है, भक्त-कवि रूप में नहीं। अत: इसका परिचय भक्ति-कालीन अन्य कवियों में प्रस्तुत किया जा रहा है। रामकाव्य की यह परम्परा रीति-काल में उपलब्ध नहीं होती। आधुनिक काल में राम का गौरव-गान गाने वाले कवियों में राष्ट्रिय कवि मैथिलीशरण गुप्त तथा रामचरित उपाध्याय के नाम विशेपत: उल्लेखनीय है।

रामकाव्य और कृष्णकाव्य की तुलना

भक्तिकालीन सगुणधारा का काव्य भी दो विभिन्न रूपों में दृष्टिगत होता है—रामकाव्य और कृष्णकाव्य। जहाँ तक विष्णु को अवतार मानकर सगुण भक्ति करने का प्रश्न है, इन दोनों काव्यों के मूलभूत सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है। दोनों पक्ष भगवान् के साकार रूप पर पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना रखते हैं, परन्तु सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति और काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। जिसका संक्षिप्त विवरण

इस प्रकार है—

सिद्धान्त—रामकाव्य में 'ब्रह्म' और 'जीव' की मर्यादा का पालन करते हुए 'राम' का अतिमानव के रूप में तथा अन्य पात्रों का मर्यादित मानव के रूप में निरूपण हुआ है। अन्य सभी पात्र किसी-न-किसी रूप में राम के सेवक हैं और उनका आदर्श स्तर भी भिन्न-भिन्न है। विभीषण, अंगद, हनुमान, लक्ष्मण, भरत और जानकी क्रमशः उत्तरोत्तर सेवक पद का आदर्श स्थापित करते हैं। अतः रामकाव्य में सेव्य-सेवक भक्ति का प्रतिपादन हुआ है। इसके विपरीत कृष्णकाव्य में 'ब्रह्म' और 'जीव' की कोई मर्यादा नहीं; दोनों में अभेद है। यही कारण है कि कृष्णभक्त कृष्ण के सेवक न होकर उसके सखा हैं—दोनों में 'सखा-सख्य-सम्बन्ध' है।

रामकाव्य में भगवद्भक्ति के अतिरिक्त कर्मकाण्ड और वेद-मर्यादा पर भी विश्वास प्रकट किया गया है, पर कृष्णकाव्य में कर्मकाण्ड और वेद-मर्यादा की अस्वीकृति करके केवल भगवद्भक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है।

रचनाशैली—सिद्धान्तों की भिन्नता के कारण इनकी रचनाशैली में भी अन्तर आ गया है। रामकाव्य में राम का चरित्र विभिन्न राष्ट्रिय चरित्रों को आत्मसात् किये हुए है; वह आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श राजा तथा आदर्श विरोधी भी है। उसका चरित्र स्वभावतः महाकाव्य का विषय है। अतः रामकाव्य प्रबन्ध-काव्यों के रूप में उतरे हैं और यह परम्परा भक्तिकाल से लेकर नवीन युग तक वर्तमान है। इसके अतिरिक्त रामकाव्य का प्रतिपादन मुक्तक-रूप में भी हुआ है। रामकाव्य के इन दोनों रूपों में उस युग की सभी शैलियों को अपनाया गया है। पर उधर कृष्ण-काव्य में अधिकांशतः कृष्ण का चरित्र बालकृष्ण के रूप में चित्रित किया गया है, और वह भी अतिमानव के रूप में। उसका यह रूप प्रबन्ध-काव्य के अनुरूप नहीं है, अतः उसकी अभिव्यक्ति मुक्तक गीतों में हुई है।

भाषा—भाषा के विषय में रामकाव्य में उदारता वर्ती गई है।

राम की लीलाभूमि 'अवध' की भाषा के अतिरिक्त इसमें ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत कृष्णकाव्य में कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज की 'ब्रजभाषा' का व्यवहार हुआ है, किसी अन्य भाषा का नहीं।

जन-सम्पर्क—रामभक्तों ने अपने काव्य में लोक-मर्यादा पालन का सदुपदेश प्रस्तुत किया है, जबकि कृष्णभक्तों ने अपनी रचनाएँ लोकरंजक ही रहने दी हैं। अतः रामकाव्यों में युग के विचारों का प्रतिबिम्ब भी यत्र-तत्र मिल जाता है, पर कृष्णकाव्यों पर युग की गतिविधि का मानों कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार रामकाव्य और कृष्णकाव्य सगुण भक्ति के प्रतिपादक के रूप में मूलतः एक होने पर भी तथा सिद्धान्त, रचनाशैली, भाषा तथा जन-सम्पर्क के दृष्टिकोण से परस्पर विभिन्न हैं।

भक्तिकाल के अन्य कवि

(१) दुरसाजी

मारवार के धूंदला नामक गाँव में एक गरीब चारण-परिवार में संवत् १५९२ में दुरसा जी का जन्म हुआ था। ये आढ़ा गोत्रीय महाजी के पुत्र और अमराजी के पौत्र थे। बचपन में पितृसुख से वंचित बालक दुरसा जी ने किसी किसान के यहाँ नौकरी कर ली। भाग्यवश बगड़ी के ठाकुर प्रतापसिंह ने इनका वहाँ से उद्धार किया। इन्हीं ठाकुर जी की सहायता से पढ़-लिखकर दुरसा जी होशियार हुए और उन्हीं के सलाहकार और सेनापति हुए। इनका निधन १२७ वर्ष की पूर्णायु में संवत् १७१२ में हुआ।

दुरसा जी की रचनाएँ ये हैं—विरुद छहत्तरी और कुमार श्री अजाजी नी सुचर मोरी नी गजगत। इन छोटी रचनाओं के अलावा इनके कुछ छप्पय आदि भी पाये जाते हैं। दुरसा जी हिन्दू-धर्म, हिन्दू-जाति और हिन्दू-संस्कृति के अमरगायक थे। उस समय की हिन्दू-जनता की विपन्ना-

वस्था का बड़ा सजीव वर्णन करके दुरसा जी ने अपने राष्ट्रिय कर्तव्य का पालन किया था।

दुरसा जी की भाषा वीररसपूर्ण, भावमयी तथा सरस डिंगल है। रचना देखिए :—

अकबर कीना आद हीन्दू नृप हाजर हुआ।
मेदपाट मरजाद पग लागो न प्रताप सी॥
है अकबर घर हाण डाण ग्रहे नीची दिसट।
तजै न ऊँची ताण पोरस राण प्रताप सी॥
अकबर हिये उचाट रात दिवस लागी रहे।
रजबट बट समराट पाटप राण प्रताप सी॥
अकबर जासी आप दिल्ली पासी दूसरा।
पुनरासी परताप सुजस न जासी सूरमा॥

(२) पृथ्वीराज

पृथ्वीराज का जन्म संवत् १६०६ में राव कल्याणमल के घर हुआ। ये 'वीकानेर' राज्य के संस्थापक राव बीका जी के वंशज और जैतसी के पौत्र थे। इनके बड़े भाई 'रायसिंह' अकबर के सेनापति थे। पृथ्वीराज स्वभावत: वीर, स्वदेशाभिमानी स्पष्टवक्ता और निर्भीक पुरुष थे। ये बड़े सहृदय कवि एवं निष्णात संगीतज्ञ थे; साहित्य, दर्शन, छन्दशास्त्र, ज्योतिष आदि विद्याओं में पारंगत थे। ये अकबर के विशेष प्रीतिपात्र होने से उसकी सभा में विद्यमान थे। यह घटना इतिहास-प्रसिद्ध है कि इन्होंने महाराणा प्रताप को ओजस्वी भाषा में पत्र लिखा था, जिससे उन्हें अकबर से सन्धि न करने की प्रेरणा मिली थी।

पृथ्वीराज की ये रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—बेलि क्रिसन रुकमणी री, दशरथ रावउत वसदेरावउत, गंगालहरी। इनके अतिरिक्त इनके कुछ फुटकर गीत, दोहे, छप्पय आदि भी प्राप्त हैं।

'बेलि क्रिसन रुकमणी री' ३०५ छन्द में समाप्त हुआ एक खण्डकाव्य है। इसमें कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह-प्रसंग है, जो कि शृंगार का सर्व-

श्रेष्ठ प्रयोग है। इसकी भाषा मँजी हुई, ललित और प्रवाहमयी है। इस रचना को डिंगल में शृंगार रस का ज्वलन्त उदाहरण माना जाता है।

पृथ्वीराज वीररस के कवि भी थे। इनके वीररसपूर्ण तथा देशभक्ति से ओत-प्रोत पद्य राष्ट्रियता के द्योतक हैं। वस्तुतः भूषण से भी पहले राष्ट्रिय कविता करने का श्रेय पृथ्वीराज को दिया जा सकता है। ये जितने उच्चकोटि के वीररस के कवि हैं, उतने ही उच्चकोटि के भक्त-कवि भी हैं।

इनकी रचना का नमूना देखिए—

माई एहड़ा पूत जण जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझ कै जाण सिराणें सांप।।
अइरे अकबरियाह तेज तुहालो तुरकड़ां।
नमनम नीसरियाह राण बिना सहराब जी।।
बाही राण प्रताप सी बगतर में बरछीह।
जाणक झींगर जाल में मुंह ढाक्यो मच्छीह।।

(३) रहीम

जीवन-परिचय—इनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम ख़ानाख़ाना था। कुशल सूक्तियों और जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र को प्रस्तुत करने के कारण यह हिन्दी-साहित्य में अपने इसी लघु नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म सं० १६१३ में आगरा में हुआ था। इनके पिता नवाब बैरमखाँ अकबर बादशाह के प्रसिद्ध सामन्त और अभिभावक थे। इनकी चार वर्ष की अवस्था में ही इनके पिता बैरमख़ाँ का एक पठान ने वध कर दिया और अकबर ने इनके भरण-पोषण की व्यवस्था की। यह एक कुशाग्रबुद्धि बालक थे। अरबी, फ़ारसी के साथ-साथ इन्होंने तुर्की, संस्कृत और हिन्दी का भी प्रचुर ज्ञान बहुत शीघ्र उपार्जित कर लिया। अकबर इनकी प्रखर बुद्धि और सर्वतोमुखी प्रतिभा पर बहुत प्रसन्न था और उसने इन्हें अपने बेटे जहांगीर का शिक्षक बना दिया। सामारिक विद्या का भी इन्हें

अच्छा अभ्यास था और अनेक युद्धों में इन्होंने बड़ी वीरतापूर्वक शत्रुओं को परास्त कर अपनी रण-कुशलता का परिचय भी दिया था। इनके जीवन का एक बहुत बड़ा भाग युद्धों में ही बीता। धन और सम्मान इन्हें प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुआ, परन्तु विधि की विडम्बना; इनका जीवन शान्त और सुखमय नहीं रहा। इनके चारों पुत्रों का देहान्त इनके जीवनकाल में ही हो गया था और जीवन के अन्तिम दिनों में सम्राट् जहाँगीर से इनका विरोध भी हो गया था। परिवारिक दुःख और राजकीय कोप के कारण इनका हृदय अशान्त रहता था। वैसे आप विनोदी प्रकृति के मस्त और वैभव-प्रिय व्यक्ति थे। धनी, मानी और दानी—तीन शब्दों में आपकी प्रकृतिगत विशिष्टता समाहित हो सकती है। इनकी उदारता और दानवीरता के सम्बन्ध में अनेक प्रवाद प्रचलित हैं। एक किंवदन्ति के अनुसार इन्होंने एक छप्पय पर प्रसन्न होकर कवि गंग को छत्तीस लाख रुपये पुरास्कृत किये थे। संवत् १६८२ या १६८३ इनकी मृत्यु हुई।

रचनाएं—इनके निम्नलिखित ग्रंथ कहे जाते हैं—

(१) रहीम-दोहावली या सतसई, (२) बरवै नायिका-भेद, (३) बरवै, (४) मदनाष्टक, (५) शृङ्गार-सोरठ, (६) नगर-शोभा, (७) रास-पञ्चाध्यायी, (८) रहीम-रत्नावली, (९) खेट-कौतुकम्, (१०) रहीम-काव्य, (११) फुटकर कवित्त-सवैये।

(१) दोहावली—रहीम के ग्रन्थों में दोहावली को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जाता है। जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ और व्यावहारिक जगत् की स्वार्थपरता के सुन्दर चित्र इन दोहों में मिलते हैं—

मांगत मुकरि न को गयो, केहि न त्यागियो साथ।
मांगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ॥
कोउ रहीम जनि काहु के द्वार गए पछिताय।
सम्पति के सब जात है, विपत्ति सबै लै जाय॥

(२) बरवै नायिका-भेद—यह एक शृङ्गारिक रचना है। नायिका-

भेद की भित्ति पर कवि ने अच्छा काव्य-कौशल दिखलाया है—

लै कै सुघर खुरपिया पिय के साथ।
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ॥
पीतम इक सुमरिनियाँ मौंहि देइ जाहु।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु॥

(३) **बरवै**—यह बरवै छन्दों में एक फुटकर रचना है। इस छन्द पर रहीम का पूर्ण अधिकार था। प्रसिद्ध तो यह है कि तुलसी ने भी रहीम के इस छन्द से प्रभावित होकर अपने ग्रन्थ 'बरवै रामायण' की रचना की थी। यह रचना रहीम के 'नायिका-भेद' से अधिक प्रौढ़ है।

(४) **मदनाष्टक**—यह एक भाषा-कौतुक है। इसमें संस्कृत और हिन्दी की मिश्र रचना हुई है। आधा चरण संस्कृत और आधा हिन्दी में है। देखिए—

दृष्ट्वा तत्र विचित्रतां तरुलतां मैं था गया बाग़ में।
काचित् तत्र कुरङ्ग-शावनयना, गुल तोड़ती थीं खड़ी॥

इस ग्रन्थ से रहीम का संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्रकट होता है।

(५) **नगर-शोभा**—इस ग्रन्थ में कवि ने दोहा छन्द में भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों के सौन्दर्य का वर्णन किया है। यह पुस्तक रहीम की घुमक्कड़ प्रकृति का परिचय देती है।

(६) **खेट-कौतुकम्**—संस्कृत और फ़ारसी की खिचड़ी भाषा में कवि ने इस रचना में ज्योतिष की बातों का वर्णन किया है।

(७) **रहीम-काव्य तथा अन्य ग्रन्थ**—हिन्दी और संस्कृत भाषा की मिश्रित छटा 'रहीम-काव्य' में भी मिलती है। हिन्दू और मुसलमानों को साहित्यिक आधार पर समीप लाने का यह एक प्रयास-सा प्रतीत होता है। 'शृङ्गार-सोरठा' और 'फुटकर कवित्त' आदि अभी अपूर्णरूप में उपलब्ध हैं। निम्न कवित्त में विधि के विधान की अटलता और मानुष प्रयास की विवशता की झलक देखिए—

बड़न सों जान पहिचान कै रहीम कहा।
जौ पै करतार ही न सुख देनहार है।
सीतहर सूरज सों नेह कियो याही हेत।
ताहू पै कमल जारि डारत तुसार है।
छीरनिधि मांहि धंस्यो, संकर के सीस बस्यो।
तऊ ना कलंक नस्यो, ससि में सदा रहै।
बड़ो रिझवार या चकोर दरबार है, पै।
कलानिधि यार तऊ चाखत अंगार है।

काव्यसौष्ठव—अनुभूति की मार्मिकता और भावुकता-पूर्ण संवेदना रहीम की कविता का मुख्य आधार है। जीवन के उत्थान और पतन के उन्हें व्यक्तिगत अनुभव हुए थे और उन्हीं अनुभवों की व्यञ्जना बड़े हृदय-ग्राही रूप में इन्होंने की है। उनकी सूक्तियाँ तुलसी के वचनों के समान ही जनसाधारण की सम्पत्ति बन गई हैं। उनकी कविता के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमान होते हुए भी उनका हिन्दी और संस्कृत का ज्ञान प्रचुर था और हिन्दू-संस्कृति के प्रति उनका समुचित अनुराग था। खुसरो और जायसी आदि पूर्ववर्ती मुसलमान कवियों ने हिन्दू देवी-देवताओं और रीति-त्योहारों के चित्रण में जो भयंकर भूलें की हैं, रहीम का काव्य उनसे अछूता है। रहीम को हिन्दुओं के दर्शन और साहित्य का भी अच्छा और यथार्थ ज्ञान था। नायिका-भेद में जो सरस और मनोरम चित्र इन्होंने प्रस्तुत किये हैं वे केवल कल्पना की क्रीड़ा नहीं हैं। उनमें भारतीय जीवन के प्रेम का यथार्थ स्वरूप मिलता है। रहीम का काव्य कल्पना की ऊँची उड़ान, ऊहात्मकता और उक्ति की दुरूह वक्र-ताओं से सर्वथा मुक्त है। वह सरल, सरस, सुबोध और प्रसाद-गुण-गुम्फित है। इन्होंने अलङ्कारों का प्रयोग काव्य के प्रसाधक के रूप में उपयुक्त मात्रा में ही किया है, रीति-काव्य की भाँति अलङ्कार-योजना को कविता का प्राण नहीं समझा। अर्थालङ्कारों का प्रयोग इन्होंने बड़ी सुन्दर शैली में किया है। उपमा, रूपक, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति,

अप्रस्तुतप्रशंसा आदि के स्वच्छ निदर्शन इनके काव्य में मिलते हैं। शृंगार-प्रधान होते हुए भी अपने काव्य में इन्होंने कहीं-कहीं व्यंग्य, कटाक्ष तथा मृदु हास्य की सुन्दर व्यञ्जना की है—

ये रहीम दर दर फिरें, मांगि मधुकरी खांहि।
यारो यारी छांडिये, अब रहीम वे नांहि॥

विपन्नावस्था में मित्रों की उपेक्षा-वृत्ति पर मर्माहत हृदय की यह व्यंग्योक्ति कितनी हृदय-द्रावक है।

भाषा—इनकी रचनाएँ व्रज और अवधी दोनों में हुई हैं। रहीम ने इन दोनों भाषाओं में समान अधिकार से काव्य-रचना की है। व्रजभाषा के सरल और सुबोध प्रयोग में तो कहीं-कहीं यह अष्टछाप के कवियों को भी पीछे छोड़ जाते हैं। अवधी में तुलसीदास इनके आदर्श थे। व्यंजना की तीव्रता और भावों की सुस्पष्टता के लिए रहीम ने अरबी और फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी जानबूझकर किया है। भाषा की सुबोधता का ही यह प्रभाव है कि उनके दोहे 'टकसाली सिक्के की भाँति' जनसाधारण में प्रचलित हैं। लोक-व्यवहार और लोकनीति से सम्बन्ध रखने वाले दोहों में रहीम ने वस्तुतः अपनी अनुभूति को व्यापक और सहृदय-संवेद्य बना दिया है। इनकी अधिकांश कविता दोहों में ही हुई है, परन्तु बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा आदि छन्दों के अतिरिक्त पदों में भी इन्होंने थोड़ी-बहुत रचना की है।

रहीम उन उदार-हृदय और महामना व्यक्तियों में हैं जिन्होंने साम्प्रदायिक संकीर्णता को दूर रखकर मानवहित की दृष्टि से साहित्य-साधना की है। अपनी व्यापक दृष्टि, उदार संवेदना और उदात्त वृत्ति के कारण रहीम ने हिन्दी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

(४) केशवदास

जीवन—केशवदास का जन्म संवत् १६१२ में टेहरी में हुआ। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम काशीनाथ था। इनकी मृत्यु सं० १६७४ अथवा १६८० में हुई मानी जाती है। ओरछानरेश राजा

रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह इनका बहुत सम्मान करते थे। कहते हैं कि इन्द्रजीतसिंह ने इन्हें गुरु मानकर २१ गाँव भेंट में दिये थे। केशव ने उनकी प्रशास्ति में लिखा है—

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत जीवै जुग जुग,
जाके राज केसौदास राज सो करत है।

रचनाएँ—केशव-रचित उपलब्ध कृतियों में से निम्नलिखित सात कृतियाँ उल्लेखनीय हैं—रसिकप्रिया, कविप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेव-चरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका। इन कृतियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि केशव अपनी रचनाओं में वीरगाथाकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के काव्यगत आदर्शों का समाहार करना चाहते थे। इन ग्रन्थों में से केशव की ख्याति का आधार प्रथम तीन ग्रन्थ हैं। रसिकप्रिया और कविप्रिया काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। रामचन्द्रिका रामचरित से सम्बद्ध महाकाव्य है, और साथ ही अलंकारों तथा छन्दों का उदाहरण-संग्रह भी। शेष चार ग्रन्थ साधारण कोटि के हैं। वीरसिंहदेव-चरित में इन्द्रजीतसिंह के अनुज वीरसिंह की वीरगाथा का गौरव-गान है और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका में वीरसिंह के परम हितैषी सम्राट् जहाँगीर का यशोगान है। रतनबावनी में ओड़छा-नरेश मधुकरशाह के पुत्र रतनसेन की वीरता का वर्णन है। विज्ञान-गीता की रचना कवि ने वृद्धावस्था में की थी। इस ग्रन्थ में रूपक-शैली पर आध्यात्मिक विषयों का निरूपण हुआ है। इस पर कृष्ण-मिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की नाटकशैली का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त केशव-रचित अन्य ग्रन्थ भी कहे जाते हैं। वे या तो सामान्य कोटि के हैं या अप्रामाणिक हैं।

प्रथम तीन ग्रन्थों के आधार पर वे हमारे सम्मुख आचार्य और कवि के रूप में आते हैं। इन दो दृष्टियों को लक्ष्य में रखकर हम केशव का विवेचन करेंगे।

आचार्यत्व—

रसिकप्रिया—इस ग्रन्थ में १६ प्रकाश हैं, जिनमें शृंगार-रस, उसके भेदोपभेद तथा नायक-नायिका-भेद का वर्णन है। इसमें अन्य रसों की भी चर्चा है, पर उनका अन्तर्भाव भी केशव ने शृंगार-रस में कर दिया है, जोकि शास्त्रविरुद्ध तो है ही, साथ ही हास्यास्पद भी है। इनके अतिरिक्त रसवृत्तियों तथा रस-दोषों का भी इस ग्रन्थ में उल्लेख हुआ है।

कविप्रिया—इसकी रचना रसिकप्रिया के बाद हुई है। इसमें भी १६ प्रभाव हैं। केशव ने प्रभावों की इतनी संख्या जानबूझ कर रखी है, ताकि कवियों की यह प्रिया षोडश-शृंगार-भूषिता बन जाय।[1]

ग्रन्थ-निर्माण का उद्देश्य कवि के शब्दों में है—सुकुमार-बुद्धि पाठकों के लिए काव्यशास्त्र जैसे जटिल विषय का सुगम रूप से अवबोध[2]। इस ग्रन्थ में दोष और अलंकार के अतिरिक्त कविशिक्षा पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत उन्होंने तीन प्रकार के कवियों तथा तीन प्रकार के कवि-मतों, अर्थात् कविता करने की रीतियों पर प्रकाश डाला है।

केशव ने इस ग्रन्थ में १८ दोष गिनाये हैं। इनमें प्रथम पाँच दोष नाम की दृष्टि से सम्भवतः केशव की मौलिक उपज हैं—अन्ध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक। वस्तुतः 'अन्ध' मम्मट-सम्मत प्रसिद्धि-विरुद्ध है। 'बधिर' के केशव-प्रस्तुत उदाहरण में मम्मट-सम्मत असमर्थ दोष की छाया है। 'पंगु' दोष परम्परागत हतवृत्तता है। 'नग्न' दोष भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों को भले ही स्वीकृत हो, पर मम्मट आदि परवर्ती आचार्य इसे स्वीकृत नहीं करेंगे। शेष रहा मृतक दोष, पर इसकी सत्ता ही काव्य में सम्भव नहीं है। निरर्थक वाक्यावली को जब वैयाकरण 'भाषा' नाम से अभिहित नहीं करता, तो चमत्कार-प्रिय काव्यशास्त्री का

---

१. **केशव सोरह भाव शुभ सुबरनमय सुकुमार।**
कविप्रिया के जानिये ये सोरह शृंगार॥

२. **समुझैं बाला बालकहू, वर्णन पंथ अगाध।**
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध॥

इसे काव्य न मानना स्वत:सिद्ध है। कविप्रिया में वर्णित अन्य १३ दोषों में से अधिकांश का स्रोत दण्डी का काव्यादर्श है, तथा शेष मम्मट-सम्मत दोषों के रूपान्तर मात्र हैं। रसिकप्रिया में भी केशव ने पाँच अनरस (रस विरोधी) दोषों का उल्लेख किया है—प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दु:सन्धान और पात्रादुष्ट। 'प्रत्यनीक' मम्मट के 'प्रतिकूल-विभावादि-ग्रह' दोष से मेल खाता है। 'विरस' वस्तुत: उक्त दोष का प्रभाग-मात्र है। 'नीरस' तथा 'दु:सन्धान' दोष मम्मट के मत में रसाभास हैं, तथा 'पात्रादुष्ट' को मम्मट-सम्मत 'अपुष्टार्थता' नाम दिया जा सकता है।

कविप्रिया में केशव ने वर्ण्यविषय को तथा उसे भूषित करने के साधनों को 'अलंकार' कहा है। प्रथम को उन्होंने 'साधारण' अलंकार नाम दिया है और द्वितीय को 'विशिष्ट' अलंकार। उन्होंने साधारण अलंकार के चार भेद किये हैं—वर्ण, वर्ण्य, भू-श्री और राजश्री। विशिष्ट अलंकारों के अन्तर्गत उन्होंने स्वभावोक्ति, विभावना आदि चालीस अलंकारों का निरूपण किया है। वर्ण आदि चार प्रकार के कथाकथित अलंकारों की वर्ण्य-सामग्री का स्रोत अमरचन्द्र यति रचित 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा केशव मिश्र कृत 'अलंकार-शेखर' है। पर उन्होंने इसे 'अलंकार' नाम नहीं दिया। यह केशव की अपनी धारणा है, जोकि वस्तुत: समुचित नहीं है। विशिष्ट अलंकारों के निरूपण में केशव ने अधिकतर दण्डी का आधार ग्रहण किया है और कुछ स्थलों में रुय्यक का भी। पर वे इन्हें पूर्णत: निर्भ्रान्त रूप में निरूपित नहीं कर पाये। कहीं इनके लक्षण और कहीं उदाहरण भी भ्रामक, अपूर्ण अथवा शिथिल बन गये हैं। अलंकार के सम्बन्ध में केशव की प्रमुख धारणा है कि नारी के समान सर्वगुण-सम्पन्न कविता भी अलंकारों के बिना शोभा नहीं देती—

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्त॥

इनकी यह धारणा अलंकारवादी आचार्य भामह के इस कथन से प्रभावित जान पड़ती है—

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।

पर परवर्ती मम्मट आदि आचार्य भामह से सहमत नहीं हैं। वे ध्वनि अथवा रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और अलंकार को उस का उपकारक मात्र और वह भी अनिवार्य रूप से नहीं। अतः कह सकते हैं कि केशव का दृष्टिकोण दण्डी, भामह, उद्भट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के ही अनुरूप रहा, न कि आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों के अनुकूल। पर इतना होते हुए भी केशव का रस के प्रति समादरभाव कुछ काम नहीं है—

ज्यों बिन डीठ न शोभिये, लोचन लोल विशाल ।
त्यों ही केशव सकल कवि, बिन वाणी न रसाल ।।

इस प्रकार यद्यपि केशव का आचार्यत्व-कर्म अधिकांशतः परस्पर विरोधी, भ्रान्त, अपूर्ण, अव्यवस्थित एवं अमान्य है, फिर भी हिन्दी-जगत् में काव्य के विभिन्न अङ्गों पर शास्त्रीय चर्चा करने वाले प्रथम आचार्य केशव ही हैं। हिन्दी की काव्यधारा को भक्ति-पथ से रीति-पथ की ओर सर्वप्रथम मोड़ने का श्रेय केशव को ही है।

कवित्व—केशव के कवित्व-प्रदर्शन के लिए केवल एक ही ग्रन्थ उल्लेख्य है—रामचन्द्रिका। इसमें उन्होंने राम के जीवन की सम्पूर्ण कथा को इस महाकाव्य का विषय बनाया है। कथानक का आधार प्रमुखतः बाल्मीकि-रामायण है, परन्तु प्रासङ्गिक कथाओं के विकास और रचना-शैली में संस्कृत के 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव भी इस कृति पर पड़ा है।

राम की कथा को एक सफल प्रबन्ध-काव्य का रूप देने में कवि को सफलता नहीं मिली। 'कथा का सुसंगत विकास, भावपूर्ण स्थलों का सुचित्रण और दृश्यगत विशेषता' जो बातें एक महाकाव्य के लिए अपेक्षित हैं, इस रचना में नहीं मिलतीं। वस्तुविन्यास की दृष्टि से देखने पर यह ग्रन्थ कई मुक्तकों का संग्रह प्रतीत होता है जिन्हें जोड़कर प्रबन्धात्मक रूप देने की विफल चेष्टा की गई है। सम्पूर्ण कथा को ३१ प्रकाशों में बाँटा

गया है और कथा-खण्ड का नाम देकर विभिन्न प्रसङ्गों का वर्णन किया गया है। परन्तु कथा का विकास पूर्णतया अनियमित ढंग से हुआ है। इसका प्रवाह यत्र-तत्र खण्डित दिखाई देता है और उसमें अनुपात और तारतम्य का निपट अभाव है। राम के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं तक का भी संकेत-रूप में वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ ताड़का और सुबाहु के वध की ओर केवल एक छन्द में निर्देश मात्र ही कर दिया गया है। इसी प्रकार रामवनगमन का सम्पूर्ण प्रसङ्ग और उसकी कैकेयी-मन्थरा विषयक सम्पूर्ण पूर्वपीठिका का भी एक ही छन्द में वर्णन कर दिया गया है। आवश्यक प्रसंगों की उपेक्षा और अनावश्यक प्रसङ्गों का विस्तार कवि ने खूब किया है। इक्कीसवें प्रकाश में दान-विधान और सनाढ्य कुल की उत्पत्ति का विस्तृत प्रसंग प्रधान कथा से नितान्त विच्छिन्न है। इसी प्रकार बाल्य, तारुण्य और वृद्धावस्था की विकृतियों के वर्णन में कवि-प्रतिभा का अपव्यय हुआ है। उपदेश-प्रवृत्ति को भी कवि ने अनावश्यक आदर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि वे नीरस और प्रभावहीन बन गये हैं। कहीं-कहीं तो उपदेश की धुन में पात्रों की मर्यादा और उपयुक्तता की भी उपेक्षा की गई है। उदाहरणार्थ वन जाते समय राम अपनी माँ कौशल्या को पातिव्रत्य-धर्म की शिक्षा दे रहे हैं।

कथा के भावपूर्ण स्थलों का चयन और चित्रण करने की विदग्ध-कला केशव के पास नहीं है। ऐसे प्रसंगों में जहाँ तुलसी की कुशल-प्रतिभा ने अत्यन्त भावविभोर चित्र दिये हैं, केशव की प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है और उनके वर्णन उनकी दरबारी मनोवृत्ति का प्रदर्शन मात्र बनकर रह जाते हैं। राम को देखकर वनवासियों के हृदय में जो करुणा का स्रोत उमड़ता है, नियति के निष्ठुर विधान पर जो उन्हें रोष होता है, केशव ने इसका निदर्शन कितने भद्दे और अकुशल रूप में किया है—

किधौं मुनिसाप हत किधौं ब्रह्मदोषरत
किधौं सिद्धियुत सिद्ध परम बिरत हो
किधौं कोउ ठग हौ ठगौरी लीन्हें किधौं तुम।

राम के सम्बन्ध में विकृत सन्देह-वृत्ति का उदय होना केशव की राजनीतिक चतुराई की ही सूझ हो सकती है। केशव के प्रकृति-चित्रण भी बड़े फीके और असंगत हैं। ऐसे चित्रों में वे एक निरर्थक शब्दजाल-सा पेश कर देते हैं या फिर प्रस्तुत को अप्रस्तुत के भार से ऐसा आक्रान्त कर देते हैं कि प्रकृत प्रसंग बिल्कुल तिरोहित हो जाता है। वर्षाऋतु को कालिका का रूप देकर खींचा हुआ चित्र कितना हीन कोटि का बन पड़ा है, देखिए—

भौहें सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर, भूषण जराय ज्योति तड़ित रलाइ है
दूरि करि मुख सुख सुखमा शशी की नैन, अमल कमल दल दलित निकाई है
केशवदास प्रबल करेणका गमन हर, मुकुत सुहंसक शबद सुखदाई है
अम्बर बलितमति मोहै नीलकंठजू की, कालिका की बरषा हरषि हिय आई है

इस प्रबन्ध-काव्य में यदि कुछ सफलता कवि को कहीं मिली है तो वह इसके संवादों में है। इनकी कुशल शब्द-योजना, अवसर के अनुरूप पात्रों के क्रोध, उत्साह, आवेश आदि की अभिव्यक्ति और राजनीति के उपयुक्त दांवघात के निदर्शन से ये संवाद भव्य और रुचिकर बन पड़े हैं। छोटे संवादों के अतिरिक्त लम्बे और भावुकतापूर्ण कथोपकथन ये हैं—(१) सुमति-विमति-संवाद (२) रावण-बाणासुर-संवाद। (३) राम-परशुराम-संवाद। (४) रावण-अंगद-संवाद। (५) लव-कुश-भरतादि-संवाद।

इन संवादों में कवि ने अपनी प्रतिभा का अपेक्षाकृत अधिक सुचारु रूप में परिचय दिया है। परिस्थिति की उपयुक्तता और औचित्य तथा पात्र की स्थिति और मर्यादा को कवि नहीं भूला। यही कारण है कि केशव का रावण-अंगद-संवाद तुलसी के इस संवाद की तुलना में कहीं अच्छा बन पड़ा है। केशव के राजनीति-परिचय ने अंगद को अमर्यादित नहीं होने दिया। इस प्रकार इन संवादों में स्वाभाविकता और गम्भीरता आ गई है।

कुल मिलाकर देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'रामचन्द्रिका' एक असफल रचना है। कवि का पाण्डित्य और उसकी प्रतिभा इसमें पूर्णरूप से प्रस्फुटित नहीं हो सकी। इसके कई कारण हैं—प्रथम कारण है केशव का काव्यसम्बन्धी दृष्टिकोण। जैसे कि हम पहले कह आये हैं, केशव का यह विश्वास था कि कविता का वास्तविक सौन्दर्य है उसका अलंकृत होना। इसी कारण उन्होंने अलङ्कार-विधान को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की चेष्टा की। परिणामतः वर्णन में स्वाभाविकता और प्रासादिकता के स्थान पर सालङ्कारता और क्लिष्ट कल्पना को उन्होंने प्रश्रय दिया। वस्तुतः रामचन्द्रिका की रचना के पीछे कोई अन्तःप्रेरणा नहीं है। कवि इस कृति को एक 'पिंगल-प्रकाश' बनाना चाहता था—

'रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द'

परिणाम यह हुआ कि 'बहु छन्द' में रामकथा को वर्णित करने के प्रयास में उसने इसे 'छन्दों का अजायब घर' और 'अलङ्कारों की मञ्जूषा' बना दिया। दूसरा कारण है उनकी दरबारी वृत्ति। केशव के पास वह भावुकता और संवेदना नहीं है, जो एक कवि-हृदय की सम्पत्ति होते हैं। इसी दरबारी वृत्ति का ही परिणाम है कि जहाँ-जहाँ राज-सभा या राजसी वैभव से सम्बन्ध रखने वाले प्रसङ्ग उपस्थित हुए हैं, केशव के वर्णन सजीव और उद्दीप्त हैं—उदाहरण के लिए जनकपुर के धनुष-यज्ञ का वर्णन, युद्धवर्णन, सेना की तैयारी का वर्णन आदि। परन्तु जहाँ मर्मस्पर्शी भावनाओं के अङ्कन का और हृदय को आह्लादित और उद्वेलित करने वाले प्रसङ्गों की उद्भावना का कवि को वास्तविक सुयोग मिला है, वहाँ वे कन्नी काट कर चलते बने हैं। वस्तुतः इन प्रसङ्गों ने केशव के हृदय को किसी भी रूप में विलोड़ित नहीं किया। उदाहरणार्थ दशरथ-मरण, भरत का चित्रकूट-मिलन आदि मार्मिक प्रकरण उनकी कल्पना को उत्तेजित नहीं करते। रामायण के उदात्त चरित्रों की उदारता और गम्भीरता केशव के मन पर कोई प्रभाव नहीं डालती।

उनका दरबारी मन सर्वत्र राजनीति के दाँव-घात, लौकिक जीवन के छल-प्रपञ्च और दरबारियों की असहिष्णु संशयालुता का ही सदा चिन्तन करता है। उदाहरणार्थ वन के लिए प्रस्थान करते समय श्री रामचन्द्र लक्ष्मण को अयोध्या में रहकर भरत की गतिविधि पर देख-रेख करने की प्रेरणा करते हैं—

धाम रहौ तुम लक्ष्मण राज की सेव करौ।
मातनि के सुनि तात सुदीरघ दुःख हरौ।
आय भरत्थ कहा धौं करैं जिय भाय गुनौ।
जौ दुःख देयँ तौ लै उर गौं यह सीस धरौ॥

रामायण के उच्च चरित्रों को निम्न धरातल पर पहुँचाने में एक और कारण है केशव की रसिक वृत्ति। 'गोसाईं-चरित' के लेखक ने इन्हें 'कवि केशवदास बड़े रसिया' कहकर याद किया है। इसी वृत्ति के कारण ही रामायण के गम्भीर चरित्रों में भी इनकी भावना हल्की रसिकता से पङ्किल होकर प्रकट हुई है। उदाहरणार्थ, माता सीता के भी कटाक्ष ही उन्हें दिखाई दिये हैं—

मग को श्रम श्रीपति दूर करैं, सिय को शुभ बाकल अञ्चल सौं।
श्रम तेउ हरैं तिन को कहि केसव, चंचल चारु दृगंचल सौं॥

वस्तुतः रामचन्द्रिका को किसी रामभक्त की रचना नहीं कहा जा सकता। केवल रामचरित्र का आधार होने के कारण ही इसे रामचरित-काव्यों में सम्मिलित किया जा सकता है।

भाषा-शैली—केशव की कृतियों की भाषा प्रमुखतया ब्रज है। बुन्देलखण्ड का निवासी होने के कारण इनकी भाषा में बुन्देलखण्डी मुहावरों और पदों का भी प्राचुर्य मिलता है। केशव संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे, अतः संस्कृत की छाप भी उनकी भाषा पर स्पष्ट है। अरबी और फ़ारसी के शब्द भी उनकी कृतियों में मिलते हैं, पर केशव ने उन्हें ब्रज की प्रकृति के अनुरूप ढाल लिया है। काव्य को अलंकृत करने की अतिशय प्रवृत्ति ने उनकी भाषा को पाण्डित्य से बोझल कर दिया है।

अनुप्रास-प्रयोग के लिए बहुधा उन्हें अपने शब्दों को विकृत भी करना पड़ा है। अलङ्कारिता की धुन में व्यर्थ का शब्दजाल बुनने की प्रवृत्ति भी इनमें लक्षित होती है, जिसके परिणामस्वरूप इनकी कविता दुर्बोध और क्लिष्ट हो गई है। आलोचकों ने तो इन्हें 'कठिन काव्य को प्रेत' तक कह डाला है। रामचन्द्रिका का भाषा-विधान च्युतसंस्कृति, अक्रमत्व, न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व आदि दोषों से दूषित है। वस्तुत: केशव की भाषा और केशव का वाग्जाल उसके कवित्व के नहीं बल्कि पाण्डित्य के ही परिचायक हैं।

(५) सेनापति

सेनापति का जन्मस्थान अनूप शहर है। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके एक ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' से ज्ञात होता है कि इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित था, और पिता का नाम गंगाधर दीक्षित। हीरामणि दीक्षित इनके गुरु थे।

'कवित्तरत्नाकर' के अतिरिक्त इनकी एक अन्य रचना 'काव्यकल्पद्रुम' भी है, पर इनकी ख्याति का प्रधान कारण इनका प्रथम ग्रन्थ है। इसकी रचना सं० १७०६ में हुई। इस ग्रन्थ में पाँच तरंगें हैं। पहली तरंग में श्लेष-वर्णन है जो कि शब्द-कौशल का एक सुन्दर नमूना है। केशव के समान श्लेष के द्वारा ये कभी दानी और कंजूस को एक कोटि में रख रहे हैं, कभी रामकथा को गंगाधार के समान वर्णित कर रहे हैं और कभी सीतापति राम को 'साह' के तुल्य बता रहे हैं। ग्रन्थ की दूसरी तरंग में शृंगार-वर्णन है, जिसके अन्तर्गत नखशिख-सौन्दर्य, उद्दीपन भाव, वय:सन्धि आदि का वर्णन है। तीसरी तरंग में ऋतु-वर्णन है। यह वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ा है। इस वर्णन की प्रधान विशेषता है—मानव-मन से उठने वाले भावों का विभिन्न ऋतुओं से सहज सम्बन्ध-स्थापन। चौथी और पाँचवीं तरंगों में राम का चरित्र है। पाँचवी तरंग में कवि राम-चरित्र में शब्दालंकार-समावेश के लोभ को संवरण नहीं कर पाये। यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र आदि अलंकारों का सफल प्रयोग

इनके शब्द-चयन तथा काव्य-कौशल का द्योतक है। श्लेष अलंकार का एक उदाहरण लीजिए—

नाहीं नाहीं करै, थोरो माँगे सब देन कहै,
मंगन को देखि पट देत बार बार है।
जिनके मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा शुभ जनमन भावै निरधार है॥
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरै, दानपाठ परवार है।
सेनापति वचन की रचना निहारि देखौ,
दाता और सूम दोऊ कीन्हें इकसार है॥

वर्षा ऋतु में विरही मन की एक पुकार सुनिए—

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ,
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ॥
आई सुधि बर की, हिये में आनि खरकी,
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ॥

भक्तिकाल की भाषा

भक्तिकाल में प्रमुखतः दो भाषाओं का प्रयोग हुआ—ब्रजभाषा और अवधी। ब्रजभाषा पश्चिमी हिन्दी का एक रूप है और अवधी पूर्वी हिन्दी का। ब्रजभाषा का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ और पश्चिमी अवधी का अर्द्धमागधी अपभ्रंश से, तथा पूर्वी अवधी का मागधी अपभ्रंश से। अब इन दोनों भाषाओं का व्याकरण-सम्बन्धी सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

१. ब्रजभाषा—

(क) वर्ण—१. ब्रजभाषा में ऋ, ॠ और लृ का प्रायः प्रयोग नहीं होता। उदाहरणार्थ ऋतु—रितु; ऋजु—रिजु आदि। 'कृपा' आदि ऋकार-युक्त शब्दों का प्रयोग कम देखने में आता है।

२. श्, ण् और क्ष् प्रायः क्रमशः स्, न् और ख् में परिवर्त्तित हो जाते हैं। जैसे शशि—ससि; क्षण—खन आदि।

३. मध्यवर्त्ती 'य' को 'ऐ' हो जाता है; और 'व' को 'औ'। जैसे नयन—नैन; भवन—भौन आदि।

४. वर्गों का पंचम वर्ण अनुस्वार में परिवर्त्तित हो जाता है। जैसे पङ्कज—पंकज, कम्प—कंप आदि।

(ख) शब्दरूप—१. खड़ीबोली की आकारान्त पुलिंग संज्ञाएँ; विशेषण तथा सर्वनामों के सम्बन्ध कारक-रूप और भूत कृदन्त ब्रजभाषा में ओकारान्त बन जाते हैं। जैसे—घोड़ो, झगरो, छोटो, खोटो, तुम्हारो, मेरो, तेरो, गयो, कियो आदि।

२. भूतकालिक सकर्मक क्रियाओं के प्रयोग में कर्त्ता के साथ 'ने' विभक्ति प्रयुक्त होती हैं। जैसे, बालकन ने खायो।

३. ब्रजभाषा की कारक विभक्तियाँ ये है—(१) ×, ने; (२) को, कौं; (३) सों, तें; (४) को, कौं (५) तें; (६) को (७) में, मों, पै।

४. कारक के कुछ प्रयोग ब्रजभाषा के निजी हैं—वे न खड़ी-बोली में प्रयुक्त होते हैं न अवधी में। जैसे अधिकरण चिह्न पै का प्रयोग करण और अपादान के अर्थ में। उदाहरणार्थ—

(क) **शेष शारदा पार न पावें मोपै किमि कहि जैहै ?**

(ख) **तू अलि ! का पै कहत बनाय ?**

—सूर

(ग) क्रियारूप—१. खड़ीबोली का 'था' रूप ब्रजभाषा में 'हुतो', 'हतो', और 'हो' के रूप में प्रयुक्त होता है। ब्रज की चलती बोलचाल में इन दोनों प्रत्ययों को प्रायः क्रमशः 'हो' और 'हे' हो जाता है। जैसे—

(अ) **एक दिवस मेरे घर आए** में हो **महती वही** —सूर
(आ) **तब हार पहार से लागत हे अब आय कै बीच पहार परे।**
—घनानन्द

२. खड़ीबोली में आज्ञा और विधि में जहाँ क्रिया का साधारण रूप रखा जाता है—जैसे 'तुम आना', वहाँ ब्रजभाषा में धातु के आगे 'इयो' प्रत्यय लगाया जाता है। जैसे आइयो, जाइयो, करियो आदि।

३. खड़ीबोली में कीजिए, दीजिए, करिए, धरिए आदि रूप आज्ञा और विधि के हैं, पर ब्रजभाषा में इन दोनों प्रकारों के अतिरिक्त ऐसे रूपों का प्रयोग वर्त्तमान और भविष्यत् में भी मिल जाता है। जैसे—

पुंज कुंजर शुभ्र स्यंदन शोभिजै **सूठ सुर।** —केशव
ज्ञान निराश कहा लै कीजै ? —सूर
ह्वै बनमाल हिये लगिये **अरु ह्वै मुरली अधरा रस** पीजै।
—मतिराम

४. पूर्वकालिक क्रिया का रूप बनाने के लिए साधारण क्रिया-रूप के अन्तिम 'न' का लोप कर आगे 'इ' प्रत्यय जोड़ दिया जाता है। जैसे करन से करि (करके)।

२. अवधी—

(क) वर्ण—ब्रजभाषा-प्रकरण में वर्ण-सम्बन्धी जो चार विशिष्टताएँ ऊपर निर्दिष्ट की गई हैं, वे सभी अवधी में भी पाई जाती हैं।

(ख) शब्द-रूप—(१) खड़ीबोली के 'कौन', 'जो' और 'वह' के अवधी के क्षेत्र में दो रूप प्राप्त हैं—पश्चिमी अवधी में क्रमशः 'को', 'जो' और 'से' या ते; तथा पूर्वी अवधी में क्रमशः 'के' 'जे' 'से' या 'ते'। उदाहरणार्थ प० अवधी—को आय ? पू० अवधी—के है (कौन है) ? इसी प्रकार प० अवधी में—'जो जइहै सो पइहै' और पू० अवधी में—'जे जाई से पाई' (जो जाएगा, वह पाएगा)। इस अन्तर का कारण यह है कि पश्चिमी अवधी पूर्वी अवधी की अपेक्षा ब्रजभाषा के कहीं अधिक

निकट है। उपर्युक्त 'को, जो, सो' में शौरसेनीपन है; और 'के, जे, से' में मागधी या अर्द्धमागधीपन।

(२) अवधी के कारक-चिह्न इस प्रकार हैं— (क) ×; (ख) के, कां (पुराना रूप कहँ); (ग) से, सन; (घ) के, काँ; (ङ) अपादान—से, तें; (च) कै, कर, केर; (छ) में, मां, [पुराना रूप महँ] और पर।

(३) अवधी भाषा के विभक्ति-रहित सर्वनाम-रूपों की सूची इस प्रकार है—

खड़ीबोली	पश्चिमी अवधी	पूर्वी अवधी
यह	यह	ई
वह	वह; सो, तौन	ऊ; से, ते
जो	जो	जे, जौन
कौन	को	के, कौन

(ग) क्रिया-रूप—(१) ब्रजभाषा और खड़ीबोली के समान पश्चिमी हिन्दी में तो साधारण क्रिया का नकारान्त रूप रहता है, जैसे—'आवन', 'करन', 'जान' आदि। पर पूर्वी अवधी की साधारण क्रिया के अन्त में 'ब' रहता है, जैसे 'आउब', 'करब', 'जाब' आदि।

फिर इनके आगे कारकचिह्न या दूसरी क्रिया लगने पर खड़ीबोली और ब्रजभाषा के समान पश्चिमी अवधी में नकारान्त रूप रहता है, जैसे—'आवन काँ', 'करन माँ', 'आवन लाग' आदि। पर पूर्वी अवधी में साधारण क्रिया का रूप नहीं रहता, वर्तमान का तिङन्त रूप हो जाता है, जैसे 'आवै कां', 'जाय मां', 'आवै के', 'जाय में', 'आवै लाग', 'करै लाग', 'सुनै चाहौ' आदि।

(२) करण कारक के चिह्न से पहले पूर्वी और पश्चिमी दोनों अवधी भाषाएँ भूत कृदन्त का रूप धारण कर लेती हैं, जैसे आए से, चले से, आए सन, दिए सन आदि।

(३) भूतकालिक रूपों में जहाँ खड़ीबोली में अन्त में 'या' होता है, वहाँ अवधी में 'वा' होता है। जैसे 'आवा', 'लावा', 'बनावा'। 'जाना',

'होना' के भूतकाल के रूप 'व' निकाल कर भी होते हैं—जैसे, 'गा', 'भा' आदि ।

(४) पश्चिमी अवधी में भविष्यत् काल में प्रथम पुरुष एकवचन का रूप ब्रजभाषा के समान 'है' होता है, जैसे—करिहै, सुनिहै आदि; पर पूर्वी अवधी में 'हि' रहता है, जैसे होइहि, आइहि आदि । क्रमशः इस 'हि' के 'ह' के घिस जाने से केवल 'इ' रह गया, जो पूर्व 'इ' से मिलकर 'ई' हो गया; जैसे आई, जाई, करी, खाई आदि । पर ये दोनों रूप अवधी-ग्रन्थों में एक-साथ प्रयुक्त मिलते हैं ।

(५) संयुक्त क्रिया के प्रयोग में तुलसीदास की भाषा में यह विलक्षणता है कि उन्होंने एकवचन में तो पूर्वी अवधी का रूप रखा है और बहुवचन में पश्चिमी अवधी का, जैसे कहइ लाग, कहन लागे आदि ।

उपसंहार

भक्तिकाल : एक स्वर्ण युग—

भक्तिकाल की तुलना यदि उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती कालों—आदिकाल और रीतिकाल से की जाय, तो भक्तिकाल निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ काल सिद्ध हो जाता है । कवियों की मनोवृत्ति, उनकी रचनाओं के भावपक्ष तथा कलापक्ष, संगीतात्मकता, विभिन्न काव्यरूपता, भारतीय संस्कृति के निदर्शन की क्षमता तथा भाषा को लक्ष्य में रखकर इन कालों की निम्नाङ्कित संक्षिप्त तुलना से उक्त कथन की पुष्टि हो जायगी—

(१) आदिकाल तथा रीतिकाल के कवि राजदरबारों के आश्रित कवि थे । उनकी वाणी अपने हृदय की अभिव्यक्ति के लिए नहीं, वरन् अपने आश्रयदाताओं तथा इतर दरबारी जनों के मनोरञ्जनार्थ प्रकट हुई थी, पर भक्तिकालीन भक्त जनों की वाणी स्वान्तःसुखाय प्रकट हुई । उन्हें न तो 'प्राकृत जन का गुणगान' करना अभीष्ट था और न सीकरी (राज्य-दरबारों) से सम्बन्ध स्थापित करना । उन्मुक्त और निश्छल मनोवृत्ति

से निःसृत साहित्य 'फ़रमाइशी' साहित्य अथवा किसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर निर्मित साहित्य की तुलना में अत्यधिक यथार्थ एवं हृदयहारी होता है, यह एक आनन्दप्रद सत्य है ।

(२) सन्दिग्ध अवस्था में प्राप्त होने के कारण आदिकाल की रचनाओं के भावपक्ष और कलापक्ष के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है । इधर रीतिकाल की रचनाओं का भावपक्ष अपेक्षाकृत अधिक शिथिल है और कलापक्ष अपेक्षाकृत अधिक सबल । पर उधर भक्तिकाल की रचनाओं का भावपक्ष और कलापक्ष सन्तुलित, सशक्त एवं परस्पर-पोषक है । कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, नानक आदि के अन्तरतम से निकली हुई वाणी समस्त संसार की अमर कहानी बन गई है ।

(३) भक्तिकाल की संगीतात्मकता इस युग की अमर देन है । इससे पूर्व संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में गीति-साहित्य का निर्माण हो चुका था, पर हिन्दी में सर्वप्रथम भक्तिकाल में ही इसकी अवतारणा हुई है और आगे चलकर रीतिकाल के संकुचित एवं संघुटित वातावरण में हृदय की मुक्तावस्था के इस सशक्त माध्यम का लगभग लोप-सा हो गया । वस्तुतः संगीत-काव्य के लिए सबल आत्म-विश्वास अपेक्षित है, जोकि भक्तिकालीन कवियों में कूट-कूटकर भरा था । रीतिकालीन कवि दास[1] के समान भक्तिकालीन कवि राधा-कन्हाई और सीता-राम का स्मरण किसी व्याज से नहीं करते थे । उन्हें अपने काव्य द्वारा भावी सुकवियों (सहृदयों) को रिझाना भी अभीष्ट न था और न ही उनमें किसी प्रकार के आत्म-विश्वास का अभाव ही दिखाई देता है । अतः भक्तिकाल अपूर्व संगीत-साहित्य के निर्माण के लिए उर्वरा भूमि तैयार करने का स्फूर्तिदायक युग रहा है ।

(४) विभिन्न काव्यरूपों की दृष्टि से तो भक्तिकाल असाधारण है । प्रबन्धकाव्य और मुक्तककाव्य; सूक्तिकाव्य और संगीतकाव्य; गेय नाटक

---

१. **'आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई,**
न त राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है । —काव्य-निर्णय

तथा कथा-काव्य और यहाँ तक कि गद्य-बद्ध भी कुछेक रचनाएँ इस काल में उपलब्ध हो जाती हैं। इन काव्यरूपों में से कुछेक काव्य-रूपों को छोड़कर आदिकाल तो शेष रूपों से विहीन है ही, भक्तिकाल का परवर्ती रीतिकाल भी अधिकांशत: इन्हीं रूपों से विहीन है। यह भक्ति-काल की उत्कृष्टता तथा रीतिकाल के पतन का मुख्य प्रमाण है।

(५) भारतीय संस्कृति का कोई जिज्ञासु यदि इन तीन कालों के साहित्य का अवलोकन करे, तो उसे भक्तिकाल में उसका जो स्वस्थ और यथार्थ रूप मिलेगा, वह अन्यत्र नहीं मिल सकता। सगुण-निर्गुण भक्ति, दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और आदर्श जीवन—भारतीय संस्कृति के ये सभी सबल पक्ष भक्तिकालीन साहित्य में सहज उपलब्ध हैं।

आदिकाल में कवियों ने हमें युग-पुरुषों के दर्शन कराये हैं, पर वे अपने मौलिक रूप में हमारे सामने उपस्थित नहीं हुए। अतिरञ्जनापूर्ण रूप से चित्रित होने के कारण वे इतिहास के व्यक्ति न रहकर कोरे काव्य के व्यक्ति बन के रह गये हैं। रीतिकाल में कवियों ने हमें राधा और कन्हाई के दर्शन कराने का प्रयास किया है, पर वे विलास और ऐश्वर्य में इतना निमज्जित दिखाये गये हैं कि वे सामान्य लौकिक नायक-नायिका से ऊपर नहीं उठ सके और आधुनिक पाठक के लिए अधिकांश सीमा तक घृणा के पात्र बन के रह गये हैं। पर भक्तिकालीन अधिकांश साहित्य इस प्रकार का विकृत रूप प्रस्तुत नहीं करता। तुलसी के राम और सीता तो अलौकिक और आदर्श व्यक्ति हैं ही; सूर, नन्ददास आदि के कृष्ण तथा राधा भी समग्र रूप में रीतिकालीन कृष्ण-राधा के समान असंयत नहीं हैं। वे पतितपावन बहुत अधिक हैं और लीला-विलासी बहुत कम। कुल मिलाकर भक्तिकालीन साहित्य तत्कालीन जनता का उन्नायक, प्रेरक एवं उद्धर्ता है, तथा भारतीय संस्कृति और आदर्श का सशक्त उपदेष्टा है। वह राम, श्यामसुन्दर, गिरधर गोपाल, अलखनिरञ्जन और ओंकार का स्मारक है, जो आज भी हिन्दू जन-जीवन के लिए प्रातः-स्मरणीय हैं।

(६) यदि भाषा की दृष्टि से देखें तो ब्रजभाषा और अवधी जैसी लोकभाषाओं की अपने वास्तविक तथा मधुर एवं समर्थ रूप में अवतारणा केवल भक्तिकाल में ही हो पाई है। उधर आदिकालीन साहित्यिक भाषा संक्रमण-काल की भाषा है, इधर रीतिकाल में एक तो अवधी भाषा के दर्शन नहीं होते और दूसरे ब्रजभाषा के साथ भी खिलवाड़ हुआ है। शब्दों की कलाबाज़ी के कारण उसका रूप विकृत-सा हो गया है।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के प्रथम तीन कालों में से भक्तिकाल सभी दृष्टियों से हिन्दी का 'स्वर्ण-युग' कहाने का अधिकारी है।

रीतिकाल

विक्रमी संवत् १७००—१९०० (सन् १६४३—१८४३)

परिस्थितियाँ

रीतिकाल की अवधि संवत् १७०० से १९०० अथवा सन् १६४३—१८४३ तक मानी गई है। रीतिकाल का प्रथम प्रतिनिधि कवि चिन्तामणि है, और अन्तिम कवि प्रतापसाहि। प्रथम का रचना-काल संवत् १७०० है और द्वितीय का सं० १८८० और १८९६ के बीच। इसी आधार पर रीतिकाल को उक्त दो शताब्दियों में सीमित किया जाता है। इस काल को यदि इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं से सम्बद्ध करना चाहें, तो इसका प्रारम्भिक छोर शाहजहाँ के शासन-काल (सन् १६२८–५८) को मानना चाहिए; और अन्तिम छोर दिल्ली के मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय के शासन-काल (सन् १८३७–५८) के मध्य भाग को। इन दो शताब्दियों में एक ओर उत्तरी भारत पर शाहजहाँ, औरंगजेब और उसके उत्तराधिकारियों ने राज्य किया और दूसरी ओर रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में पूर्वी भारत पर एक के बाद एक १७ अंग्रेज शासकों ने।

इसी बीच दक्षिण में मरहठों और पंजाब में सिक्खों ने तथा पूर्व में पुर्तगाली और फ्रांसीसी शक्तियों ने भी भारतीय राजनीति में भाग लिया।

उत्तर भारत के इतिहास की ये दो शताब्दियाँ चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल-साम्राज्य की अवनति के प्रारम्भ और फिर क्रमशः उसके पूर्ण विनाश की गाथाओं को प्रस्तुत करती हैं। अकबर के शासनकाल की नीति-जन्य सुखसमृद्धि और जहाँगीर के शासनकाल की प्रमाद-जन्य

शान्ति अब शाहजहाँ के शासनकाल में कलाप्रियता के साथ-साथ धीरे-धीरे विलास में परिवर्तित होने लग गई, और आगे चलकर औरंगज़ेब के उपरान्त मुग़ल-साम्राज्य के पतन के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे।

शाहजहाँ ने सिंहासनारूढ़ होने के लिए जिन बर्बरतापूर्ण अत्याचारों का आश्रय लिया था, उसके पुत्र औरंगजेब ने इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने भाइयों की निर्मम हत्या और अपने रोगी वृद्ध पिता को कारागार में डालकर अपने पिता के अत्याचारों को भी लज्जित कर दिया। औरंगज़ेब की धार्मिक असहिष्णुता उसके शासन-युग की प्रख्यात घटना है। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियों की अराजकता, कायरता और स्वेच्छाचारिता तथा आडम्बर और विलास के नग्न नृत्य ने मुग़ल-साम्राज्य की लगभग पौने दो सौ वर्ष पुरानी प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला दिया। उधर एक ओर नादिरशाह (सन् १७३९) और अहमद शाह अब्दाली (सन् १७६१) के आक्रमणों तथा दूसरी ओर मराठों और सिक्खों की वर्द्धमान शक्ति ने इस साम्राज्य की जड़ें खोखली कर दीं। परिणाम-स्वरूप देश के विभिन्न सूबों पर स्वयं मुग़ल-सम्राटों द्वारा नियुक्त सूबेदार, जिन्हें अपनी शक्ति पर विश्वास होने लग गया था, स्वेच्छाचारी और मुग़ल-साम्राज्य के विरोधी बन गये। इनमें से बंगाल, अवध, हैदराबाद और करनाटक के सूबेदार विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

इस राजनीतिक पतन को देखकर भारत में स्थित विदेशी व्यापारी-कम्पनियाँ—विशेषतः अंग्रेज़ी और फ़ांसीसी कम्पनियाँ व्यापारिक उद्देश्य से हटकर भारत पर शासन करने के स्वप्न देखने लगीं। राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के लिए उन्होंने सफल कूटनीतिज्ञों की भाँति भारतीय नवाबों और राजाओं के पारस्परिक झगड़ों में भी सहायता देनी शुरू कर दी और अन्त में अनेक संघर्षों के उपरान्त अंग्रेज़ी कम्पनी भारत पर अपना राज्य स्थापित करने में सफल हो गई, और रीतिकाल की समाप्ति-पर्यन्त—लार्ड क्लाइव से लार्ड डलहौज़ी तक—१७ अंग्रेज शासकों ने पूर्वी भारत पर शासन किया। इसी बीच मराठों, सिक्खों और टीपू सुल्तान आदि विभिन्न

भारतीय शासकों ने इस विदेशी शक्ति का प्रबल विरोध भी किया, पर अंग्रेज़ों की सत्ता और साम्राज्य-सीमा बढ़ती चली गई। यहाँ तक कि लार्ड डलहौज़ी ने मुग़ल-वंश के अन्तिम तथाकथित सम्राट् बहादुरशाह को दिल्ली का लाल किला छोड़ने पर विवश कर दिया और इस प्रकार मुग़ल-साम्राज्य का टिमटिमाता दीपक थोड़े समय बाद सदा के लिए बुझ गया।

इधर अँग्रेज़ों की कूटनीति ने भारतीय संस्कृति पर भी प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम-स्वरूप भारतीय महान् व्यक्तियों के ही प्रयास से अँग्रेज़ी भाषा के प्रति भारतीय जनता का मोह बढ़ने लगा और अन्त में अँग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम बना दी गई।[१] पर इन कूट-नीतियों और कुचक्रों के कारण भारतीय जनता के हृदय में इन शासकों के प्रति रोष, क्षोभ, अविश्वास, घृणा, विरोध और विद्रोह की आग धीरे-धीरे सुलगती रही और इस आग का भयंकर विस्फोट सन् १८५७ के भारतीय महान् विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ।

इतनी भीषण घटनाओं के घटित होते हुए भी हिन्दी के अधिकतर प्रतिनिधि कवि—चिन्तामणि (सं० १७००), मतिराम (सं० १७००), बिहारी (सं० १७००), कुलपति (सं० १७२५), देव (सं० १७५०), श्रीपति (सं० १७७५), भिखारीदास (सं० १८००), पद्माकर (सं० १८५०), प्रतापसाहि (सं० १९००) आदि—रीति-सम्बन्धी शृंगार-परक उदहरणों का ही निर्माण करते रहे। उक्त घटनाओं से नितान्त अप्रभावित रहकर वे अपने आश्रयदाताओं की विलासिता की वृद्धि में ही सहायक सिद्ध हुए। इससे बढ़कर राजनीतिक अनिष्ट और राष्ट्रविघात का रूप और क्या हो सकता है! ये कवि न औरंगज़ेब के अत्याचारों के प्रति विद्रोह की भावना प्रकट करते हैं, न नादिरशाही बर्बरता और अहमदशाह अब्दाली की क्रूरता का उन पर कुछ प्रभाव पड़ता है और न

१. रीतिकाल के अन्तिम ५० वर्षों—संवत् १८५०–१९००—के विवरण के लिए अग्रिम अध्याय देखिए।

अँग्रेज़ों के हाथ में राज्य-सत्ता के चले जाने, मरहठों और सिखों की शक्ति के क्षय होने तथा भारतीय संस्कृति के पतन का उन्हें कोई दुःख है। पूरे दो सौ वर्ष तक वे एक ही राग अलापते रहे, अपने आश्रयदाताओं को नायक-नायिका के संयोग और वियोग के गीत गा-गाकर सुनाते रहे। यदि वे चाहते तो उथल-पुथल के उस युग में उन्हें विलासिता और निष्कर्मण्यता के गर्त से निकाल कर्त्तव्यपरायणता और कर्मठता के स्वच्छ वातावरण में लाकर भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए प्रेरित करते, उनमें वीरता का संचार कर विदेशी शक्ति के फूटते हुए अंकुर को प्रारम्भ से ही उखाड़ फेंकने में सहायक सिद्ध होते, और इस प्रकार भारत का जो सुन्दर इतिहास बनता, उसका श्रेय इन्हीं कवियों को भी अवश्य मिलता। पर इस श्रेय की प्राप्ति उनके भाग्य में नहीं थी।

फिर भी, उस युग में इस साहित्य-निर्माण के पुष्ट कारण विद्यमान हैं। रीतिकालीन साहित्य के अधिकतर भाग का निर्माण भारतीय रियासतों—भरतपुर, जयपुर, मेवाड़, गढ़वाल, लखनऊ, प्रतापगढ़, चरखारी, पन्ना, बूँदी, नागपुर—आदि के शासकों के प्रासादों की चार-दीवारी में हुआ है। ये शासक उपर्युक्त भयावह राजनीतिक वातावरण से इसी आशंका के कारण जान-बूझकर नितान्त उदासीन तथा निरपेक्ष बने रहते थे कि कहीं उनकी तथाकथित 'शान्ति' में बाधा न पड़े। यह शान्ति वास्तविक शान्ति न थी—संघर्ष और कर्मण्यता से पलायन के प्रतिफल-स्वरूप एक ओर दुबककर बैठ जाने की चेतनाशून्य निरीहता थी। प्रासादों में एक प्रकार से बन्द इन शासकों के समय-यापन के लिए मनोरञ्जन की सामग्री का जुटाना परम आवश्यक था। गवैयों, भाण्डों, चितेरों आदि अनेक प्रकार के कलावन्तों के मध्य कवियों को भी प्रश्रय मिला। यह परम्परा कोई नई न थी। संस्कृत-भाषा के युग से ही पुराने अनेक प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार शासकों के आश्रय में निरन्तर पलते चले आ रहे थे और समयानुसार काव्य-निर्माण कर रहे थे। हिन्दी का आदिकाल तो इस परम्परा का स्पष्टतः सूचक है ही, भक्तिकाल भी इस

परम्परा से शून्य नहीं है। नरहरि बंदीजन, टोडरमल, बीरबल, गंग, रहीम, केशवदास आदि सभी राज्याश्रित कवि थे। पर रीतिकाल के अधिकांश शासक पूर्ववर्ती शासकों विशेषतः आदिकालीन शासकों से एक दृष्टि में भिन्न थे। पूर्ववर्ती शासकों के लिए काव्य-चर्चा राज्यकार्यभार एवं युद्धश्रान्ति से विश्रान्ति पाने का साधन मात्र थी, पर इन शासकों की दिनचर्या के लिए मनोरञ्जन ही केवल साध्य था। कविता-श्रवण भी इसी मनोरञ्जन का एक अंग था। इस काल में भी महाराज राजसिंह, छत्रसाल आदि राजपूतों तथा बुन्देलों ने मुग़ल-साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया, पर ऐसे आत्माभिमानी वीरों की संख्या बहुत ही कम थी। वस्तुतः रियासतों के सभी राजा राजपूत-युग से ही विलासी बनना प्रारम्भ हो गये थे, इधर अकबर की नीति ने इस रंग को और अधिक गहरा कर दिया। आगे चलकर मुगल-सम्राटों की विलासिता का भी इन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनकी विलासिता से ये इतने प्रभावित थे कि उनके गुणों की ओर इनका ध्यान तक नहीं गया। इनके समक्ष शाहजहाँ की कला-प्रियता, औरंगजेब के अमीरों की विलासिता और उसके उत्तरवर्ती मुहम्मदशाह जैसे रंगीले शासकों की निष्कर्मण्यता का ही आदर्श था। उन्हीं के अनुकरण पर शेरो-शायरी की महफिलें गरम रखने के उद्देश्य से इनके लिए भी यह आवश्यक हो गया कि शृङ्गार-रस के मुक्तक सुनने वालों को प्रश्रय दिया जाय। परिणामस्वरूप उत्तरी भारत की लगभग सभी रियासतों के राजा और सभासद इन कवियों की कविता-धारा में निमज्जित हो रहे थे। आगे चलकर लार्ड वैलज़ली की सहायक रीति (सब-सीडयरी सिस्टम) के दाँव ने इन्हें और भी अकर्मण्य बना दिया। इस रीति द्वारा भीतरी विद्रोहों और बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा मिल जाने के कारण उनकी विलासिता और भी अधिक बढ़ गई। इस प्रकार पूरी दो शताब्दियों तक रीतिबद्ध शृंगारिक साहित्य के पनपने के लिए तैयार भूमि मिलती रही और काव्य-चमत्कार की दृष्टि से सरस होती हुई भी वह राष्ट्रनिर्माण में सहायक सिद्ध न हुई।

निस्सन्देह उस युग में भूषण जैसा कवि भी हुआ, जिसने अपने आश्रयदाता शिवाजी को अपने वीर-गान द्वारा प्रोत्साहित किया, पर उसका कार्यक्षेत्र तत्कालीन हिन्दी-क्षेत्र से दूर दक्षिण में था। अतः उसकी वीर कविता तथा मराठा जैसी वीर जाति उत्तरी भारत के कवियों को प्रभावित न कर सकी। केवल लाल, जोधराज सूदन, चन्द्रशेखर जैसे इने-गिने कवि ही उस युग के वीर-रस के कवि हैं।

इस प्रसंग में इस काल के उत्तर भारतीय महान् व्यक्तियों—गुरु गोविन्दसिंह, बन्दा वीर वैरागी, महाराणा रणजीतसिंह आदि का नाम उल्लेखनीय है, पर इनका महान् व्यक्तित्व भी आजीविका और यशःप्राप्ति के अभिलाषी इन कवियों एवं आचार्य-कवियों को उक्त दिशा से विमुख न कर सका। इसके अतिरिक्त इन कवियों पर अंग्रेज़ी शासन द्वारा सम्पन्न परिवर्तनशीलता का प्रभाव भी नहीं पड़ा। क्योंकि तद्‌युगीन अंग्रेज़ी-शासकों का सत्ता-क्षेत्र अधिकांशतः पूर्वी भारत ही रहा, जोकि हिन्दी-क्षेत्र से पर्याप्त दूर था।

नामकरण

उक्त दो शताब्दियों में निर्मित हिन्दी-साहित्य को लक्ष्य में रखकर मिश्रबन्धुओं ने इस काल का नाम 'अलंकृतकाल' रखा है, पर यह नाम उस काल की सामान्य प्रवृत्ति का द्योतक नहीं है। वह उसके केवल बाह्य रूप का ही परिचायक है, आन्तरिक रूप का नहीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल के अधिकांश हिन्दी-साहित्य को काव्यशास्त्रीय आधार पर निर्मित देखकर इस काल का नाम 'रीतिकाल' रखा है। 'काव्यशास्त्र' के अर्थ में 'रीति' शब्द का प्रयोग वस्तुतः हिन्दी का अपना है, जिसका प्रचलन चिन्तामणि के समय से प्रारम्भ हो जाता है—

रीति सु भाषा कवित्त की बरनत बुध अनुसार।

इसी प्रकार मतिराम, देव, सुरतिमिश्र, सोमनाथ, दास, दूलह,

पद्माकर, बेनीप्रवीन, प्रतापसाहि आदि अनेक रीतिकालीन कवि-आचार्यों ने 'रीति' शब्द का प्रयोग काव्य-शास्त्रीय विधान के अर्थ में किया है।[१] आचार्य शुक्ल ने सम्भवतः इसी प्रयोग के आधार पर इस काल का नाम 'रीतिकाल' रखा है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाम से उन्हें स्वयं सन्तोष नहीं हुआ। वे लिखते हैं कि "वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे, तो कह सकता है।"[२]

इधर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस काल को रीतिकाल के स्थान पर 'शृंगारकाल' नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त समझा है। इस सम्बन्ध में उनके दो तर्क प्रमुख हैं—

(१) इस काल के कवियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—चिन्तामणि, कुलपति, बिहारी आदि रीतिबद्ध और घनानन्द, आलम, ठाकुर आदि रीतिमुक्त। रीतिबद्ध कवियों में भी अधिकांश ने लक्षण-लक्ष्यबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं और कुछेक ने लक्ष्यबद्ध। इन सभी प्रकार के कवियों की रचनाएँ मूलतः शृंगार-रस से सम्बद्ध हैं। यहाँ तक कि भूषण जैसे वीर-रस के गायक की भी प्रारम्भिक रचनाएँ शृंगार-रस की ही हैं।

(२) 'रीतिकाल' नाम देने से आलम, घनानन्द, ठाकुर और बोधा

---

१. उदाहरणार्थ—

सो विश्रब्धनवोढ यों बरनत कवि रस-रीति। —मतिराम

अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति। —देव

छन्द रीति समुझै नहीं बिन पिंगल के ज्ञान। —सोमनाथ

काव्य की रीति सिखी सुकबीन्ह सों......... —दास

कवित्त-रीति कछु कहत हौं, व्यंग्य अर्थ चित लाय। —प्रतापसाहि

२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) नवाँ संस्करण, पृष्ठ २४१।

जैसे प्रेम के उन्मत्त गायक रीतिमुक्त होने के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'रीतिकाल के अन्य कवियों' में ही स्थान पाते हैं, उन्हें प्रमुख कवियों में स्थान नहीं मिल पाता। पर 'शृंगारकाल' नाम रखने से यह बाधा दूर हो जायगी।

आचार्य मिश्र के तर्क निस्सन्देह मौलिक और नूतन हैं, पर फिर भी वे मनस्तोषक नहीं हैं। एक ओर चिन्तामणि, कुलपति आदि तथा दूसरी ओर बिहारी आदि रीतिबद्ध आचार्यों का लक्ष्य निस्सन्देह शृंगार-रस के उदाहरण प्रस्तुत करता है, पर वे 'रीति' को किसी भी रूप में नहीं भूल पाते। नायक-नायिका-भेद और अलंकारों के रूप उनके हृदय में घर कर चुके हैं और उन्हींके चौखटे में वे शृंगार-रस के उदाहरणों को 'फ़िट' करते जा रहे हैं। यदि इनका लक्ष्य केवल शृंगार-रस का उदाहरण-निर्माण होता तो वे काव्यशास्त्र की शरण न लेते, अपितु आधुनिक कवियों की भाँति बाह्य विधान-रहित मुक्त कल्पनाओं की उड़ानें उड़ाते। घनानन्द, आलम आदि की रचनाओं के समान यदि सभी रचनाएँ काव्य-शास्त्रीय बन्धन से रहित तथा बाह्य विधान-निरपेक्ष होतीं, तो इस काल का नाम 'शृंगारकाल' रखना समुचित रहता। पर शत-शत रीति-ग्रन्थों की तुलना में, जिनकी रचना राजदरबारों से बाहर सामान्य रसिकवर्ग में भी होना प्रारम्भ हो गई थी, रीति-मुक्त ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है; अतः इन ग्रन्थों के रचयिताओं को प्रमुख कवियों में स्थान देने मात्र के लिए इस काल को 'शृंगारकाल' नाम देकर युग की सामान्य प्रवृत्ति को गौण स्थान दे देना समुचित नहीं है। और फिर ये कवि भी गौण रूप से सही, नायक-नायिका-भेदों के प्रभाव से नितान्त विनिर्मुक्त नहीं हैं।

निष्कर्ष यह कि—

रीतिबद्ध आचार्य-कवियों की रचनाओं की संख्या रीति-मुक्त कवियों की रचनाओं की संख्या की तुलना में बहुत अधिक है।

दूसरे शब्दों में, उस काल के अधिकांश कवियों ने रीति-सिद्धान्तों को लक्ष्य में रखकर शृंगार-रस के उदाहरणों को निर्मित किया है, अतः

इस काल का नाम 'रीतिकाल' ही समुचित है ।

काव्य-रूप

रीतिकाल में निर्मित हिन्दी-साहित्य को प्रमुखतः दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—रीतिबद्ध और रीतिमुक्त ।

रीतिबद्ध—

रीतिबद्ध साहित्य से तात्पर्य उन ग्रन्थों से है, जो काव्यशास्त्रीय आधार पर निर्मित हैं । ये ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—लक्षण-लक्ष्यबद्ध और लक्ष्यबद्ध ।

(क) लक्षण-लक्ष्यबद्ध—लक्षण-लक्ष्यबद्ध ग्रन्थों में विभिन्न काव्यांगों का लक्षण प्रस्तुत करने के उपरान्त एक अथवा एकाधिक लक्ष्य अर्थात् उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं । इन ग्रन्थों को हम तीन रूपों में विभक्त कर सकते हैं—

(अ) रस-निरूपक ग्रन्थ, (आ) अलंकार-निरूपक ग्रन्थ और (इ) विविध काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ ।

(ख) लक्ष्यबद्ध ग्रन्थ—लक्ष्यबद्ध ग्रन्थों में कवि किसी काव्यांग का लक्षण प्रस्तुत न कर केवल लक्ष्य (उदाहरण) प्रस्तुत कर देता है, पर उसके लक्ष्य-निर्माण का आधार प्रायः किसी काव्यांग का लक्षण ही होता है । उदाहरणार्थ बिहारी, मतिराम आदि कवियों की सतसइयाँ लक्ष्यबद्ध रचनाओं के अन्तर्गत आयेंगी ।

रीतिमुक्त—

रीतिमुक्त साहित्य से तात्पर्य उन रचनाओं से है, जो काव्यशास्त्रीय आधार पर निर्मित नहीं हुई । इन ग्रन्थों में से कुछ तो रीतिकालीन वातावरण के अनुकूल हैं और कुछ प्रतिकूल ।

प्रथम कोटि की रचनाओं में घनानन्द, ठाकुर, बोधा, आलम, रसनिधि आदि के शृङ्गाररस-परिपूर्ण मुक्तक पद्य उल्लेखनीय हैं ।

द्वितीय कोटि की रचनाओं को काव्य-विधान की दृष्टि से दो रूपों में

विभक्त कर सकते हैं : प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य—

(क) प्रबन्धकाव्य—विषय की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य दो प्रकार के हैं—

(१) वीररस-विषयक—लालकवि का 'छत्रप्रकाश', जोधराज का 'हम्मीर-रासो', सूदन का 'सुजानचरित्र', चन्द्रशेखर का 'हम्मीर-हठ' आदि ।

(२) वीरेतर-रस-विषयक—सबलसिंह का 'महाभारत', ब्रजवासीदास का 'ब्रजविलास', पद्माकर का 'रामरसायन' आदि ।

(ख) मुक्तक काव्य—विषय की दृष्टि से मुक्तक काव्य भी दो प्रकार के हैं—

(१) नीति-काव्य—बेनी, वृन्द, गिरिधर, वैताल आदि की मुक्तक रचनाएँ ।

(२) भक्ति-काव्य—रीतिकाल में भी भक्तिकालीन काव्यधारा प्रवाहित होती रही, पर इसकी गति अत्यन्त मन्द थी । इस परम्परा को सजीव बनाये रखने वालों में इन भक्त-कवियों का नाम उल्लेखनीय है—

(क) सन्तकाव्य—सुन्दरदास, सभाचन्द सोंधी, निश्चलदास, ग़रीबदास, गुलाबसिंह, पलटूसाहेब, जगजीवनदास, सहजोबाई, दरिया साहब, सन्तोखसिंह आदि ।

(ख) प्रेमकाव्य—शेख नबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद, हुसैन अली, शेख निसार, नजफ़ अली, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, नसीर कवि, अली मुराद आदि ।

(ग) कृष्णकाव्य—ध्रुवदास, महाराज छत्रसाल, नागरीदास, चाचाहित वृन्दावनदास, भगवत रसिक, ब्रजवासीदास आदि ।

(घ) रामकाव्य—गुरुगोविन्दसिंह, गोकुलनाथ, महाराज विश्वनाथसिंह ।

निष्कर्ष यह कि—

(१) रीतिकाल में विभिन्न-विषयक रीतिमुक्त रचनाएँ अपेक्षाकृत बहुत कम हैं, पर इसके विपरीत शत-शत रीतिबद्ध ग्रन्थों का निर्माण हुआ ।

(२) रीतिबद्ध रचनाओं के दो प्रकार हैं—लक्षण-लक्ष्यबद्ध और

लक्ष्यबद्ध ग्रन्थ।

(३) रीतिमुक्त रचनाएँ तीन प्रकार के विषयों से सम्बद्ध हैं—वीरता, नीति और भक्ति।

(४) रीतिकालीन सभी रचनाएँ काव्य-विधान की दृष्टि से दो प्रकार की हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। मुक्तक रचनाओं की तुलना में प्रबन्ध रचनाएँ बहुत कम हैं।

रीतिबद्ध काव्य

रीति शब्द का द्विविध प्रयोग—

संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'रीति' एक प्रकार का काव्याङ्ग है। वहाँ इसका अर्थ है—'विशिष्ट पद-रचना'। इस काव्याङ्ग को वामन (९वीं शती) ने काव्य की आत्मा स्वीकृत किया है। पर आगे चलकर आनन्द-वर्द्धन के समय में ध्वनि, विशेषतः रसध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किये जाने पर अन्य काव्याङ्गों के समान 'रीति' की उक्त महत्ता नष्ट हो गई। अब वह रस की उपकारक मात्र बन गई। इस काव्याङ्ग के प्रमुख तीन भेद हैं—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। इसका निरूपण संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी के आचार्यों ने भी किया है।

हम पीछे लिख आये हैं कि 'रीति' शब्द को रीतिकालीन हिन्दी के आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है। पर उधर संस्कृत के किसी भी ग्रन्थ में इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ। भोज ने अपने ग्रन्थ 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में एक स्थान पर 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ् गतौ' धातु से स्वीकृत करते हुए इसे 'मार्ग' अथवा 'पन्थ' का पर्याय माना है। वस्तुतः काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त भी कवि को समुचित मार्ग ही दिखाते हैं। अतः इस दृष्टि से 'रीति' शब्द खींचतान कर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी पर्यायवाची माना जा सकता है।

रीतिशास्त्र की परम्परा

(क) संस्कृत में रीतिशास्त्र (काव्यशास्त्र) की परम्परा—

संस्कृत का रीतिशास्त्र विकासबद्ध सिद्धान्तों का एक अमर कोश है। दूसरी, तीसरी शती ई० पू० से लेकर सत्रहवीं शती तक इसके सिद्धान्तों में निरन्तर कभी तीव्र और कभी मन्द गतिमय विकास होता रहा। काव्य-विधान की जो अवस्था रसवादी भरत के समय में—दूसरी, तीसरी शती ई० पू० में—थी, वह अलंकार को काव्य-सर्वस्व मानने वाले भामह और दण्डी के समय—छठी, सातवीं शती ई०—में परिवर्तित हो गई। इनके अनुसार रस अलंकार का ही एक रूप बन गया। आगे चलकर नवीं शती में एक-साथ तीन प्रबल काव्याचार्यों का आविर्भाव हुआ। इनमें से वामन ने 'रीति' का समर्थन करते हुए अलंकार और रस को गौण स्थान दिया। उद्भट ने अलंकारवाद का सबल समर्थन किया और आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। इनके पश्चात् पूरे दो सौ वर्ष तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करते रहे। इनमें से धनंजय, कुन्तक और महिमभट्ट का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। परन्तु आगे चलकर मम्मट ने अपनी गम्भीर विवेचना द्वारा ध्वनि-विरोधियों का समर्थ शैली में खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि-सिद्धान्त की अकाट्य रूप से स्थापना की, और इसके प्रति आस्था उत्पन्न कर दी। यह आस्था अगली छः शताब्दियों तक—अर्थात् १७वीं शती तक—निरन्तर बनी रही। महापण्डित जगन्नाथ इस शती का ध्वनि-समर्थक प्रख्यात काव्यशास्त्री था।

(ख) हिन्दी में रीतिकाल से पूर्व रीतिशास्त्र की परम्परा—

ईसा की १७वीं शती के मध्य भाग अथवा सं० १७०० में संस्कृत की उक्त काव्यशास्त्रीय परम्परा के क्षीण होते ही इसे हिन्दी के आचार्यों ने अपना लिया। संस्कृत का अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ और हिन्दी का प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिन्तामणि—ये दोनों समकालीन थे। जगन्नाथ शाहजहाँ का सभापण्डित था और चिन्तामणि को शाहजहाँ द्वारा

पुरस्कृत किया जाना इतिहास-प्रसिद्ध घटना है।[1] पर वस्तुतः हिन्दी की यह काव्यशास्त्रीय परम्परा चिन्तामणि से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गई थी। इस एक शती में कृपाराम, सूरदास, नन्ददास मोहनलाल, रहीम, सुन्दर आदि नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी ग्रन्थों का; बलभद्र मिश्र, मुबारक, लीलाधर आदि नख-शिख सम्बन्धी ग्रन्थों का; मोहनदास, तथा सेनापति बारहमासा और षड्ऋतु-वर्णन सम्बन्धी ग्रन्थों का गोपा तथा करनेस अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण कर चुके थे। इनके अतिरिक्त केशव ने काव्य के लगभग सभी अंगों का निरूपण किया था। केशव के उपरान्त चिन्तामणि तक ५० वर्ष तक का समय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माण की दृष्टि से नितान्त निष्क्रिय समझा जाता है। परन्तु यह धारणा तब तक बनी रहेगी, जब तक इस काल में निर्मित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की उपलब्धि नहीं होती। हमारा विश्वास है कि यह परम्परा इस अन्तराल में भी विच्छिन्न नहीं हुई। हाँ, यह अलग प्रश्न है कि इस समय के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-संख्या की दृष्टि से अत्यल्प हों, तथा साधारण कोटि के भी हों, और इसी कारण काल के कराल गर्त में लुप्त हो गये हों। अस्तु! हिन्दी-काव्यशास्त्र की धारा सं० १७०० के आसपास तीव्र वेग से गतिशील हुई और सं० १९०० तक निरन्तर चलती रही। इसका प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिन्तामणि माना जाता है; क्योंकि एक तो इसी आचार्य ने केशव के समान भामह, दण्डी और उद्भट जैसे अलंकारवादियों का अनुकरण न कर आनन्दवर्द्धन और मम्मट जैसे ध्वनिवादियों का अनुकरण किया, जिनके ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा शताब्दियों पूर्व हो चुकी थी; और दूसरे, चिन्तामणि के परवर्ती विविध काव्याङ्गनिरूपक कुलपति, सोमनाथ, दास, श्रीपति, देव, प्रताप-साहि आदि प्रमुख आचार्यों ने चिन्तामणि के स्वीकृत मार्ग का अनुसरण किया।

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, जिल्द ४, मुग़ल पीरियड (वोलज़ले हेग) पृष्ठ २२१

(ग) रीतिकालीन रीतिशास्त्र की परम्परा—

पीछे लिख आये हैं कि रीतिकालीन रीतिबद्ध ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—लक्षण-लक्ष्यबद्ध और केवल लक्ष्यबद्ध। इनमें से प्रथम प्रकार के ग्रन्थ विशुद्ध 'रीतिशास्त्र' कहलाने के अधिकारी हैं। इनके प्रमुख तीन भेद हैं—रस-निरूपक ग्रन्थ, अलंकार-निरूपक ग्रन्थ और विविध-काव्याङ्ग-निरूपक ग्रन्थ। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) रस-विषयक ग्रन्थ—रस-विषयक प्रायः सभी ग्रन्थ अधिकांशतः शृंगार-रस की विविध सामग्री से परिपूर्ण हैं। इनमें शृङ्गार-रस के आलम्बन के रूप में नायक-नायिका-भेदों का विस्तृत निरूपण है, और उद्दीपन विभाव के रूप में नख-शिख, बारहमासा तथा षड्ऋतु का। कुछेक ग्रन्थों में शृङ्गारेतर रसों को भी स्थान मिला है, पर अत्यल्प मात्रा में और चलता-सा। कुछ प्रख्यात और उपलब्ध ग्रन्थों के नाम ये हैं—'सुधानिधि' (तोष), 'रसराज' (मतिराम), 'रसविलास' तथा 'सुखसागर-तरंग' (देव), 'रससारांश' तथा 'शृङ्गार-निर्णय' (भिखारीदास), 'रसप्रबोध' (रसलीन), 'जगतविनोद' (पद्माकर), 'नवरसतरंग' (बेनी-प्रवीन), और 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' (प्रतापसाहि)। इन ग्रन्थों का शास्त्रीय विवेचन अधिकांशतः भानुमिश्र-प्रणीत—'रसमंजरी' पर आधारित है।

(ख) अलंकार-ग्रन्थ—अलंकार-ग्रन्थों का निर्माण रस-ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। प्रख्यात तथा उपलब्ध अलंकार-ग्रन्थ निम्न-लिखित हैं—'भाषाभूषण' (जसवन्तसिंह), 'ललित-ललाम' तथा 'अलंकार-पंचाशिका' (मतिराम), 'शिवराजभूषण' (भूषण), 'कविकुलकण्ठाभरण' (दूलह) और पद्माभरण (पद्माकर)। इनमें से प्रायः सभी ग्रन्थ जयदेव के 'चन्द्रालोक' तथा तत्प्रभावित अप्पय्यदीक्षित के 'कुवलयानन्द' पर आश्रित हैं।

(ग) विविध-काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ—इन ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। उनमें से केवल १५ आचार्यों के १५ ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'कविकुल-कल्पतरु' (चिन्तामणि), 'रसरहस्य' (कुलपति), 'काव्य-रसायन' अथवा

'शब्द-रसायन' (देव), 'काव्य-सिद्धान्त' (सुरति मित्र), 'रसिकरसाल' (कुमारमणि), 'काव्यसरोज' (श्रीपति), 'रसपीयूषनिधि' (सोमनाथ), 'काव्यनिर्णय' (भिखारीदास), 'रूपविलास' (रूपसाहि), 'कवितारस-विनोद' (जनराज), 'साहित्य-सुधानिधि' (जगतसिंह), 'काव्यरत्नाकर' (रणवीरसिंह), 'काव्यविलास' (प्रतापसाहि), 'दलेलप्रकाश' (थानकवि) और 'फतह-प्रकाश' (रतन कवि)। इन ग्रन्थों के निर्माण में प्रायः मम्मट-प्रणीत 'काव्यप्रकाश' तथा विश्वनाथ-प्रणीत 'साहित्य-दर्पण' से सहायता ली गई है।

रीतिकालीन ग्रन्थों से पूर्व-निर्मित रीति-सम्बद्ध ग्रन्थों में केशव-प्रणीत दो ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—'रसिक-प्रिया' और 'कवि-प्रिया'। ये क्रमशः रस और विविधांग-निरूपक ग्रन्थ हैं।

रीतिबद्ध काव्य की विशेषताएँ

उद्देश्य—हिन्दी के रीति-ग्रन्थकार वस्तुतः कवि पहले थे और आचार्य बाद में। इनका प्रमुख उद्देश्य शृंगाररस-परिपूर्ण अथवा स्तुति-परक कवित्त-सवैये लिखकर अपने आश्रयदाता राजाओं से आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था, और गौण उद्देश्य उन सुकुमार-बुद्धि आश्रय-दाताओं, उनके कुमारों एवं पारिषदों को सरल रूप में कवि-शिक्षा देना। इस प्रकार ये एक साथ कवि भी थे और शिक्षक भी। कवि होने के नाते इन्होंने शृंगाररस-परिपूर्ण अथवा स्तुतिपरक लक्ष्यों (उदाहरणों) का निर्माण किया और शिक्षक होने के नाते काव्य के विभिन्न अंगों का परम्परागत लक्षण (शास्त्रीय संक्षिप्त निरूपण) प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनके रीति-ग्रन्थ इस दोहरे उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर निर्मित हुए हैं। इस सामान्य प्रवृत्ति के कुछेक अपवाद भी हैं। भूषण के अधिकांश उदाहरणों में शृंगार-रस की मृदु एवं मादक तरंगों के स्थान पर वीररस की उच्छल और उत्तेजक तरंगें हैं, पर काव्य-निर्माण के विभिन्न उद्देश्यों में से उनका कदाचित् एक उद्देश्य शिवाजी की स्तुति गाकर पुरस्कार-

प्राप्ति भी था। इस उद्देश्य के भी कुछ एक अपवाद उपलब्ध हैं। राजा जसवन्तसिंह जैसे आश्रयदाताओं को न तो स्वरचित उदाहरणों द्वारा किसी को प्रसन्न करने की चिन्ता थी, और न राजसभा-मण्डप को हर्ष-ध्वनि से गुंजाने के लिए उदाहरणों के रूप में कवित्त-सवैया प्रस्तुत करने की। संस्कृत के आचार्य जयदेव (१३वीं शती) के समान उन्होंने शास्त्रीय लक्षण और उदाहरण को एक ही छोटे-से छन्द (दोहा और सोरठा) में समाविष्ट करने का सुप्रयास किया है। इस दृष्टि से उनका भाषाभूषण विशुद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। पर ऐसे ग्रन्थ गिने-चुने ही हैं। अधिकतर ग्रन्थ उदाहरण-निर्माण की दृष्टि से ही लिखे गये हैं, और उनमें अनेकरूपता लाने के उद्देश्य से परम्परागत काव्यांगों का आश्रय लिया गया है।

सरस उदाहरण—उदाहरण-निर्माण की इस सामान्य प्रवृत्ति से एक लाभ तो अवश्य हुआ है कि सरस उदाहरणों का एक अक्षय कोष तैयार हो गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।" निस्सन्देह काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इनके अमूल्य महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर इन ग्रन्थों में उद्धृत पद्यों की संख्या इतनी अधिक है कि इन्होंने अपना अनुपात खोकर शास्त्रीय विवेचन को आच्छादित-सा कर दिया है। इस प्रकार ये ग्रन्थ, लक्षण-ग्रन्थों की अपेक्षा लक्ष्य-ग्रन्थ ही अधिक बन गये हैं।

निरूपण-शैली—हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों की निरूपण-शैली पर प्रकाश डालने से पूर्व संस्कृत के आचार्यों की निरूपण-शैली पर सामान्य प्रकाश डालना आवश्यक है—

(क) पद्यात्मक शैली—संस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया है; उदाहरणार्थ—भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित आदि के नाम उल्लेख्य हैं। भरत

ने कुछेक स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया है।

(ख) सूत्रबद्ध शैली—वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणों के लिए इन दोनों ने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली भानुमिश्र, जगन्नाथ, अकबरशाह आदि की है।

(ग) कारिकावृत्ति शैली—आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने कारिका-वृत्ति शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध हैं। उनकी व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति में है और उदाहरण पद्यात्मक हैं।

इधर हिन्दी के अधिकतर आचार्यों ने सामान्यतः प्रथम शैली को अपनाया है। वाग्भट प्रथम की निरूपण-शैली के समान शास्त्रीय विवेचन के लिए इन्होंने दोहा और सोरठा जैसे छोटे छन्दों का प्रयोग किया है और उदाहरण के लिए प्रायः कवित्त-सवैया जैसे बड़े छन्दों का। केशव, चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, भिखारीदास, दूलह, पद्माकर आदि की निरूपण-शैली यही है। जसवन्तसिंह, पद्माकर आदि आचार्यों की शैली इन आचार्यों से थोड़ी भिन्न है। इन्होंने जयदेव के समान शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण को प्रायः एक ही दोहे में समाविष्ट करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त द्वितीय शैली–सूत्रबद्ध शैली–में रचित हिन्दी का केवल एक ग्रन्थ उपलब्ध है—'श्रृंगारमंजरी'। पर यह ग्रन्थ भी मौलिक न होकर सन्त अकबरशाह-रचित संस्कृत-ग्रन्थ 'श्रृंगारमंजरी' का चिन्तामणि द्वारा प्रस्तुत हिन्दी-अनुवाद है।

तृतीय शैली–कारिकावृत्ति शैली–में कुलपति, सोमनाथ, प्रतापसाहि के ग्रन्थों को रख सकते हैं। पर वस्तुतः ये ग्रन्थ संस्कृत-आचार्यों की इस शैली के ठीक अनुरूप नहीं हैं। आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने गद्यबद्ध वृत्ति को कारिकागत शास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या का साधन बनाया है। इधर कुलपति आदि उक्त आचार्यों ने भी कुछेक स्थलों पर

गद्यबद्ध वृत्ति का आश्रय इसी उद्देश्य से लिया है, पर इनका गद्यभाग एक तो संस्कृत ग्रन्थों में प्रयुक्त गद्यभाग की तुलना में मात्रा की दृष्टि से शतांश भी नहीं है, और दूसरे, न यह परिष्कृत तथा गम्भीर विवेचनोपयोगी है और न इसमें गम्भीर विवेचन प्रस्तुत ही किया गया है। इस शैली में लिखने वाले संस्कृत आचार्यों का इन हिन्दी-आचार्यों से एक भेद और भी है कि उन आचार्यों के उदाहरण उद्धृत हैं और इनके स्वनिर्मित।

शास्त्रीय विवेचन—हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय विवेचन में कितना और क्या योग दिया है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। योगदान के दो रूप सम्भव हैं–एक यह कि इन आचार्यों ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को कहाँ तक यथार्थ रूप में रूपान्तरित किया है; और दूसरा यह कि हिन्दी-साहित्य को लक्ष्य में रखकर इन्होंने किन नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की है। अत्यन्त खेद का विषय है कि ये आचार्य दोनों दृष्टियों से असफल सिद्ध हुए हैं।

छोटे-मोटे आचार्यों की बात जाने दीजिए—रीतिकाल से पूर्ववर्ती केशव तथा रीतिकालीन चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास, देव, श्रीपति, प्रतापसाहि आदि विविधांग-निरूपक प्रमुख आचार्यों के ग्रन्थों को पढ़कर कोई भी व्यक्ति काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों से पूर्णतः और यथार्थतः अवगत नहीं हो सकता। यहाँ तक कि जिन संस्कृत-ग्रन्थों का इन्होंने आश्रय लिया है, उनके भी मूलगत भाव को इन ग्रन्थों से कोई पूर्णतः समझ नहीं सकता। इस त्रुटि के कई कारण हैं—

(क) प्रथम कारण यह कि इनका प्रमुख उद्देश्य उदाहरण-निर्माण है, न कि काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करना; हाँ उदाहरणों को वे काव्यांगों के चौखटे में अवश्य 'फ़िट' करना चाहते हैं, जिसमें अधिकतर वे सफल भी हुए हैं; पर शास्त्रीय विवेचन में वे प्रायः असफल सिद्ध हुए हैं।

(ख) दूसरा कारण यह कि दोहे जैसे छोटे छन्द में ये शास्त्रीय सामग्री को भर देना चाहते हैं। परिणामतः लक्षण कहीं अपूर्ण, कहीं अस्पष्ट और कहीं अव्यवस्थित बनकर रह गये हैं।

(ग) तीसरा कारण यह कि उन लक्षणों को सुलझाने के लिए इनके पास सशक्त गद्य के माध्यम का अभाव है। यदि यह अभाव न भी होता, तो भी विश्वासपूर्वक यह कहा जा सकता है कि वे उसका सफल उपयोग न करते—वस्तुतः शास्त्रीय विवेचन में उनकी आत्मा रमी नहीं थी।

(घ) चौथा कारण यह कि इन आचार्यों का अपना ज्ञान अपरिपक्व था। वे काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की अतल गहराई तक नहीं पहुँच पाये थे। अधिकांश आचार्य नायक-नायिका-भेद तक अपने को सीमित कर पाये हैं; बहुत हुआ तो अलंकार-निरूपण कर दिया। चिन्तामणि आदि जिन प्रमुख आचार्यों ने अन्य काव्यांगों का विवेचन किया भी है, वे भी गम्भीर चर्चा से कतरा गये हैं। उदाहरणार्थ—

काव्यलक्षण-प्रकरण में मम्मट के काव्यलक्षण पर विश्वनाथ-प्रस्तुत खण्डन को प्रतापसाहि के सिवा शायद किसी भी अन्य आचार्य ने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया। प्रतापसाहि का भी यह प्रसंग शास्त्र-असम्मत और भ्रामक है।

शब्दशक्ति-प्रकरण के अन्तर्गत तात्पर्य वृत्ति के प्रसंग में अन्विताभिधानवादी और अभिहितान्वयवादी के मत को समझाने का किसी आचार्य को साहस नहीं हुआ। कुलपति ने इस प्रसंग को अवश्य छेड़ा है, पर पाठक उसमें उलझ कर रह जाता है। इसी प्रकार व्यञ्जना-स्थापना जैसे गम्भीर प्रसंग पर भी लेखनी चलाना इनके वश में नहीं था।

रस-प्रकरण में भरत-सूत्र के चारों व्याख्याताओं के मन्तव्यों पर भी इन्होंने प्रकाश नहीं डाला। प्रतापसाहि इस मार्ग की ओर अवश्य बढ़े, पर कुछ दूर तक जाकर वे वापस मुड़ आये। जहाँ तक गये हैं, उसे भी साफ़ नहीं कर सके।

गुण-प्रकरण में गुण और अलंकार के पारस्परिक अन्तर पर कुछेक आचार्यों ने थोड़ा-बहुत प्रकाश डालने का प्रयास किया है, पर उनके द्वारा उद्भट का मत यथेष्ट रूप में प्रकाश में नहीं आ सका। लगभग यही अवस्था अन्य काव्यांग-प्रसंगों की भी है। कुछ आचार्यों ने प्राचीन

शास्त्रीय प्रसंगों में इधर-उधर नवीनता लाने का प्रयास किया है, पर उसमें भी वे प्रायः सफल नहीं हुए। उदाहरणार्थ दास का अलंकारों को विभिन्न मूल अलंकारों के अन्तर्गत विभक्त करना न पूर्णतः वैज्ञानिक है और न संगत। लगभग यही स्थिति उसके गुणों के वर्गीकरण की भी है।

रीतिकालीन विविधांग-निरूपक ग्रन्थों में एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जो 'काव्यप्रकाश' अथवा 'साहित्यदर्पण' का—जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है—पूर्ण, शुद्ध और व्यवस्थित उल्था उपस्थित कर सके। एक क्यों, यदि सभी उपलब्ध ग्रन्थों की सामग्री का संचयन करके देखा जाय, तो भी इन संस्कृत-ग्रन्थों की सामग्री उक्त रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं होती। इनके नायक-नायिका-भेद-प्रकरण निस्सन्देह विशालकाय हैं। इन्होंने भानुमिश्र और उसकी 'रसमञ्जरी' का नाम अमर कर दिया है; इनका उदाहरणपक्ष सरस, शास्त्र-सम्मत और जीवन के मार्मिक चित्रों का उद्घाटक है, पर इनका भी शास्त्रीय पक्ष दुर्बल है। ऐसा एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसमें 'रसमञ्जरी' के समान नायक-नायिका के भेदोपभेदों के अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति-दोषों से रहित लक्षण प्रस्तुत किये गये हों। यहाँ तक कि चिन्तामणि ने 'शृंगार-मञ्जरी' के शास्त्रीय पक्ष का शब्दशः अनुवाद करने का प्रयास करते हुए भी उसे नितान्त अस्पष्ट बना दिया है, जिसे मूल पाठ के बिना समझ सकना हमारे विचार में असम्भव है।

वस्तुतः काव्यशास्त्रीय विषयों का निर्वाचन करते समय इन सबके समक्ष एक ही लक्ष्य था—सरल मार्ग का अवलम्बन, एवं दुरूह समस्याओं का त्याग। यही कारण है कि गम्भीर शास्त्रार्थों से दूर रहकर इन्होंने अधिकांशतः स्थूल विषय-सामग्री तक—काव्यांगों तथा उनके स्थूल भेदोपभेदों के लक्षण एवं उदाहरण-निर्माण तक—ही अपने रीति-ग्रन्थों को सीमित रखा है। जहाँ इन्होंने सूक्ष्म और जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया भी है, वहाँ प्रायः ये असफल रहे हैं।

इस सम्बन्ध में दूसरा विचारणीय विषय है—इन्होंने हिन्दी-

साहित्य को लक्ष्य में रखकर किन-किन नवीन शास्त्रीय सिद्धान्तों की उद्भावना की है। इस सम्बन्ध में भी हमारा यही उत्तर है कि इस दिशा में इनका योगदान नहीं के बराबर है। दास का 'तुक' अलंकार हिन्दी को लक्ष्य में रखकर निर्मित हुआ प्रतीत होता है; अपने काव्य-हेतु-प्रसंग में इन्होंने हिन्दीभाषा के कवियों के उदाहरण दिये हैं; इनके दोष-प्रकरण के उदाहरणों में भी हिन्दी का ही वातावरण है। पर दो सौ वर्षों की इस रीति-परम्परा में ऐसे केवल दो-चार नवीन सिद्धान्त परिलक्षित होते हैं। नायक-नायिका-भेद-प्रसंगों में तोष, रसलीन, भिखारीदास आदि ने उद्बुद्धा, उद्बोधिता आदि ऐसे भेदों का उल्लेख किया है, जो 'रसमञ्जरी' में उपलब्ध नहीं हैं, पर इनका स्रोत भी सद्यः-उपलब्ध संस्कृत-ग्रन्थ 'शृंगारमञ्जरी' में मिल जाता है। हमारा विचार है कि इन आचार्यों के तथाकथित मौलिक सिद्धान्त मूलतः किसी-न-किसी संस्कृत-ग्रन्थ पर अवलम्बित हैं, जिनकी गवेषणा अपेक्षित है; या फिर वे अपने मूल रूप से जान-बूझकर अथवा स्वाभाविक रूप में इतने रूपान्तरित किये गये हैं अथवा हो गये हैं कि हम इन्हें मौलिक समझ लेते हैं। उदाहरणार्थ, केशव का लगभग सम्पूर्ण दोष-प्रसंग नाम-भेद के साथ मम्मट के दोष-प्रसंग पर आधारित मालूम पड़ता है। भूषण का 'भाविक छवि' अलंकार कोई नया अलंकार नहीं है, संस्कृत काव्यशास्त्र के 'भाविक' का ही एक दूसरा या प्रवर्द्धित रूप है। देव का 'छल' नामक संचारिभाव विश्वनाथ के ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में उपलब्ध नहीं है, पर भानुमिश्र के 'रसतरंगिणी' ग्रन्थ में उपलब्ध है।

वस्तुतः इनके सम्मुख संस्कृत-आचार्यों के समान लक्ष्य-ग्रन्थों को समक्ष रखकर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण करना उद्देश्य नहीं था। यदि यही उद्देश्य होता तो एक तो ये उदाहरणों का चुनाव आदिकालीन और भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य से करते, न कि अपने उदाहरणों का निर्माण करते; और दूसरे, हिन्दी-ग्रन्थों के आधार पर नवीन शास्त्रीय धारणाएँ भी प्रस्तुत करते जाते। इस प्रकार इनके ग्रन्थों में भी संस्कृत

के ग्रन्थों के समान शास्त्रीय सिद्धान्तों का क्रमिक विकास लक्षित होता। पर चिन्तामणि के दो सौ वर्ष उपरान्त भी प्रतापसाहि द्वारा प्रतिपादित मूलभूत सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है। यदि किसी आचार्य ने पूर्ववर्ती आचार्य के ग्रन्थों का अवलोकन किया भी है, तो उसके सिद्धान्तों के परीक्षण, पोषण, समालोचन, विवेचन, खण्डन-मण्डन अथवा परिवर्द्धन के उद्देश्य से नहीं, अपितु संस्कृत-ग्रन्थों का आधार ग्रहण करने से बचने, अथवा बने-बनाये रूप को अपने रूप में ढालने के उद्देश्य से। उदाहरणार्थ, प्रतापसाहि-कृत 'काव्य-विलास' अधिकांशतः कुलपति की सामग्री पर आधारित है; सोमनाथ ने अलंकार-विवेचन के लिए जसवन्तसिंह के ग्रन्थ से प्रायः सहायता ली है और भूषण ने मतिराम के ग्रन्थ से।

इस प्रकार रीतिकालीन रीतिग्रन्थ न तो संस्कृत-ग्रन्थों को समुचित रूप में प्रस्तुत करते हैं, और न नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना। इसके अतिरिक्त हिन्दी के वर्तमान काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण में भी इनका कोई योगदान नहीं है, क्योंकि आज का समालोचक संस्कृत-ग्रन्थों से सहायता ले रहा है, अथवा पाश्चात्त्य ग्रन्थों से। परन्तु फिर भी इन आचार्यों के ग्रन्थों का महत्त्व इस तथ्य में अवश्य निहित है कि वर्तमान आलोचना-शास्त्र और प्राचीन काव्यशास्त्र के बीच ये एक कड़ी हैं। यह कड़ी उस युग में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की ओर अभिरुचि का परि-पोषण करती रही है, जिसका परिणाम आधुनिक आलोचना-शास्त्र के निर्माण के रूप में हमारे समक्ष है।

कवि-परिचय

रीतिबद्ध कवि : लक्षणलक्ष्य-ग्रन्थकार

(१) चिन्तामणि

जीवन—चिन्तामणि का जन्मस्थान तिकवांपुर (ज़िला कानपुर) माना जाता है। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। भूषण और मतिराम इनके भाई बताये जाते हैं। इनका जन्म संवत् १६६६ के लगभग माना

गया है। ये बहुत दिन तक नागपुर में सूर्यवंशी भोंसला राजा मकरन्दशाह के आश्रय में रहे और उन्हीं के निर्देश से इन्होंने डिंगल ग्रन्थ की रचना की। सोलंकी राजा रुद्रशाह और दिल्ली के सम्राट् शाहजहाँ ने इनको बहुत दान दिया था। ये सोलंकी राजा वही हैं, जिन्होंने भूषण कवि को 'भूषण' की उपाधि से भूषित किया था।

रचनाएँ—चिन्तामणि के बनाये छः ग्रन्थ कहे जाते हैं—'काव्यविवेक', 'कविकुलकल्पतरु', 'काव्यप्रकाश', 'रसमंजरी', 'छन्द-विचार-पिंगल' और 'रामायण'। इनके अतिरिक्त इनका एक अन्य ग्रन्थ 'शृङ्गारमंजरी' भी उपलब्ध हुआ है, पर यह इनका मौलिक न होकर अनूदित ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ मूलतः सन्त अकबरशाह उपनाम 'बड़े साहब' द्वारा आन्ध्र भाषा में प्रणीत है। ये सन्त शाहराजा के पुत्र और गोलकुण्डा के सुलतान अबुलहसन के चिरमित्र तथा गुरुपुत्र थे। उक्त ग्रन्थ का अनुवाद फिर सम्भवतः संस्कृत में हुआ और संस्कृत-अनुवाद से चिन्तामणि ने उसकी हिन्दी-छाया प्रस्तुत की। चिन्तामणि के उक्त छः मौलिक ग्रन्थों में से केवल दो उपलब्ध हैं— 'कविकुल-कल्पतरु' और 'छन्दविचार-पिंगल'। प्रथम ग्रन्थ विविध-काव्याङ्ग-निरूपक है और द्वितीय ग्रन्थ छन्दःशास्त्र है।

'कविकुलकल्पतरु' ग्रन्थ में काव्यस्वरूप, गुण अलंकार, दोष, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद नामक काव्याङ्गों का इसी क्रम में निरूपण है। इस ग्रन्थ के निर्माण में मम्मट, विश्वनाथ, धनञ्जय, अप्पय्यदीक्षित, विद्यानाथ और भानुमिश्र के ग्रन्थ की सहायता ली गई प्रतीत होती है। ग्रन्थ का लक्षण-भाग दोहा-सोरठा छन्दों में है और उदाहरण-भाग कवित्त-सवैया छन्दों में। कुछेक स्थलों में गद्य का भी प्रयोग किया गया है। चिन्तामणि ने इस ग्रन्थ में संस्कृत-काव्यशास्त्रों से अधिकाधिक स्थूल सामग्री का संकलन करते हुए प्रायः उसे शाब्दिक अनुवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। शब्द-शक्ति, गुण-प्रकरण तथा दोष-प्रकरण के कुछेक स्थलों को छोड़कर शेष ग्रन्थ-भाग में इनकी शैली गम्भीर, विषयानुकूल एवं व्यवस्थित होने के कारण

विषय को स्पष्ट कर देने में पूर्ण सक्षम है ।

विशेषताएँ—अपने प्रकार के प्रथम हिन्दी आचार्य का यह समग्र प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है । यह ठीक है कि इनके ग्रन्थ से भावी आचार्यों ने सामग्री नहीं ली, पर विविधाङ्ग-निरूपण से सम्बद्ध जो मार्ग इन्होंने दिखाया, उसी का अनुकरण भावी विविधाङ्ग-निरूपक आचार्यों ने भी किया । यह अलग प्रश्न है कि इस श्रेणी के आचार्यों की संख्या अन्य श्रेणियों के आचार्यों की अपेक्षा बहुत कम है । चाहे हम इसे एक संयोग कह दें, पर मम्मट के आदर्श को लेकर चलनेवाले सर्वप्रथम आचार्य ये ही हैं । यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया जाय कि नायक-नायिका-भेद अथवा अलंकार-ग्रन्थों के रीतिकालीन निर्माताओं ने इनके आदर्श का अनुकरण नहीं किया । नायक-नायिका-भेद-प्रकरण में इन्होंने जिस ग्रन्थ—'रस-मंजरी' का प्रधानतः आधार ग्रहण किया, उसी का आधार कृपाराम आदि सभी पूर्ववर्ती आचार्य पहले ही ग्रहण कर चुके थे । इसी प्रकार इनके परवर्ती अलंकार-निरूपक अधिकतर आचार्यों ने इनके समान मम्मट अथवा विद्यानाथ का आदर्श न लेकर अप्पय्यदीक्षित का ही आदर्श लिया, जिसे उपलब्ध ग्रन्थों के अनुसार सर्वप्रथम जसवन्तसिंह ने अपनाया था । इस प्रकार यद्यपि सभी परवर्ती आचार्य इनके स्वीकृत आदर्श पर नहीं चले, पर विविधाङ्ग-निरूपक आचार्यों का इन्हीं के ही स्वीकृत आदर्श पर चलना इनके लिए कम गौरव की बात नहीं है । आचार्यत्व के अतिरिक्त इनका कवित्व भी कम सफल नहीं है । उदाहरणों की सरसता एवं शृंगार-रस की स्निग्धता रीतिकालीन आचार्यों की प्रमुख विशिष्टता रही है । चिन्तामणि भी इसी विशिष्टता से युक्त हैं । दो उदाहरण लीजिए—

(१)

बोलत काहें न बोल सुनें,
मधुरी बतियां मनमोहन भाखें ।
बोलें कहा, कछु चित्त में ह्वै दुख,
पित्त बढ़े कटु लागतीं दाखें ।।

(२)

ओढ़ें नील सारी घन-घटा कारी चिंतामनि,
कंचुकी किनारी चारु चपला सुहाई है।
इन्द्रबधू-जुगनू जवाहिर की जगी जोति,
बग-मुकतान माल, कैसी छबि छाई है।
लाल पीत सेत बर बादर बसन तन,
बोलत सु भृंगो धुनि-नूपुर बजाई है।
देखिबे को मोहन नवल नट-नागर को,
बरषा नबेली अलबेली बनि आई है॥

(२) जसवन्तसिंह

जीवन—महाराज जसवन्तसिंह का जन्म संवत् १६८३ में हुआ। ये मारवाड़ के प्रतापी हिन्दू राजा थे। ये बड़े वीर नरेश थे। कहा जाता है कि औरंगज़ेब को इनका सदा भय रहता था। औरंगज़ेब ने इन्हें कुछ दिनों के लिए गुजरात का सूबेदार बनाया था। वहाँ से शाइस्ताख़ाँ के साथ ये छत्रपति शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण भेजे गये थे। कहते हैं कि इस चढ़ाई में शाइस्ताख़ाँ की जो दुर्गति हुई, वह बहुत-कुछ इन्हीं के इशारे से। अन्त में ये अफ़ग़ानों पर विजय प्राप्त करने के लिए काबुल भेजे गये, जहाँ संवत् १७३५ में इनकी मृत्यु हो गई।

रचना—ये साहित्य-मर्मज्ञ, गुणज्ञ एवं उदार शासक थे; कवियों के आश्रयदाता थे। आचार्य-रूप में इनकी ख्याति का कारण इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाषाभूषण' है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ भी लिखे हैं। जैसे 'अपरोक्ष-सिद्धान्त', 'अनुभव-प्रकाश', 'आनन्द-विलास', 'सिद्धान्त-बोध', 'सिद्धान्त-सार'। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक भी लिखा है।

विवेचन—'भाषाभूषण' जयदेव-प्रणीत 'चन्द्रालोक' की संक्षिप्त शैली में लिखा गया है। जयदेव के समान इन्होंने भी एक ही दोहे में अलंकार के लक्षण तथा उदाहरण को समाविष्ट करने का प्रयास किया है। इस शैली

से यह लाभ तो अवश्य होता है कि ग्रन्थ सुखपूर्वक स्मरण-योग्य बन जाता है; पर अत्यधिक कसावट के कारण उदाहरणों में अलंकार की रूपरेखा के अतिरिक्त अन्य कोई काव्य-चमत्कार नहीं आ पाता। निस्सन्देह 'भाषा-भूषण' अपने युग का पाठ्य ग्रन्थ रहा है। सोमनाथ आदि आचार्यों ने अपने अलंकार-प्रकरण में इसी ग्रन्थ को आधार बनाया है। इसी ग्रन्थ पर सात प्राचीन टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें से वंशीधर, रणधीरसिंह, प्रतापसाहि, गुलाब कवि और हरिचरणदास की टीकाएँ प्राप्त हैं। पर इस ख्याति का प्रधान कारण ग्रन्थ की सुगम, सुबोध, संक्षिप्त शैली है, न कि काव्यसौष्ठव।

यह ग्रन्थ मुख्यतया अलंकार-ग्रन्थ है। इसमें शब्दगत और अर्थगत कुल मिलाकर १०८ अलंकारों का निरूपण है। इसके अतिरिक्त इसमें संक्षिप्त रूप से नायक-नायिका-भेद तथा हाव-भाव-वर्णन की भी चर्चा की गई है। ग्रन्थकार ने जयदेव की शैली को अपनाते हुए भी अलंकारों के लक्षण-निर्माण के लिए अप्पय्यदीक्षित के ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' की भी सहायता ली है। इससे उसकी सारग्रहण-प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। इस संक्षिप्त प्रणाली का नमूना देखिए—

द्वितीय प्रतीप—**उपमेय को उपमान तें, आदर जबै न होइ।**
गरब करति मुख को कहा, चंदहि नीकें जोइ॥

मीलित—**मीलित सोई सादृस्य तें, भेद जबै न लखाय।**
अरुन-बरन तिय-चरन पर, जावक लख्यौ न जाय॥

(३) मतिराम

जीवन—मतिराम का जन्म संवत् १६७४ में तिकवाँपुर जिला कानपुर में हुआ था। ये चिन्तामणि और भूषण के भाई कहे जाते हैं। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। इनकी मृत्यु संवत् १७७३ के लगभग हुई। बूँदी के महाराज भावसिंह, जो बड़े भावुक और कविता-प्रेमी थे, इनके आश्रयदाता थे।

रचनाएँ—मतिराम की गणना रीतिकाल के प्रमुख कवियों में की

जाती है। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें हिन्दी के नवरत्नों में स्थान दिया है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के नाम हैं—'रसराज', 'ललित-ललाम', 'अलंकार-पंचाशिका', 'मतिराम-सतसई', 'छन्द-सार', 'साहित्य-सार' और 'लक्षण-सार'। परन्तु इनकी ख्याति प्रधानतः 'रसराज' और 'ललित-ललाम' नामक ग्रन्थों के ही कारण है।

(१) **रसराज**—इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ शृङ्गार-रस-प्रधान है। इसमें नायिका के सौन्दर्य-वर्णन की कुशलता प्रशंसनीय है। उदाहरण के लिए एक पद दिया जाता है—

कुन्दन को रंगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु विलासिन्ह की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुस्कानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई॥

(२) **'ललित-ललाम' और 'अलंकार-पंचाशिका'**—ये दोनों अलंकार-ग्रन्थ हैं। इनमें केवल अर्थालंकारों को स्थान मिला है, जोकि अप्पय्यदीक्षित-कृत 'कुवलयानन्द' की शैली पर निर्मित हुए हैं। लक्षण दोहों-सोरठों में प्रस्तुत किये गये हैं और उदाहरण प्रायः कवित्त-सवैयों में। ग्रन्थ के उदाहरण-भाग में शृङ्गार-रस के मर्मस्पर्शी चित्रों की झाँकी देखने को मिलती है। एक उदाहरण लीजिए—

तेरे अंग-अंग में मिठाई औ लुनाई भरी,
मतिराम कहत प्रगट यह पाइए।
नायक के नैननि में नाइए सुधा सो, सब,
सौतनि के लोचननि लोन-सो लगाइए॥

(३) **मतिराम-सतसई**—'बिहारी-सतसई' की भाँति यह शृङ्गार-प्रधान सात सौ दोहों का ग्रन्थ है। मतिराम का विरह-वर्णन स्वाभाविक और सरस है। वे बिहारी की भाँति नायिका और विरह-ताप को लेकर खिलवाड़ नहीं करते। एक उदाहरण देखिए—

बाल अलप जीवन भई, ग्रीषम-सरित सरूप ।
अब रस परिपूरन करो, तुम घनश्याम अनूप ॥

भाषा—मतिराम की भाषा व्रज है । भाषा-सौन्दर्य की दृष्टि से मतिराम को वही स्थान प्राप्त है, जो देव, बिहारी, पद्माकर आदि कवियों को है । इनके काव्य में उल्लेखनीय विशेषता यह है कि देव-बिहारी की भाँति इनकी भाषा में कृत्रिमता नहीं आने पाई । इनकी भाषा छन्दों की भर्ती-मात्र नहीं है ।

मतिराम की रचनाओं में अलङ्कार-योजना सुन्दर, रस की सहायक तथा परिपोषक है । विषम अलङ्कार का उदाहरण देखिए—

सेत सारी ही सौं सब सौतें रंगी स्याम रंग ।
सेत सारी ही सौं रंगे स्याम लाल-रंग में ॥

निष्कर्ष यह कि—

मतिराम की समस्त रचना, उनका एक-एक पद, उनकी कवित्वशक्ति और मौलिकता का प्रमाण है । इनके सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे मार्मिक आलोचक का यह कथन अक्षरशः सत्य है—"**भारतीय जीवन से छाँटकर लिये हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं । रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की-सी चलती भाषा और सरस व्यंजना नहीं मिलती ।**"

(४) भूषण

जीवन—तिकवांपुर जिला कानपुर-निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र तथा मतिराम, चिन्तामणि तथा जटाशंकर के भाई वीर-कवि भूषण का जन्म सं० १७०० के लगभग हुआ और मृत्यु सं० १७७२ में हुई । इनका वास्तविक नाम क्या था, इसका पता अभी तक नहीं लग सका ।

चित्रकूट के सोलङ्की राजा रुद्र ने इन्हें कवि 'भूषण' की उपाधि दी थी और तभी से यह भूषण नाम से प्रसिद्ध हो गये । पहले ये अन्य अनेक राजाओं के यहाँ रहे, किन्तु अन्त में अपनी विचारधारा के समर्थक

छत्रपति महाराज शिवाजी के यहाँ जा पहुँचे। पन्ना के महाराज छत्रसाल भी इनका बहुत सम्मान करते थे। कहा जाता है कि एक बार स्वयं छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था। शिवाजी ने इनकी कविता पर प्रसन्न होकर इन्हें लाखों रुपये, कई गाँव तथा हाथी भेंट किये।

जिस समय अन्यान्य रीतिकालीन कवि शृङ्गारी परम्परा में पड़े नायक-नायिकाओं के हास-विलास के वर्णन में लगे हुए थे, भूषण और लाल जैसे कवियों का हृदय देश की करुण पुकार से गुजंरित हो उठा और उनके काव्य में वीर रस की धारा का प्रवाह बहने लगा। भूषण ने देश की स्वतंत्रता के पुजारी महापराक्रमी शिवाजी की सच्ची वीरता को अपने काव्य का विषय बनाया है। छत्रसाल की देश-प्रेम की भावना ने भी भूषण को आकृष्ट किया। उन्होंने औरङ्गज़ेब की निन्दा उनके मुसलमान होने के कारण नहीं की, प्रत्युत एक अत्याचारी शासक होने के कारण की। साथ ही शिवाजी अथवा छत्रसाल की झूठी प्रशंसा करके भी उन्होंने अपनी लेखनी का दुरुपयोग नहीं किया।

रचनाएँ—'शिवराज-भूषण', 'शिवा-बावनी' और छत्रसाल-दशक इनकी ये तीनों रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त 'भूषण-उल्लास', 'दूषण-उल्लास' तथा 'भूषण-हजारा' ये अन्य तीन रचनाएँ भी इनकी बताई जाती हैं। 'भूषण-उल्लास' नाम से एक अलङ्कार-ग्रन्थ प्रतीत होता है। इधर 'शिवराज-भूषण' में भी अलङ्कारों के लक्षण-उदाहरण हैं। अतः सम्भव है कि 'शिवराज-भूषण' को ही पहले 'भूषण-उल्लास' कहा जाता हो। 'दूषण-उल्लास' में सम्भवतः काव्यशास्त्रीय दोषों का निरूपण होगा और 'भूषण-हजारा' में इनकी रचनाएँ संकलित होंगी। 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक' इनकी फुटकर कविताओं के संकलन हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में 'शिवराज-भूषण' इनकी प्रमुख कृति है।

(१) **'शिवराज-भूषण'**—यह ग्रन्थ एक ओर रीति-ग्रन्थों की परम्परा में आबद्ध है, और दूसरी ओर वीर-काव्यों की श्रेणी में आता है। यह ग्रन्थ काव्याङ्ग-निरूपक होने के कारण निस्सन्देह रीति-ग्रन्थों की कोटि में

आता है, पर महाकवि भूषण का उद्देश्य रीति-प्रणाली के सहारे अपने चरितनायक की प्रशंसा करने तथा वीर-काव्य लिखने का भी था। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा है—

शिव चरित्र लखि यों भयो कवि भूषन के चित्त।
भाँति-भाँति भूषननि सौं भूषित करौं कवित्त॥

इस ग्रन्थ में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का निरूपण है। अलंकारों के लक्षण दोहों-सोरठों में हैं, और उदाहरण कवित्त-सवैयों में। लक्षणों के निर्माण में भूषण ने जयदेव और अप्पय्यदीक्षित के अतिरिक्त मतिराम के 'ललित-ललाम' से भी सहायता ली प्रतीत होती है। कहीं-कहीं तो शब्दावली भी एक-सी है।

भाषाशैली—भूषण की भाषा ब्रजभाषा है, परन्तु उसमें विभिन्न प्रान्तीय एवं विदेशी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। यत्र-तत्र व्याकरण एवं वाक्य-रचना की त्रुटियाँ आ गई हैं। शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी गया है। फिर भी भूषण की वर्णन-शैली इतनी प्रवाहपूर्ण और प्रभावशाली है कि एक चित्र-सा सामने खिंच जाता है। युद्ध का एक चित्र देखिए—

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा शिवाजी जंग जीतन चलत हैं।
भूषण भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी नद मद गैंवरन के रलत हैं।
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठैल पैल सैल उसलत हैं।
तारा सों तरनि धूरि धारा में लगति जिमि,
धारा पर पारा-पारावार यों हलत है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवि होने पर भी भूषण शृंगार-कर्दम में नहीं फँसे। यदि तत्कालीन अन्य कवि भी उनका अनुकरण करते तो भारत का इतिहास भी सम्भवतः कुछ और ही होता।

(५) कुलपति

कुलपति आगरा के निवासी थे। इनके पिता परशुराम मिश्र थे। प्रसिद्ध कवि बिहारी इनके मामा कहे जाते हैं। ये जयपुर के कूर्मवंशीय जयसिंह के पुत्र महाराज राजसिंह के दरबार में रहते थे। इनके बनाये पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'द्रोणपर्व', 'युक्ति-तरंगिणी', 'नखशिख', 'संग्राम-सार' और 'रसरहस्य'। इनमें से अन्तिम ग्रन्थ काव्यशास्त्र से सम्बद्ध है। इस ग्रन्थ की रचना इन्होंने अपने आश्रयदाता रामसिंह की आज्ञा के अनुसार उनके विजयमहल में की थी। ग्रन्थ का रचनाकाल कार्तिक बदी एकादशी संवत् १७२७ है।

इस ग्रन्थ में आठ वृत्तान्त हैं। शास्त्रीय प्रसंग दोहा-सोरठा में है, और उदाहरण कवित्त-सवैयों में हैं। ग्रन्थ में यत्र-तत्र गद्य का भी प्रयोग हुआ है, जिसमें अधिकतर लक्षण-उदाहरण का समन्वय मात्र दिखाया गया है, गम्भीर विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया। कुछेक स्थलों में शास्त्रीय विषय का स्पष्टीकरण भी हुआ है।

इस ग्रन्थ में काव्य-स्वरूप, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुणीभूत व्यंग्य, गुण, दोष और अलंकार—इन काव्यांगों का इसी क्रम में निरूपण प्रस्तुत किया गया है। नायक-नायिका-भेद-प्रसंग को इसमें स्थान नहीं मिला। इस अभाव का एक कारण तो मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का अनुकरण है; और दूसरा सम्भव कारण यह है कि कुलपति ने 'नखशिख' नामक एक अन्य ग्रन्थ का भी निर्माण किया है, जो वस्तुतः नायक-नायिका-भेद का ही ग्रन्थ है।

'रसरहस्य' के निर्माण में मूलतः 'काव्यप्रकाश' का आधार ग्रहण किया गया है। कुछेक स्थलों में विश्वनाथ-कृत 'साहित्यदर्पण' तथा केशव-कृत 'रसिकप्रिया' से भी सहायता ली गई है। इनकी निरूपण-शैली की विशेषता यह है कि इन्होंने चिन्तामणि के समान केवल उल्था मात्र प्रस्तुत न करके शास्त्रीय सामग्री को सुबोध एवं सरल अनुवाद के रूप में ढाल दिया है, पर वर्ण्य विषय को सुबोध बनाने के उद्देश्य से इसे गम्भीरता से भी वञ्चित

नहीं रखा गया।

इनके ग्रन्थ में कुछेक गम्भीर शास्त्रीय विषयों को भी स्थान मिला है। उदाहरणार्थ इन्होंने मम्मट तथा विश्वनाथ के काव्यलक्षणों पर आक्षेप प्रस्तुत किये हैं; शब्दशक्ति-प्रसंग में तात्पर्यार्थवृत्ति की चर्चा की है, तथा रस-निष्पत्ति-प्रसंग में अभिनवगुप्त के मत का उल्लेख किया है। निस्सन्देह इनके ये सभी स्थल न तो पूर्ण एवं सर्वांशत: मान्य हैं और न व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित हुए हैं। फिर भी इन गम्भीर प्रसंगों का उल्लेख कुलपति के गम्भीर आचार्यत्व का द्योतक है।

इन्होंने कुछेक मौलिक धारणाएँ भी प्रस्तुत की हैं। उदाहरणार्थ—विश्वनाथ के काव्यलक्षण पर इनका प्रथम आक्षेप नूतन है। काव्य-प्रयोजन-प्रसंग में काव्य द्वारा 'जगत् के राम अथवा राग के वश में' होने का उल्लेख भी नूतन है। नाटक में शान्त-रस को स्थान न देने के सम्बन्ध में इन्होंने एक नवीन कारण प्रस्तुत किया है, जिसका भावार्थ है कि नाटक बहुविषयी है और काव्य एक-विषयी; निर्वेदवासनावंत अर्थात् विरक्त पुरुष इस भय से (शान्त-रस-प्रधान भी) नाटक नहीं देखता कि कहीं कोई विषय उसके लिए विकारोत्पादक न बन जाय, अत: काव्य में तो शान्त-रस को स्थान मिलना चाहिए, पर नाटक में नहीं। संस्कृत-आचार्यों में धनञ्जय और उनके टीकाकार धनिक ने इस विषय पर प्रकाश डाला है; पर कुलपति इस सम्बन्ध में उनसे नितान्त अप्रभावित हैं। उनका उक्त कारण पूर्णत: मान्य न होते हुए भी हमारे विचार में मौलिक अवश्य है। इस ग्रन्थ में कुछेक दोष भी हैं। उदाहरणार्थ रस-दोष-प्रसंग में 'अनंगाभिधान' नामक दोष का अर्थ इन्होंने किया है—अनंग (कामदेव) का अभिधान (नाम लेना) वर्जित है। पर वस्तुत: इसका अर्थ है अनंग, अर्थात् रस के अनुपकारी किसी प्रसंग का अभिधान, अर्थात् वर्णन। पर इस प्रकार के दोषों की संख्या अत्यल्प है। इनके ग्रन्थ का अधिकतर भाग शास्त्र-सम्मत, विशुद्ध, व्यवस्थित तथा सुबोध होते हुए भी गम्भीर शैली में प्रतिपादित है। इस दृष्टि से रीतिकालीन आचार्यों में कुलपति

का स्थान अपनी विशिष्टता रखता है। इस ग्रन्थ की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है—उदाहरणों की शास्त्र-सम्मतता एवं सरसता। दो उदाहरण लीजिए—

(१)

साजि सिंगार हुलास विलास अवास तें प्रीतम बास पधारी।
देह की दीपति ऐसी लसै जेहि देखत दामिनी को टक वारी॥
आगे ह्वै जाई कै आदरि कै कर पै कर राखि लै आये मुरारी।
भैचकी हेरि हँसी विलखी तिय भीतर भौन भयो रंग भारी॥

(२)

यमुना जल संग समीर बहै रु सुधा करतें सो प्रकास कियो।
सजि चन्दन अंग चढ़ायो बनाय कपूर को अंजन नैन दियो॥
नीर गुलाब सों न्हाय पियूष-सी बातें करे ढिग ओर तियो।
वह सेज सरोजनि की परिपोटै तऊ नहिं सीतल होत हियो॥

(६) देव

जीवन—रीतिकाल के शृङ्गारिक कवियों तथा लक्षण-ग्रन्थकारों में प्रमुख महाकवि देवदत्त अथवा देव का जन्म सं० १७३० में इटावा के एक धनाढ्य ब्राह्मण परिवार में हुआ और मृत्यु ९४ वर्ष की अवस्था में सं० १८२४ में हुई।

अपने मनोनुकूल आश्रयदाता न मिलने के कारण ये विभिन्न राज-दरबारों में भटकते फिरे थे। इस पर्यटन से इनका ज्ञान व्यापक और विस्तृत हो गया था। सोलह वर्ष की आयु में ही इन्होंने 'भाव-विलास' नामक सुन्दर रीति-ग्रन्थ की रचना कर डाली थी, इसीसे अनुमान लगाया जा सकता है कि ये कितने प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे।

मुग़ल-सम्राट् औरङ्गज़ेब के पुत्र आज़मशाह तृतीय को इन्होंने अपना 'भाव-विलास' तथा 'अष्टयाम' सुनाया। गृह-युद्ध में आज़मशाह के मारे जाने पर देव को दिल्ली छोड़कर अन्यान्य आश्रयदाताओं की खोज करनी पड़ी। अन्त में उन्हें पिहानी-निवासी अकबर अलीखाँ का आश्रय

मिला। इन्हीं अकबर अलीखाँ को देव ने अपनी अनेक रचनाओं को 'सुखसागर-तरङ्ग-संग्रह' का नाम देकर समर्पित कर दिया।

रचनाएँ—इनके ग्रन्थों की संख्या कोई ७२ और कोई ५२ बताते हैं। किन्तु निम्नलिखित २७ ग्रन्थ तो प्रकाशित हो चुके हैं, शेष ग्रन्थों की अभी खोज की आवश्यकता है—

१. 'भाव-विलास', २. 'भवानी-विलास,' ३. 'जाति-विलास', ४. 'रस-विलास', ५. 'अष्टयाम', ६. 'नीतिशतक', ७. 'सुजान-विनोद', ८. 'प्रेम-तरंग', ९. 'राग-रत्नाकर', १०. 'देवचरित्र', ११. 'प्रेम-चन्द्रिका', १२. 'शब्द-रसायण', १३. 'वृक्ष-विलास', १४. 'ब्रह्मदर्शन-पच्चीसी', १५. 'तत्त्व-दर्शन-पच्चीसी, १६. 'रसानन्द-लहरी', १७. 'जगद्दर्शन-पच्चीसी', १८. 'आत्म-दर्शन-पच्चीसी', १९. 'पावस-विलास', २०. 'प्रेम-दीपिका', २१. 'राधिका-विलास', २२. 'नख-शिख-प्रेमदर्पण', २३. 'सुमिल-विनोद', २४. 'कुशल-विलास', २५. 'सुखसागर-तरंग', २६. 'देव-माया-प्रपंच नाटक' और २७. 'वैराग्य-शतक'।

इनमें से अधिकांश ग्रन्थों में एक-दूसरे ग्रन्थों से कविताएँ संकलित कर एक नये ग्रन्थ का नाम दे दिया गया है। इनकी समस्त रचनाओं में 'भाव-विलास', 'रस-विलास', 'प्रेम-चन्द्रिका' और 'शब्द-रसायण' अधिक प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट हैं। 'रस-विलास' और 'प्रेमचन्द्रिका' में उत्कृष्ट साहित्य के दर्शन होते हैं। 'भाव-विलास' और 'सुखसागर-तरंग' क्रमशः रस-भेद तथा नायिका-भेद के ग्रन्थ हैं। 'शब्द-रसायन' काव्यशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इसमें काव्यस्वरूप, शब्द-शक्ति, रस, अलङ्कार तथा छन्द आदि का विवेचन किया गया है, पर यह ग्रन्थ पूर्णतः प्रामाणिक एवं शास्त्र-सम्मत नहीं है।

इन समस्त ग्रन्थों से देव की प्रतिभा और मानसिक क्रम-विकास का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। इनके काव्य का प्रमुख विषय शृङ्गार ही रहा है। यौवन की तरंग में इन्होंने खूब शृङ्गारिक कविता लिखी थी, परन्तु आश्रयदाताओं के प्रति असन्तुष्ट रहने के कारण अन्त में इन्हें विरक्ति-सी

हो गई और यह शान्त-रस की रचना करने लगे। 'देव-माया-प्रपंच' नाटक तथा 'वैराग्य-शतक' उसी समय की रचनाएँ हैं।

भाषाशैली—देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। भाषा के सौष्ठव, समृद्धि एवं अलंकरण पर देव का विशेष ध्यान रहा है। इनकी कविता में पद-मैत्री, यमक और अनुप्रास का पर्याप्त प्रदर्शन है। भाषा में रसार्द्रता और गति कम पाई जाती है। कहीं-कहीं शब्द-व्यय अधिक और अर्थ बहुत अल्प पाया जाता है। इनकी भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है। उनका प्रकृति-वर्णन उद्दीपन रूप में अधिक प्राप्त है। ऋतु-वर्णन काव्य-परम्परा के अनुकूल निर्मित हुआ है।

बिहारी और देव की उत्कृष्टता को लेकर साहित्यिक जगत् में एक विवाद-सा खड़ा हो गया था। डॉ० श्यामसुन्दरदास के कथनानुसार देव का स्थान पाण्डित्य की दृष्टि से रीतिकाल के समस्त कवियों में आचार्य केशवदास के कुछ नीचे माना जा सकता है; और कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहरते हैं, फिर भी अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता में उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा का मिश्रण करने और सुन्दर कल्पनाओं के समावेश के कारण सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीतिकाल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है। रीतिकाल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ एवं प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इनकी रचना के कुछेक निदर्शन देखिए—

(१)

आक बाक बकति, बिथा में बूड़ि-बूड़ि जाति,
पी की सुधि आये जी की सुधि खोय-खोय देति।
बड़ी-बड़ी बार लगि बड़ी-बड़ी आँखिन ते,
बड़े-बड़े अँसुवा हिये समोय मोय देति।
कोह-भरी कुहकि, विमोह-भरी मोहि-मोहि,
छोह-भरी छितिहि करोय रोय-रोय देति।
बाल बिन बालम बिकल बैठी बार-बार,
वपु में बिरह-विष-बीज बोय-बोय देति।

(२)

खरी दुपहरी हरी-भरी-फरी कुञ्ज मंजु,
गुंज अलि-पुञ्जन की 'देव' हियो हरि जात।
सीरे नद नीर तरु सीतल गहीर छाँह,
सोवैं परे पथिक पुकारें पिकी करि जात।
ऐसे मैं किसोरी भोरी, गोरी, कुम्हिलाने मुख,
पंकज से पाँव धरा धीरज सो धरि जात।
सोहैं घनस्याम-मग हेरति हथेरी-ओट,
ऊँचे धाम वाम चढ़ि आवति उतरि जात॥

(७) श्रीपति

श्रीपति मिश्र कालपी नगर के निवासी थे। इनकी प्रसिद्ध रचना 'काव्य-सरोज' है, जिसकी रचना सं० १७७७ में हुई। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'कविकुलकल्पद्रुम', 'रससागर', 'अलंकार-गंगा', 'अनुप्रास-विनोद', 'विक्रमविलास', 'सरोजलतिका' आदि अन्य ग्रन्थ भी लिखे, जोकि अनुपलब्ध हैं। नाम से प्रतीत होता है कि इनमें से प्रथम चार ग्रन्थों का विषय काव्यशास्त्र होगा।

'काव्य-सरोज' के कारण श्रीपति की गणना प्रमुख आचार्यों में की जाती है। इस ग्रन्थ में काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, दोष, गुण, अलंकार और रस नामक काव्यांगों का निरूपण है। इनके दोष-प्रसंग की विशेषता यह है कि इसमें इन्होंने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत न कर पूर्ववर्ती हिन्दी-कवियों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से केशव के अतिरिक्त सेनापति और ब्रह्म के नाम उल्लेख्य हैं। रीतिकाल के प्रख्यात आचार्य दास के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने अपने काव्यनिर्णय में बहुत-सी बातें श्रीपति के 'काव्यसरोज' से अपना ली हैं। पर दोनों ग्रन्थों की विभिन्न निरूपण-शैली तथा शास्त्रीय धारणाओं को देखते हुए यह कथन ठीक प्रतीत नहीं होता। श्रीपति की वर्ण्य-सामग्री सुलझी हुई तथा स्पष्ट है। इनके सरस उदाहरणों में से एक नमूना लीजिए—

घूँघट उदय गिरिवर ते निकसि रूप,
सुधा सौं कलित छबि-कीरति बगारो है।
हरिन डिठौना स्याम, सुख सील बरषत,
करषत सोक अति तिमिर बिदारो है।
श्रीपति विलोकि सौति वारिज मलिन होत,
हरषि कुमुक फूलैं नंद को दुलारो है।
रंजन मदन तन गंजन विरह, विवि–
खंजन सहित चंदबदन तिहारो है।।

(८) सोमनाथ

सोमनाथ माथुर ब्राह्मण नीलकण्ठ मिश्र के पुत्र थे। ये भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। इन्हीं के लिए इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसपीयूषनिधि' की रचना सं० १७९४ में की थी। इनके बनाये अन्य ग्रन्थ हैं–'श्रृंगार-विलास', 'कृष्ण-लीलावती,' 'पंचाध्यायी','सुजान-विलास' और 'माधवविनोद'। इनमें से 'रसपीयूषनिधि' और 'श्रृंगारविलास' काव्यशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं और अभी तक अप्रकाशित हैं। 'श्रृंगारविलास' वस्तुतः स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। 'रसपीयूष-निधि' में वर्णित नायिका-भेद की सामग्री में नाममात्र का परिवर्तन करके इसे यही नाम दे दिया गया है। यह ग्रन्थ पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है।

'रसपीयूषनिधि' विविध काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ है। इसमें शास्त्रीय लक्षण अधिकांशतः दोहे अथवा सोरठे के एक दल में प्रस्तुत किये गये हैं और थोड़े स्थलों में पूर्ण छन्द में। उदाहरण के लिए अधिकतर कवित्त-सवैयों का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ में कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग किया गया है, पर उसमें शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत न किया जाकर अधिकतर लक्षण-उदाहरण का समन्वय मात्र प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में काव्यस्वरूप, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद, गुणीभूत-व्यंग्य, दोष, गुण और अलंकार के अतिरिक्त छन्द का भी निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण में सोमनाथ ने मम्मट, विश्वनाथ

और भानु मिश्र के ग्रन्थों के अतिरिक्त कुलपति के 'रसरहस्य' तथा जसवन्त सिंह के 'भाषाभूषण' से सहायता ली है।

ग्रन्थ-निर्माण का उद्देश्य सुबोध और ललित शैली में सुकुमार-बुद्धि पाठकों को काव्यशास्त्रीय आरम्भिक ज्ञान देना प्रतीत होता है। यही कारण है कि वर्ण्य सामग्री के निर्वाचन में उन्होंने सरल मार्ग का अवलम्बन किया है, तथा वे इसे अत्यन्त संक्षिप्त और किन्हीं स्थलों में अपूर्ण रूप से प्रस्तुत करते चले गये हैं। उदाहरणार्थ काव्यहेतु-प्रसंग में इन्होंने मम्मट-सम्मत 'अभ्यास' का तो उल्लेख किया है, पर शक्ति और व्युत्पत्ति का नहीं। शब्दशक्ति-प्रकरण में आर्थी-व्यञ्जना के दस वैशिष्ट्यों में से केवल चार पर प्रकाश डाला है। रस-प्रकरण में भरत-सूत्र के चार व्याख्याताओं में से केवल एक—अभिनवगुप्त के सिद्धान्त की चर्चा की है और वह भी चलती-सी। दोष-प्रसंग में केवल १६ दोषों का निरूपण किया है। इसी प्रकार नायक-नायिका-भेद-प्रसंग तथा अलंकार-प्रकरण को छोड़कर लगभग सर्वत्र यही स्थिति है। फिर भी इस ग्रन्थ का महत्त्व कम नहीं है। इसकी प्रमुख विशेषता है शास्त्रीय भाग का सरल भाषा में प्रतिपादन। उदाहरणार्थ—

काव्य-प्रयोजन—

कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति।
करै भलो उपदेस नित वह कवित्त चित चेति॥

रति-लक्षण—

इष्ट-मिलन की चाह जो रति समुझौ सो मित्त।

विभावना प्रथम—

बिना हेतु जहँ कारन सिद्ध। सो विभावना जानि प्रसिद्ध॥

इस ग्रन्थ की अन्य विशिष्टता यह है कि इसमें 'ध्वनि' और उसके अन्तर्गत रस तथा 'नायक-नायिका-भेद' जैसे विशाल प्रसंगों को छोटी-छोटी १२ तरंगों में विभक्त करके पाठक को इनकी विशालता के भय से बचा लिया गया है।

इस ग्रन्थ के उदाहरणों की सरसता का एक नमूना लीजिए—

रचि भूषन आई अलीन के संग तें,
सासु के पास बिराजि गई।
मुख चंद मऊषनि सों ससिनाथ,
सबै घर में छबि छाजि गई।
इनको पति ऐहै सबार सखी कह्यौ,
यों सुनि कै हिय लाजि गई।
सुख पाइकै, नार नबाइ तिया,
मुसक्याइ कै भौन में भाजि गई॥

(६) रसलीन

रसलीन का वास्तविक नाम सैयद गुलाम नबी था। ये बिलग्राम (ज़िला हरदोई) के रहने वाले थे। इनके बनाये दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'अंगदर्पण' और 'रसप्रबोध'। प्रथम ग्रन्थ की रचना सं० १७९४ में हुई और द्वितीय ग्रन्थ की सं० १७९८ में। 'अंगदर्पण' में अंगों का उपमा-उत्प्रेक्षा से युक्त चमत्कारपूर्ण वर्णन है। निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा इसी ग्रन्थ का ही है—

अमिय हलाहल मदभरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

'रस-प्रबोध' ग्रन्थ में नवरसों का निरूपण है। रीतिकालीन अन्य ग्रन्थों के समान इस ग्रन्थ का भी अधिकतर भाग शृंगार-रस तथा उससे सम्बद्ध नायक-नायिका-भेद-प्रसंग को समर्पित हुआ है। इसके कुछेक स्थलों में केशव-प्रणीत 'रसिकप्रिया' से भी सहायता ली गई है। इस ग्रन्थ में वर्णित उद्बुद्धा और उद्बोधिता नामक नायिका-भेदों के लिए 'शृंगार-मञ्जरी' नामक संस्कृत-ग्रन्थ को साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में आधार माना जा सकता है। रसलीन की कविता का सरस काव्य-चमत्कार देखिए—

दीपक लौं झाँपति हुतो ललन होति यह बात।
ताहि चलत अब फूल लौं विगसन लाग्यो गात ।।
सजे श्वेत भूषन बसन जोन्ह माँहि न लखाय।
पट उघरत घन बदन द्युति चमकि द्वै ज सी जाय ।।
सौतिन मुख निसि-कमल भो पिय-चख भये चकोर।
गुरुजन मन-सागर भये लखि दुलहिन मुख ओर ।।
तिय सैसब-जोबन मिले भेद न जान्यो जात।
प्रात समै निसि-द्यौस के दोउ भाव दरसात ।।
राधा-तन फूलन मिलो पातन हरि को गात।
नूपुर-धुनि खग-धुनि मिली भले बने सब सात ।।

(१०) भिखारीदास

जीवन—भिखारीदास जाति के कायस्थ थे और प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा नामक ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपालदास था। ये सं० १७६१ से सं० १८०१ तक प्रतापगढ़ के अधिपति पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपति सिंह के आश्रय में रहे।

रचनाएँ—दास ने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी चार ग्रन्थों का निर्माण किया है—'काव्य-निर्णय', 'शृङ्गार-निर्णय', 'रससारांश', और 'छन्दोर्णव-पिंगल'। इनमें से प्रथम ग्रन्थ में काव्य के विविध अंगों का निरूपण है। अगले दो ग्रन्थ रस और नायक-नायिका-भेद-विषयक हैं। चौथा ग्रन्थ छन्द:शास्त्र है। इन्होंने विष्णुपुराण भाषा का भी निर्माण किया था।

भिखारीदास की ख्याति का प्रधान कारण इनका 'काव्य-निर्णय' नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का निर्माण उक्त हिन्दूपतिसिंह के नाम पर सं० १८०३ में हुआ। इसमें २५ उल्लास हैं, जिनमें काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, रस, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, अलंकार और दोष नामक काव्याङ्गों का निरूपण है।

इस ग्रन्थ में अपरांग नामक एक उल्लास के अन्तर्गत रसवत् आदि सात अलंकारों का स्वतन्त्र रूप से निरूपण किया गया है। वस्तुतः

'अपरांग' कोई स्वतन्त्र काव्याङ्ग न होकर गुणीभूतव्यंग्य का ही एक भेद है। इसी प्रकार तुक और चित्र को भी स्वतन्त्र उल्लासों में स्थान मिला है। इनमें से चित्र तो शब्दालंकार है ही, तुक भी प्रकारान्तर से अनुप्रास नामक शब्दालंकार का एक रूप है, अतः ये दोनों भी कोई स्वतन्त्र काव्याङ्ग नहीं हैं। दास ने गुण नामक काव्याङ्ग का पृथक् निरूपण न कर उसे अलंकार का ही एक प्रकार मान लिया है, पर यह समुचित नहीं है।

इस ग्रन्थ में अलंकारों का निरूपण दो बार हुआ है—प्रथम बार 'अलंकार-मूल' नाम से ('चन्द्रालोक' की शैली में) संक्षिप्त रूप में, और द्वितीय बार 'अलंकार' नाम से विस्तृत रूप में। अलंकार-मूल से दास का तात्पर्य है—वे अलंकार, जिन पर अन्य अलंकार अवलम्बित हैं। दूसरा 'विस्तृत निरूपण' इन मूल अलंकारों के आधार पर विभिन्न उल्लासों में वर्गीकृत किया गया है, पर उनका यह वर्गीकरण पूर्णतः वैज्ञानिक एवं शास्त्र-सम्मत न होने के कारण पूर्ण रूप से मान्य नहीं है।

इस ग्रन्थ के निर्माण में इन्होंने मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित और जयदेव के ग्रन्थों की सहायता ली है, और उधर 'रससारांश' तथा 'शृङ्गार-निर्णय' के निर्माण में भानुमिश्र तथा रुद्रभट्ट के ग्रन्थों के अतिरिक्त चिन्तामणि और केशव के ग्रन्थों से भी सहायता ली है। इनके नायिका-भेदों में से कुछ भेद तो रसलीन और कुमारमणि के ग्रन्थों में भी उपलब्ध हो जाते हैं। इन समकालीन लेखकों में कौन किसका ऋणी है—यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है।

दास के काव्यनिर्णय की अपनी विशिष्टता है। इसमें कुछेक मौलिक धारणाओं को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, पर वे पूर्णतः मान्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम दास की वर्गीकरण-प्रियता उल्लेख-नीय है। उन्होंने वामन-सम्मत दस गुणों को चार वर्गों में विभक्त किया है; नायिका के स्वाधीन-पतिका आदि आठ भेदों को दो वर्गों में तथा इक्यानवे अलंकारों को बारह वर्गों में। ये वर्गीकरण दास की मौलिक

प्रतिभा के उत्कृष्ट नमूने हैं। इनमें से गुणों का वर्गीकरण तो सर्वांशतः मान्य है, और शेष दो आंशिक रूप से मान्य हैं। इन्होंने शृङ्गार-रस के सम तथा मिश्रित, सामान्य तथा संयोग और नायक-जन्य शृङ्गार तथा नायिका-जन्य शृङ्गार—ये नूतन भेद प्रस्तुत किये हैं। ये भी सभी मान्य हैं।

इन सबसे बढ़कर दास की महत्ता इस बात में है कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण करते समय इनके सम्मुख हिन्दी-भाषा का आदर्श है। ब्रजभाषा के सम्बन्ध में उनका यह कथन कि "इस भाषा में रचित रचनाओं को देखकर उनके रचयिताओं को ब्रजवासी समझ लेना उचित नहीं है," इस तथ्य का द्योतक है कि ब्रजभाषा उन दिनों ब्रजमण्डल से बाहर के भी क्षेत्र की साहित्यिक भाषा स्वीकृत हो चुकी थी और "उसमें विभिन्न-प्रदेशीय शब्दों का भी मिश्रण हो रहा था।"[1]—ब्रजभाषा के सम्बन्ध में उनका यह कथन सिद्ध करता है कि आचार्य के सम्मुख इस भाषा का भी आदर्श था। इसी प्रकार दास का काव्य-हेतु-प्रसंग हिन्दी-भाषा को लक्ष्य में रखकर निर्मित किया गया है। इनके दोष-प्रकरण में भी अधिकतर उदाहरण हिन्दी-भाषा एवं साहित्य का 'सदोष' रूप प्रस्तुत करते हैं। 'तुक' नामक काव्याङ्ग भी हिन्दी-कविता की निजी विशिष्टता है।

निस्सन्देह उक्त सभी धारणाएँ एवं मौलिकताएँ पाठक के हृदय में दास के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर देती हैं, पर इनके ग्रन्थों में उपलब्ध सदोष एवं अपूर्ण प्रसंग उस श्रद्धा की क्षति भी करते हैं। उदाहरणार्थ, इनके विविधाङ्ग-निरूपण ग्रन्थ में 'काव्य का लक्षण' जैसे महत्त्वपूर्ण विषय की चर्चा नहीं की गई। शब्दशक्ति-प्रकरण में संकेत-ग्रह, उपादान लक्षणा तथा अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के प्रसंग शिथिल हैं। गूढ़ और अगूढ़

---

१. (क) **ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो।**
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानीहू से जानिये।

(ख) **तुलसी गंग दुऔ भये, सुकविन के सरदार।**
इनकी काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥

व्यंग्यों को भी यथोचित स्थान नहीं मिला। इनके ध्वनि-प्रकरण में परम्परा का उल्लंघन भी है, विषय-सामग्री का अपूर्ण निरूपण भी तथा भाषा-शैथिल्य के कारण शास्त्रीय सिद्धातों का अपरिपक्व विवेचन भी। इसी प्रकरण में इन्होंने 'स्वयंलक्षित व्यंग्य' नामक एक नवीन ध्वनि-भेद का भी उल्लेख किया है, पर न इसका स्वरूप स्पष्ट हो पाया है और न इसके उपभेदों का। इनका गुणीभूतव्यंग्य प्रकरण भी अधिकांशतः अव्यवस्थित है। रस-प्रकरण में करुण और करुण-विप्रलम्भ का अन्तर स्पष्ट नहीं हो सका। नायक-नायिका-भेद प्रकरण में स्वकीया की रक्षिताओं के बीच स्थापना तथा इसके 'अनूढा' नामक भेद की स्वीकृति युक्तिसंगत नहीं है। गुण-प्रकरण में इनका 'पुनरुक्तिप्रकाश' नामक नया गुण भी हमारे विचार में गुणत्व का अधिकारी नहीं है।

इस प्रकार मौलिक उद्भावनाओं तथा सदोष एवं अपूर्ण प्रसंगों से परिपूर्ण इनके तीनों ग्रन्थ एक विचित्र प्रकार का भाव पाठक के हृदय में अंकित कर देते हैं। इतना सब होते हुए भी विविधाङ्ग-निरूपक ग्रन्थों में केशव की 'कविप्रिया' के बाद दास का 'काव्यनिर्णय' ख्याति-लब्ध रहा है—इसका प्रधान कारण दास की मौलिक उद्भावनाएँ ही हो सकती हैं। इधर काव्य-चमत्कार की दृष्टि से भी दास किसी भी रूप में कम नहीं हैं। निदर्शन के लिए इनके दो पद्य लीजिए—

(१)

आनन है अरबिंद न फूले,
अलीगन भूले कहा मँडरात हौ।
कीर तुम्हें कहा बाय लगी,
भ्रम बिम्ब के ओठन को ललचात हौ।
दास जू ब्याली न बेनी बनाव है,
पापी कलापी कहा इतरात हौ।
बोलती बाल न बाजती बीन,
कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ॥

(२)

भावी भूत वर्तमान मानवी न होइ ऐसी,
देवी दानवीन हूँ सो न्यारो एक डौरई।
या बिधि की बनिता जो बिधना बनायो चहै,
दास तौ समुझिए प्रकासै निज बौरई।
कैसे लिखे चित्र को चितेरो चकि जात लखि,
दिन द्वैक बीते दुति औरै और दौरई।
आज भोर औरई पहर होत औरई है,
दुपहर औरई रजनि होत औरई॥

(११) पद्माकर

जीवन—पद्माकर बांदा (उत्तर प्रदेश) के निवासी तैलंग ब्राह्मण मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म-संवत् १८१० है। इनकी मृत्यु संवत् १८६० में गंगा के तट पर कानपुर में हुई। भारत के अनेक राव-राजाओं द्वारा इनका पर्याप्त सम्मान हुआ और इन्होंने अनेक ग्रन्थ उन आश्रयदाताओं के नाम पर लिखे। सितार के महाराज रघुनाथ राव या राघोबा, पन्ना के महाराज हिन्दुपति, जयपुर-नरेश प्रतापसिंह तथा उनके पुत्र महाराज जगतसिंह, सुगरा के नोने अर्जुनसिंह, गुसाईं अनूपगिरि उप-नाम हिम्मतबहादुर, उदयपुर के महाराणा भीमसिंह, ग्वालियर-नरेश दौलत राव सिन्धिया और बूँदी-नरेश आदि अनेक राजा-महाराजाओं ने इन्हें अपना राजगुरु एवं राजकवि मानकर प्रचुर मात्रा में धन और सम्मान दिया।

रचनाएँ—इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिम्मत-बहादुर-विरुदावली', 'जग द्विनोद', 'पद्माभरण', 'प्रबोध-पचासा', 'गंगालहरी' और 'राम-रसायन' माने जाते हैं।

'हिम्मत-बहादुर-विरुदावली' में हिम्मतबहादुर की वीरता का ओजस्वी वर्णन है। 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' क्रमशः शृंगार-रस तथा अलंकार के सुन्दर ग्रन्थ हैं। 'राम-रसायन' तुलसीदास जी की दोहा-चौपाई-शैली पर लिखा हुआ रामचरित-सम्बन्धी ग्रन्थ है। अपनी अन्तिम अवस्था में

इन्होंने 'प्रबोध-पचासा' तथा 'गंगा-लहरी' नामक वैराग्य व भक्तिपूर्ण काव्यों की रचना की थी।

भाषाशैली—पद्माकर की भाषा ब्रजभाषा है। शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग तथा विशुद्ध मधुर पदावली इन्हें रीतिकालीन बिहारी आदि महाकवियों की पंक्ति में ला बिठाती है। इनके कवित्त-सवैये देव की रचना की तुलना करते हैं। भाषा की अनुप्रासमयता पर विशेष बल देने के ये अभ्यासी न थे, फिर भी यत्र-तत्र ऐसा स्वरूप देखने को मिल जाता है। इन्होंने रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति शब्दों में तोड़-मरोड़ करके भाषा को कृत्रिम रूप देने का प्रयत्न भी नहीं किया। इनकी रचना में कोमलकान्त-पदावली तथा सरस भावनाओं का मणि-कांचन-संयोग स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

पद्माकर के कवित्त जैसे ओजपूर्ण होते थे, वैसे ही वे इन्हें पढ़ते भी ओजपूर्ण रीति से थे। कहते हैं कि इनकी ख्याति सुनकर ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिन्धिया की इनसे मिलने की प्रबल इच्छा हुई। पद्माकर उस समय कुष्ट-रोग से ग्रस्त थे। महाराज को मंत्रियों ने शास्त्राज्ञा बताई कि कोढ़ी आदि रोगियों को राजा के लिए देखना निषिद्ध है। महाराज की इच्छा प्रबल थी, अतः पद्माकर और राजा के बीच एक पर्दा डालने की व्यवस्था की गई। किन्तु जब पद्माकर ने अपने भड़कीले कवित्त महाराज की प्रशंसा में सुनाने आरम्भ किये तो महाराज से न रहा गया और उन्होंने पर्दे को एक ओर हटाकर पद्माकर को गले से लगा लिया।

कहा जाता है कि 'गंगालहरी' नामक ग्रन्थ पद्माकर का कोढ़ी अवस्था में लिखा ग्रन्थ है। यह प्रसिद्ध है कि गंगा की स्तुति में कवित्तों को कहते रहने पर, इनका कुष्टरोग सर्वथा जाता रहा।

संक्षेप में पद्माकर के काव्य की विशेषताएँ हैं, उत्कृष्ट कल्पना की उड़ान, विषय-विवेचन की विशुद्धता और कोमलकान्त मधुर पदावली तथा शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग। इन्हीं गुणों के कारण ही पद्माकर की रीतिकाल के प्रमुख कवियों में गणना की जाती है। इनकी रचना के कुछेक

नमूने देखिए—

> घर ना सुहात ना सुहात बन-बाहर हूँ,
> बाग ना सुहात जे खुशाल खुशबोही सों।
> कहै पदमाकर घनेरे धन धाम त्यों ही,
> चंद ना सुहात चाँदनी हूँ जोग जोही सों।
> साँझ ना सुहात ना सुहात दिन माँझ कछू,
> ब्यापी यह बात सो बखानत हौं तोही सों।
> राति न सुहात न सुहात परभात आली,
> जब मन लागि जात काहू निरमोही सों॥

(१२) प्रतापसाहि

जीवन—प्रतापसाहि बुन्देलखण्ड-निवासी रतनेस बन्दीजन के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता चरखारी (बुन्देलखण्ड) के महाराज विक्रमसाहि थे। 'शिवसिंह-सरोज' के अनुसार ये कवि महाराज छत्रसाल परनापुरन्दर के यहाँ भी रहे थे। इनका रचना-काल सं० १८८० से १९०० तक माना जाता है।

रचनाएँ—इनके द्वारा रचित ये ग्रन्थ कहे जाते हैं–'जयसिंह-प्रकाश', 'शृंगारमंजरी', 'व्यंग्यार्थकौमुदी', 'शृंगार-शिरोमणि', 'अलंकार-चिन्तामणि', 'काव्यविनोद' और 'जुगल-नखशिख'। इनके अतिरिक्त अपने 'काव्य-विलास' ग्रन्थ में इन्होंने 'रसचन्द्रिका' ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। 'जयसिंह-प्रकाश' को छोड़कर शेष सभी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्रतीत होते हैं। इनमें से केवल दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'काव्यविलास' और 'व्यंग्यार्थकौमुदी'। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'भाषा-भूषण' (जसवन्तसिंह-कृत), 'रसराज' (मतिराम-कृत), 'नखशिख' (बलभद्र-कृत) और 'सतसई' (सम्भवत: बिहारी-कृत)—इन ग्रन्थों की टीकाएँ भी लिखी हैं।

व्यंग्यार्थकौमुदी–इस ग्रन्थ की रचना संवत् १८८२ में हुई थी। इसके दो भाग हैं—मूलभाग और वृत्तिभाग। लगभग सम्पूर्ण मूलभाग में इन्होंने भानुमिश्र के नायक-नायिका-भेदों को लक्ष्य में रखकर उदाहरण प्रस्तुत

किये हैं; और गद्यबद्ध वृत्तिभाग में प्रत्येक उदाहरण से सम्बद्ध नायक-भेद अथवा नायिका-भेद का तथा शब्दशक्ति और अलंकार के भेद का निर्देश करके इन भेदों के सामान्य-परिचयात्मक लक्षण भी प्रस्तुत कर दिये हैं। इस प्रकार वृत्तिभाग से समन्वित यह एक लक्षण-ग्रन्थ है और इसके बिना मूलतः लक्ष्य-ग्रन्थ। निस्सन्देह यह अपने प्रकार का विचित्र प्रयोग है। सम्भव है ऐसे ग्रन्थ उस युग में अन्य भी लिखे गये हों। लगभग इसी आदर्श पर लिखित राव-गुलाबसिंह-प्रणीत 'बृहद् व्यंग्यार्थकौमुदी' नामक प्रकाशित ग्रन्थ हमारे देखने में आया है। स्पष्ट है कि प्रतापसाहि का उक्त ग्रन्थ मूलतः ध्वनि तथा व्यंग्यार्थ का विवेचक ग्रन्थ नहीं है, जैसा कि लगभग सभी हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने माना है।

काव्य-विलास—इसका निर्माण सं० १८८६ में हुआ। यह विविध काव्यांग-निरूपक ग्रन्थ है। इसमें काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुणीभूत व्यंग्य, गुण और दोष का निरूपण है। इसमें नायक-नायिका-भेद और अलंकारों का निरूपण नहीं है। इसमें यत्र-तत्र गद्य का भी प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही काव्यलक्षण-प्रसंग के अन्तर्गत भीषण भ्रान्तियों को देखकर ग्रन्थकार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, पर आगे वस्तुस्थिति लगभग सँभल जाती है। आगामी प्रकरणों में जो अशुद्ध विवेचन हैं, वे इतने भ्रामक नहीं हैं। उदाहरणार्थ—शब्द-शक्ति-प्रकरण में संकेतग्रह-प्रसंग भ्रमपूर्ण है। लक्षणामूला व्यंजना के भेद अशास्त्रीय हैं। लक्षणा के भेदोपभेदों की गणना शिथिल है। दोष-प्रकरण में च्युतसंस्कृति, सन्दिग्ध, विरुद्धमतिकृत, अपुष्ट आदि दोषों के लक्षण अथवा उदाहरण अशुद्ध हैं। इसी प्रकार इनका गुण-प्रकरण भी नितान्त शिथिल एवं अव्यवस्थित है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में नाम-मात्र के लिए भी कोई मौलिकता नहीं है। निस्सन्देह इस ग्रन्थ का अधिकतर भाग शास्त्रसम्मत है, पर पद्य एवं गद्य-भाषा की असमर्थता इन्हें स्पष्ट करने में नितान्त अनुपयुक्त सिद्ध हुई है। ग्रन्थ के अधिकांश भाग में किसी संस्कृत के आचार्य का आधार न ग्रहण कर कुलपति का

आधार ले लेना लेखक में आत्मविश्वास के अभाव का सूचक है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रीय विषय से ये अवगत अवश्य थे, क्योंकि इनके अधिकांश उदाहरण शास्त्र-सम्मत एवं विशुद्ध हैं। ये उदाहरण काव्य-सौष्ठव से भी पूर्ण हैं। इनके दो पद्य लीजिए—

(१)

मनिमय मन्दिर के आँगन अनोखी बाल,
बैठी गुरु लोगन में सोभा सरसाइ कै।
गरक गुलाब नीर, अरक उसीरन के,
राखे उन ओरन सुगंध बगराइ कै।
कहै परताप पिय नैन के इसारतनि,
सारति जनाई मुख मृदु मुसक्याइ कै।
बोली नहिं बोल कछु सुन्दरि सुजान रही,
पुण्डरीक-सुमन सोहायो दिखराइ कै।।

(२)

तड़पै तड़िता चहुँ ओरन ते,
छिति छाइ समीरन की लहरें।
मदमाते महा गिरिशृंगन पै,
गन मंजु मयूरन के कहरें।
इनको करनी बरनी न परै,
मगरूर गुमानन सों गहरें।
घन ये नभ-मंडल में छहरैं,
घहरैं कहूँ जाय, कहूँ ठहरें।।

रीतिबद्ध ग्रन्थों की परम्परा

रीतिबद्ध ग्रन्थ लिखने की यह परम्परा रीतिकाल के उपरान्त भी चलती रही। रूप-विधान तथा विषय-निर्वाह की दृष्टि से अनेक ग्रन्थ रीतिकालीन आदर्शों पर भी निर्मित हुए। उदाहरणार्थ नन्दराम-कृत

'शृंगार-दर्पण' (सं० १९२९); लेखराज-कृत 'रसरत्नाकर' (सं० १९३०); लच्छिराम-कृत 'कमलानन्द-कल्पतरु' (सं० १९४०); मुरारीदान-कृत 'जसवन्तसिंह-भूषण' (सं० १९५०); जगन्नाथप्रसाद भानु-कृत 'काव्य प्रभाकर' (सं० १९६७); और बिहारीलाल भट्ट कृत 'साहित्य-सागर' (सं० १९९४) आदि। पर आगे चलकर प्राचीन आदर्श की लेखन-परिपाटी मन्द-सी पड़ गई। धीरे-धीरे इसका स्थान नवीन-से-नवीनतर परिपाटी ने ले लिया—इस दिशा में सीताराम शास्त्री-कृत 'साहित्य-सिद्धान्त', लाला भगवानदीन-कृत 'अलंकारमञ्जूषा', कन्हैयालाल पोद्दार-कृत 'काव्य-कल्पद्रुम' के अतिरिक्त श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय, नगेन्द्र आदि के ग्रन्थों के तथा लेखों के नाम उल्लेखनीय हैं।

रीतिबद्ध कवि : लक्ष्य ग्रन्थकार

(१) बिहारी

जीवन—रीतिकाल के सर्वाधिक जनप्रिय कवि और उत्कृष्ट काव्य-कला के शिल्पी महाकवि बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर राज्य के बसुआ गोविन्दपुर नामक स्थान में माथुर चौबे केशोराय के यहाँ संवत् १६६० में हुआ था और मृत्यु सं० १७२० में मथुरा में हुई। इनकी बाल्यावस्था बुन्देलखण्ड में बीती। युवावस्था में कुछ वर्षों तक ये जयपुर के राजा मिर्ज़ा जयशाह के आश्रय में रहे, तदनन्तर अपनी ससुराल मथुरा में जा बसे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध आचार्य कवि केशवदास इनके कविता-गुरु थे। बिहारी में प्रतिभा थी। केशवदास के शिष्यत्व में थोड़ा समय रहने पर उनकी प्रतिभा और भी निखर उठी। तत्पश्चात् बिहारी गुरुबाबा नरहरिदास के पास साहित्य का अध्ययन करते रहे।

बिहारी के पिता केशोराय बाबा नागरीदास के अनन्य भक्त थे। अपनी पत्नी के देहावसान के पश्चात् तो वे उन्हीं के समीप यमुना के कछार में कुटी बनाकर रहने लगे थे। बाबा नागरीदास के कहने से ही बिहारी की बहिन का विवाह हरिकृष्ण मिश्र के साथ कर दिया गया। कालान्तर में इन्हीं हरिकृष्ण मिश्र से हिन्दी के उद्भट विद्वान् कुलपति

मिश्र का जन्म हुआ।

बिहारी अपने पिता के विरक्त हो जाने पर अपनी ससुराल मथुरा में रहने लगे थे और यदा-कदा उनसे मिलने के लिए नागरीदास के पास जाया करते थे। बाबा नरहरिदास भी भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन में आकर बाबा नागरीदास के साथ ही रहने लगे थे। नरहरिदास एक वीतराग और त्यागी महात्मा थे। उनकी साधुता की प्रशंसा सुनकर तत्कालीन मुगल-सम्राट् जहाँगीर उनसे मिलने आये। सौभाग्यवश बिहारी भी उस समय वहाँ उपस्थित थे। नरहरिदास ने अपने प्रिय शिष्य बिहारी का सम्राट् जहाँगीर से परिचय करा दिया। इस प्रकार बिहारी को मुगल-दरबार का आश्रय मिला। जहाँगीर के पुत्र शाहजहाँ ने उन्हें आगरा बुला लिया। वहीं पर बिहारी का परिचय हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानाखाना से हुआ। रहीम बड़े गुणग्राही तथा कवियों के लिए कल्पतरु थे। कहा जाता है कि उन्होंने बिहारी के एक दोहे पर मुग्ध होकर उन्हें स्वर्ण मुद्राओं से ढक दिया था।

शाहजहाँ की कृपा से बिहारी को कई राजाओं से वार्षिक वृत्ति मिलती थी। नूरजहाँ के कुचक्र में फँसकर जब शाहजहाँ को आगरा छोड़ना पड़ा तो बिहारी को भी अन्यत्र जाने के लिए विवश होना पड़ा। उनके निम्नोक्त प्रसिद्ध दोहे के सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब बिहारी जयपुराधीश राजा जयसिंह से एक बार अपनी वार्षिक वृत्ति लेने गये तो राजा अपनी नव-विवाहिता पत्नी के प्रेम-पाश में फँसकर राज्यकार्य से भी विमुख था। बिहारी ने मालिन के द्वारा यह दोहा—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यौ आगे कौन हवाल॥

लिखकर महाराज के पास भिजवा दिया। मोह-पाश से मुक्त होकर राजा ने बिहारी से ऐसे ही और दोहे बनाने का आग्रह किया। फलस्वरूप 'सतसई' के सात सौ दोहों की रचना हुई और प्रत्येक दोहे पर बिहारी को एक अशर्फी पुरस्कार में मिलने लगी।

रचना—बिहारी की रचना परिमाण में अत्यन्त स्वल्प—सात सौ छब्बीस दोहे मात्र—है, और इसी 'सतसई' पर बिहारी की ख्याति आधारित है। इस ग्रन्थ की सर्वाधिक लोकप्रियता तथा महत्ता इसी से स्पष्ट है कि इसकी बीसियों टीकाएँ, आलोचनाएँ, प्रत्यालोचनाएँ आदि हो चुकी हैं। लिखने की आवश्यकता नहीं कि 'सतसई' एक मुक्तक काव्य है। मुक्तकों में कोई क्रम नहीं होता। इसीलिए 'बिहारी-सतसई' का भी कोई निश्चित क्रम नहीं है। कहा जाता है कि सर्वप्रथम औरंगज़ेब के पुत्र आज़मशाह ने इसे क्रमबद्ध कराया था और वह क्रम 'आज़मशाही' क्रम से विख्यात है।

बिहारी ने अपनी रचना के लिए दोहा जैसा छोटा छन्द चुना, जिसमें शब्दों का नपा-तुला प्रयोग हो सकता है। इतने पर भी इन दोहों में कितनी मादकता, कितना व्यंग्य, कितना चुटीलापन और कितनी तीव्रता है, वह देखते ही बनता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मुक्तक काव्य के लिए आवश्यक सभी गुण बिहारी की रचना में चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हैं।

बिहारी-सतसई लक्षण-रहित रीति-ग्रन्थ है। इसमें लगभग सभी प्रमुख-काव्याङ्गों के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सभी के उदाहरण 'गागर में सागरवत्' उनकी सतसई में उपलब्ध हैं। शब्द-शक्तियों के भी सुन्दर उदाहरण उसमें मिलते हैं। नायिका-भेदों के उदाहरणों का तो यह अपूर्व भण्डार है।

यद्यपि बिहारी ने पृथक् रूप से कोई लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखा परन्तु इनकी सतसई शृङ्गार-सम्बन्धी सम्पूर्ण विभाव, अनुभाव, संचारी भाव तथा हावादि के सुन्दर उदाहरणों से परिपूर्ण है। वे मूलतः शृङ्गार के कवि हैं। उन्होंने शृङ्गार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—के चित्र उपस्थित किये हैं। इनमें संयोग शृङ्गार के चित्रों की प्रधानता है, जोकि अद्भुत काव्य-सौन्दर्य से पूर्ण हैं।

बिहारी प्रतिभाशाली कवि होने के साथ-साथ विभिन्न विषयों के ज्ञाता

भी थे। इनके अनेक दोहों में ज्योतिष, राजनीति, वैद्यक, सांख्य-शास्त्र, वेदान्त विज्ञान आदि विभिन्न ज्ञानों का कलापूर्ण रीति से प्रयोग हुआ है; पर इस प्रयोग से वे इन विषयों के प्रकाण्ड पण्डित नहीं मालूम होते।

इतना सब कुछ होने पर भी बिहारी सर्वथा मौलिक नहीं हैं। उन्होंने अधिकांश विचार संस्कृत की मुक्तक रचनाओं से लिये हैं जिनमें से 'अमरूकशतक', 'गाथासप्तशती', 'आर्यासप्तशती' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त उनकी व्यंजना-शैली पर फ़ारसी-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। फिर भी बिहारी में कल्पना का अभाव नहीं है। वे उन विचारों को नूतन रूप में हिन्दी-रीतिकालीन वातावरण में ढालना खूब जानते हैं।

भाषा-शैली—बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना सुव्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों ने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा तथा विकृत कर दिया है पर बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है।

बिहारी की सतसई से पूर्व भी कुछेक सतसइयों का निर्माण हुआ और बिहारी के पश्चात् तो एक परम्परा-सी ही चल पड़ी। इनमें से कुछेक के नाम ये हैं—'मतिराम-सतसई', 'वृन्द-सतसई', रसनिधि का 'रतन-हज़ारा'[1] 'विक्रम-सतसई' तथा आधुनिक काल में श्री वियोगी हरि की 'वीर-सतसई', श्री दुलारेलाल की 'दुलारे-दोहावली', श्री रामेश्वर 'करुण' की 'करुण-सतसई' तथा श्री तुलसीराम शर्मा की 'श्याम-सतसई' आदि। पर इनमें से लोकप्रियता की दृष्टि से 'बिहारी-सतसई' अग्रगण्य है। बिहारी के दोहों के भाव मतिराम, देव, रसखान आदि कवियों ने लिये और उनके आधार पर अपने कवित्त और छप्पय रचे, पर उनमें उतने तीव्र भाव न आ सके, जो बिहारी ने छोटे-से दोहों में भर दिये

१. यह सतसई की परम्परा पर ही लिखा गया है।

थे। निस्सन्देह बिहारी ने भी किसी के भावों का अनुकरण किया पर उनमें नई रंगत इनकी अपनी है। पर इधर अन्य जिसने भी बिहारी का अनुकरण किया वह उनकी छाँह तक भी न छू सका।

बिहारी की काव्य-प्रतिभा बहुमुखी थी। वह काव्य-कला से भी पूर्णतया परिचित थे। उनका एक भी दोहा ऐसा नहीं है जो अलंकार-शून्य हो। उदाहरण के लिए एक दोहा देखिए, जिसमें असंगति अलंकार का अभूतपूर्व चमत्कार है—

दृग उरझत, टूटत कुटुँब, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुर्जन हिए, दई नई यह रीति॥

बिहारी के दोहों को हम दो प्रधान भागों में बाँट सकते हैं। एक वे, जिनमें काव्यशास्त्रीय भावों—अनुभाव, संचारी भाव—की प्रधानता है। इन्हीं में अनेक दोहे ऐसे हैं जिनमें नायिका-भेद के गूढ़ रहस्य तथा जीवन के गूढ़ रहस्य छिपे हैं। इसीलिए पाठक उन भावों तक सरलता से नहीं पहुँच पाता। दूसरे वे दोहे हैं जिनमें उक्ति-वैचित्र्य तथा अलंकारत्व की प्रधानता है। दोनों प्रकार के दोहों में कल्पना की समाहार-शक्ति और भाषा की समास-शक्ति का सुन्दर समन्वय है। यही कारण है कि बिहारी की सूक्तियाँ भी सरस हो गई हैं और सतसई के समस्त दोहे काव्य के अनुपम रत्न बने हुए हैं।

अन्त में यह कह देना आवश्यक है कि एक ओर बिहारी की रचना में मानव-जीवन के साधारण और स्वाभाविक प्रणय-व्यापारों का सूक्ष्मतम निरीक्षण, कला-कुशलता और वाग्वैदग्ध्य—ये तीनों गुण विशेष रूप से विद्यमान हैं, जिनके कारण वे रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि के पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तो दूसरी ओर उनके काव्य में विरह के साथ खिलवाड़ करने तथा अनेक अत्युक्तिपूर्ण मज़मून बाँधने का दोष भी आ गया है। कल्पना की इन अस्वाभाविक और अलौकिक उड़ानों के लिए सम्भवतः उन पर फ़ारसी-साहित्य का ही प्रभाव है। फिर भी बिहारी की प्रतिभा अप्रतिम है। वे रीतिकाल के अनुपम कवि हैं, उनका

एक-एक दोहा जाज्वल्यमान काव्यरत्न है।

लक्ष्यबद्ध ग्रन्थ की परम्परा

बिहारी की सतसई के अतिरिक्त रीतिकाल में अन्य अनेक लक्ष्यबद्ध ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इनमें से मतिराम की मतसई, रसनिधि का रतनहजारा, रामसहाय की राम-सतसई आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त इस काल में निर्मित नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा से सम्बद्ध रचनाएँ भी लक्ष्यबद्ध ग्रन्थों के अन्तर्गत आती हैं।

रीतिमुक्त कवि

(१) वृन्द

सूक्तिकार कवियों में वृन्द का स्थान रहीम के बाद मानना चाहिए। इनका जन्म संवत् १७०० में मेड़ता, राजस्थान में हुआ। इनके पिता डिंगल के कवि थे। वृन्द ने काशी में जाकर तारा पण्डित से संस्कृत का अध्ययन किया। वृन्द जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह के दरबार में रहे। कुछ समय औरंगजेब के दरबार में 'राजकवि' बनकर रहे। 'महान् कोश' (पंजाबी ग्रन्थ) के निर्माता सरदार काहनसिंह वृन्द को गोविन्दसिंह का दरबारी कवि भी बताते हैं। इसी से वृन्द की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जाता है। वृन्द का देहान्त संवत् १७८० में हुआ।

वृन्द-रचित अनेक ग्रन्थ बताये जाते हैं–'वृन्दसतसई', 'शृंगार-शिक्षा', 'भावपंचाशिका', 'रूपक-वचनिका', 'अलंकार-सतसई' तथा 'हितोपदेशाष्टक'। आपकी ख्याति 'वृन्दसतसई' के कारण है। इसमें दृष्टान्त, उदाहरण, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा, वाक्यार्थोपमा आदि के अद्भुत उदाहरण हैं। इनका काव्य लोकनीति का सुन्दर संग्रह है। नमूना देखिए—

भले बुरे सब एकसम जोलौं बोलत नांहि।
जानि परत हैं काक पिक ऋतु बसन्त के मांहि।।
हितहू की कहिए न तिहिं जो नर होय अबोध।
ज्यौं नकटे को आरसी होत दिखाये क्रोध।।

जैसो बन्धन प्रेम को तैसो बन्ध न और।
काठहि भेदे कमल को छेद न निकरै भौंर ॥
रस अनरस समझै न कछु पढ़ै प्रेम की गाथ।
बीछू मन्त्र न जानही साँप पिटारे हाथ ॥

(२) आलम कवि

आलम नाम के तीन कवि प्रसिद्ध हैं—

(१) प्रथम आलम अकबर का समकालीन था। इसने संवत् १६४० में 'माधवानल-कामकन्दला' नामक प्रेम-कहानी दोहा-चौपाई में लिखी। इसमें केवल शृंगार-पद्धति का अवलम्बन लिया जान पड़ता है। इसका कवित्व साधारण है।

(२) दूसरा आलम बहादुरशाह का आश्रित कवि था, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि रंगरेज़िन के कवित्व पर मुग्ध होकर ब्राह्मण से मुसलमान धर्म ले लिया। इसकी रचना 'आलम-केलि' (रचनाकाल संवत् १७४०) प्रसिद्ध है। इसकी स्त्री रंगरेज़िन बड़ी हाज़िरजवाब स्त्री थी। शाहज़ादा मुअज्जम (बाद में बहादुरशाह) ने उस स्त्री से पूछा—"आलम की औरत आप हैं" उसने तुरन्त उत्तर दिया "हाँ जहाँपनाह ! जहान की माँ मैं हूँ।" कवित्व की दृष्टि से आलम और उसकी स्त्री की कृति भावबहुल, मधुर तथा सुगठित है। नमूना देखिए—

प्रेमरंग पगे जगमगे जगे जामिनी के
जोबन की जोति जागी जोर उमगत है।
मदन के माते मतवारे ऐसे झूमत हैं
झूमत है झुकि झुकि झँपि उखरत हैं।
आलम सो नवल निकाई इन नैनन की
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत है।
चाहत है उड़िबे को देखत मयंक मुख
जानत हैं रैनि तातैं ताही में रहत हैं ॥

(३) आलमशाह—गुरु गोविन्दसिंह के एक दरबारी कवि थे। इनका

रचनाकाल संवत् १७४५ है। समय को देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक है दूसरा 'आलम' और तीसरा 'आलम' एक हैं। पर भाषा की कसावट और भाव-सौन्दर्य जो दूसरे आलम में है, वह तीसरे आलम में नहीं है। अत: पंजाब-निवासी आलम उनसे पृथक् है। इनकी कुछ मुक्तक रचनाएँ ही मिलती हैं—

सोभा हू कौ सागर नवल नेह नागर हैं
बल भीमसम कहाँ लौ गिनाइए।
भूमि के विभूखन जू दूखन के दूखन हू
समूह सुखहू कै मुख देखे तै अघाइए।
हिम्मत निधान आन दान कौ बखानै जानै
आलम तमाम जाम आठों गुन गाइए।
प्रबल प्रतापी पातसाह गुरु गोविन्द जी
भोज की सी मौज तेरे रोज रोज पाइए॥

(३) लाल

'लाल' कवि का उपनाम है, इनका पूरा नाम गोरेलाल था। इनका जन्म सं० १७१५ में बुन्देलखण्ड में हुआ। अपने आश्रयदाता छत्रसाल की आज्ञा से इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'छत्रप्रकाश' की रचना की थी। इसमें दोहे और चौपाइयों में छत्रसाल के जीवन की वीर-घटनाएँ वर्णित हैं। यह वीररस की एक प्रौढ़ एवं सरस रचना है। इसकी भाषा परिमार्जित और स्पष्ट है। न केवल साहित्यिक दृष्टि से अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह कृति महत्त्वपूर्ण है। इसकी अधिकांश घटनाएँ बिल्कुल सत्य हैं। छत्रसाल की जय-पराजय का सही वर्णन इसमें मिलता है। इसके अतिरिक्त गोरेलाल ने 'छत्रसाल-शतक', 'छत्रकीर्ति', 'छत्रछन्द' आदि अन्य ग्रन्थों की भी रचना की, पर इनकी प्रौढ़ और प्रसिद्ध रचना 'छत्रप्रकाश' ही है। इनकी भाषा का एक नमूना देखिए—

काटि कटक किरवान बल, बाँटि जंबुकनि देहु।
ठाटि युद्ध यहि रीति सों बाँटि धरनि धरि लेहु॥

(४) गुरु गोविन्दसिंह

सिख-सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा में गुरु गोविन्दसिंह का अपने विलक्षण व्यक्तित्व के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु नानकदेव से जिस अध्यात्म ज्योति का प्रकाश हुआ था, उसका अन्तिम प्रभाव; तथा गुरु अर्जुनदेव से जिस राजवृत्ति का श्रीगणेश हुआ था, उसका सर्वश्रेष्ठ विकसित रूप—ये दोनों विशेषताएँ—गुरु गोविन्दसिंह के व्यक्तित्व में पाई जाती हैं। गुरुजी एक साथ राजनीतिज्ञ, वीरशिरोमणि, परमतेजस्वी सन्त और महान् साहित्यस्रष्टा थे।

गुरु गोविन्दसिंह का जन्म पौष १७, संवत् १७२३ शनि-रवि की मध्यरात्रि को पटना में हुआ था। आपके पिता उस समय कामरूप में थे। गृहसंघर्ष के कारण इनके पिता गुरु तेग़बहादुर इन्हें पटना में ही छोड़कर पंजाब वापस आ गये थे। पटना-नरेश के यहाँ आपका पालन-पोषण हुआ और बालक गोविन्द ने पं० शिवदत्त तथा भीखनशाह से संस्कृत और फ़ारसी का अध्ययन किया। बचपन में आपके राजसी लक्षण प्रकट हो गये थे। बालकों की सेना बनाकर युद्ध करना आपकी बाल-क्रीड़ा का एक क्रम था। पिता की अमरशहीदी के बाद आप दसवें 'गुरु' कहलाये। अपनी एक शिष्यमंडली को सैनिक वेश देकर नये सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित करना आप-जैसे समर्थ व्यक्ति का काम था। युग की गतिविधि को देखते हुए इन्होंने आगे के लिए पूर्ववर्ती गुरुपरम्परा की समाप्ति कर 'आदिग्रन्थ' को ही गुरु मानने की परम्परा चलाई। इस सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

आग्या भई अकाल की तभी चलायो पंथ।
सभ शिष्यन को हुकुम है गुरू मानियो ग्रन्थ॥

गुरुजी के जीवन का पूर्वार्द्ध साहित्यसाधना में व्यतीत हुआ और शेष जीवन राष्ट्रसेवा में। दिल्ली-तख़्त से भयानक संघर्ष करते-करते आपको पंजाब से बाहर रहना पड़ा। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद आपका राजकुमार मुअज्ज़म (बहादुरशाह) से समझौता हो गया। संवत् १७६५

कार्तिक सुदी पंचमी को आप अकालज्योति में विलीन हुए।

आप जन्मजात कवि थे। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" के अनुसार आप किशोर-जीवन में ही रचना करने लगे थे। गुरु तेग़-बहादुर जी ने दिल्ली के बन्दीगृह से एक पद्य लिखकर भेजा था—

बल छूट्यौ बंधन पर्‌यौ कछू न होत उपाय।
कहु 'नानक' अब ओट हरि गज ज्यों होउ सहाय॥

किशोर गोविन्दराय (तब इनका यही नाम था) ने इसका उत्तर यों दिया—

बल होए बंधन छुटे सब कछु होत उपाय।
(नानक) सब किछु तुमरे हाथ में तुम्हीं होत सहाय॥

आपकी धवलकीर्ति को नित्य प्रकाशित करने वाली एकमात्र रचना 'दशम ग्रन्थ' नाम से मिलती है। यह ग्रन्थ वस्तुतः एक रचना नहीं, बल्कि अनेक काव्यरूपों का संग्रह है। यथा—

१. जाप जी—इसमें 'विष्णुसहस्रनाम' पद्धति से ईश्वर के नाम वर्णित हैं।

२. अकालस्तुति—यह भी एक प्रकार का श्रुति-ग्रन्थ है।

३. विचित्र नाटक—इसमें कर्ता ने पूर्वजन्म का वृत्तान्त बताया है और अपना उद्देश्य अभिव्यक्त किया है।

४. चौबीस अवतार—इसमें विष्णु, ब्रह्मा तथा रुद्र के अवतारों का निरूपण है।

५. चण्डीचरित्र—यह दुर्गासप्तशती का ओजस्वी भाषा में अनुवाद है।

६. चण्डी-दीवार—यह उक्त रचना का दुबारा किया हुआ परिष्कृत अनुवाद है।

७. ज्ञान-प्रबोध—इसमें फोकटधर्म, तीर्थ, व्रत, देवतावाद आदि का खण्डन है।

८. शब्द-हज़ारे—इसमें सत्यधर्म का व्याख्यान है।

९. तैंती सवैये—इसमें इस्लाम तथा वैदिक धर्म की आलोचना है।

१०. शस्त्रनाममाला—इसमें गुरुजी ने अपने समय के शस्त्रों के नाम और प्रयोग बताये हैं।

११. पख्यान चरित्र—इसमें ४०४ स्त्रियों की चरित्रगाथाएँ हैं।

१२. ज़फरनामा—औरंगजेब को लिखा फ़ारसी भाषा में पत्र।

१३. हिदायतनामा—यह एक फ़ारसी की रचना है।

गुरुजी के नाम के अन्तर्गत एक और रचना भी सुनी जाती है—श्रीमद्भगवद्गीता। पटनेवाली 'दशमग्रन्थसंहिता' में यह रचना संलग्न है, पर अन्य प्रतियों में नहीं है। यह रचना किसी अद्वैतवादी संन्यासी अप्रख्यात गोविन्दसिंह की रचना मालूम होती है; यथा—

नमो नमो परमेसुर रूप हमारे। हम तुम होइ कै खेल पसारे॥
हम तुम एक अकाल सरूपा। अलख गोविन्द सब तिसका रूपा॥
नाना भाँति होइ पसरियो स्वामी। घट घट ही वही अन्तरजामी॥
नाम जात प्रभु रूप तुम्हारे। तुध बिन कोई नाहि नियारे॥
जो दीसै सो कृष्ण मुरारी। जिनि इहु सगली खेल पसारी॥

रचना में कहीं-कहीं गद्य भी है। गुरुजी के दरबार में ५२ हिन्दी-पंजाबी कवियों का दल विद्यमान रहता था। सालंकार और समर्थ अभिव्यक्ति में गुरु गोविन्दसिंह अपने-आप में अकेले हैं। गुरुजी ने अपने समय के प्रचलित सभी वृत्तों का प्रयोग किया है। अनुप्रास तो कहीं छूटने नहीं पाया। दशम-ग्रन्थ में तत्कालीन सभी काव्य-पद्धतियाँ संगृहीत हैं। यह रचना हिन्दू-संस्कृति का संयुक्त महान् कोश है। रचना का नमूना देखिए—

(१)

कहा भयो जो सब जग जीत सु लोगन को बहुत्रास दिखायो।
और कहा जु पै देस विदेसन मांहि भले गज गाहि बंधायो॥
जो मन जीतत है सब देस वहै तुमरे नृप हाथ न आयो।
लाज गई कछु काज सर्यो नहिं लोक गयो परलोक गमायो॥

(२)

निर्जर निरूप हौ कि सुन्दर सरूप हौ कि
भूपन के भूप हौ कि दानी महादान हौ।
प्रान के बचैया दूध पूत के देवैया
रोग सोग के मिटैया किधौं मानी महामान हौ।
विद्या के विचार हौ कि अठंत अवतार हौ
कि सुद्धता की मूर्ति हौ कि सिद्धता की सान हौ।
जोबन के जाल हौ कि कालहू के काल हौ कि
सत्रुन के साल हौ कि मित्रन के प्रान हौ॥

(३)

भेंट भुजा भर अंक भले भरि नैन दोऊ निरखे रघुराई।
गुंजत भृंग कपोलन ऊपर नाग लवंग रहे लव लाई।
कंज कुरंग कलानिधि केहरि कोकिल हेरि हिये हहराई।
बाल लखैं छवि खाट परैं नहिं बाट चलैं निरखैं रघुराई॥

(४)

अदग्ग दग्गे अमोड़ मोड़े। अखिच्च खिच्चे अजोड़ जोड़े।
अकड्ढ कड्ढे असाध साधे। अफट्ट फट्टे अफांद फांदे।
अधंध धंधै अकाज काजे। अभिन्न भिन्ने अभज्ज भज्जे।
अछेड़ छेड़े अलभ्य लभ्ये। अजित्त जित्ते अबद्ध बद्धे॥

(५) घनानन्द

जीवन—घनानन्द का जन्म संवत् १७४६ के लगभग और मृत्यु अहमदशाह अब्दाली के कत्लेआम में संवत् १७९६ में हुई। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी थे और जाति के कायस्थ थे। कहा जाता है कि सुजान नाम की वेश्या से इनका प्रेम हो गया। सुजान संगीत-विशारदा थी अतः इन्हें भी संगीत का व्यसन लग गया था। इनके प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा इस बात की चर्चा सम्राट् के सम्मुख आई। सम्राट् संगीत-प्रेमी थे, अतः उसने घनानन्द को कुछ गाने के लिए कहा। घनानन्द

अपने ईर्ष्यालु कर्मचारियों के कुचक्र को ताड़ गये और उन्होंने गाने से इन्कार कर दिया। दरबारियों ने अवसर पाकर सम्राट् से कहा कि यदि इनके सामने सुजान हो तो अवश्य गा देंगे। सुजान को बुलाया गया। घनानन्द गाने के लिए विवश तो हो गये परन्तु उन्होंने अपना मुख सुजान की ओर तथा पीठ शाह की ओर करके गाया। इससे बादशाह प्रसन्न भी हुआ और रुष्ट भी। उसने इनको दिल्ली छोड़कर चले जाने की आज्ञा दे दी। चलते समय घनानन्द ने सुजान को अपने साथ चलने को कहा किन्तु उसने यह स्वीकार न किया। तब घनानन्द वृन्दावन चले आये और सम्भवतः सुजान के इस व्यवहार से उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और उस समय से कृष्ण की भक्ति में लवलीन होकर भगवान् का गुणगान करने लगे। अन्तिम दिनों में अहमदशाह अब्दाली के सिपाहियों ने इनसे 'ज़र-ज़र' कहकर रुपया माँगा और जब इन्होंने इस शब्द का उल्टा 'रज़-रज' कहकर तीन मुट्ठी धूलि उनके ऊपर फेंक दी तो सिपाहियों ने क्रुद्ध होकर इन्हें मार डाला।

रचनाएँ—इनकी निम्नलिखित छः रचनाएँ उपलब्ध हैं—१. सुजान-सागर, २. विरह-लीला, ३. कोकसार, ४. रसकेलिबल्ली, ५. कृपा-पद, ६. कृष्णभक्ति सम्बन्धी एक बड़ा ग्रन्थ।

रीतिकालीन परम्परा के अनुसार इनकी सभी रचनाएँ प्रायः मुक्तक ही हैं और उनमें वियोग शृंगार, उसकी अन्तर्दशाओं और प्रेम की पीर का चित्रण उत्कृष्ट बन पड़ा है। कुछ लोगों के विचार से सुजान इनके जीवन में गहरी समा गई थी। विरक्त होने पर भी वे उसे न भुला सके। मरते समय भी सुजान को नहीं भूल सके। प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत की जाती हैं—

अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सन्देसो लै सुजान को।

भाषाशैली—घनानन्द की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। इनके समान

सरस होते हुए भी विशुद्ध ब्रजभाषा लिखने में सम्भवत: और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। आचार्य शुक्ल जी का भी यही अभिमत है। उनके विचार में, प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का उद्घाटन जैसा इन्होंने किया है वैसा हिन्दी के अन्य किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया। भाषा पर इनका जैसा अधिकार भी अन्य किसी रीतिकालीन कवि का दिखाई नहीं देता।

इन्होंने अधिकांशत: सवैयों में अपनी रचना की है जो अत्यन्त सरस हैं। वियोग शृंगार का एक उदाहरण देखिए—

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिर नेह को तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार मझार दई गहि बाँह न बोरियै जू।।
घन आनन्द आपने चातक को गुन बाँधि कै मोहन छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में क्यों बिष घोरियै जू।।

कुछ लोगों का विश्वास है कि घनान्द प्रेम के उन्मुक्त गायक थे और राधा तथा कृष्ण ही उनके आलम्बन थे। यह भी सम्भव है कि राधा या कृष्ण को उन्होंने अपनी रचनाओं में 'सुजान' कहकर सम्बोधन किया हो। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों की भाँति अपनी रचना को सुरतान्त, विपरीत रति आदि से अपवित्र नहीं किया। उनकी राधा वासना की मूर्ति नहीं, वरन् त्याग, संयम और उत्सर्ग की प्रतिमूर्ति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि घनानन्द अपने समय के स्वतन्त्र कवि थे। उन्होंने किसी का अन्धानुकरण करते हुए कोई लक्षण-ग्रन्थ आदि लिखने का भी प्रयास नहीं किया। वे भाषा के धनी थे और भावलोक के स्वामी थे। इस दृष्टि से घनानन्द का हिन्दी-साहित्य में विशेष स्थान है।

(५) सूदन

सूदन कवि के जन्म-मरण या अन्य जीवन-सम्बन्धी बातों का ज्ञान अभी तक गम्भीर अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। रचना के अन्त:साक्ष्य से तो केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ये मथुरा-निवासी वसन्त के पुत्र और माथुर चौबे थे। ये भरतपुर के प्रसिद्ध जाट-नरेश सूरजमल (सुजानसिंह) के आश्रय में रहे थे। कितना समय वे वहाँ रहे ?—निश्चय-

पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

रचना—इनकी एक रचना बताई जाती है—'सुजानचरित्र'। कई विद्वान् इसका नाम 'सुजान-विलास' भी बताते हैं। इसमें उक्त सुजानसिंह का वीर-चरित्र अंकित है।

सुजानचरित्र एक वीरकाव्य है। इसमें सुजानसिंह के युद्धों का वर्णन है। काव्य में वर्णित युद्ध काल्पनिक न होकर, यथार्थ हैं। अतः इसमें काव्यत्व की अपेक्षा इतिहास उभरकर प्रकाश में आता है। इसमें निम्नलिखित ऐतिहासिक युद्धों का वर्णन है—

(१) सूरजमल की असदखाँ से लड़ाई,
(२) मेवाड़ की लड़ाई,
(३) मराठों से जयपुर-राज्य की ओर से लड़ाई,
(४) सलाबतखाँ से लड़ाई,
(५) बंगश पठानों से लड़ाई,
(६) दिल्ली की लड़ाई, जिसमें सूरजमल ने दिल्ली को लूटा था।

इन युद्धों के वर्णन, उत्साहपूर्ण वीरों की ललकारें तथा शस्त्रासम्पात का वर्णन स्वाभाविक और रसपूर्ण है।

'सुजानचरित्र' में काव्यसौन्दर्य को मन्द करने वाले साधारण-से दोष भी हैं। उसमें सिपाहियों की जातियों, घोड़ों की जातियों तथा अपने से पूर्व के कवियों की नामावलि आदि वर्णन अधिक लम्बे और बार-बार आये हैं। कतिपय प्रसंगों में इसकी काव्य-शैली बड़ी शिथिल हो गई है। भाषा में पंजाबी, अवधी, भोजपुरी, मारवाड़ी आदि भाषाओं की खिचड़ी बन गई है। कहीं-कहीं नादात्मक शब्दों की अधिकता अरुचिकर भी बन गई है। फिर भी वीरकाव्य-परम्परा में इस ऐतिहासिकता-पूर्ण काव्य का अपना विशेष स्थान है। इसमें वीररसोचित अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है। रचना की बानगी देखिए—

(१)

दब्बत लत्थिन् अब्बत इक्क सुखब्बत से ।
चब्बत लोह अचब्बत सोनित गब्बत से ।
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही ।
जुट्टित फुट्टित सीस सुखुट्टित तेग गही ।
कुट्टित घुट्टित काय विछुट्टित प्रान सही ।
छुट्टित आयुध हुट्टित गुट्टित देह दही ।

(२)

डोलती डरानी खतरानी बतरानी बेबे
कुड़िए न वेखी अणी मी गुरू न पावाँ हाँ ।
कित्थे जला पेऊँ कित्थे उज्जले भिड़ाऊँ असी
तुसी को लै गी वा असी जिंदगी बचावाँ हाँ ॥
भट्ट ररा साहि हुआ चंदला वज़ीर वेखो
एहा हाल कीत्ता वाह गुरू नूँ मनवाँ हाँ ।
जावाँ कित्थे कित्थे जावाँ अम्मा बाबा केहि पावाँजली
एही गल अक्खै लक्खौ लक्खौ गली जावाँ हाँ ॥

(३)

आदित असोक भरी सोक भरी दिति और
दोष भरी पूतना अदोषभरी ओपिका ।
कंस हियै भौ भरी अभौ भरी है अंदाबंस
पंडव की कीरति अकीरति की लोपिका ॥
लाज भरी द्रौपदी सुराज व्रजभूमि भरी
कूबरी इलाज सो अवाज करो कोपिका ।
देवकी आनन्द भरी ऊगें व्रजचन्द घरी
भाग भरी जसुधा सुहाग भरी गोपिका ॥

(६) सभाचन्द सोंधी

पटियाला के भाषा-विभाग ने जो खोजकार्य आरम्भ किया है, उसमें

कई महत्त्वपूर्ण रचनाओं की उपलब्धि हुई है तथा कई कवि प्रकाश में आये हैं। इनमें सभाचन्द सोंधी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।[1] आपका सम्बन्ध पंजाब के क्षत्रिय-वंशज सोंधी-परिवार से है। सोंधी-परिवार जालन्धर (दोआब) में पाये जाते हैं, अतः अनुमानतः ये इसी प्रदेश के निवासी होंगे। आपका जन्म अनुमानतः १७५० संवत् है। इस विषय में बड़ा तर्क यही दिया जा सकता है कि आपकी कृति 'कथा-कामरूप' आपकी प्रौढ़ एवं परिपक्व प्रतिभा का प्रसाद है। इसकी रचना संवत् १७९८ में हुई। उस समय लेखक प्रौढ़ अवस्था के होंगे।

'कथा-कामरूप' सूफ़ी प्रेमाख्यान-परम्परा के अन्तर्गत आती है। इसमें इन्होंने अपने समय के दिल्ली-नरेश 'सुलतानशाह मुहम्मद' का उल्लेख किया है, जोकि इस काव्य-परिपाटी के अनुकूल है। इन्होंने नादिरशाह की लूट का भी उल्लेख किया है। यह रचना कथानक की दृष्टि से उच्च-कोटि की है। कथानक कविकल्पित न होकर श्रुति-परम्परागत आख्यान पर आधृत है। कादरयार ने भी पंजाबी में इसी कथावस्तु पर काव्य-रचना की है। कवित्व की दृष्टि से असाधारण तथा कलापक्ष की दृष्टि से सर्वाङ्ग-सम्पन्न रचना कम-से-कम पंजाब में दूसरी नहीं है। पंजाब के प्रसिद्ध प्रेमाख्यानों में इसे असंदिग्ध रूप से प्रथम स्थान दिया जा सकता है। 'कथा-कामरूप' के पात्रों के नाम उनके व्यक्तिगत गुणों और विशेषताओं के प्रतीक हैं। यथा—

कलावन्त—नाटक, नृत्य और रासविद्या में निपुण व्यक्ति,
मानकचन्द—माणिक्यविद्या का निपुण जौहरी,
चतुरमणि—चतुर चित्रकार,
धनन्तर—आयुर्वेद का मर्मज्ञ विद्वान्,
विद्याचन्द—व्याकरण-न्याय का आचार्य।

कथा का आरम्भ स्वप्नदर्शन से होता है। राजकुमार को अपने साथियों-

१. सप्तसिंधु : २ वर्ष—८ अङ्क : सभाचन्द सोंधी··· : लेखक महेन्द्र एम० ए०।

सहित बड़े-बड़े कष्ट झेलने पड़े। सिंहलद्वीप की परम्परा सूफ़ियों को शायद बहुत प्रिय है, यहाँ भी इसी द्वीप का उल्लेख है। रचना के नमूने देखिए—

सुन यह कथा कुंवर मुसकायौ। जिम ससि बादर सों निकसायौ।
सुनकर कामलता वा पाही। लिपट पड़ी जैसे परछाँही।
भौवें देख उठे मन शंका। मानौ परसराम कौ धनका।
जाकौ छवि देखत अधिकाई। ससि औ भान ग्रहण हो जाई।
जो लौं बादर रोवैं नाहीं। पात फूल फल होवैं नाहीं।
जग में ज्ञानी पुरुष जो होवै। ज्ञान नीर सोक मल धोवैं।

(७) निश्चलदास

दादूपंथ-परम्परा में अनेक सन्त-साधक हुए हैं। इस शाखा में पंजाब के साधु निश्चलदास का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। हाँसी तहसील, ज़िला हिसार के कूंकड़ ग्राम के निवासी निश्चलदास जन्म से जाट थे। इनका शरीर सुडौल तथा गौर वर्ण था। बचपन में किस दादू-पंथी सन्त से आपने दीक्षा ली, यह अभी तक अज्ञात है। जन्म से जाट होने के कारण आपको संस्कृत पढ़ाने की किसी ब्राह्मण ने कृपा नहीं की। विद्याग्रहण की उत्कट लालसा से प्रेरित होकर आप काशी में गये और अपने-आपको ब्राह्मण घोषित कर इन्होंने वेदान्त के अतिरिक्त अनेक शास्त्र पढ़े, जैसा कि अन्त:साक्ष्य से सिद्ध होता है—

सांख्य न्याय में श्रम कियो पढ़ि व्याकरण अशेष।
पढे ग्रन्थ अद्वैत के रहै न एकहु शेष॥
कठिन जु और निबंध है, जिनमें मत के भेद।
स्रम तै अवगाहन किये निश्चलदास सबेद॥

आपका जन्म सं० १७६० में हांसी में तथा मृत्यु सं० १८२० में किहडौली गाँव में हुई।

आपकी रचनाएँ ये हैं—'विचारसागर', 'वृत्तिप्रभाकर', 'मुक्ति-प्रकाश'। 'विचारसागर' का मराठी, बंगला तथा अँग्रेज़ी में अनुवाद

हो चुका है। स्वामी विवेकानन्द पर आपका विशेष प्रभाव पड़ा दीख पड़ता है। एक बार उन्होंने निश्चलदास के 'विचारसागर' के बारे में कहा था—"यह (ग्रन्थ) भारत के अन्तर्गत गत तीन शताब्दियों में लिखे गये किसी भाषा के ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रभावशाली है।" इनकी रचना का नमूना देखिए—

(१)

अन्तर बाहर एकरस जो चेतन भरपूर।
विभु नभ समसो ब्रह्म है नहिं नेरे नहिं दूर॥
ब्रह्मरूप अहि ब्रह्म वित ताकी बानी बेद।
भाखा अथवा संस्कृत करत भेद भ्रम छेद॥

(२)

दीनता कूं त्याग नर ! आपनो स्वरूप देखि
तू तौ सुद्ध ब्रह्म अज दृश्य कौ प्रकासी है।
अपने अज्ञान तें जगत सब तू ही रचै
सर्व कौ संहार करै आप अविनासी है।
मिथ्या प्रपंच देख दुःख जनि आनि जिय
देवन को देव तू तौ सब सुख रासी है।
जीव जग हंस होय माया से प्रभा से तू ही
जैसे रज्जु साँप सीप रूप ह्वै प्रभासी है॥

(८) ग़रीबदास

जीवन—ग़रीब-पंथ के प्रवर्तक सन्त गरीबदास जी का जन्म वैशाख सुदी १५, सं० १७७४ को रोहतक ज़िले के झज्जर नामक गाँव में हुआ। आपके पिता जाति से जाट थे और ज़मींदारी करते थे। कहते हैं १२ वर्ष की आयु में भैंस चराते हुए बालक गरीब को कबीरदास जी के दर्शन हुए। बुद्धिवादी इसे स्वप्न में कबीर के दर्शन की भी बात कह सकते हैं। इस घटना का समर्थन अन्तःसाक्ष्य से होता है—

दास गरीब कबीर का चेरा। सत्तलोग अमरपुर डेरा।
ऐसा सतगुर हम मिला तेजपुंज के अंग।
झिलमिल नूर हजूर रूपरेख नहिं रंग॥

सन्त गरीबदास आजीवन सद्‌गृहस्थ रहे, साधुवेष की अपेक्षा आपको यह जीवन अच्छा लगा। साधना में स्त्रीसंग से बाधा पड़ती है—ऐसा मानने वालों को मानो उन्होंने रचनात्मक उत्तर दिया।

आपकी रचना 'हिंखर बोध' कही जाती है, जिसके २४ हज़ार पद्य कहे जाते हैं, इनमें से १७ हज़ार पद्य इनके बताये जाते हैं और शेष कबीर के। इस रचना में राग-रागनियों के अतिरिक्त सवैया, रेख़ता, झूलना, अरिल्ल, बैंत, रमैनी, आरती आदि छन्द भी हैं। इनके पदों वा साखियों का संग्रह 'गरीबदास की बानी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसमें ब्रजभाषा और खड़ीबोली का सुन्दर समन्वय है, तथा पंजाबी-शब्दावली के संयोग से उसमें सधुक्कड़ीपन आ गया है।

सिद्धान्त—गरीबदास जी के सिद्धान्त कबीर के मत से बहुत कुछ मिलते हैं। '**दास गरीब कबीर का चेरा**', पद में आपने कबीर को स्पष्टतया अपना गुरु स्वीकार किया है। परमात्मा को इन्होंने 'सत-पुरुष' कहा है और निराकार, निर्विशेष, निर्लेप, निर्गुन आदि विशेषणों से उसका परिचय दिया है। यह संसार वस्तुतः उसी '**शब्द अतीत अगाध**' का प्रसार है। यह विश्व-प्रपञ्च उससे अभिन्न है—

मर्म को बुरज सब सीत के कोट है,
अजब ख्याली रचा ख्याल है रे॥
दास गरीब यह अमर निज ब्रह्म है,
एक ही फूल, फल, डाल है रे॥

इनकी साधना में सुरत, निरत, मन और पवन इन चारों का एकीकरण हुआ है—

चार पदारथ महल में सुरत निरत मन पौन।
सिव द्वारा खुलि है जबै, दरसे चौदह भौन।

चार पदारथ एक कर, सुरत, निरत, मन पौन।
असत फ़कीरी जोग यह, गगन मण्डल को गौन।

इस एकीकृत साधना से ही अन्ततः **'एकै मन, एकै दिसा साईं के दरबार'** की अवस्था प्राप्त होती है। इसी दशा को 'लै' अर्थात् मुक्तोपम विलय भी कहा जाता है। परन्तु इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधक का हृदय परमात्मा के प्रति निर्विकल्प श्रद्धा और 'परतीति' (सन्देह-हीन विश्वास) के भाव से युक्त होना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट ध्वनित किया है कि जाप का मूलाधार विश्वास है—

साहब साहब क्या करे, साहब है परतीत।

इनकी रचना का नमूना देखिए—

आधघड़ी को अधघड़ी आध घड़ी की आध।
साधू सं तो गोषटी जो कीजै सो लाभ।
आदि समय चेता नहीं, अंत समय अंधियार।
मध्य समय माया रते पाकर लिए गंवार।
ऐसा अंजन आंजिए सूझै त्रिभुवन राय।
कामधेनु अरु कल्पवृक्ष घटहिं मोहि लखाय।
सुमरिन तबही जानियै रोम रोम धुन होय।
कुंज कमल में बैठकर माला फेरे सोय।

(९) गुलाबसिंह

जीवन—पंजाब के वेदान्तवादी साधु-सन्तों में गुलाबसिंह का नाम मूर्धन्य स्थान पर है। आपने अपना जन्मस्थान 'मालवा' बताया है, 'मालवा' के अन्तर्गत नाभा, भटिण्डा, मिंटगुमरी, फिरोज़पुर आदि आ जाते हैं। 'महान् कोष' (पंजाबी-ग्रन्थ) के निर्माता भाई काहनसिंहजी ने इनका जन्म-स्थान 'सेखव' गाँव को माना है, जो पत्तोकी (पश्चिमी पंजाब) से चार मील दूर कच्ची सड़क पर है, वहाँ इनका स्मारक कुआँ भी बताया जाता है। गुलाबसिंह की माता का नाम गौरी, पिता का नाम रामचन्द है। लेखक ने स्थान-स्थान पर इनका उल्लेख किया है और अपने गुरु 'मानसिंह' को

भी स्मरण किया है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर मानसिंह का गुरु द्वारा कुरुक्षेत्र में रहना सिद्ध होता है—

गौरी जननी लोक में राइया जनक महान्।
गुलाबसिंह सुत ताहि के नाटक कीन बखान।
जिह अज्ञान निवारियो दीनो मोख अपार।
मानसिंह गुरु चरन कौ बन्दौ बारमबार।

गुलाबसिंह का जन्म सं० १७८९ बताया जाता है।

रचना—गुलाबसिंह की २०-२५ रचनाएँ सुनी जाती हैं; पर इस समय चार ही लभ्य हैं—

भावरसामृत—यह एक ज्ञानप्रद वैराग्योद्दीपक कवित्त-सवैयों का संग्रह है। अधिकांश पद्य वैराग्यशतक के अनुवाद हैं। कुछेक कूट पद्य भी हैं। सं० १८३४ में उक्त रचना समाप्त हुई।

अध्यात्म-रामायण—यह रचना इसी नाम की संस्कृत रचना का अनुवाद है। रचना सात कांडों में तथा काण्ड कई-कई अध्यायों में विभक्त हैं। इसमें कवित्त-सवैयों के अतिरिक्त मालती, नाराच, तोमर, गीया-मालती आदि विविध छन्दों का प्रयोग है। इसका रचना-काल सं० १८३६ है।

प्रबोधचन्द्रोदय—यह संस्कृत के इसी नाम के नाटक का अनुवाद है।

मोक्षपंथप्रकाश—यह संस्कृत के वेदान्त-ग्रन्थ 'स्वराज्यसिद्धि' का अनुवाद है। सन्त जी का उपलब्ध साहित्य प्रायः 'अनुवाद कोटि' का है, पर उसमें मौलिकता का-सा आनन्द मिलता है। भावों की मधुरता और गहनता, भाषा का प्रवाह और अलंकार-प्रयोग सचमुच अनुपम है। भाषा ब्रज है और पंजाबीपन से सर्वथा सुरक्षित है। रचना का नमूना देखिए—

(१)

कहिं कोविद बैठि विचार करें कहिं मूढ़ भयानक रार मचाई।
कहिं रोग महातन पाक बहे कहिं सौरभ सुन्दर देत दिखाई।

विधि मेल सुधारस संग किधौं विधि भाइक नै यह खेल रचाई।
नहि जान परै जग आइ सुधारस के विधनै विख बेल बनाई।

(२)

कूद कूद कै अटारी हनुमान सब जारी
किलकार पूंछ पावक सु पुर कौ पजार है।
पीछै पावक जगाइ आगे भागे मार खाई
घर तोरन जराइ सु महाजन कौ मार है।
हाय सुत हाय पति हाय माइ भाई बाप
राखस की नारी याहि मालजा पुकार है।
प्रासाद सिर चढ़ै ताहि पावक सों जारै फिर
भूम आग परै जन देवता पधार हैं।

(१०) बोधा

बोधा का जन्म सं० १८०४ के निकट माना जाता है। ये पन्ना-नरेश के दरबार में रहते थे। इस दरबार की वेश्या 'सुभान' पर ये आसक्त हो गये थे। राजा ने किसी बात पर इन्हें छः मास के देश-निर्वासन का दण्ड दे दिया। इन्होंने सुभान के वियोग में 'विरह-वारिश' की रचना की। दण्ड-समाप्ति के अनन्तर इन्होंने राजा को इस ग्रन्थ का एक पद सुनाकर प्रसन्न किया और उनसे सुभान को उपहार रूप में ले लिया। संस्कृत और फ़ारसी का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। 'इश्कनामा' नामक एक और पुस्तक भी इन्होंने लिखी। ये रसिक कवि थे। इन्होंने 'प्रेम की पीर' का मार्मिक भाषा में चित्रण किया है। इनकी भाषा चलती और मुहावरेदार है। भाषा का एक नमूना देखिए—

जब तें दरसे मनमोहन जू,
तब तें अँखियाँ ये लगीं सो लगीं।
कुलकानि गई भगि वाही घरी,
ब्रजराज के प्रेम पगीं सो पगीं।

कवि ठाकुर नेह के नेजन की,
उर में अनी आन लगीं सो लगीं।
अब गांव के नाव रे कोई धरो,
हम सांवरे रंग रगीं सो रगीं॥

(११) गिरधर कविराय

गिरधर कविराय के विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, अतः इनके जन्म-मरण और स्थान के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों ने अनुमान का सहारा लेकर इन्हें अवध का निवासी माना है; कुछ इन्हें पंजाब का निवासी भी मानते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ये जाति के भाट जान पड़ते हैं; अन्य लोग इन्हें 'गोस्वामी' बताते हैं, उनका तर्क है कि कुछ पद्यों में 'सांई' शब्द आया है, जो 'गोसांई का द्योतक है। दूसरे लोग इस धारणा के विपरीत यह बताते हैं कि 'सांई' छाप वाले पद्य इनकी पत्नी के बनाये हुए हैं।

गिरधर कवि को सूक्तिकार कहना कठिन है; क्योंकि इनकी रचना में वृन्द जैसा काव्यसौष्ठव नहीं है। ये कोरे 'पद्यकार' ही कहे जा सकते हैं। फिर भी सरल अभिव्यक्ति के कारण इनकी कुंडलियाँ गाँव-गाँव में प्रसिद्ध हैं। इसका कारण यह है कि अलंकार, शब्दशक्ति, अप्रस्तुत योजना आदि के व्यूह से निकलकर इन्होंने सीधी-सादी भाषा में लोक-व्यवहार का कथन किया है। इनके रचे ठेठ पंजाबी के कुंडलिये भी मिलते हैं। इनकी रचना की एक बानगी देखिए—

पानी बाढ़ो नाव में घर में बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानों काम॥
यही सयानों काम राम को सुमिरन कीजै।
पर स्वारथ के काज सीस आगे धर दीजै॥
कहि गिरधर कविराय बड़ेन को याही बानी।
चलिये चाल सुचाल राखिये अपनो पानी॥

(१२) बाँकीदास

राजकवि बाँकीदास का जन्म मारवाड़ राज्य के पंचभद्रा परगने के भाड़ियावास गाँव में संवत् १८२८ में हुआ। इनके पिता का नाम फतेहसिंह था, जो आशिया शाखा के चारण थे और डिंगल के सिद्धहस्त कवि थे। बाँकीदास ने गाँव से जोधपुर जाकर 'चंद्रिका', 'सारस्वत', 'कुवलयानंद' और 'काव्यप्रकाश' का अध्ययन किया। महाराजा मानसिंह ने इनकी विद्या और काव्य-कला से प्रभावित होकर इन्हें अपना राजकवि नियुक्त किया। बाद में ये मानसिंह के गुरु हुए।

बाँकीदास संस्कृत, फ़ारसी, डिंगल और पिंगल के प्रकांड पण्डित और आशुकवि थे। इन्हें इतिहास का भी असाधारण ज्ञान था।

इनकी रचनाएँ ३४ के लगभग बताई जाती हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—'सूर-छत्तीसी', 'वीरविनोद', 'दातारबावनी', 'नीतिमंजरी', 'बिदुर-बत्तीसी', 'विवेक-पच्चीसी', 'धवल-पच्चीसी', 'वैसकवार्ता', 'कृपणदर्पण', 'मोहमर्दन', 'चुगल-मुख-चपेटिका', 'कुकवि-बत्तीसी', 'भुरजालभूषण', 'गंगालहरी', 'कृपाण-पच्चीसी' आदि।

इन्हें कवि की अपेक्षा सूक्तिकार कहना कहीं अधिक संगत होगा। रीतिकालीन वृन्द, गिरधर, दीनदयाल की श्रेणी में इन्हें प्रथम स्थान दिया जा सकता है। इनकी रचनाओं में भावों की अपेक्षा तथ्यों का आधिक्य है। इनके वर्ण्य-विषय हैं—सूर, कायर, दानी, कृपण, चुगल-खोर, कुकवि आदि। इनकी भाषा प्रौढ़ और विषयानुकूल है। कुछ नमूने देखिए—

(१)

छूटा जामण मरण सूं भवसागर तिरियाह।
मुंव जूंझ जे रण मही वे नर ऊबरियाह॥

(२)

मंगल एथी आवमत बाघां केरी बाट।
सांप अँगूठा मेल ज्यूं कदियक हुसी कुघाट॥

(३)

कै मुलतानी कावती पेसाबरी प्रचंड।
नेरापुर रानीपना बगदादी बलबंड।।

(४)

दल अकबर तोपां दगै सूकै नीर निवाण।
गोलां लागे चीतगढ़ मेगल माछर जाण।।

(१३) सन्तोखसिंह

सिख भक्तजन दश गुरुओं के उपरान्त भाई सन्तोखसिंह का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। भाई जी का जन्म संवत् १८४५ में हुआ था। इनके पिता भाई देवासिंह अम्बाला ज़िला के बूड़िया गाँव में रहते थे। भाई देवासिंह गुरु मन्दिर की महिमा से आकृष्ट होकर अमृतसर आ बसे थे और यहीं भाई सन्तोखसिंह का जन्म हुआ। इनके पूर्वज छिब्बा या छिब्बर नाम के ब्राह्मण थे। इन्होंने ज्ञानी सन्तसिंह जी से काव्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था।

सन्तोखसिंह की रचनाएँ ये हैं—'अमरकोश का अनुवाद' (सं० १८८०), 'गुरुनानक-प्रतापसूर्य' (सं० १८८०), 'जपुजी की गरब गेजिनी टीका' (सं० १८८६), 'आत्मपुराण' और 'गुरु-प्रतापसूर्य' (सं० १८६०) तथा 'बाल्मीकि रामायण का अनुवाद' (सं० १८६१)।

'गुरुनानक-प्रतापसूर्य' और 'गुरु-प्रतापसूर्य' का सिखमत में वही स्थान है, जो हिन्दुओं में 'महाभारत' का स्थान है। वस्तुतः यही दो ग्रन्थ ही कवि की ख्याति का मूल कारण हैं। शेष ग्रन्थ टीका-ग्रन्थ हैं अथवा संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद हैं। इन दोनों ग्रन्थों को कौनसा काव्य-रूप दिया जाय ?—यह अभी पर्याप्त विवाद का विषय है। रचनाओं को आयन, ऋतु, मास (राशि) तथा अध्याय में विभक्त किया गया है। रचना की भाषा ब्रज है। इनमें गुरुओं के पवित्र चरित्र-वर्णन के अतिरिक्त सिख-सिद्धान्तों की विशद व्याख्या मिलती है।

इनकी रचना का नमूना देखिए—

सारंग पै कवि सारंग पै चढ़ि सारंग सत्रुन को बलि सारंग।
सारंग ज्यों जग में कुल सारंग सारंग ग्यान प्रकाशन सारंग॥
सारंगदासन को प्रिय सारंग सारंग दोषन को सभ सारंग।
सारंग पानि भयो नर सारंग सारंग श्री हरिगोविन्द सारंग॥

(१४) ग्वाल

सेवाराम बन्दीजन के पुत्र ग्वाल कवि का जन्म संवत् १८४८ में मथुरा में हुआ तथा मृत्यु संवत् १६२८ में नाभा में हुई। आप ब्रजभाषा के माने हुए कवि थे। आप शंकर के उपासक थे और आपका बनाया ग्वालेश्वर जी का मन्दिर मथुरा में आज तक विद्यमान है। ग्वाल एक प्रतिभाशाली कवि थे। कहते हैं कि एक समय में ये आठ काम कर सकते थे। इनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि ये पंजाब-केसरी रणजीतसिंह के दरबार में रहे। कुछ समय छुट्टी पाकर मथुरा रहकर जब वापिस गये तो लाहौर पर शेरसिंह का राज्य था। यहाँ एक तरह का राज्य-विप्लव देखकर ग्वाल कवि नाभा आकर रहे। नाभा के प्रसिद्ध राजकवि भाई हज़ूरासिंह से आपकी गहन मित्रता थी। आपने भारत का भ्रमण भी किया और अवधी, गुजराती, पंजाबी तथा मुल्तानी भाषा में कविता करने की दक्षता प्राप्त कर ली थी।

इनके रचे पच्चीस ग्रन्थ बताये जाते हैं। जिनमें से ये उपलब्ध हैं—

१. **'यमुनालहरी'**, २. **'हम्मीरहठ'**, ३. **'गोपी-पच्चीसी'**, ४. **'नख-शिख'**, ५. **'दूषणदर्पण'**, ६. **'रसिकानन्द'**, ७. **'रसरंग'**, ८. **'अलंकार भ्रमभंजन'**, ६. **'बंसीबीसा'**, १०. **'कविदर्पण'**, ११. **'भक्त-भावन'**, १२. **'नेह निबाहन'**, १३. **'कुब्जाष्टक'**, १४. **'रामकृष्णाष्टक'**, १५. **'गणेशाष्टक'**, १६. **'राधिकाष्टक'**, १७. **'दृगशतक'** १८. **'साहित्या-नन्द'**, १६. **'साहित्य-दूषण'**, २०. **'शृंगार-कवित्त'**, २१. **'गुरु-पंचाशिका'**, २२. **'शेरसिंह-प्रकाश'** **आदि**।

इनकी रचना में भाषा-संघटन और भाव-भंगिमा अपूर्व है।

इनकी रचना का नमूना देखिए—

(१)

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम-धाम,
गरमी झुकी है जाम-जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झलेहु न सुखात स्वेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी।
ग्वाल कवि कहै कोरे कुम्भन ते कूपन तें,
लै-लै जलधार बार-बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेर अब,
पीवत-हू-पीवत मिटै न प्यास पापिनी।

(२)

राजै सुर ह्वाँ तौ इहाँ साधुसुर राजै सदा,
सुधा है वहाँ तौ ह्याँ सुधासर दरस है।
पान लिये वाके होत अमर हू सुमर हू कै,
जीवन मुकुत यहि सभ कौ परस है।
ग्वालकवि योगिन को दुलभ कहाँ है उंह,
योगी-योगी देवन कौ होत ह्याँ हरस है।
ह्वाँ है हरिमन्दिर ह्याँ हरिगुरु मन्दिर है,
या तै गुरुपुर सुरपुर सरस है।

(गुरु-पंचाशिका)

(१५) कविराजा सूर्यमल

चारणों की मिश्रण शाखा के एक प्रसिद्ध कुल में श्री कविराजा सूर्यमल का जन्म सं० १८७२ बूँदी में हुआ। इनके पिता का नाम चंडीदान और दादा का नाम बदनसिंह था। ये सहृदय कवि और उच्च-कोटि के विद्वान् थे। इन्हें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पिंगल और डिंगल आदि कई भाषाओं का ज्ञान था। मुरारीदान ने—जो सूर्यमल्ल के गोद लिये पुत्र थे—अपने डिंगलकोश के प्रारम्भ में अपने पिता की विद्वत्ता की

प्रशंसा की है। इनका देहान्त सं० १६२० में हुआ।

इनके रचे ये ग्रन्थ बताये जाते हैं—'वंशभास्कर', 'वलवंतविलास', 'छन्दोमयूख', 'वीर-सप्तशती'। 'वंशभास्कर' सर्वश्रेष्ठ रचना है। बूँदी-नरेश रामसिंह की आज्ञा से इन्होंने यह ग्रन्थ सं० १८९७ में रचा था। इसमें प्रधानतया बूँदी रियासत का वृत्तान्त है और प्रसंगवश दूसरी कतिपय रियासतों का भी वृत्तान्त है। इसकी भाषा डिंगल, पिंगल और अन्य कई भाषाओं का मिश्रित रूप है। 'वंशभास्कर' वीररसपूर्ण और ओज-पूर्ण भाषा में लिखा गया है, इसकी तुलना का दूसरा ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला। वंशभास्कर में युद्धवर्णन भी अपूर्व है। इसमें छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटनाओं का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया गया है। अभी तक यह विवाद का विषय है कि 'वंशभास्कर' को इतिहास कहा जाय या महाकाव्य, क्योंकि इसमें दोनों पक्षों का सफल निर्वाह हुआ है।

सहणी सबरी हू सखी दो उर उलटी दाह।
दूधल जाणे पूतसम बलय लजाणे नाह।
जे खल भग्गा तो सखी मोताहल सज थाल।
निज भग्गा तो नाहरौ साथ न सूनो टाल।
हथलेवे की मूठ किण हाथ विलग्गा माय।
लाखां बाता हेकलो चूड़ौ मो न लजाय॥

रीतिकाल के अन्य कवि

(१) अली मुराद

अली मुराद का परिचय प्राप्त नहीं है। इनकी रचना 'कथा कुँवरावत' के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर केवल इनके मुर्शिद (गुरु) का ही पता लग सका है, जिनका नाम हज़रत फ़ख़रुद्दीन था—

निजामुद्दीन के लाल फख़रुद्दीन विनती सुनो हमारी।
भव-सागर से पार उतारो बेगहिं लियो उबारी।
बोहित बूड़ी मंझधारी।

और—

निजामुद्दीन का सुन्दर संवरिया, उन मेरी बाँह धरो री।

सम्भवतः उक्त हज़रत दिल्ली के प्रसिद्ध मुर्शिद निजामुद्दीन के पुत्र होंगे, और अली मुराद भी दिल्ली के आसपास का निवासी होगा। अली मुराद की अभी तक एक ही रचना लब्ध है—कथा-कुँवरावत। इस रचना में प्रेमकथानक के अतिरिक्त निर्गुण प्रभु का स्वरूप, गुरु-महिमा, शरीअत के नियमों का विधिवत् निरूपण किया गया है। कवि ने यथा-स्थान इस्लामी सिद्धान्तों की व्याख्या योग्यतापूर्वक की है। कथानक में वस्तुवर्णन अधिक मात्रा में नहीं है। इसके स्थान पर साधना-पद्धति का निरूपण है। हठयोग और प्रेमसाधना का समन्वय भी अपूर्व है।

कवि ने सामाजिक वर्णन परम्परागत ही किये हैं। कलियुग का वर्णन देखिए—

चंदन काट बबूर वहाँ बोई। बड़ी चित थी बुध गई वहाँ खोई।
बाभन उजाड़ चमार बसायो। राजपती ओहर कहलायो।
कलजुग है जो हो नहिं थोड़ा। गधा कौ मनुख कहेंगे घोड़ा।
दया छोड़ के पाप बसायो। वही मनुख पापी कहलायो।

ईश्वर की व्यापकता का प्रमाण लीजिए—

सब है वही कहाँ है दूजा अपना आप करें वह पूजा।
रग रग में हैं वही समाना, हर घट भीतर कियो पयाना॥

इनके ग्रन्थ की भाषा मुख्यतः बोल-चाल की अवधी है, जिसमें खड़ीबोली तथा ब्रजभाषा की स्पष्ट छाप है।

रीतिकाल की भाषा

रीतिकाल में केवल ब्रजभाषा में ही साहित्य-रचना हुई। इस काल में अवधी-भाषा की कोई प्रख्यात रचना उपलब्ध नहीं है। ब्रजभाषा के व्याकरण-सम्बन्धी कतिपय नियमों का परिचय भक्तिकाल में दिया जा चुका है। रीतिकालीन ब्रजभाषा के सम्बन्ध में केवल इतना उल्लेखनीय

है कि इस काल के कवि चाहे जिस भी प्रदेश के निवासी थे, उन्होंने ब्रजभाषा को ही अपनी काव्यरचना का माध्यम बनाया है। यह अलग प्रश्न है कि इनकी ब्रजभाषा में संस्कृत, फ़ारसी आदि के अतिरिक्त अपने-अपने प्रदेशों के शब्द भी सम्मिलित हैं। इस कथन की ओर उस युग के आचार्य भिखारीदास ने भी संकेत किया है—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोई।
मिले संस्कृत पारस्यों पै अति प्रकट जु होई।।
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जमन भाखनि।
सहज पारसीहू मिले, षट् विधि कहत बखानि।।

× × ×

ब्रजभाषा हेत ब्रजबासी ही न अनुमानौ।
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानीहू सों जानिए।।

इस प्रवृत्ति के दो कारण सम्भव हैं। एक यह कि ब्रजभाषा इस युग की परिनिष्ठित भाषा होने के कारण साहित्यिक भाषा स्वीकृत हो चुकी थी और दूसरा कारण यह कि रीतिकालीन कवियों एवं आचार्यों की शृंगारिक रचना के आलम्बन-विभाव राधा और कृष्ण हैं। अतः इन्हीं की लीलाभूमि ब्रज की ही भाषा के माध्यम रूप में स्वीकृत करना स्वाभाविक भी था। भूषण आदि जिन कवियों का आलम्बन राधा-कृष्ण नहीं था, उन्होंने भी तत्कालीन साहित्यिक एवं समर्थ ब्रजभाषा को ही अपनाना समुचित समझा। रीतिकालीन ब्रजभाषा के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि शब्दों की तोड़-मरोड़ के कारण, एक-एक शब्द के कई-कई रूपों के प्रयोग के कारण, ब्रजभाषा और अवधी के इच्छानुसार सम्मिश्रण के कारण तथा विभिन्न प्रदेशगत शब्दों के प्रयोग के कारण यह भाषा परिष्कृत एवं प्राञ्जल नहीं बन पाई। देव, भूषण, दास, प्रताप-साहि आदि आचार्यों और यहाँ तक कि बिहारी-जैसे उत्कृष्ट कवियों की भाषा से उक्त धारणा की पुष्टि हो जायगी।

उपसंहार

रीतिकाल के सम्बन्ध में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि—

१. हिन्दी-रीतिकालीन साहित्य दो रूपों में विभक्त है—रीतिबद्ध और रीतिमुक्त।

२. रीतिबद्ध साहित्य तत्कालीन राजाओं के प्रासादगत विलास का परिचायक है; उसमें बाह्य राजनीतिक घटनाओं का चित्रण नहीं है।

३. इस काल के ये लेखक कवि पहले हैं, और आचार्य बाद में। दूसरे शब्दों में, इनका लक्ष्य शृङ्गार-रस के उदाहरणों का निर्माण करना है, काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना नहीं। फिर भी, उदाहरणों को वे लक्षणों के अनुरूप अवश्य बनाना चाहते हैं।

४. उनके उदाहरण काव्य-चमत्कार की दृष्टि से अत्यन्त सरस तथा संख्या की दृष्टि से बहुत अधिक हैं।

५. काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के लिए इन्होंने संस्कृत-ग्रन्थों का आधार ग्रहण किया है; पर वे इन्हें यथावत् रूप में उपस्थित नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त हिन्दी-ग्रन्थों को लक्ष्य में रखकर भी इन्होंने महत्त्व-पूर्ण उद्भावनाएँ प्रकट नहीं कीं।

६. रीतिबद्ध-परम्परा यहीं समाप्त नहीं हो गई, आगे भी चलती रही। इन रचनाओं का इतना महत्त्व अवश्य है कि ये प्राचीन काव्यशास्त्र और आधुनिक आलोचना-शास्त्र के बीच एक कड़ी हैं।

७. रीतिमुक्त रचनाओं में प्रमुख स्थान उन प्रेमाभिव्यंजक मुक्तकों का है, जिनका विषय तो शृङ्गार है, पर वे काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को लक्ष्य में रखकर निर्मित नहीं किये गये। यह अलग प्रश्न है कि असाक्षात् रूप से ये किसी-न-किसी काव्याङ्ग के भी उदाहरण बन जाते हैं।

८. रीति-मुक्त रचनाओं में कुछ रचनाएँ वीर-रस-सम्बन्धी हैं और कुछ भक्ति और नीति-सम्बन्धी। इनमें से भूषण की वीर-कविता काव्य-शास्त्र से भी सम्बद्ध है।

९. रीतिकाल का अधिकांश साहित्य मुक्तक है ; कुछेक प्रबन्ध-काव्य भी उपलब्ध हैं, पर वे युग-प्रवृत्ति के द्योतक नहीं हैं।

१०. इस काल की भाषा ब्रजभाषा है; जो सरस होती हुई भी परिपक्व, व्याकरणसम्मत और परिष्कृत नहीं है ।

आधुनिक काल

संवत् १९०० (सन् १८४३) से आज तक

परिस्थितियाँ

उपक्रम—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल का प्रारम्भ संवत् १९०० (सन् १८४३) से माना है। पर जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं कि किसी साहित्य के इतिहास में युग-विभाजन केवल सुविधा की दृष्टि से किया जाता है; वह किसी स्पष्ट विभाजक-रेखा का सूचक नहीं होता। संवत् १९०० भी इस काल के साहित्य-निर्माण का प्रारम्भिक वर्ष नहीं है। इससे ४०–५० वर्ष पूर्व ही आधुनिककालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के बीज पनपने प्रारम्भ हो गये थे और उनका पल्लवित होना सं० १९०० से नहीं, अपितु सं० १९२५ से अर्थात् लगभग ७५ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि संवत् १८५० से सं० १९२५ तक (लगभग सन् १८००–१८७५) का समय 'सन्धिकाल' है। इस समय का पहला छोर फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना से सम्बद्ध है और दूसरा छोर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रचना-काल से।

आधुनिककालीन साहित्य विगत तीन कालों के साहित्य से तीन दृष्टियों में भिन्न है—भाषा, काव्य-रूप और वर्ण्य-विषय। आदिकाल से रीतिकाल तक प्रमुखतः डिंगल, ब्रज और अवधी—ये तीन भाषाएँ साहित्य का माध्यम रहीं, पर इस काल में आकर यह श्रेय प्रमुखतः खड़ीबोली को मिला। विगत अधिकांश साहित्य पद्यबद्ध रहा, गद्यबद्ध जो भी साहित्य उपलब्ध है, वह साहित्यिक दृष्टि से प्रायः हीन कोटि

का है। इधर इस काल में पद्यबद्ध साहित्य का निर्माण तो पूर्ववत् चलता रहा, पर गद्य-रूप माध्यम को इतना अधिक अपनाया गया कि इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर आचार्य शुक्ल ने इस काल को 'गद्यकाल' से भी अभिहित किया है। गद्य में भी नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना आदि विभिन्न काव्यरूपों में रचनाएँ प्रस्तुत की गई। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्व साहित्य से भिन्न है। आदिकाल और रीतिकाल का अधिकतर साहित्य राजकीय मनोवृत्ति तथा आश्रय-दाता की तुष्टि को लक्ष्य में रखकर निर्मित हुआ है, और भक्तिकाल का अधिकतर साहित्य भगवद्भक्ति पर आधारित है। इस प्रकार पूर्व साहित्य में 'सामान्य जन-जीवन' की उपेक्षा की गई है। पर आधुनिक-कालीन अधिकांश साहित्य का वर्ण्य-विषय 'सामान्य जन-जीवन' है। समाज-सुधार, स्वदेशप्रेम, स्वतन्त्रता-प्राप्ति, प्राचीन भारत का गौरव-गान आदि—आधुनिककालीन साहित्य के ये सभी विषय जन-जीवन से सम्बद्ध हैं।

उक्त तीन प्रकार के वैषम्य में से प्रथम दो बाह्यपक्ष-(कलापक्ष)-सम्बन्धी हैं, और अन्तिम आन्तरिक पक्ष-(भावपक्ष)-सम्बन्धी। भाव-पक्ष के निर्माण में तत्कालीन परिस्थिति का अत्यधिक हाथ रहता है; और कला-पक्ष भाव-पक्ष की अभिव्यक्ति का माध्यम तथा आवरण-मात्र होने के कारण उसकी अपेक्षा सदा गौण रहता है। अतः भावपक्ष (वर्ण्य-विषय) के प्रधान विषय देश-प्रेम तथा स्वातन्त्र्य-लालसा के निर्माण के कारणों को ढूँढ़ने के लिए इस काल की (लगभग सवा सौ वर्ष की) सामयिक परिस्थिति विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के आन्दोलन पर विचार कर लेना आवश्यक है।

(क) राजनीतिक परिस्थिति—

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल में भारतीय राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से प्रथम प्रमुख घटना है—लार्ड डलहौज़ी (सन् १८४८–५६) द्वारा 'लैप्स' की नीति पर कठोरता से आचरण। इस नीति के द्वारा

कई देशी रियासतों को—सतारा, झांसी, नागपुर, जैतपुर (बुन्देलखण्ड), उदयपुर (मध्यप्रदेश) आदि को—अंग्रेज़ी राज्य में मिला दिया गया, जिससे इस राज्य की दिनोंदिन वृद्धि होने लगी। परिणामतः रीतिकाल के अन्तर्गत देशी रियासतों में जिस प्रकार के शृंगार-परक साहित्य का निर्माण हो रहा था, अब वह बन्द-सा हो गया।

इस काल की दूसरी प्रसिद्ध घटना है—सन् १८५७ (सं० १९१४) का प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन। यह आन्दोलन मेरठ से प्रारम्भ होकर दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, झांसी और ग्वालियर तक फैल गया। यहाँ की जनता एवं नरेशों ने अँग्रेज़ों को देश से निकालने का अन्तिम प्रयास किया। अँग्रेज़ी-शासन के विरोध में यह आन्दोलन जनता की नव-चेतना एवं नव-जागृति का प्रतीक था। वस्तुतः भारतीय जनता ने परतन्त्रता का यथावसर सदा विरोध किया है। सम्पूर्ण मुस्लिम-काल में–मुहम्मदग़ौरी से लेकर औरंगज़ेब के बाद तक–जब कभी अवसर मिला, हिन्दू-शासक स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित हो गये। इस सम्बन्ध में परवर्त्ती शासन-काल में प्रताप, शिवाजी और छत्रसाल जैसे स्वातन्त्र्य-प्रेमियों के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। सन् १८५७ का विद्रोह अपने प्रकार की नवीन क्रान्ति का सूचक था। यह सत्य है कि निश्चित एवं व्यवस्थित योजना के अभाव के कारण तथा शत्रु की अपार शस्त्र-शक्ति एवं साधन-सम्पन्नता के कारण यह विद्रोह असफल रहा और सिन्धिया, होलकर, हैदराबाद आदि रियासतों के राजाओं और नवाबों ने न केवल इस विद्रोह का विरोध किया, अपितु इसके दमन के लिए अँग्रेज़ों को सहायता दी। इधर सम्पूर्ण जनता ने भी इस विद्रोह में भाग नहीं लिया था—पर फिर भी इस विद्रोह के ही फलस्वरूप जन-मानस में स्वतन्त्रता-प्राप्ति की क्रान्तिजनक तरंगें अवश्य पैदा होनी प्रारम्भ हो गई थीं—यह निश्चित है। जनता इस क्रान्ति का नारा लगातार ९० वर्ष तक लगाती रही थी जब तक कि सन् १९४७ में देश स्वतन्त्र नहीं हो गया। ९० वर्ष की यह अवधि स्वतन्त्रता-प्राप्ति की

बलिदानपूर्ण घटनाओं से परिपूर्ण है, जिसका उल्लेख समय-समय पर हिन्दी-साहित्य में भी होता रहा।

निस्सन्देह प्रारम्भ में कुछेक वर्ष ऐसे भी रहे, जब साधारण जनता आंगल-शासन पर विश्वास करने लग पड़ी थी—वह इसे सुख-समृद्धि की वृद्धि का साधन समझने लग गई थी। हमारा संकेत सन् १८५७ के विद्रोह के डेढ़ वर्ष पश्चात् विक्टोरिया द्वारा किये गये विभिन्न आश्वासनों एवं सान्त्वनाओं से है। धर्म-सम्बन्धी मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाना, लैप्स की नीति का भंग, भारतीयों को भी यथायोग्य पदों की प्राप्ति तथा साधारण जनता की समुन्नति के साधनों में वृद्धि—विक्टोरिया द्वारा दिये गये इस प्रकार के आश्वासन निस्सन्देह अत्यन्त मनोमोहक एवं विश्वासप्रद थे। इनकी भी चर्चा हिन्दी-साहित्य में प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप से होती रही। इस घोषणा के उपरान्त भारत का शासन ईस्ट-इण्डिया कम्पनी जैसी व्यापारिक संस्था के हाथों से निकलकर सीधा अँग्रेज़-साम्राज्य के अधीन हो गया।

उक्त आश्वासनों पर यथासम्भव आचरण भी किया गया—अंग्रेज़ी राज्य की 'बरकतों' का जनता एवं कवियों ने गुणानुवाद भी किया, पर इन 'बरकतों' के पीछे प्रजा-वत्सलता तथा हितपूर्ण भावना न थी, कूट-नीति-जन्य आडम्बरपूर्ण एवं कृत्रिम दुलार था। पर्दे के पीछे भारतीय संस्कृति को विनष्ट करने, भारतीय प्रजा में फूट डालने तथा भारत को राजनीतिक दृष्टि से परतन्त्र रखने की चालें चली जाती रहीं, पर भारतीय जनता इनका दृढ़ मुकाबला भी करती रही।

इस मुकाबले का प्रमुख श्रेय इण्डियन नेशनल कांग्रेस जैसी राजनीतिक संस्था को है, जिसकी स्थापना सन् १८८५ (सं० १९४२) में हुई। यद्यपि इस संस्था से पूर्व भी बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि स्थानों पर कई संस्थाएँ निर्मित होती रही थीं—पर एक तो उनका उद्देश्य सम्पूर्ण देशव्यापी न होकर अपने-अपने प्रान्तीय हित तक ही सीमित था, और दूसरे इनकी जीवनावधि भी १० वर्ष से अधिक न रही। पर कांग्रेस का

सम्बन्ध किसी एक प्रान्त से न होकर सम्पूर्ण भारत से था, अतः वह अद्यावधि स्थायी बनी हुई है।

इस संस्था के कार्यक्रम में धीरे-धीरे विकास होता रहा। आरम्भ में यह संस्था केवल भारतीयों के हित की बातों पर सोच-विचार किया करती थी, परन्तु धीरे-धीरे भारतीयों द्वारा प्रशासनीय कार्यों में सहयोग देने की अधिकार-प्राप्ति की योजना भी इसने बनाई और अन्त में इस संस्था ने अपना लक्ष्य स्वतन्त्रता-प्राप्ति नियत कर लिया।

इसी बीच लॉर्ड कर्ज़न के शासन-काल में सन् १६०५ (सं० १६६२) में बंगाल का विभाजन कर दिया गया। ब्रिटिश शासन की ओर से इस विभाजन का कारण जो भी दिया गया, पर वस्तुतः यह बंगला-जाति को दुर्बल करने की एक चाल थी। सम्भव था कि धीरे-धीरे अन्य प्रदेशों की भी बारी आती, पर बंगला जनता ने इसके विरुद्ध कड़ा आन्दोलन प्रारम्भ किया। आन्दोलन के नेता प्रसिद्ध बंगला-देशभक्त सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी थे। शीघ्र ही यह आन्दोलन देशव्यापी हो गया। परिणामतः ६ वर्ष के उपरान्त सन् १६११ में इस कानून को हटा दिया गया। इस आन्दोलन से देश-स्वातन्त्र्य की भावना को बड़ा प्रश्रय मिला।

इसी बीच सन् १६०६ में 'मार्ले-मिण्टो सुधार' द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली की नींव रखी गई। यद्यपि इस प्रणाली के लाभ भी अत्यन्त स्पष्ट हैं, पर इसका कूटनीतिक मूल उद्देश्य हिन्दुओं और मुसलमानों का ऐक्य-भंग करके इस पृथक्-निर्वाचन-प्रणाली के द्वारा उनमें साम्प्रदायिक झगड़ों को उत्पन्न करना था। अंग्रेज़ों की यह कूट-नीति सफल सिद्ध हुई। ये साम्प्रदायिक दंगे स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक निरन्तर चलते रहे। लगभग इसी समय जापान जैसे छोटे-से देश ने रूस जैसे विशाल देश को परास्त किया—इस समाचार से भारतीयों में भी कड़ा विरोध करने के लिए आत्म-विश्वास की भावना जगी और वे स्वाधीन होने के लिए उत्कण्ठित हो उठे।

इसके उपरान्त विश्व के इतिहास की प्रसिद्ध घटना यूरोप में प्रथम

महायुद्ध का प्रारम्भ है, जो सन् १९१४ से १९१८ तक लगातार ४ वर्ष चलता रहा। भारतीय वीरों ने सैनिक रूप में युद्ध के लगभग सभी मोर्चों पर जाकर अपनी वीरता का परिचय देते हुए राजभक्ति का प्रमाण दिया। युद्ध-काल में ही लार्ड चैम्सफ़ोर्ड के शासन-काल में इन सेवाओं से प्रभावित होकर तत्कालीन भारत-मन्त्री मि० मांटेग्यू ने पार्लियामेंट में घोषणा की थी कि अंग्रेजी सरकार भारतवासियों को शनैः-शनैः उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार के रूप में स्वराज्य दे देगी। स्वयं महात्मा गांधी ने इस युद्ध में जन-धन और मन से सरकार की सहायता की और इसी घोषणा के फलस्वरूप भारतवासियों को अपने देश के शासन-सम्बन्धी कार्यों में अधिक भाग भी दे दिया गया, पर यह भी कूटनीति की एक चाल थी। इस 'टुकड़े' को भारतीय नीतिज्ञों ने सन्देह की दृष्टि से देखा और इस पर अप्रसन्नता प्रकट की। परिणामतः अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध समय-समय पर रोष प्रकट किया जाता रहा। युद्ध-समाप्ति के उपरान्त ब्रिटिश सरकार न केवल भारतीयों के उपकारों को भूल गई और अपने आश्वासनों को पूर्ण करने से विमुख हुई, अपितु उसने सन् १९१९ में रोलैट्-एक्ट जैसा अन्यायपूर्ण कानून पास कर दिया। इसके अधीन पुलिस तथा मैजिस्ट्रेटों को किसी भी व्यक्ति को तथाकथित 'देशद्रोही' घोषित करके उस पर अभियोग चलाये बिना कैद करने की आज्ञा मिल गई। यहीं से कांग्रेस की सत्याग्रह-नीति और ब्रिटिश-सरकार का दमनचक्र प्रारम्भ होता है। महात्मा गांधी ने अहिंसा द्वारा ही सत्याग्रह करने का उपदेश दिया था, पर सरकार की अन्यायपूर्ण दमन-नीति में पिसी हुई जनता अपना धैर्य खो बैठी, अतः कहीं-कहीं ये सत्याग्रह हिंसात्मक भी हो गये थे। सरकार को भी मौका मिल गया और उसने निरपराध जनता को गोलियों की बौछार से भून दिया। सन् १९१९ में जलियाँवाला बाग़ अमृतसर में जनरल डायर द्वारा घटित हत्याकाण्ड आज भी निरीह एवं निश्शस्त्र सैकड़ों लोगों के रक्तपात की अमिट कहानी दुहरा रहा है। 'ख़लाफ़त आन्दोलन' भी लगभग इसी युग की घटना है, जिसके अधीन भारतीय

मुसलमानों ने ब्रिटिश सरकार से अप्रसन्नता प्रगट करते हुए टर्की के ख़लीफ़ा के प्रभाव को यथापूर्व बनाये रखने के लिए आग्रह किया। इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य सम्भव जान पड़ा और सन् १९१६ के लखनऊ-ऐक्ट के अनुसार ये दोनों जातियाँ एक साथ अनायास ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हो गईं।

सन् १९२० में कांग्रेस की बागडोर महात्मा गांधी को सँभाल दी गई। राजनीतिक क्षेत्र में यहीं से 'गांधी-युग' का आरम्भ होता है। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को सम्मिलित करके असहयोग-आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। इसमें विदेशी वस्त्रों, सरकारी नौकरियों, कौंसलों, न्यायालयों, स्कूलों, कॉलिजों और उपाधियों का बहिष्कार कर दिया गया। सहस्रों भारतीय जेल-जीवन काटने के लिए सहर्ष तैयार हो गये। ब्रिटिश सरकार के दमन-चक्र स्वरूप मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय, आज़ाद आदि नेता हज़ारों देशभक्तों के साथ जेलों में ठूँस दिये गये।

इसके उपरान्त राजनीतिक कुचक्रों के कारण अनेक घटनाएँ घटीं। कांग्रेस के सदस्यों में से एक दल असहयोग पर विश्वास न रखकर सरकार की धारासभाओं और कौंसलों में जाकर देश-हित के उचित नियम बनाने के पक्ष में था। अतः इस दल ने 'स्वराज्य-पार्टी नामक एक अलग दल स्थापित किया। इस पार्टी के प्रवर्तकों में चितरञ्जनदास, मोतीलाल नेहरू के नाम उल्लेख्य हैं। इधर कांग्रेस की नीति मुसलमानों को प्रसन्न करने की भी हो गई थी। परिणामतः पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा लाला लाजपतराय जैसे कुछेक सदस्यों ने इस संस्था से त्यागपत्र देकर 'हिन्दू-महासभा' का साथ दिया। इसके अतिरिक्त मुहम्मदअली जिन्ना जैसे कांग्रेस के कुछेक मुसलमान सदस्य भी, जो कुछ तो इस संस्था के त्यागमय, श्रमशील और संकटमय जीवन से ऊबकर और कुछ मुसलमानों को अलग राजनीतिक अधिकार दिलाने के विचार से कांग्रेस से अलग हो गये और मुस्लिम-लीग में सम्मिलित हो गये।

इन विभिन्न दलों का निर्माण सरकार के हित के लिए हो गया—

उसने इससे पूर्ण लाभ उठाया। इसके बाद की घटनाएँ एक ओर असहयोग, सत्याग्रह, नमक-आन्दोलन, अनशन और दमन-चक्र तथा दूसरी ओर कमीशनों, गोलमेज़-परिषदों और पैक्टों द्वारा ब्रिटिश-सरकार और कांग्रेस के बीच सन्धियों की कहानियों से पूर्ण हैं। इन सन्धियों का प्रथम परिणाम सन् १९३५ के ऐक्ट में भारतीय संघ की स्थापना और प्रान्तीय स्वाधीनता के भ्रमात्मक जाल के रूप में प्रकट हुआ। सन् १९३६–३७ में निर्वाचन हुए। अधिकांश क्षेत्रों में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हो गया। उन प्रान्तों में कांग्रेस ने आठ मन्त्रिमण्डल बनाये और शेष प्रान्तों में मुस्लिम-लीग तथा दूसरे संयुक्त दलों ने। दुर्भाग्यवश दो वर्ष पश्चात् ही सितम्बर सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। इंगलैंड ने बिना हमारे मन्त्रियों के पूछे यह घोषित कर दिया कि भारत इस द्वितीय महायुद्ध में सम्मिलित है। इस पर कांग्रेस के मन्त्रिमण्डलों ने विरोधस्वरूप अक्तूबर १९३९ में त्यागपत्र दे दिया, पर मुस्लिम-लीग का मन्त्रिमण्डल अब भी बना रहा। उसने सन् १९४० में पाकिस्तान की माँग की। गांधीजी ने व्यक्तिगत अवज्ञा-आन्दोलन चलाने की राय दी। फिर गिरफ़्तारियाँ शुरू हो हुईं। उधर सन् १९४२ में युद्ध की स्थिति भयंकर हो गई। अब ब्रिटिश-सरकार के लिए भारत का सहयोग लेना अत्यन्त आवश्यक हो गया। अतः क्रिप्स महोदय यह योजना लेकर आये कि युद्ध-समाप्ति के बाद भारतीय संघ की स्थापना कर दी जायगी, किन्तु जो प्रान्त या देशी राज्य स्वतन्त्र रहना चाहते हैं, वे इस संघ से पृथक् भी रह सकते हैं, पर कांग्रेस को यह नीति स्वीकार न थी। इसके बाद की उल्लेखनीय घटना सन् १९४२ की जन-क्रान्ति है, जब कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पास किया। इधर इस प्रस्ताव के पास होते ही सरकार ने नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया और उधर जनता में क्रान्ति की आग और भभक उठी। इस उमंग और जोश में जनता को गांधीजी के अहिंसा-शस्त्र का ध्यान तक न रहा। क्षुब्ध जनता ने बलिया, सतारा, बिहार, बंगाल आदि में कुछ समय के लिए तो अँग्रेज़ी शासन को लुप्त

कर दिया, पर ब्रिटिश-शासन की बर्बरतापूर्ण प्रतिक्रिया ने स्थिति सँभाल ली। उधर सन् १६४३ में महात्मा गांधी के २१ दिन के अनशन ने सरकार को हिला दिया। लार्ड वेवल ने उन्हें कारागार से मुक्त कर दिया। तत्पश्चात् महात्मा गांधी ने एक बार फिर मिस्टर जिन्ना से सन्धि करने की बातें कीं, पर वे 'पाकिस्तान' लेने से कम किसी भी स्थिति में तैयार न हुए।

इसी बीच इंगलैण्ड के निर्वाचन में मज़दूर-दल विजयी हुआ। इस उदार दल ने भारत की स्थिति को सँभालने में कोई कसर न छोड़ी। शिमला कान्फ्रेंस, पार्लियामैण्ट के शिष्ट-मण्डल तथा कैबनिट मिशन के वार्त्तालाप-स्वरूप भारत में २ सितम्बर, १६४६ को एक अन्तरिम सरकार बन गई। इसके उपरान्त मुसलिम-लीग की घृणोत्पादक नीति के फल-स्वरूप साम्प्रदायिक दंगे उठ खड़े हुए। कलकत्ता, नोआखाली, बिहार और फिर पंजाब में यह आग इतने भयंकर रूप में फैली कि मानवता चीत्कार कर उठी। उधर फ़रवरी, १६४७ में मज़दूर-मन्त्रिमण्डल द्वारा भारत को स्वतन्त्र करने की घोषणा कर दी गई। जून, १६४७ में कांग्रेस और लीग की स्वीकृति से तत्कालीन लॉर्ड माउण्टबैटन ने भारत-विभाजन की योजना घोषित की। १५ अगस्त को देश स्वतन्त्र हो गया, पर इसका विभाजन भी हो गया। इसके बाद का भारत अपने प्रिय नेताओं के शासन के अधीन उत्तरोत्तर उन्नति-पथ पर अग्रसर हो रहा है। प्रथम पञ्चवर्षीय योजना की सफलतापूर्ण समाप्ति के उपरान्त अब द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत भारत हर दृष्टि से विकसित हो रहा है। यह देश शान्ति का अग्रदूत है। इसका 'पञ्चशील' का सन्देश युद्धों से त्रस्त और लोभ-ग्रस्त समस्त मानवजाति के लिए अमर देन है।

उपर्युक्त स्वतन्त्रता-आन्दोलन का प्रभाव हिन्दी-साहित्य के निर्माण पर भी पड़ा। अनेक मुक्तक रचनाएँ देश-भक्ति के स्वर से स्वर मिलाने के लिए निर्मित हुईं। अनेक नाटकों, उपन्यासों एवं कथाओं के कथानक जनता की साधारण स्थिति को लक्ष्य में रखकर निर्मित हुए। पत्र-

पत्रिकाओं के अग्र-लेखों में इन घटनाओं की आलोचनाएँ प्रस्तुत की गईं। इस सब साहित्यिक निर्माण से भाषा का रूप स्वस्थ होता तथा निखरता चला गया और वह समर्थ एवं पुष्ट होती चली गई।

स्वदेश के प्रति श्रद्धा एवं समादर प्रकट करने का एक साधन उसके प्रति अतीत का गौरव-गान भी है। कवियों एवं कथा-साहित्यकारों ने इस ओर भी ध्यान दिया।

(ख) धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थिति—

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के भाव-पक्ष का दूसरा प्रधान विषय है—समाज-सुधार। इस विषय के लिए भी इस युग में समुचित पृष्ठभूमि निर्मित हुई। इसका उत्तरदायित्व राजनीतिक परिस्थिति की अपेक्षा धार्मिक संस्थाओं पर अधिक है। ये संस्थाएँ निस्सन्देह धार्मिक हैं, पर उन्हें धर्म के अतिरिक्त समाज को भी उन्नत करने का श्रेय प्राप्त है। राजा राममोहनराय द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज, श्री रानाडे द्वारा बम्बई में स्थापित प्रार्थना-समाज, स्वामी दयानन्द द्वारा देश-भर में स्थापित आर्य-समाज इस दिशा में उल्लेखनीय हैं। इसी सम्बन्ध में परमहंस रामकृष्ण तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने एक ओर तो धर्म की जागृति की, और दूसरी ओर राष्ट्रियता की भावना को उद्दीप्त किया। इन संस्थाओं के अतिरिक्त थियोसोफ़िकल सोसायटी का भी नाम लेना चाहिए, जिसके द्वारा ऐने बेसेन्ट जैसी पूज्या नारी ने देश में राष्ट्रियता की भावना को जागृत किया।

इन सब सभा-समाजों में से सर्वाधिक समाजोत्थान का काम आर्य-समाज ने किया। यदि इसकी धार्मिक खण्डन-मण्डन प्रणाली की ओर ध्यान न दिया जाय, तो इसका शेष कार्य-कलाप बहुमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान, वेदों के प्रति श्रद्धा-जागरण, शिक्षा-संस्थाओं के निर्माण द्वारा शिक्षा का प्रचार, नारी-जाति के प्रति समादर की भावना, निम्न-जातियों के प्रति अस्पृश्यता की भावना का निवारण, पुरातन रूढ़ियों का परित्याग—इन सब कार्यों के लिए भारतीय जनता

इस समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द की सदा ऋणी रहेगी। निस्सन्देह इस महान् व्यक्ति के बिना भारतीय समाज की स्थिति कुछ और होती। इसके अतिरिक्त इस समाज ने 'हिन्दी' के प्रसार में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। स्वतन्त्रता से पूर्व देश-भर में हिन्दी-प्रचार का सर्वाधिक श्रेय इसी समाज को ही है।

वर्ण्य-विषय के प्रसंग में यहाँ एक ओर छायावाद और रहस्यवाद तथा दूसरी ओर प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद से सम्बद्ध हिन्दी-कविताओं का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इनमें से प्रथम दो वादों की रचनाओं पर आधुनिक परिस्थितियों का प्रभाव नहीं है, और न ही सामान्य जनता को ये रचनाएँ रुचिकर प्रतीत होती हैं। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से ये रचनाएँ अंशतः भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तपरम्परा की भित्ति पर आधारित हैं और अंशतः पाश्चात्य साहित्य की प्रकृति-चित्रण-प्रणाली पर। अन्तिम दो वादों में से प्रगतिवाद रूप-विधान की दृष्टि से रूसी-साहित्य से प्रभावित होता हुआ भी वर्ण्य-विषय की सामग्री भारत के साधारण जन-समाज से लेता है। प्रयोगवादी कविताएँ अभी आरम्भिक अवस्था में हैं। इनका विषय भी जनता से सम्बद्ध है और रूप-विधान अभी स्थिर नहीं हो पाया। इन चारों वादों पर हम आगे यथास्थान प्रकाश डाल रहे हैं।

(ग) साहित्यिक परिस्थिति—

आधुनिक-कालीन साहित्य के कला-पक्ष का प्रथम अंग है—इसका गद्यबद्ध होना। दूसरा अंग है खड़ीबोली की माध्यम रूप में स्वीकृति और तीसरा अंग है विभिन्न काव्यरूपों का प्रयोग। इनमें से प्रथम दो अंगों पर हम आगे सविस्तार विचार कर रहे हैं। विभिन्न काव्य-रूपों का प्रयोग अधिकतर आंगल-साहित्य से प्रभावित है। कथा, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, समालोचना, रिपोर्ताज़ आदि आज जो कुछ भी हम लिख अथवा पढ़ रहे हैं उसका अधिकांश रूप-विधान भारतीय न होकर पाश्चात्य साहित्य का अनुकर्त्ता है। पिछली एक शताब्दी में ब्रिटिश सरकार द्वारा संचालित विभिन्न स्कूलों एवं कालेजों में प्रचलित शिक्षा-

प्रणाली ने भारतीय संस्कृति के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करने, सरकारी नौकरशाही को जीवन-सर्वस्व समझने तथा पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति को आदर्श मानने में पूर्ण सहयोग दिया है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है; पर इसमें भी तनिक सन्देह नहीं है कि उनकी भाषा के साहित्य ने भारतीय भाषाओं के साहित्य में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। हिन्दी-साहित्य भी इस प्रभाव से अछूता नहीं है। वर्ण्य-सामग्री की दृष्टि से न सही, पर विभिन्न काव्य-रूपों के लिए यह वंगला, मराठी, गुजराती आदि अन्य भाषाओं के साहित्य के समान साक्षात् अथवा परम्परागत रूप से अंग्रेजी साहित्य का ऋणी है।

हिन्दी गद्य का उन्मेष

संसारजन्य अनुभूति की सफल अभिव्यक्ति का नाम साहित्य है। अनुभूति दो प्रकार की होती है—भावात्मक और विचारात्मक। भावात्मक अनुभूति प्रधानत: हृदय से सम्बद्ध है और विचारात्मक अनुभूति प्रधानत: मस्तिष्क से। प्रथम प्रकार की अनुभूति को प्रकट करने के लिए 'आवेग' की अपेक्षा रहती है और दूसरी अनुभूति को प्रकट करने के लिए 'तर्क' की। हृदय-जन्य आवेग पर आश्रित अभिव्यक्ति प्राय: पद्यबद्ध रूप में सफल होती है; और मस्तिष्क-जन्य तर्क पर आश्रित अभिव्यक्ति प्राय: गद्यबद्ध रूप में। पद्य और गद्य में वस्तुत: यही तात्त्विक अन्तर है। इन दोनों रूपों का बाह्य अन्तर तो स्पष्ट है ही—छन्दोबद्ध रचना को पद्य कहते हैं, और छन्दोविहीन रचना को गद्य। इस प्रसंग में हम हिन्दी-गद्य के उन्मेष की चर्चा करेंगे।

(क) अपभ्रंश गद्य—

हिन्दी-साहित्य अन्य काव्य-रूपों के समान गद्य के लिए भी 'अपभ्रंश-साहित्य' का ऋणी है। अपभ्रंश-गद्य का प्रारम्भ ६वीं शती से मानना चाहिए, क्योंकि इसी शती में उद्योतन सूरि कृत 'कुवलय-माला-कथा' में कुछ अपभ्रंश-गद्य के वाक्य मिल जाते हैं। इसके बाद १३वीं शती में

'जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला' नाम से एक वैद्यक ग्रन्थ मिलता है, जिसमें गद्य-वाक्य मिल जाते हैं। इन दो ग्रन्थों का वही मूल्य है, जो महान् वट-वृक्ष के बीज का होता है। चौदहवीं शताब्दी से अपभ्रंश-गद्य की अविच्छिन्न शृंखला मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। 'प्राचीन गुर्जर-काव्यसंग्रह' नामक संग्रह-ग्रन्थ में कुछ अपभ्रंश-ग्रन्थों के गद्य-बद्ध उदाहरण संकलित हैं, इनमें से 'आराधना' (सं० १३३०) और 'अतिचार' (सं० १३४०) के नामक ग्रन्थों के नाम उल्लेख्य हैं। इनके अतिरिक्त इस संग्रह में अन्य दो अज्ञात रचनाओं के गद्य भी संकलित किये गये हैं। इन गद्यों में संस्कृत के तत्सम शब्द भी पाये जाते हैं।[1]

इस संग्रह के उपरान्त विद्यापति की 'कीर्तिलता' का नाम उल्लेखनीय है जिसका निर्माण सं० १३८० के लगभग हुआ। इसमें अपभ्रंश के सरल गद्य के नमूने मिलते हैं।[2] लगभग इसी शताब्दी में रचित 'तत्त्व-

---

१. इन गद्य-भागों के नमूने देखिए—

(क) **सम्यक्त्व प्रतिपत्ति करहु अरिहन्तु देवता सुसाधु गुरु जिन प्रणीत धम्मु सम्यक्त्व दंडकु ऊचरहु सागार प्रत्याख्यानु ऊचरहु चऊह सरणि पइ सरहु।** —आराधना

(ख) **प्रतिषिद्ध जीवहिंसहादिक तणइ करणि कृत्य देवपूजा धर्मानुष्ठान तणइ अकरणि जि जिनवचन तणइ अश्रद्दधानि विपरीत परुपणा एवं बहु प्रकारि जु कोइ अतीचारु हुयउ पक्ष दिवस मांहि।** —अतिचार

(ग) **पहिलउं त्रिकाल अतीत अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थंकर सर्व-पापक्षयंकर हउं नमस्कारउं। × × × × तउ तुम्हि ज्ञानाचार दरिसणाचार चारित्राचार तपाचार वीर्याचार पंचविध आचार विषइया अतीचार आलोउ।** [अप० सा० पृष्ठ ३७८]

२. **तान्हिकरो पुत्र युवराजन्हि मांझ पवित्र अगणेय गुणग्राम प्रतिज्ञा पद पूर्णक परशुराम मर्यादा मंगलावास कविताकालिदास प्रबल रिपुबल सुभट्ट संकीर्ण समर साहस दुर्निवार धनुर्विद्या वैदग्ध धनं-**

विचार' और 'धनपाल-कथा' के गद्य-भाग अगरचंद नाहटा ने 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित कराये हैं।[१] संवत् १४७८ में माणिकचन्द्र सूरि ने 'पृथ्वीचन्द्र-चरित्र' लिखा है, जिसमें गद्य का सुव्यस्थित रूप उपलब्ध है।[२]

इन गद्यांशों को देखकर यह अनुमान लगाने को आधार मिल जाता है कि ये गद्य उत्तरोत्तर समास-रहित अतएव सरल बनते जा रहे हैं, तथा इनमें 'पुरानी हिन्दी' के तत्त्व भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी की ओर विकसित होने वाली अपभ्रंश भाषा का रूप जितना कविता में विकासोन्मुख है, उतना गद्य में भी है।

(ख) ब्रजभाषा-गद्य—

१५वीं शती से अपभ्रंश-गद्य की परम्परा लुप्त होनी प्रारम्भ हो जाती है। पर इसके लुप्त होने से पूर्व ब्रजभाषा-गद्य की शृंखला जुड़ जाती है।

सं० १४०० के आसपास का लिखा एक गोरखपंथी गद्य-ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसमें हठयोग और ब्रह्मज्ञान की चर्चा है। रामचन्द्र शुक्ल ने इसके गद्य को ब्रजभाषा का नमूना माना है। इसके बाद गोस्वामी विट्ठलनाथ की 'शृङ्गार-रस-मंडन' नामक ब्रजभाषा की पोथी मिलती है। यह रचना १६वीं शताब्दी की है। इसी ग्रन्थ के रचना-काल में स्वामी हितहरिवंश जी का

जयावतार समाचरित चन्द्रचूड़ चरणसेव समस्तप्रक्रिया विराजमान महाराजाधिराज श्रीमद् वीरसिंह देव···

१. (क) **एउ संसारु असारु। खण भंगरु। अणाइ चउ गईउ। अणोरु अपारु संभारु।** —तत्त्व-विचार

(ख) **उज्जयनी नाम नगरी, तहिंठे भोजदेवु राजा। तीयहितणइ पंचह सयह पंडितह माँहि मुख्यु धनपाल नामि पंडितु।** —धनपाल-कथा

[राजस्थान भारती: वर्ष ३, अंक २-३-४]

२. **विस्तरिउ वर्षा काल, जो पंथी तणउ काल नाठउ दुकाल जिणिहि वर्षाकालि मधुर मेह गाजइ दुर्भिक्ष तणा भय भाजइ। जाणे सुभिक्ष भूपति आवतां जय ढक्का बाजई।** —अ० सा० ३८०

विट्ठलनाथ जी को लिखा पत्र ब्रजभाषा-गद्य का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता है। १७वीं शताब्दी में गोस्वामी गोकुलनाथ ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'—दो पुस्तकें ब्रजभाषा में लिखीं। सं० १६६० में नाभादास ने 'अष्टयाम' नामक पुस्तक ब्रजभाषा-गद्य में लिखी। इन ग्रन्थों के गद्य-भागों के कुछ नमूने देखिए—

१. (क) **श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द आनन्दस्वरूप हैं सरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सों मछंदरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ? आत्मज्योति निश्चल है अन्तहकरन जिनके अरु मूलद्वारतें छह चक्र जिनि नीकी तरह जानैं।** —गोरखपन्थी गद्य-ग्रन्थ

(ख) **प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य नें जीते हैं। अमृतसमूह ताकरि निकुंज विषै श्रृङ्गार रस श्रेष्ठ रचना कीनो सो पूर्ण होत भई।** —शृंगाररसमण्डन

(ग) **सो श्री नंदगाम में रहतो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सब को खंडन करतो, ऐसे वाको नेम हतो। याही तै सब लोगन ने वाको नाम खंडन पार्‍यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयौ।**

—दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता

(घ) **तब श्री महाराजकुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्धसमाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठते भए।** —अष्टयाम

इनके अतिरिक्त संवत् १६८० में वैकुण्ठमणि शुक्ल ने अगहन-माहात्म्य और वैशाख-माहात्म्य, संवत् १७६० में किसी अज्ञातनामा लेखक ने 'नासिकेतोपाख्यान' तथा संवत् १८५२ में लाला हीरालाल ने 'आईन-ए-

अकबरी की भाखा वचनिका' ब्रजभाषा गद्य में लिखी ।

ब्रजभाषा में गद्य-ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति इतनी लोकप्रिय नहीं हुई, जितनी कि ब्रजभाषा में लिखी 'टीकाएँ' लोकप्रिय हुईं । यद्यपि कविता की 'मूल' ब्रजभाषा की अपेक्षा टीका की ब्रजभाषा जटिल और कठिन है, फिर भी टीकाग्रन्थों की कोई गिनती नहीं । इन टीकाग्रन्थों की परम्परा अठारहवीं शती से लेकर भारतेन्दु-युग के मध्यकाल (संवत् १९४०) तक अविच्छिन्न चली आई है । अप्रसिद्ध टीकाग्रन्थों को छोड़ भी दिया जाय तो भी मोटे-मोटे टीकाग्रन्थों की संख्या दसियों तक जा पहुँचती है।[१] यह ठीक है कि इन टीका-ग्रन्थों का अपने-आप में कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं है, फिर भी ब्रजभाषा की प्रवृत्ति गद्य की ओर भी बनी रही है—यह इन टीकाओं से अवश्य सिद्ध हो जाता है ।

---

१. इनमें से प्रसिद्ध टीकाग्रन्थ ये हैं—

१.	टीका बिहारी-सतसई	हरिचरनदास	१७७७ ई०
२.	कविप्रिया	,,	१७७८ ,,
३.	हरिवंश के चौरासी पदों की टीका	प्रियादास	१७८० ,,
४.	टीका संयुगति-वचनिका	रामजन	१७८२ ,,
५.	रामचरित मानस की टीका	रामचरन	१७८७ ,,
६.	रामचन्द्रिका की टीका	जानकीप्रसाद	१८१५ ,,
७.	लक्ष्मण-चन्द्रिका (कविप्रिया)	लक्ष्मनराव	१८१६ ,,
८.	लालचन्द्रिका (बिहारी-सतसई)	लल्लूलाल	१८१८ ,,
९.	कृष्ण-चन्द्रिका (बिहारी स०)	कृष्णचन्द्र	१८३६ ,,
१०.	रत्न-चन्द्रिका (बिहारी स०)	प्रतापसाहि	१८३९ ,,
११.	टीका रसिकप्रिया	सरदार कवि	१८४६ ,,
१२.	गर्वगंजनी (टीका जपजी)	संतोषसिंह	१८४० ,,
१३.	मानस-परिचय	रत्नहरि	१८५० ,,

खड़ीबोली : विकास और गद्यबद्ध निर्माण

(क) खड़ीबोली का विकास

विकास—आधुनिक काल से पूर्व ब्रज और अवधी ही साहित्यिक भाषाएँ रहीं। अमीर खुसरो को छोड़कर शेष किसी भी कवि ने खड़ीबोली को मूलरूप से नहीं अपनाया। इसका प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि भ्रमवश इसे मुसलमानों की भाषा समझ लिया गया था। यहाँ तक कि कुछ विद्वानों ने इसे म्लेच्छभाषा कहने में भी संकोच नहीं किया।[1] इतिहास साक्षी है कि आरम्भ में खड़ीबोली का प्रयोग केवल मुसलमानों ने ही किया, जिन हिन्दू लेखकों ने इसे कहीं अपनाया भी तो भाषा को पात्रानुकूल बनाने के उद्देश्य से इसे मुस्लिम पात्रों के मुँह से कहलवाया है।[2] हिन्दुओं की इस उपेक्षा से खड़ीबोली मुस्लिम-संस्कृति की गोद में पलकर उर्दू बन बैठी। और बहुत आगे चलकर खड़ीबोली को हिन्दू लेखकों ने भी अपनाना आरम्भ कर दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस भाषा को सर्वप्रथम गद्य-साहित्य के माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया, अमीर खुसरो को छोड़कर और किसी भी प्रसिद्ध हिन्दी-कवि ने इसे पद्य रूप में नहीं अपनाया। यह अलग प्रश्न है कि हिन्दी-साहित्य के प्रथम तीन कालों की पद्यबद्ध रचनाओं में इसका प्रयोग भी इधर-उधर बिखरा हुआ मिल जाता है, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(अ) आदिकाल—

१. खड़ी बोली के प्राचीन रूप अपभ्रंश ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ—

"भल्ला हुआ **जु** मारिआ, **बहिणि** ! महारा कन्तु।"

इस पंक्ति में छोटे टाइप वाले पद अपभ्रंश की अपेक्षा खड़ीबोली

---

१. पुरानी हिन्दी, पृष्ठ १०८।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास (छठा संस्करण), रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ३५९।

की ओर अधिक झुके हुए हैं।

२. इसी प्रकार 'वीसलदेवरासो' में भी, जो मूलतः पिंगल भाषा का ग्रन्थ है, कुछेक स्थलों पर खड़ीबोली की 'आकारान्त प्रवृत्ति' स्पष्ट दिखाई देती है—

(क) मोती का **आषा** किया।
(ख) चित्त फाट्या **मन** उचट्या।

३. अमीर खुसरो ने तो अपनी पहेलियों और मुकरियों की रचना पूर्णतः खड़ीबोली में ही की है। एक पहेली का नमूना देखिए—

आदि कटे तो सब को पारे।
मध्य कटे तो सब को मारे॥
अन्त कटे तो सब को मीठा।
कहे खुसरो मैं आँखों दीठा॥

(आ) भक्तिकाल—

कबीर, नानक, दादू आदि सन्तकवियों की भाषा पर भी खड़ीबोली का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है—

(१) कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर।
(२) घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं मथि काढै ते और॥
(३) सोच विचार करे मत मन में, जिसने ढूँढ़ा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परसे, निसदिन रामचरन चित लाया॥

(इ) रीतिकाल—

(१) भूषण कवि की 'शिवाबावनी' में भी खड़ीबोली के कुछेक रूप द्रष्टव्य हैं। उदाहरणार्थ—

(क) भूषन भनत बाजे **जीत** के **नगारे भारे,**
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके॥
(ख) अफ़ज़ल खान गहि जाने मयदान मारा,
बीजापुर गोलकुण्डा मारा **जिन आज है**॥

(ग) **बन्धु तो मुरादबकस बादि चूक करिबे को,**
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है।
(घ) **भूली खान-पान फिरैं बन** बिलबिलाती हैं।

(२) रीतिकालीन अन्य कवियों—सीतल, तोष, सूदन, ग्वाल, रघुनाथ आदि—की कविता में भी खड़ीबोली के रूप इधर-उधर बिखरे हुए मिल जाते हैं। रघुनाथ की कविता का नमूना देखिए—

वह मोहताज आप की है आप उसके न
आप क्यों चलोगे ? वह आप पास आवेगी।

यह रही पद्यबद्ध रचना में खड़ीबोली के विभिन्न प्रयोगों की चर्चा। आधुनिक काल से पूर्व खड़ीबोली के कुछेक गद्य-ग्रन्थ तथा कुछ उल्लेख भी उपलब्ध हो जाते हैं। इनके लेखकों में से गंग तथा दौलतराम के अतिरिक्त 'मंडोवर-वर्णन' के किसी अज्ञात-लेखक का नाम उल्लेखनीय है।

अकबर के समकालीन गंग कवि की 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की भाषा का एक उदाहरण लीजिए—

सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहि जी श्री दलपति जी अकबरसाह-जी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है, जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेशम के रस्से में रेशम की लूमें पकड़ पकड़ के खड़े ताज़ीम में रहे।

सं० १८१८ में पण्डित दौलतराम ने 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया था, जिसकी भाषा अरबी-फ़ारसी के सम्पर्क से दूर खड़ीबोली है। निम्नलिखित उदाहरण से इस कथन की पुष्टि हो जायगी—

जम्बूद्वीप के भारतक्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करैं हैं और भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।

संवत् १८३० में किसी अज्ञात लेखक ने 'मंडोवर का वर्णन' साधारण बोलचाल की भाषा में लिखा है। भाषा का एक नमूना देखिए—

अवल में यहाँ मांडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुआ। इस लफ़्ज़ का बिगड़कर मंडोवर हुआ है।

इधर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने २०० वर्ष प्राचीन गद्य का नमूना, जो कि पत्रों के रूप में है, प्रकाशित कराया है। मज़े की बात यह है कि इन पत्रों की भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' भी दिया हुआ है। इससे इस नाम की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है—

अथ हेन्दुस्थानीय भाषाया (याँ) पत्रलिखनप्रकारः।

स्वस्ति श्री सकल उपमायोग्य हमारे आप्त अमुक को महाराज के संदेश आगे हमको तुम्हारे मुलुक की फलानी चीज़ चहती है। तिस वास्ते हमारा पास (से) फलाना शकस को भेजा है। पैशें (पैसे) ताँ तिस्के पास दिए हैं तुमके किताब लिखो है।······

—विशाल भारत : अप्रैल १९४०

(ख) खड़ीबोली का गद्य-बद्ध निर्माण

रीतिकाल तक खड़ीबोली के पद्य और गद्य-क्षेत्र में प्रवेश करने की गाथा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। आधुनिक साहित्य में–जिसका वास्तविक प्रारम्भ भारतेन्दु से मानना चाहिए–इस भाषा के प्रवेश करने से पूर्व इसे अनेक गद्यबद्ध निर्माण-भागों से गुज़रना पड़ा। इस निर्माण को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—रीतिकालीन और रीतिकालोत्तरवर्ती।

(अ) रीतिकालीन निर्माण—(संवत् १८५०–१९००)

५० वर्ष

(आ) रीतिकालोत्तरवर्ती निर्माण—(संवत् १९००–१९२५)

२५ वर्ष

(अ) रीतिकालीन निर्माण—(सं० १८५०–१९००)

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में संवत् १८५० (लगभग सन् १८०० ई०) से लेकर सं० १९०० (लगभग सन् १८५०) तक के पचास वर्ष बड़े महत्त्व

के हैं। इन वर्षों का महत्त्व इस बात में है कि बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उदय के साथ हिन्दी-साहित्य की जो महती उन्नति हुई, उससे लगभग ५० वर्ष पूर्व—फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के समय से लेकर—जिस समुचित तैयारी की आवश्यकता थी, वह इस समय में यथेष्ट रूप में हो चुकी थी। कुछ प्रत्यक्ष और कुछ परोक्ष शक्तियों ने मिलकर खड़ीबोली-गद्य को 'माँजना' आरम्भ कर दिया था, जिससे उसमें महान् साहित्य के निर्माण की क्षमता आने लग गई थी। इसमें जो-कुछ कमी रह गई थी, उसे आगे चलकर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पूरा कर दिया। इन ५० वर्षों में जिन शक्तियों ने गद्य-निर्माण में सहायता दी, वे ये हैं—

१. फ़ोर्ट विलियम कालिज;
२. धार्मिक आन्दोलन—ईसाई और ब्रह्मसमाज;
३. कतिपय स्वतन्त्र लेखक—इंशा अल्लाखाँ, सदासुखलाल और रामप्रसाद निरंजनी।
४. पत्र-पत्रिकाएँ—उदंत मार्तण्ड, बनारस अख़बार; आदि-आदि।

इन शक्तियों में से धार्मिक आन्दोलनों द्वारा हिन्दी गद्य को आनुषंगिक लाभ पहुँचा है, अतः इन्हें 'परोक्ष-शक्ति' मानना चाहिए और शेष तीन को प्रत्यक्ष-शक्तियाँ। प्रत्यक्ष-शक्तियों ने हिन्दी (खड़ीबोली) गद्य के निर्माण में अपूर्व योग दिया है। इन सबका संक्षिप्त परिचय लीजिए—

१. फ़ोर्ट विलियम कालिज—

फ़ोर्ट विलियम कालिज की स्थापना भारत के शिक्षा-जगत् में एक अपूर्व घटना है। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी-सरकार को आभास-सा मिल गया था कि भारत में मुस्लिम-शासन की नींव हिल चुकी है और हिन्दू-शक्ति परस्पर बँटी हुई है। अतः भारत में साम्राज्य-स्थापन कोई कठिन कार्य नहीं है। कम्पनी के सर्वोच्च अधिकारी शुरू से ही ऐसी नीति पर चल रहे थे, जिससे ऊपर से यह मालूम पड़े कि अँग्रेज़ केवल अपने

व्यापार के साधन जुटा रहे हैं, पर वस्तुतः वे उन साधनों को जुटाने में लगे हुए थे, जिससे अँग्रेज़ी साम्राज्य की नींव पक्की हो। इस कूटनीति की अनेक शाखाएँ थीं, जिनमें 'शिक्षानीति' भी एक थी।

'फ़ोर्ट विलियम कालिज' मि० जॉन औथंविक् गिलक्राईस्ट के सुनहले स्वप्नों का और मार्क्विस वेलेज़ली के कूटनीतिक आदर्शों का प्रत्यक्ष परिणाम था। गिलक्राईस्ट सन् १७८३ में कम्पनी के सर्जन बनकर आये थे। आते ही उन्होंने यह निश्चय किया कि कम्पनी को सुचारु रूप से चलाने के लिए 'हिन्दुस्थानी' भाषा की जितनी आवश्यकता है, उतनी फ़ारसी की नहीं, अतः उन्होंने स्वयं हिन्दुस्तानी सीखनी शुरू की। बहुत जल्दी उन्होंने दक्षता भी प्राप्त कर ली। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने सन् १७६० में 'हिन्दुस्तानी डिक्शनरी' और सन् १७६६ में 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' तैयार कर ली। गिलक्राईस्ट की असाधारण योग्यता देखकर कम्पनी ने अपने कर्मचारियों को 'हिन्दुस्तानी' की शिक्षा देने के लिए उनकी सेवाएँ प्राप्त कीं। सन् १७६८ में 'ओरियण्ट सेमिनरी' संस्था स्थापित की गई। मार्क्विस वेलेज़ली ने इस संस्था के विकास में बड़ी रुचि ली। दो वर्ष से भी कम समय में ६ जनवरी, १८०० से गिलक्राइस्ट को परीक्षा लेने का अधिकार मिल गया। संस्था की सन्तोष-जनक प्रगति से प्रेरित होकर मार्क्विस वेलेज़ली ने ४ मई १८०० को 'ओरिएण्टल सेमिनरी' संस्था को 'फ़ोर्ट विलियम कालिज' के रूप में बदलने का निश्चय कर लिया। इसके लिए सब व्यवस्था कर दी गई; यथा—

१. संरक्षक और विज़िटर (निरीक्षक)—गवर्नर जनरल।

२. गवर्नर (व्यवस्थापक)—दिवानी अदालत के जज और सुप्रीम कौंसिल के सदस्य।

३. इसके लिए विधान भी बना दिया गया।

तीन वर्ष तक कालिज यथेष्ट प्रगति के साथ चला और जितना कार्य किया गया, वह इतना पर्याप्त और सन्तोषप्रद है कि साहित्य-जगत् में

इसे यथोचित मूल्य मिलता रहेगा। पर कालिज के डाइरेक्टरों ने इस संस्था में यथेष्ट रुचि नहीं ली, बल्कि उन्होंने सदा विरोधी रुख़ बनाये रखा। परिणामतः सन् १८०४ में कालिज का कार्य संक्षिप्त कर दिया गया, और धीरे-धीरे कालिज २ फ़र्वरी १८५४ को बन्द कर दिया गया। कालिज के पहले चार वर्षों में भारतीय भाषाओं का विकास हुआ, जिनमें हिन्दी भी एक है। जिसे हम 'हिन्दी' कह रहे हैं, उसे कालिज के वातावरण में 'हिन्दुई' कहा गया; जिसे हम 'उर्दू' मान रहे हैं, उसे वहाँ 'हिन्दी' नाम से पुकारा गया। 'भाषा' के अन्तर्गत यद्यपि ब्रजभाषा का विकास हो रहा था, तथापि खड़ीबोली भी ब्रजभाषा के साथ-साथ पल-पुस रही थी। हिन्दी-साहित्य के विकास में इस कालिज ने जो कार्य किया है, उसका विवरण इस प्रकार से है—

१८०० में लल्लूजीलाल की भाषा-मुन्शी के रूप में नियुक्ति।

१८०१ में 'सिंहासन-बत्तीसी' का प्रकाशन।

१८०२ में 'बैतालपच्चीसी' और 'माधोनल कामकन्दला' का प्रकाशन।

१८०३ में 'प्रेमसागर' का प्रकाशन।

१८०६ में खड़ीबोली के 'अध्यात्म-रामायण' पर पुरस्कार।

१८०३–६ में तीन थीसिसों (निबन्धों) का लिखा जाना।

१८१० में ब्रजभाषा-व्याकरण का प्रकाशन।

फोर्ट विलियम कॉलिज के विशिष्ट व्यक्तियों का परिचय इस प्रकार है—

(१) जॉन आर्थविक् गिल क्राईस्ट

जॉन गिल क्राईस्ट का जन्म १७५९ ई० में एडिनबरा में हुआ था। सामान्य विद्याभ्यास के बाद इन्होंने जॉर्ज हेरियट्स अस्पताल में चिकित्सा-ज्ञान प्राप्त किया। ३ अप्रैल, १७८३ को वे कम्पनी के सहायक सर्जन नियुक्त होकर भारत आये। यहाँ पहुँचकर इन्होंने 'हिन्दुस्तानी' के अध्ययन, प्रचार, शिक्षा और साहित्य-सर्जन में विशेष रुचि ली। गिल क्राईस्ट ने

लगभग ६-१० पुस्तकें लिखीं,[1] उनकी लिपि यद्यपि रोमन है, तथापि उनका वर्ण्यविषय हिन्दी है। कॉलिज-डायरेक्टरों के विरोधी रुख से खिन्न होकर इन्होंने कॉलिज से त्यागपत्र दे दिया और १८०४ में इंगलैण्ड वापिस चले गये। एडिनबरा विश्वविद्यालय से उन्हें एल्-एल्० डी० की उपाधि मिली। ६ जनवरी, १८४१ को पैरिस में इनका देहान्त हुआ।

जॉन गिल क्राईस्ट की भाषा-सेवाएँ तो अपूर्व हैं, पर उनकी भाषा-सम्बन्धी परिभाषाओं ने भ्रांति फैलाने में कोई कमी नहीं छोड़ी। उनके विचारों में 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दी', 'उर्दू', 'उर्दवी' और 'रेख़्ता'—सब नाम एक भाषा के हैं। वे 'हिन्दी' का अर्थ 'हिन्द की' भाषा लेते थे। 'हिन्दवी' से हिन्दुओं की भाषा का अर्थ गिलक्राईस्ट ने इसलिए ले लिया कि यह नाम सदियों से हिन्दुओं की भाषा के लिए मुसलमानों में रूढ़ चला आता था। उनके मत में 'हिन्दवी' ब्रजभाषा, अवधी और संस्कृत-निष्ठ खड़ीबोली का नाम है।[2]

(२) लल्लूजीलाल

लल्लूजीलाल आगरा के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् १८२० तथा मृत्यु संवत् १८८२ में हुई। ये संस्कृत, ब्रजभाषा और उर्दू के ज्ञाता थे। संवत् १८५७ (१८०० ई०) में इनकी भाषा-मुन्शी के रूप में फोर्ट विलियम कॉलिज में नियुक्ति हुई। दो वर्ष के बाद वह नियुक्ति स्थायी हो गई। लल्लूजीलाल को जॉन गिलक्राईस्ट के

---

१. ए डिक्शनरी इंग्लिश एण्ड हिन्दुस्तानी (१७९०), ए ग्रामर ऑव् दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज (१७९६), दि ओरियण्टल लिंग्विस्ट (१७९८), दि ऐण्टी जार्गोनिस्ट (१८००), दि स्ट्रेंजर्स ईस्ट इंडियन गाइड टु दि हिन्दुस्तानी (१८०२), दि हिन्दी स्टोरी-टैलर (१८०२), ए कलैक्शन ऑव् डायलाग्स : इंगलिश एण्ड हिन्दुस्तानी (१८०४), दि हिन्दी मौरल प्रोसेस्टर (१८०३), दि ओरियण्टल फैब्यूलिस्ट आदि।

२. फोर्ट विलियम कॉलिज : पृष्ठ १६८ और २०४।

अधीन काम करने का अवसर मिला था। यदि इनके भाषा-सम्बन्धी विचारों पर इनके अधिष्ठाता की छाप हो तो यह सर्वथा सम्भव जान पड़ता है। इनकी रचनाएँ ये हैं—

(क) 'सिंहासन-बत्तीसी' और 'शकुन्तला' (१८०१ ई०)
(ख) 'बैताल-पच्चीसी' और 'माधोनल कामकंदला' (१८०२ ई०)
(ग) 'प्रेमसागर' (१८०३)
(घ) 'राजनीति' (१८०९)
(ङ) 'ब्रजभाषा-व्याकरण' (१८११)
(च) 'सभा-विलास' (१८१५)।

इन रचनाओं में से प्रेमसागर की विशेष प्रसिद्धि है। लेखक ने इसे ठेठ रूप देने का संकल्प लेकर लिखा था। यद्यपि इसकी भाषा 'हिन्दुई' है, पर इसे ब्रजभाषा और खड़ीबोली का मिश्रित रूप मान सकते हैं। जो हो, हिन्दीगद्य के निर्माण में लल्लूजीलाल का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इनकी भाषा का एक उदाहरण लीजिए—

एक समै व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत के दसम स्कंध की कथा को चतुर्भुज मिश्र ने दोहे-चौपाई में ब्रजभाषा किया। सो पाठशाला के लिए महाराजाधिराज सकल गुणनिधान, पुण्यवान, महाजान मारकुइस वलिजलि गवरनर जनरल प्रतापी के राज में श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त की आज्ञा से संवत् १८६० में लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने जिसका सार ले यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की 'खड़ीबोली' में कह नाम 'प्रेमसागर' धरा।

(३) सदल मिश्र

ये बिहार के रहनेवाले थे। ये भी लल्लूजीलाल की तरह कॉलिज में भाषा-मुन्शी की हैसियत से काम करते थे। इन्हें एक-दो बार कॉलिज से पृथक् कर दिया गया, पुनः अपने पद पर नियुक्त भी कर दिया गया। ये सन् १८०४ से १८०९ तक कॉलिज में विद्यमान रहे। इनकी नियुक्ति भाषा-मुन्शी की हैसियत से हुई थी, पर इनसे फ़ारसी-सम्बन्धी कार्य भी

ले लिया जाता था। इनकी रचनाएँ ये हैं—

(क) 'अध्यात्मरामायण' (१८०६ ई०)

(ख) 'हिन्दी-फ़ारसी शब्द-सूची' (१८०६ ई०)

(ग) 'नासिकेतोपाख्यान'

प्रथम दो पुस्तकों का निर्माण कॉलिज-व्यवस्था के अधीन हुआ था, तथा इन पर पुरस्कार-प्राप्ति की घोषणा भी हुई थी। इनमें से प्रथम रचना अप्राप्य है। तीसरी रचना सदल मिश्र ने कॉलिज में जाने से पूर्व ही लिखी होगी—अनुमान से ऐसा ज्ञात होता है। इनकी भाषा है तो 'हिन्दुई' पर उसका रूप व्यावहारिक खड़ीबोली का है। व्रजभाषा और अवधी के शब्द यत्र-तत्र पाये जाते हैं। इनका भाषा का एक नमूना देखिए—

इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन-जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता-पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु, इनका जो बध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन-रात लगे रहते हैं, अपनी भार्य्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते औरों को पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो माता-पिता की हित-बात को नहीं सुनते, सब से बैर करते हैं, ऐसे जो पापीजन हैं सो महा डरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

इस प्रकार फ़ोर्ट विलियम कालिज ने अध्ययन, साहित्य-प्रणयन, पुरस्कार आदि द्वारा अनेक मार्गों से हिन्दी-गद्य के निर्माण में पूरी-पूरी सहायता दी, जिसे इतिहास भुला नहीं सकता।

२. धार्मिक आन्दोलन—

२० मई, १४६८ में वास्को-ड-गामा भारत में आया। इससे पूर्व कई ईसाई पादरियों का भारत में आना सिद्ध होता है, पर यह कह सकना कठिन है कि उन्होंने धर्म-प्रचार और भारतीय भाषाओं में अधिक

रुचि ली। हाँ, इसके बाद आने वाले ईसाइयों ने निश्चयपूर्वक धर्म-प्रचार के साथ-साथ भारतीय भाषाओं के विकास में पूरा-पूरा सहयोग दिया। सन् १५४२ में फ्रांसिस जेवियर नामक पादरी भारत में आया, सन् १५७९ में फ़ादर टामस स्टीफेन्स नामक अंग्रेज पादरी भारत में आया; इन दोनों ईसाई प्रचारकों ने 'स्कूल' खोलकर पश्चिमी ढंग से शिक्षा देनी आरम्भ की, जिससे ईसाई धर्म का प्रचार हो सके। इसके बाद सत्रहवीं-अठारहवीं शतियों में फ्रांस, हालैण्ड, बेलजियम, नार्वे आदि यूरोपीय देशों से ईसाई-प्रचारक आते रहे। सन् १८१३ से 'विल्फ़ोर्स ऐक्ट' के पास होने पर ईसाइयों ने धर्म-प्रचार करना बड़ी द्रुतगति से प्रारम्भ कर दिया। स्कूल, अस्पताल, धर्मसंघ, धर्मोपदेश, शास्त्रार्थ, पुस्तक-वितरण आदि अनेक उपायों से भारत में ईसाई-प्रचार किया जाने लगा।

सन् १८०३ (संवत् १८६०) से सन् १८४३ (संवत् १९००) तक हिन्दी में जितना ईसाई-साहित्य बना था, वह सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-आन्दोलन में नष्ट हो गया। संवत् १८६३ में 'अंजील' का नया संस्करण छपकर तैयार हुआ; बाईबल का पहला भाग 'न्यू टैस्टामेंट' संवत् १८६६ में और दूसरा भाग 'ओल्ट टैस्टामेंट' संवत् १८७५ में छपकर प्रकाशित हुआ। इनका अनुवाद सस्कृतनिष्ठ खड़ीबोली में किया गया।

ईसाई-धर्मप्रचारकों के ढंग पर राजा राममोहन राय के प्रयास-स्वरूप ब्रह्म-समाज की स्थापना की गई। इस समाज के प्रचार का ढंग भी वही था, जो ईसाई-धर्मप्रचारकों का था। संवत् १८७२ में राजा राममोहन राय ने 'वेदान्त-सूत्र' का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया तथा ब्रह्मसमाज-सम्बन्धी साहित्य का निर्माण खड़ीबोली गद्य में किया गया।

३. कतिपय स्वतन्त्र लेखक—

स्वान्तःसुखाय लिखने वाले साहित्यकारों की कृतियाँ जितना मूल्य रखती हैं, उतना मूल्य प्रेरणा, पुरस्कार, प्रचार अथवा किसी अन्य उद्देश्य से लिखी कृतियों का नहीं होता। इसका कारण स्पष्ट है। अपनी धुन

में लिखनेवालों का लक्ष्य 'कला' होता है और प्रेरणा से लिखनेवालों का 'लक्ष्य' कला न होकर विशिष्ट प्रयोजन होता है; 'कला' तो उस प्रयोजन का साधनमात्र बनकर रह जाती है। अतः फोर्ट विलियम कालिज में जो कुछ लिखा गया है और जो-कुछ धार्मिक आन्दोलनों से लिखा गया है, उसमें वास्तविकता कुछ और है। पर इधर इंशाअल्लाखाँ, सदासुखलाल, पं० रामप्रसाद निरंजनी ने जो कुछ लिखा और कहा वह इस युग की वास्तविक रचनाएँ मानी जानी चाहिएँ।

स्वतन्त्र-चेता कतिपय लेखकों का परिचय इस प्रकार है—

(१) रामप्रसाद निरंजनी

रामप्रसाद निरंजनी पंजाब के रहनेवाले थे। इनका जन्म अनुमानतः संवत् १७९८ ठहराया जाता है। हिन्दी-साहित्य में इनके रचित 'योग-वसिष्ठ' की पर्याप्त चर्चा की जाती है। पटियाला-नरेश साहबसिंह संवत् १८३८ में राज्य-सिंहासन पर बैठे। इनके दरबार में निरंजनी जी का आना-जाना था। कुछ ही वर्षों के बाद महाराज की दो बहिनें विधवा हो गईं, जिनकी शोक-शान्ति के लिए रामप्रसाद निरंजनी से 'योगवसिष्ठ' की कथा सुनाने के लिए प्रार्थना की गई। रामप्रसाद जी कथा बाँचते जाते और दो द्रुतलेखक—जो पास ही पर्दे में छिपे रहते थे—उनकी मौखिक भाषा को लेखनीबद्ध करते जाते थे। वही रचना 'योगवसिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस रचना की भाषा पंजाबी मिश्रित खड़ीबोली है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह प्रथम प्रयास है। पुस्तक-प्रकाशन के समय उसमें से पंजाबीपन निकाल दिया गया। इससे आचार्य शुक्ल ने इस पुस्तक की भाषा को शृंखलाबद्ध, साधु और व्यवस्थित भाषा कहा है। उनका यह कथन प्रकाशित पुस्तक के लिए यथार्थ है, पर रामप्रसाद निरंजनी के मुख से निस्सृत मूल भाषा के लिए यथार्थ नहीं है। इस ग्रन्थ की भाषा का एक उदाहरण लीजिए—

"हे राम जी ! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-

अनिष्ट में राग-द्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है × × × मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होंगे तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष-शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय क्रोध से रहित, रहोगे। × × × जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगतज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के बन्धन में न आवोगे।"

(२) इंशा अल्लाखां

गद्य-निर्माण-काल में इंशा अल्लाखाँ का नाम शीर्ष स्थान पर आता है। इनके पिता मीर माशा अल्ला खाँ कश्मीर से चलकर दिल्ली आकर रहे। इंशा का जन्म मुर्शिदाबाद में हुआ था और सिराजुद्दौला के मरने के बाद इंशा दिल्ली आ रहे और शाह आलम द्वितीय के दरबारी कवि बनकर रहे। इंशा ने संवत् १८५५ और १८६० के मध्य 'रानी केतकी की कहानी' लिखी थी। यह कहानी एक निश्चित विचार रखकर लिखी गई थी। इस कहानी का निर्माण करते समय 'हिन्दवी की छुट और किसी बोली की पुट न आने देने' का शुभ संकल्प इंशा के मस्तिष्क में था; और वह अपने प्रयत्नों में पूर्णतया सफल भी रहा। 'हिन्दवी' शब्द, जिसे आधुनिक विद्वान् 'हिन्दी' कहते हैं, मुसलमानों में खड़ीबोली के लिए रूढ़ चला आ रहा था, अपनी इस कृति से ही खड़ीबोली के रूपनिर्धारण में इंशा का स्थान सर्वप्रथम है। इंशा को खड़ीबोली-गद्य का, सही मानी में, पिता माना जा सकता है। इनकी भाषा का एक नमूना देखिए—

"जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन-भादों के रूप रोने लगी, और दोनों के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।"

(३) मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज़'

सदासुखलाल दिल्ली के रहने वाले कायस्थ थे। इनका जन्म संवत्

१८०३ में हुआ, तथा मृत्यु संवत् १८८१ में हुई। ये संवत् १८५० में चुनार (ज़िला मिर्ज़ापुर) में कम्पनी-सरकार द्वारा किसी अच्छे पद पर नियुक्त थे। ये उर्दू के अच्छे शायर थे। इन्होंने फ़ारसी और उर्दू में बहुत-सी रचनाएँ लिखी हैं। ये नौकरी से कार्यमुक्त होकर प्रयाग में जा रहे। वहीं इन्होंने 'सुखसागर' की रचना की। इसकी भाषा परिमार्जित, व्यावहारिक और सरल खड़ीबोली है। उर्दू-ज्ञान के कारण इनकी भाषा ठेठ बन सकी है। 'नियाज़' ने अपने सामने उर्दू का उत्थान और खड़ी बोली हिन्दी—जिसे मुसलमान 'भाखा' भी कहा करते थे—का पतन देखा था, जिसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है—

रस्मो रिवाज भाखा का दुनियां से उठ गया।

इनकी रचना का एक नमूना देखिए—

विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरा-पान कीजिए और धन-द्रव्य इकठोर कीजिए और मन को, जोकि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।

हिन्दी-साहित्य के गद्य-निर्माण की प्राथमिक दशा में इन तीन लेखकों-की सेवाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। इनकी भाषा प्रारम्भिक खड़ीबोली का यथार्थ प्रतिनिधित्व करती है। लल्लूजीलाल और सदल मिश्र तो कालिज-क्षेत्र में चले गये थे, उनकी स्वतंत्र चेतना पर कालेज की नीति छाई हुई थी। अतः बिना किसी अवलम्बन के, स्वतन्त्र भाव से लिखने वाले इन तीन लेखकों का नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सदा गर्व के साथ स्मरण किया जायगा।

४. पत्र पत्रिकाएँ—

इस युग में इतनी पत्र-पत्रिकाएँ नहीं निकलीं, जिनका विस्तारपूर्वक

उल्लेख किया जाय। पत्र-कला विदेशी साहित्यकारों की देन है। दो-एक अंग्रेजी-पत्रों की देखा-देखी कलकत्ता से सन् १८२६ (संवत् १८८३) में युगल किशोर शुक्ल के सम्पादकत्व में हिन्दी का पहला दैनिकपत्र 'उदन्त-मार्तण्ड' निकला; किन्तु दो वर्ष चलकर यह पत्र बंद हो गया। इसके पश्चात् एक-दो अन्य पत्रों ने भी जन्म लिया, जिसमें राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'बनारस अखबार' प्रसिद्ध है। इसी युग में युगलकिशोर शुक्ल ने 'साम्यदन्त-मार्तण्ड' पत्र भी निकला था, जो जल्दी ही बंद हो गया। संवत् १९०७ में बाबू तारामोहन मैत्र ने 'सुधाकर' पत्र बनारस से निकाला, जिसका उद्देश्य राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति का विरोध करना था। संवत् १९१० में कलकत्ता से 'समाचार-सुधावर्षण' नामक हिन्दी-बंगला-मिश्रित दैनिक पत्र निकला, श्यामसुन्दरसेन इसके सम्पादक थे।

इन पत्र-पत्रिकाओं के आविर्भाव से गद्य-निर्माण में बड़ी सहायता मिली। इन पत्रों का वस्तु-विन्यास अधिकांशतः गद्य में होता था। 'गद्य' का क्या स्वरूप होना चाहिए ? इन पत्रों द्वारा इस विषय पर भी खासा वाद-विवाद हुआ। इससे हिन्दी का लाभ ही हुआ; क्योंकि सम्पादकों को यह ज्ञात होने लगा था कि 'पत्र' वही सफलतापूर्वक चल सकता है, जिसकी भाषा मँजी हुई हो, परिनिष्ठित हो और ठेठ खड़ी-बोली हो।

निष्कर्ष यह कि—

फोर्ट विलियम कालिज, धार्मिक आन्दोलन, स्वतन्त्र-चेता लेखक और पत्र-पत्रिकाओं ने इन पचास वर्षों में हिन्दी-गद्य का जो निर्माण किया, उसका मूल्य अनुमान से परे है। ये पचास वर्ष रीतिकाल के अन्तिम वर्ष थे। भक्तिकाल से लेकर रीतिकाल के अन्त तक 'ब्रज-भाषा' ही एकमात्र साहित्य-भाषा थी। वह शब्द-चयन, अभिव्यक्ति और अन्य कई बातों में प्रौढ़ भी थी। यदि पद्य के साथ-साथ गद्य में भी 'ब्रजभाषा' की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती तो आज 'हिन्दी-साहित्य' का इतिहास सम्भवतः दूसरे ढंग से लिखा जाता। गद्य और पद्य दोनों

स्थानों पर 'ब्रजभाषा' को स्थानान्तरित करना खड़ीबोली के लिए असम्भव हो जाता। यह भी अच्छा हुआ कि पद्य को न छेड़कर खड़ीबोली ने पहले गद्य में अपना स्थान बनाया। गद्य में ब्रजभाषा की पुट मिलाकर लल्लूजीलाल इतने सफल गद्यकार सिद्ध नहीं हुए, जितने कि इंशा अल्लाखाँ—हिन्दवीपन न छोड़ने की शपथ खाकर—'रानी केतकी की कहानी' लिखकर, गद्यकार के रूप में सफल हुए। इसी प्रकार फ़ारसी मिश्रित खड़ीबोली लिखकर राजा शिवप्रसाद, जिनकी चर्चा आगे की जा रही है, अपनी दुर्बलता से स्वयं असफल हो गये।

आधुनिक युग के महान् साहित्य-निर्माण का श्रेय इन चालीस-पचास वर्षों में जुटी अनेक शक्तियों को मिलना चाहिए। यदि इन शक्तियों का आविर्भाव इन वर्षों में न होता तो हिन्दी-साहित्य का निर्माण ५०–६० वर्ष पीछे जा पड़ता। अतः खड़ीबोली को गद्य में लाने, साहित्य-निर्माण के अनुरूप गद्य को ढालने, उर्दू-मिश्रित भाषा का बहिष्कार करने और प्राथमिक वातावरण बनाने के लिए लगभग संवत् १८५० से १९०० तक—इन पचास वर्षों का असाधारण महत्त्व है।

(आ) रीतिकालोत्तरवर्ती निर्माण (सं० १९००–१९२५)—

सं० १९०० से १९२५ तक जिन गद्य-लेखकों ने हिन्दी गद्य-साहित्य के निर्माण में सहयोग दिया, उनमें से दो व्यक्तियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द तथा राजा लक्ष्मणसिंह। इनकी सेवाओं के निर्देश से यह भी स्पष्टतः प्रतीत हो जायगा कि उन दिनों खड़ीबोली न केवल गद्य-साहित्य के लिए उपयुक्त समझी जाने लगी थी, अपितु अब इसके रूप-विधान की भी चर्चा होने लग पड़ी थी। प्रथम लेखक इसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग के पक्षपाती थे और द्वितीय लेखक संस्कृत के तत्सम शब्दों के। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द

आप उर्दू, फ़ारसी, हिन्दी तथा संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इन्हें अंग्रेज़ी का भी अच्छा ज्ञान था। हिन्दी-भाषा के सम्बन्ध में सर्वप्रथम इन

की नीति यह रही कि ठेठ हिन्दी को अपनाया जाय। इनका 'राजा भोज का सपना' इसी नीति का प्रमाण है। इसके पश्चात् ये कुछ समय तक संस्कृत-मिश्रित भाषा के पक्ष में भी रहे। 'मानवधर्मसार' नामक कृति में इन्होंने संस्कृत-मिश्रित भाषा का प्रयोग किया। पर आगे इनकी नीति बदल गई। अब वे हिन्दी को सर्वप्रिय बनाने तथा इसे स्कूलों में स्थान दिलाने के लिए इसे 'आम फहम' बनाने का प्रचार करने लगे। इसी कारण आप हिन्दी-गद्य में उर्दू के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में करने लगे।

सन् १६१३ में आप शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। उन दिनों हिन्दी में पाठ्यपुस्तकें नहीं थीं। आपने ३५ पुस्तकें स्वयं लिखीं तथा दूसरे लोगों से भी कुछ लिखाईं। इन पुस्तकों की भाषा उर्दू-मिश्रित हिन्दी थी। इन्होंने नागरी लिपि में 'बनारस अखबार' नामक एक पत्र भी निकाला था। इसमें उर्दू-शब्दों की इतनी भरमार होती थी कि इसे 'हिन्दी' कहते हुए संकोच होता है।

राजा साहब अपनी धुन के पक्के तथा अध्यवसायी व्यक्ति थे। वे हिन्दी को शिक्षा-विभाग में स्थान दिलाना चाहते थे। अपनी भाषा-सम्बन्धी नीति को परिवर्तित कर देने का भी यही कारण था। अन्त में वे अपने उद्देश्य में सफल हो गये—हिन्दी को शिक्षा-विभाग में स्थान मिल गया। इनकी भाषा के दोनों नमूने देखिए—

(क) भोज ! मैं अभी तेरे पाप कर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता। क्योंकि तूने अपने तईं निरा निष्पाप समझ रखा है, पर यह तो बतला कि तूने पुण्यकर्म कौन-कौन से किये हैं कि सर्वशक्तिमान जगदीश्वर सन्तुष्ट होगा।

(ख) यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफ़ा ज़ाहिर हो चुका है।

(२) राजा लक्ष्मणसिंह

राजा साहब आगरा-निवासी थे। इनका जन्म सं० १८८३ में हुआ। मातृभाषा से इन्हें बड़ा प्रेम था; संस्कृत और फ़ारसी का भी अच्छा ज्ञान था। ये ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से उच्च सरकारी पद पर नियुक्त थे। सन् १८५७ के ग़दर में अंग्रेज़ों की सहायता करने के पुरस्कार-स्वरूप इन्हें 'राजा' की उपाधि मिली थी। इन्होंने संस्कृत के 'मेघदूत', 'रघुवंश' और 'शकुन्तला' के हिन्दी-अनुवाद किये। 'दण्ड-संग्रह' नाम से 'ताज़ीरात-इ-हिन्द' का भी अनुवाद किया। आप शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे और राजा शिवप्रसाद की उर्दूमयी भाषा के घोर विरोधी थे। अपने 'प्रजाहितैषी' पत्र में आपने संस्कृत-प्रधान शैली का अनुसरण किया। 'शकुन्तला' के अनुवाद ने आपकी प्रसिद्धि में चार चाँद लगा दिये। इनकी भाषा शुद्ध, सरल तथा सुन्दर है। कहीं-कहीं आगरा की बोली का पुट भी विद्यमान है।

इनकी भाषा का नमूना देखिए—

"काव्य—बेटी सुन। जब तू रणवास में वास पावे तब पति का आदर और गुरुजनों की शुश्रूषा करियो। सौतों में सपत्नी भाव से मत रहियो। सहेली की भाँति टहल करियो। कदाचित् पति तिरस्कार भी करें तौ भी उसकी आज्ञा से बाहर मत हूजियो। नौकर-चाकरों को एक-सा समझियो। और अपस्वार्थी मत हूजियो।"

आधुनिक-कालीन हिन्दी-साहित्य का युग-विभाजन

आधुनिक-कालीन साहित्य को सुविधा के लिए तीन प्रधान युगों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) भारतेन्दु-युग	: संवत् १९२५–१९५०
(२) द्विवेदी-युग	: संवत् १९५०–१९७५
(३) प्रसाद-युग तथा प्रसादोत्तर-युग (प्रगति-युग)	: संवत् १९७५ से पश्चात्

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि मुख्य प्रवृत्तियों को ही लक्ष्य में रखकर यह युग-विभाजन किया गया है, अन्यथा एक युग की विशेषताएँ दूसरे युग में भी परिलक्षित हो जाती हैं, पर अपेक्षाकृत कम। दूसरी बात यह कि भारतेन्दु, द्विवेदी और प्रसाद इन तीनों व्यक्तियों के नाम पर युगों के नाम देने का कारण यह है कि इनके जीवन-काल में और इनके कई वर्ष उपरान्त भी हिन्दी-साहित्य का निर्माण थोड़ा-बहुत इन्हीं के पथ-प्रदर्शन पर होता रहा है।

भारतेन्दु-युग (सं० १९२५–५०)

भारतेन्दु-युग के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए सर्वप्रथम हम देखते हैं कि यह युग हिन्दी-साहित्य के नवीन निर्माण के लिए संक्रान्ति-काल है। इसमें एक ओर पुरानी परम्पराएँ और मान्यताएँ धीरे-धीरे साहित्य-क्षेत्र से विदाई ले रही हैं, तो दूसरी ओर नवीन प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हो रही हैं। इस युग में साहित्य के अनेक नवीन रूप तो प्रकट हुए ही, साथ ही पुराने रूपों में भी अभिनव विषयों तथा शैलियों का समावेश स्पष्ट दिखाई देने लगा। जैसे कि—भारतेन्दु-युग से पूर्व-साहित्य के मुख्य प्रतिपाद्य विषय थे—भक्ति, शृङ्गार तथा राधा और कृष्ण की प्रणय-लीलाएँ आदि। नायक-नायिकाओं के हावभाव, नखशिख, ऋतुवर्णन, बारहमासा आदि ये सभी शृङ्गार-परक रचनाएँ थीं। राम, कृष्ण अथवा रामायण और महाभारत से सम्बद्ध पात्रों के चरित्रों को लेकर प्रबन्धकाव्य भी लिखे जाते थे। कुछ कवियों ने शिवा, छत्रसाल, हम्मीर आदि समसामयिक वीरों की कीर्त्ति-कथा भी कही थी। भारतेन्दु-युग में ये सभी विषय यथापूर्व चलते ही रहे।

इसके अतिरिक्त समाजसुधार, संगठन, देशभक्ति, स्त्रीशिक्षा, राजनीति, स्वातन्त्र्य-प्रेम, राजभक्ति आदि अनेक नूतन विषय भी कविता के क्षेत्र में समाविष्ट हो गये। उदाहरणार्थ एक ओर भारतेन्दु-युग के कवि अँग्रेजी-राज्य की महिमा का बखान इस प्रकार करते दिखाई देते हैं—

ब्रिटिश सुशासित भूमि में आनँद उमगे जात। —भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

बद्रीनारायण चौधरी इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि—

धन्य तिहारो राज, अरी मेरी महारानी !
सिंह, अजा संग पियत जहाँ एकहि थल पानी ।।
जहँ दिन दुपहर परत रहे डाके नगरन मैं ।
तहँ रक्षक निरखियत पथिक जन के हित वन मैं ।
जहाँ काफ़िले लुटत रहे सो जतन किये हूं ।
जिन दुरगम थल माँहि गयो कोऊ नहि कबहूं ।।

तो दूसरी ओर भारतेन्दु जी स्वयं कहते हैं कि—

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेस चलि जात रहै अति ख्वारी ।।
ताहू पै मंहगी काल रोग विस्तारी ।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री !

इस प्रकार राजभक्ति और देशभक्ति—दोनों इस युग में एक-साथ चलती रहीं। कवि का मन कुछ निश्चय नहीं कर पाता प्रतीत होता कि दोनों में से किसे अन्तिम रूप से अपनाया जाय। इसी प्रकार सामयिक परिस्थिति एक ओर उन्हें तकाज़ा कर रही थी कि वे हिन्दू-मुस्लिम प्रेम के गीत गायें, दूसरी ओर हिन्दुत्व का पुनःप्रबुद्ध अभिमान उन्हें हिन्दू-वीरों के गुणगान के लिए प्रेरित करता था। हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के कारण देश को जो दुर्दिन देखने पड़ रहे थे, उसी को लक्ष्य में रखकर प्रतापनारायण मिश्र ने कहा था—

भाय भाय आपस में लरें,
परदेसिन के पायन परें।
यहै द्वेष भारत शशि राहु,
घर का भेदिया लङ्का ढाहु।
भायप तनक परस्पर नहि जहँ,
सरल सनेह न हरि चरनन महँ।

जगदादास कस होहि न आरज,
निबर की जुरहया कबकें सरहज।
प्रीति परस्पर राखहु मीत।
जइहैं सब दुख सहजहि बीत।
नाहि एकता सरिस वल, कोय।
एक एक मिल ग्यारह होय।

इस समय के साहित्य में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, सनातनधर्म आदि संस्थाओं द्वारा प्रचारित भावनाएँ भी लक्षित होती हैं। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध भी इस युग के कवियों का ध्यान जाने लगा था। जैसे कि—

हाय, शादी हुई थी
बेहोश मैं जब थी
मैं सोलह बरस की
वह अस्सी बरस के
देख मैं उनको रोती
देख हमको वह हँसते ॥

इस युग की कविता अधिकतर ब्रजभाषा में ही लिखी जाती रही। पर कलम-आज़माई के लिए कविगण खड़ीबोली में भी कविता लिखने लगे थे, स्वयं भारतेन्दु जी ने भी कुछेक पद खड़ीबोली में रचे थे।

नाटक-साहित्य—

इस प्रकार 'भारतेन्दु-युग' के पद्य का परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् इस युग के नाटकों की चर्चा करते हैं। भारतेन्दु-युग से पूर्व हिन्दी में नाटकों का सर्वथा अभाव था। प्राणचन्द्र चौहान व हृदयराम आदि के जो नाटक उपलब्ध थे, वे एक तो संस्कृत नाटक की छाया-मात्र थे और दूसरे वे पद्यात्मक संवाद ही थे, वास्तविक नाटक नहीं। भारतेन्दु जी ने रूपविधान की दृष्टि से हिन्दी का सबसे पहला नाटक अपने पिता गोपालचन्द्र द्वारा रचित 'नहुष' को माना है। परन्तु वास्तव में हिन्दी-

नाट्य-साहित्य के प्रवर्त्तक 'भारतेन्दु' जी ही थे। भारतेन्दु तथा उनकी मित्र-मण्डली के लेखकों—बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी, श्रीनिवासदास आदि ने अनेक मौलिक नाटक लिखे तथा संस्कृत, अंग्रेज़ी, बंगला भाषाओं के नाटकों का सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया। ये नाटक भी विविध विषयों को लेकर लिखे गये थे। राजनीति, समाज-सुधार, धर्म, संगठन आदि ऐसा कोई सामाजिक विषय न था, जिसका समावेश इन नाटकों में न हुआ हो। यद्यपि अधिकतर नाटक साधारण कोटि के ही हैं, तो भी बहुत से स्थायी साहित्यिक मूल्य के नाटक भी इस युग में लिखे गये। भारतेन्दु जी के 'सत्य-हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी' तथा उन्हीं के द्वारा अनूदित नाटक 'मुद्राराक्षस' की गणना स्थायी साहित्य में की जा सकती है। इस युग में नाटक केवल लिखे ही नहीं जाते थे, प्रत्युत उनका अभिनय भी बड़ी सफलता के साथ किया जाता था। भारतेन्दु जी ने स्वयं भी अनेक बार अभिनयों में सक्रिय भाग लिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाट्य-साहित्य की दृष्टि से यह युग नवीन हिन्दी के लिए आरम्भिक होते हुए भी अत्यन्त उल्लासमय और गौरवशाली रहा।

गद्य-साहित्य—

आख्यायिका, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, जीवन-चरित्र आदि गद्य के विविध रूप भी इस युग में उद्भूत होने प्रारम्भ हो गये थे। बालकृष्ण भट्ट और बद्रीनारायण चौधरी के निबन्धों की उस समय बड़ी धूम थी। उस युग में दैनिक पत्र, साप्ताहिक तथा मासिक पत्र-पत्रिकाएँ भी खूब चल निकली थीं। भारतेन्दु-मण्डली के प्रत्येक लेखक ने कोई-न-कोई पत्रिका भी अवश्य निकाली थी। उनमें से विषय-सामग्री की दृष्टि से भारतेन्दु जी के 'हरिश्चन्द्र मेग्ज़ीन' (हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका) का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। ये सब पत्र-पत्रिकाएँ सोद्देश्य निकाली गई थीं। इनका प्रमुख उद्देश्य था—समाज व साहित्य की उन्नति में सहायता देना।

समालोचना—

समालोचना का सूत्रपात भी इसी युग में हो गया। लाला श्रीनिवास दास के 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' और 'संयुक्ता स्वयंवर' नाटकों की विस्तृत तथा तीखी आलोचना 'ब्राह्मण' और 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्र-पत्रिकाओं में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई थी। ये आलोचनाएँ प्रायः गुण-दोष-विवेचनात्मक अथवा अधिकतर दोष-दर्शनात्मक ही होती थीं।

कथा-साहित्य—

भारतेन्दु-युग में आजकल की सी छोटी कहानियों का प्रवर्त्तन प्रायः नहीं हो पाया था। हाँ, छोटे-मोटे मौलिक और अनूदित उपन्यास अवश्य चल निकले थे। वस्तुतः उपन्यासों की यह परम्परा भी भारतेन्दु-युग से ही प्रारम्भ हो जाती है। भारतेन्दु ने स्वयं 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' नाम से एक उपन्यास 'कवि-वचन-सुधा' में प्रकाशित कराना प्रारम्भ किया था, किन्तु वह अपूर्ण ही रह गया। बंकिम बाबू के 'राजसिंह' का अनुवाद भी उन्होंने किया था। भारतेन्दु जी से प्रोत्साहन पाकर राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने अनेक सुन्दर उपन्यास लिखे। किशोरीलाल गोस्वामी को हिन्दी के चरित्र-चित्रणात्मक उपन्यास-साहित्य का प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। उन्होंने 'उपन्यास' नामक एक पत्र भी निकाला था। गोपालराम गहमरी के घटना-प्रधान उपन्यास भी उसी युग में चल निकले थे। ये सब उपन्यास नवयुवकों की भावनाओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व भी करते हैं। इसी प्रकार बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' आदि ऐयारी और तिलस्मी ढंग के घटना-प्रधान उपन्यासों ने भी पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी।

जीवन-चरित्र—

यद्यपि भारतेन्दु-युग से पूर्व 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' (अर्ध-कथानक) आदि के रूप में जीवन-चरित्र-सम्बन्धी साहित्य थोड़ा-बहुत उपलब्ध होता है तथापि सुव्यवस्थित जीवनियाँ इसी युग में ही लिखी

जाने लगी थीं। इस युग की जीवनियों में किम्वदन्तियों पर आधारित प्रशंसाएँ पर्याप्त मात्रा में रहती थीं। पहले-पहल पुराने दिव्य व्यक्तियों की जीवनियाँ लिखी गईं, फिर बाद में समसामायिक व्यक्तियों या प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तियों की गवेषणात्मक जीवनियों का उपक्रम भी हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य के लिए यह युग अत्यन्त उत्साही और उल्लास से पूर्ण था। इस युग में साहित्य की विविध प्रवृत्तियाँ बड़े ही आशापूर्ण भविष्य को लेकर प्रस्फुटित होने लगीं, और नवीन युग का श्रीगणेश बड़ी धूमधाम से हो चला।

समग्र रूप में भारतेन्दु-युग की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(क) पद्य-साहित्य—

१. देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल नवीन विषयों को कविता में स्थान दिया गया। वे विषय थे—देशभक्ति, मातृभाषा का उद्धार, समाज-सुधार, अछूतोद्धार, लोकहित की भावना आदि।

२. इस युग में शृंगार तथा भक्ति रस की रचनाएँ भी हुईं, पर इनकी अपेक्षा करुण रस तथा हास्य रस की रचनाएँ अधिक हुईं। करुण रस की रचनाओं में देश की परतन्त्रता-जन्य दुर्दशा का चित्र खींचा गया और हास्य रस की रचनाओं में पुरानी लकीर के फ़कीर लोगों, नवीन फ़ैशन के गुलामों, नाम और दाम के भूखे देशभक्तों को इस रस का आलम्बन बनाया गया।

३. पिछले तीनों कालों में प्रकृति को अधिकांशत: उद्दीपन विभाव के रूप में वर्णित किया जाता था, पर इस युग में इसे आलम्बन विभाव के रूप में अर्थात् स्वतन्त्र रूप से कविता का विषय बनाया गया।

४. ये कविताएँ ब्रज और खड़ीबोली—दोनों भाषाओं में लिखी गईं, युग के आरम्भ में ब्रजभाषा में और अन्त में खड़ीबोली में। मात्रा की दृष्टि से ब्रजभाषा का पलड़ा फिर भी भारी रहा।

५. इस युग में शैली में भी यथेष्ट परिवर्तन हुआ। मुक्तक सूक्तियों तथा कथात्मक और वस्तु-वर्णनात्मक प्रबन्धों के स्थान पर पद्यात्मक छोटे-छोटे निबन्धों में रचनाएँ की गईं।

६. इस युग में छन्द-सम्बन्धी तीन प्रकार की प्रणालियाँ प्रयुक्त की गईं—

(क) हिन्दी के पुराने छन्दों—कवित्त-सवैया आदि में भी रचना की गई तथा नये छन्दों—रोला, भूलना आदि में भी।

(ख) उर्दू के 'बहर' को भी अपनाया गया।

(ग) लावनी, कजरी आदि राग-रागनियों में भी कविताएँ रची गईं।

(ख) गद्य-साहित्य—

१. इस युग में हिन्दी गद्य-साहित्य का मात्रा और भाषा की स्वच्छता की दृष्टि से जितना सुन्दर निर्माण हुआ उतना इससे पूर्व कभी न हुआ था।

२. गद्य-साहित्य को काव्य के विभिन्न रूपों में स्थान मिला। उपन्यास, नाटक, इतिहास, निबन्ध, आलोचना, जीवनचरित्र, पत्र-पत्रिकाएँ आदि सभी काव्यरूपों का श्रीगणेश इसी युग में हो गया। इनमें से नाटक तथा पत्र-पत्रिकाओं की अधिकता इस युग की निजी विशिष्टता है। अकेले भारतेन्दु ने १४ नाटकों का प्रणयन तथा अनुवाद किया; और उनके सहयोगियों में से लगभग सभी लेखक अपनी पत्र-पत्रिका लेकर ही साहित्यिक क्षेत्र में अवतरित हुए।

३. भारतेन्दु के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए भी इस युग के प्रत्येक लेखक की शैली पर उसके निजी व्यक्तित्व की छाप स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

निष्कर्ष यह कि भारतेन्दु-युगीन साहित्य अपने समग्र रूप में प्राचीनता तथा नवीनता का विचित्र मिश्रण होते हुए भी नवीनता की ओर अधिक झुका हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह पहला युग है, जिसमें साहित्य का सम्बन्ध जनसाधारण के साथ सर्वप्रथम

स्थापित हुआ है। इन्हीं दो प्रमुख प्रवृत्तियों के बल पर यह युग आगामी काव्य-रूपों तथा विचारधारा के लिए प्रबल पृष्ठाधार का काम करता है। इस युग के साहित्य-सेवियों में से कुछ के नाम ये हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी, श्रीनिवासदास, भीमसेन शर्मा, तोताराम आदि।

इनके अतिरिक्त आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द भी इस युग की उपज हैं, जिन्होंने भारतेन्दु से नितान्त अप्रभावित रहकर हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास में सक्रिय सहयोग प्रदान किया। इनमें कुछेक लेखकों का परिचय लीजिए—

भारतेन्दु-युग के लेखक

(१) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जीवन—वर्तमान हिन्दी-युग के प्रतिष्ठापक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् १९०७ में काशी के प्रसिद्ध वैश्य-वंश में हुआ। उनके पिता का नाम गोपालचन्द्र था। वह वैष्णव थे और ब्रजभाषा में 'गिरधर-दास' उपनाम से कविता करते थे। उन्होंने ८० ग्रन्थ लिखे थे। जिनमें से अनेक अप्राप्य हैं। परन्तु जो प्राप्य हैं, उनमें काव्य-कौशल की अनुपम छटा दिखाई देती है। ऐसे लब्ध-प्रतिष्ठ कवि के पुत्र भारतेन्दु भी बड़े प्रतिभासम्पन्न बालक थे। बचपन में बड़े नटखट थे। परन्तु दुर्भाग्य से पाँच वर्ष की अल्पावस्था में ही वह मातृ-स्नेह से वंचित हो गये। ९ वर्ष की अवस्था में ही पिता भी उन्हें अकेला छोड़कर परलोक सिधारे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई। हिन्दी तथा अंग्रेजी पढ़ाने के लिए शिक्षक उनके घर पर ही आया करते थे। उर्दू भी एक मौलवी पढ़ाने आते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह क्वीन्स कॉलेज में प्रविष्ट हुए, पर उनका वहाँ जी न लगा। कविता करने की ओर दिन-प्रतिदिन उनकी अभिरुचि बढ़ती जा रही थी। कविता-निर्माण के अंकुर तो इनमें पाँच वर्ष की आयु में ही दिखलाई देने लगे थे, जब इन्होंने निम्न दोहा

बनाया था—

लै ब्यौंड़ा ठाड़े भए, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन को, हनन लगे भगवान॥

माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् आप तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़े। इस तीर्थ-यात्रा से जहाँ आपको अन्य लाभ हुए, वहाँ मराठी, गुजराती, बंगला आदि प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञान भी अनायास प्राप्त हो गया।

भारतेन्दु वास्तव में एक अत्यन्त उदार-प्रकृति और शाही तबीयत के कलाकार थे। देश, जाति, राष्ट्र, समाज, साहित्य और कला के लिए आपका कोष सदा उन्मुक्त था। जिस बात की धुन लग गई उसके लिए पैसे की कमी का प्रश्न कभी नहीं आ सकता था। आपने अपनी लाखों की सम्पत्ति अपनी बात पर ही लुटा दी। पैंतीस वर्ष की छोटी-सी अवस्था में हिन्दी के लिए जैसी महत्त्वपूर्ण सेवा आपने की, वैसी सम्भवतः अन्य किसी ने भी नहीं की होगी। भारतेन्दु जी के लिए निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी को नव-जीवन देने के लिए ये एक युग-पुरुष के रूप में अवतीर्ण हुए, और वे हिन्दी के लिए जीवित रहे।

हिन्दी-सेवा—भारतेन्दु जी ने हिन्दी के प्रचार तथा हिन्दी-साहित्य के निर्माण के लिए अनेक उपाय और प्रयत्न किये, जिनमें से निम्न-लिखित मुख्य हैं—

(१) **हाई स्कूल की स्थापना**—भारतेन्दु जी ने काशी में 'हरिश्चन्द्र हाई स्कूल' के नाम से एक विद्यालय की स्थापना की, जिसमें शिक्षा निःशुल्क थी, तथा छात्रों को पुस्तकें आदि भी बिना-मूल्य मिलती थीं।

(२) **पत्र-पत्रिकाएँ**—भारतेन्दु जी ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया, जिनमें 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' उल्लेखनीय है। यही 'मैगज़ीन' आगे चलकर 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

(३) **नाट्य-समितियाँ**—हिन्दी के रंगमंच को पुनर्जीवित करने के लिए उन्होंने एक 'हिन्दी नाटक-मण्डली' की स्थापना की। यह मण्डली भारतेन्दु के लिखे अनेक नाटकों का सुन्दर अभिनय प्रस्तुत किया करती

थी। स्वयं भारतेन्दु जी भी इस मण्डली में सक्रिय भाग लेते थे।

(४) **कलाकारों का निर्माण**—भारतेन्दु जी ने जहाँ स्वयं बहुत-कुछ लिखा, वहाँ अनेक कलाकारों को भी प्रोत्साहित किया। हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु-मण्डली एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रताप-नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहनसिंह, श्रीनिवासदास आदि अनेक उत्कृष्ट कलाकार भारतेन्दु-मण्डली के अन्तर्गत हिन्दी की सेवा में लगे थे।

(५) **नाटक-निर्माण**—भारतेन्दु जी से पूर्व हिन्दी में नाटक का अभाव-सा था। 'हनुमन्नाटक', 'देवमाया-प्रपंच नाटक' 'आनन्द-रघुनन्दन नाटक' आदि कई नाटक थे अवश्य, परन्तु वास्तव में ये नाटक न होकर पद्यात्मक संवाद ही थे। भारतेन्दु जी ने 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी' और 'अन्धेर नगरी' आदि नाटकों का निर्माण करके हिन्दी में नाटक-परम्परा को प्रचलित किया।

हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के अतिरिक्त भारतेन्दु ने सुधार-कार्य भी बड़े मनोयोग से किया। उन्होंने अपनी पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों पर बड़े तीखे और गहरे व्यंग्य किये। साहित्यकार होने के साथ-साथ भारतेन्दु सच्चे देशभक्त भी थे। देश की पराधीनता तथा तज्जन्य दुर्दशा को देखकर उनका हृदय रो उठता था। उनके हृदय का यह क्रन्दन—

आवहु रोवहु मिलि कै सब भारत भाई,
हा! हा! भारत दुर्दशा देखि न जाई।

—आदि पदों में व्यक्त हुआ है।

रचनाएँ—भारतेन्दु जी की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ व्यापक थीं और इस कारण उनकी रचनाएँ इतनी अधिक हैं कि उन्हें देखकर उनकी अपूर्व प्रतिभा, उनके अध्यवसाय और और हिन्दी-सेवा की अटूट लगन पर विस्मय होता है। १६-१७ वर्ष के अल्प साहित्यिक जीवन में हिन्दी-साहित्य को जो अनुपम रत्न आपने भेंट किये, वे गुणोत्कर्ष की दृष्टि

से तो बहुमूल्य हैं ही, परिमाण की दृष्टि से भी इतने अधिक हैं कि केवल उनके नाम गिनाने के लिये ही अत्यधिक स्थान चाहिये। उनकी रचनाएँ नाटक, काव्य, इतिहास, निबन्ध और आख्यान के रूप में मिलती हैं।

१—नाटक—उनके मौलिक नाटक ९ हैं :—

(१) सत्य हरिश्चन्द्र (२) चन्द्रावली (३) भारत-दुर्दशा (४) नीलदेवी (५) अन्धेरनगरी (६) वैदिक हिंसा हिंसा न भवति (७) विषस्य विषमौषधम् (८) सती प्रताप (९) प्रेम योगिनी। इनमें से अंतिम दो अपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त (१) मुद्राराक्षस (२) धनञ्जय-विजय (३) रत्नावली नाटिका (४) कर्पूर-मंजरी (५) विद्या-सुन्दर (६) भारत-जननी (७) पाखण्ड-विडम्बन (८) दुर्लभ वन्धु अनूदित नाटक हैं। इनमें से प्रथम तीन संस्कृत के अनुवाद हैं। चौथा प्राकृत का अनुवाद तथा पाँचवाँ, छठा और सातवाँ बंगला से अनुवाद किये गये हैं। अंतिम नाटक अंग्रेजी नाटक का अपूर्ण अनुवाद है।

२—इतिहास आदि विविध विषयों पर भी भारतेन्दु जी ने गवेषणा-पूर्ण लेख लिखे। कश्मीर-कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, अग्रवालों की उत्पत्ति, दिल्ली-दरबार-दर्पण आदि उनकी ऐसी ही रचनाएँ हैं।

३—नाटक-साहित्य की भाँति भारतेन्दु का काव्य-साहित्य भी अत्यन्त विस्तृत है। उनके भक्ति सम्बन्धी ४१ ग्रन्थ मिलते हैं। छोटे-छोटे ग्रन्थ होने पर भी ये सब भक्ति-साधना से पूर्ण हैं। उनके शृङ्गार-सम्बन्धी पद्य भी कम नहीं हैं। होली, मधुकुल, प्रेम फुलवारी, सतसई आदि उनके काव्य-ग्रन्थ हैं। विजयिनी-विजय, वैजयन्ती, भारत-वीणा, सुमनाञ्जली उनकी राष्ट्रिय एवं राजभक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ हैं।

४—निबन्ध और आख्यान भी भारतेन्दु जी के लिखे हुए मिलते हैं, पर उनमें से अधिकतर अपूर्ण हैं। सुलोचना, मदालसा और लीलावती उनके लिखे प्रसिद्ध आख्यान हैं। परिहास पंचक इनका हास्य-रस-सम्बन्धी लेख है। 'परिहासिनी' में छोटे-मोटे हास्य-लेख हैं।

भाषा-शैली—भारतेन्दु की भाषा के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि भारतेन्दु का उदय हिन्दी-साहित्य में ऐसे समय में हुआ जब राजा शिव-प्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह का हिन्दी-खड़ीबोली के स्वरूप के सम्बन्ध में द्वन्द्व चल रहा था। भारतेन्दु ने राजाद्वय की परस्पर-विरोधिनी शैलियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने बोल-चाल की भाषा को अपना लक्ष्य बनाया, जिसमें तद्भव रूपों का ही विशेष प्रयोग किया। साथ ही देशज शब्दों और मुहावरों को भी स्थान दिया तथा संस्कृत के सरल, सुबोध और लोक-प्रचलित शब्दों को भी अपनाया। इनकी दो शैलियाँ हैं—

१. भावात्मक शैली—इस शैली में उन्होंने साधारण और सरल विषयों पर लिखा।

२. वर्णनात्मक शैली—इस शैली में उन्होंने ऐतिहासिक और विवेचनात्मक विषयों पर लिखा।

ब्रजभाषा के अतिरिक्त काव्यक्षेत्र में उन्होंने खड़ीबोली का भी सफल प्रयोग किया है।

भारतेन्दु की इस साधना का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-साहित्य जो अब तक जन-जीवन से विमुख होकर चल रहा था, अब रीतिकालीन रूढ़ियों की सीमाओं से दूर हटकर नवीन चेतना का सशक्त अंकन करने में समर्थ होने लगा। विज्ञान, इतिहास, गणित, राजनीति, गवेषणा आदि नये-नये गम्भीर विषयों की ओर हिन्दी-साहित्यकारों की लेखनी उन्मुख हुई। भारतेन्दु ने अपने चारों ओर लेखकों का ऐसा मण्डल तैयार कर लिया था कि जिसने हिन्दी-साहित्य के इस नवीन रूप को आगे बढ़ाने में युग-प्रवर्त्तक का कार्य किया। यही कारण है कि भारतेन्दु हिन्दी के पिता माने जाते हैं।

(२) प्रतापनारायण मिश्र

पं० प्रतापनारायण मिश्र के पिता श्री संकटाप्रसाद बैसे गाँव (ज़िला उन्नाव) के सनाढ्य ब्राह्मण थे और अपने स्थान से कानपुर

आकर बस गये थे। यहीं प्रतापनारायण का जन्म सं० १९१३ में हुआ। बालक प्रतापनारायण को स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया, पर इनका वहाँ मन नहीं लगा। १९ वर्ष की अवस्था में उन्होंने स्कूल का परित्याग कर दिया। इनका अँग्रेज़ी-ज्ञान तो साधारण था, पर इन्होंने घर में ही फ़ारसी, संस्कृत, उर्दू और हिन्दी का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

इनका व्यक्तित्व बड़ा विलक्षण था। ये गोरे रंग के दुबले-पतले शरीर के थे। ये बड़े ही मनमौजी और स्वतन्त्र प्रकृति के थे। इनके स्वभाव में विनोद-प्रियता का स्थान मुख्य है। किसी-न-किसी बात में ये अपनी विनोदपूर्ण युक्ति या उक्ति निकाल ही लेते थे; उदाहरणार्थ 'ब्राह्मण' पत्रिका के लिए अपने ग्राहक से चन्दा वसूल करते समय भी वे व्यंग्य-विनोद को नहीं भूले थे, यथा—

चार महीने हो चुके ब्राह्मण की सुधि लेव।
गंगा माई जै करें तुरत दक्षिणा देव।।
जो बिनु मांगे दीजिए दुहु दिसि होय अनन्द।
तुम निश्चिन्त हो हम करें मांगन की सौगन्ध।।

'ब्राह्मण-पत्रिका' में यद्यपि देश-दशा, समाज-सुधार, हिन्दी-प्रचार प्रभृति अनेक विषय रहते थे, तथापि उनके शीर्षक मनमौजी तबीयत के सूचक प्रतीत होते हैं; जैसे—घूरे क लत्ता बिनै कनातन कै ढोल बाँधै; समझदार की मौत; वृद्ध, भौं आदि।

इनकी गद्य-पद्य-बद्ध रचनाओं और नाटकों के नाम ये हैं—'कलि-कौतुक रूपक', 'कलि-प्रभाव-नाटक', 'हठी हम्मीर', 'गो-संकट', 'जुआरी-खुआरी', 'प्रेम पुष्ठावली', 'मन की लहर', 'शृंगार-विलास', 'दंगल-खण्डन', 'लोकोक्ति-शतक', 'तृप्यन्ताम्', 'ब्रैडला स्वागत', 'शैव-सर्वस्व', 'प्रताप-संग्रह', 'रसखान-शतक', 'मानस-विनोद' आदि। इन ग्रन्थों से ये सभी विषयों के लेखक सिद्ध होते हैं। इनके नाटक रंगमंच का ध्यान

रखकर लिखे गये प्रतीत होते हैं। ये अभिनय-विद्या में भी पारंगत थे। सफल अभिनेता होने के कारण ये मंचोपयोगी नाटक लिखने में अधिक कृतकार्य हुए।

निबन्ध-लेखक के रूप में इनका नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इनकी लेखन-प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग से बाहर नहीं जाती, फिर भी किन्हीं दिशाओं में अपने निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व के कारण इनकी युग से भिन्नता भी स्पष्ट लक्षित होती है—इनकी भाषा सजीव, चुस्त और गुरगुराने वाली है। नमूना देखिए—

"सच है, 'सब तें भले हैं मूढ़ जिन्है न व्यापै जगतगति'। मज़े से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथ-त्योहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना, गंगापुत्र को चार पैसे देकर सेतमेंत में धरममूरत धरमऔतार का खिताब पाना; संसार परमार्थ दोनों तो बन गए, अब काहे की है है और काहे की खै खै।"

प्रतापनारायण की कविता इनकी रंगीली तबीयत को प्रकट करती है। एक नमूना देखिए—

**तब लखि हो जहँ रह्यौ एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत॥
जहँ आमन की गुठली अरु बिरछन की छालैं।
ज्वार चून महँ मेलि लोग परिवारहिं पालैं॥
नोन तेल लकड़ी घासहुँ पर टिकस लगै जहँ।
चना चिरौंजी मोल मिलै जहँ दीन प्रजा कहँ॥
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसेहु नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ रिन भारन।
तहँ तिनकी धनकथा कौन जे गृही सधारन॥**

(३) बालकृष्ण भट्ट

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के महारथी बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में

सं० १६०१ में और परलोकनिवास सं० १६७१ में हुआ।

भट्ट जी ने सं० १६३३ में एक पत्रिका 'हिन्दी-प्रदीप' निकाली। इस पत्रिका ने हिन्दी-गद्य के निर्माण में महान् योग दिया। यद्यपि भट्ट जी के गद्य में पूरबीपन की छाप है, अंग्रेज़ी और फ़ारसी के शब्दों का खुला प्रयोग हुआ है, तथापि उसके भावी व्यावहारिक स्वरूप का निर्धारण भी बहुत-कुछ भट्ट जी की लेखनी द्वारा ही हुआ।

भट्ट जी भी प्रतापनारायण की तरह व्यंग्यपूर्ण और मुहावरेदार भाषा लिखना पसन्द करते थे, पर उसमें कहीं-कहीं कड़वापन मात्रा से अधिक हो जाता था। इनके शीर्षक भी प्रतापनारायण के शीर्षकों की तरह अधिकतर छोटे होते थे, जैसे—आँख, नाक, कान, बातचीत आदि। इनके वाक्य लम्बे और अनूठे होते थे। गद्य का नमूना देखिए—

इधर पचास-साठ वर्षों से अंग्रेजी राज्य के अमनचैन फायदा पाय हमारे देश वाले किसी भलाई की ओर न झुके वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का ब्याह कर पहले से ड्योढ़ी-दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जनसंख्या अवश्य घटनी चाहिए।

निबन्धों के अतिरिक्त भट्ट जी ने कतिपय नाटक भी लिखे हैं—'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बालविवाह नाटक' और 'चन्द्रसेन' नाटक। माईकेल मधुसूदनदत्त के दो नाटकों—'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा'—के अनुवाद भी आपने किये थे।

गद्यकार और नाटककार के अतिरिक्त आपको आलोचक भी कहा जाता है। लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता-स्वयंवर' पर इनकी लिखी आलोचना 'हिन्दी-प्रदीप' में प्रकाशित हुई थी।

(४) उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

'प्रेमघन' के पिता मिर्ज़ापूर के रहने वाले सरयूपारीण ब्राह्मण थे और बहुत बड़ी ज़मींदारी के मालिक थे। प्रेमघन का जन्म सं० १६१२ में हुआ और निधन सं० १६७६ में।

'प्रेमघन' भारतेन्दु के मित्र थे और उन जैसी वेशभूषा भी रखा करते

थे। गद्य-निर्माण में भारतेन्दु के बाद आपका ही स्थान है। प्रतापनारायण तथा भट्टजी के निबन्ध उनके विनोदप्रिय स्वभाव के परिचायक हैं और 'प्रेमघन' के निबन्ध निश्चित शैली और सीमित मान्यताओं के द्योतक हैं। 'कला को कला के लिए' मानने वालों में आपको भी गिनना चाहिए। लगभग इसी सिद्धान्त को आप 'कलम की कारीगरी' कहा करते थे। आपके वाक्य लम्बे, अनूठे, सानुप्रास और वक्र होते थे। साधारण ढंग से लिखना तो मानो आपको आता ही न था। एक लेख लिखकर बार-बार उसे काट-छाँट कर माँजने की आदत से कई बार आपके लेख बड़ी मुद्दत तक पड़े रहते। 'अनुप्रास' को आपकी भाषा का प्राण मानना चाहिए। आचार्य शुक्ल के लिखे नोट में संशोधन करते हुए भी वे अनुप्रास को नहीं भूले; देखिए—

दोनों दलों की दलादली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।

इनकी भाषा का एक और नमूना लीजिए—

दिव्य देवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े-बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' पहाड़ धुकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है, कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेलपेल और कभी उस पर सुख की कुलेल है।

इन्होंने 'आनन्द-कादम्बिनी' नामक पत्रिका भी निकाली थी। निबंधों के अतिरिक्त प्रेमघन जी ने नाटक भी लिखे हैं, यथा—'भारत-सौभाग्य', 'प्रयागरामागन', 'वारांगना-रहस्य' आदि। पहला नाटक कांग्रेस की स्थापना के उल्लास में लिखा गया था। इसमें अनेक प्रान्तों के अनेक पात्र हैं।

'आनन्द-कादम्बिनी' में लाला श्रीनिवास कृत नाटक की आलोचना भी छपी थी। इस आलोचना में दोषदर्शन का प्रयास ही अधिक है। एक नमूना देखिए—

नाटक के प्रबंध का कुछ कहना ही नहीं, एक गंवार भी जानता

होगा कि स्थानपरिवर्तन के कारण गर्भाङ्क की आवश्यकता होती है। अर्थात् स्थान के बदलने में परदा बदला जाता है और इसी पर्दे के बदलने को दूसरा गर्भाङ्क मानते हैं, सो आपने एक ही गर्भाङ्क में तीन स्थान बदल डाले हैं।

प्रेमघन जी ब्रजभाषा के सरस कवि भी थे। वे सं० १९६९ में कलकत्ता में हुए साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी चुने गये थे। भारतेन्दु जैसी भावुकता और मस्ती भी आप में थी। 'प्रेमघन सर्वस्व' में इनकी रचना का संकलन किया गया है। कविता का नमूना देखिए—

बगियान बसंत बसेरो कियो बसिये तेहि त्यागि तपाइये ना।
दिन काम कुतूहल के जे बने तिन बीच बियोग बुलाइये ना।।
'प्रेमघन' बढ़ाय कै प्रेम अहो बिथा बारि वृथा बरसाइये ना।
चितै चैत की चाँदनी चाहभरी चरचा चलिबे की चलाइये ना।।

(५) स्वामी दयानन्द सरस्वती

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवर्त्तित आर्यसमाज की सेवाओं का उल्लेख हम पीछे यथास्थान कर आये हैं। भारतेन्दु से नितान्त अप्रभावित रहकर इन्होंने हिन्दी-प्रचार में पूर्ण योग दिया।

आपका जन्म गुजरात के शैव ब्राह्मण-परिवार में हुआ। आपने मथुरा में रहकर स्वामी विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त की। आर्य-धर्म के पुनर्घटन के हेतु आपने ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास ले लिया था। जब आपने पहले-पहल व्याख्यान देने आरम्भ किये तो संस्कृत में प्रवचन करते थे, परन्तु कलकत्ता के केशवचन्द्र सेन तथा भूदेव मुकर्जी के सत्परामर्श से स्वामी जी हिन्दी-क्षेत्र में उतरे। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि आपका हिन्दी-क्षेत्र में आना एक क्रान्तिपूर्ण ऐतिहासिक घटना सिद्ध हुआ। आपने संवत् १९२० में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की और आर्यसमाज ने हिन्दी-प्रचार व हिन्दी-रक्षा का व्रत धारण कर लिया। पंजाब में जो आज हिन्दी का स्वर सुनाई पड़ता है, वह सब आर्यसमाज के सुप्रयास का ही सुफल है। आज भारत के प्रत्येक भाग

में डी० ए० वी० संस्थाएँ और गुरुकुल हिन्दी का जो प्रचार एवं प्रसार कर रहे हैं उसका मूलश्रेय स्वामी जी को ही है।

स्वामी जी की लिखी रचनाएँ ये हैं—'सत्यार्थप्रकाश', 'संस्कारविधि', 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका', 'गोकरुणानिधि', 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' आदि। इनके अतिरिक्त इन्होंने सम्पूर्ण यजुर्वेद तथा ऋग्वेद के कुछ भाग का भी हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया था। गुजराती होते हुए भी स्वामी जी ने अपने ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे। हिन्दी को उन्होंने 'आर्य-भाषा' नाम देकर एक तो उन्होंने इसके गौरव में वृद्धि की और दूसरे इसे प्रकारान्तर से सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में घोषित किया। उनकी रचना का एक नमूना देखिए—

मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त को हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त करती हैं उनको रोकने में प्रयत्न करे जैसे घोड़े को सारथी रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है। इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्म-मार्ग से हटा के धर्म-मार्ग में सदा चलाया करें।

(६) श्रद्धाराम फिल्लौरी

पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी का जन्म आश्विन शुक्ल प्रतिपदा संवत् १९८७ में हुआ। आपके पिता पं० जयदयालु जोशी तथा माता विष्णु-देवी फिल्लौर (जिला जालन्धर) में रहते थे और यजमानी वृत्ति करते थे। श्रद्धाराम अपने बहिन-भाइयों में दसवें थे। इनसे पहले छः भाई मर चुके थे और सातवाँ भाई छोटी अवस्था में कनफटा योगी बन गया था। एक बहिन वैधव्य का भार उठाये घर में रहती थी। पं० जयदयालु सारस्वत व्याकरण के ज्ञाता और संगीत विद्या में असाधारण दक्षता रखते थे। पण्डितजी एक भण्डारी नामक क्षत्रिय यजमान के यहाँ यज्ञ करा रहे थे कि श्रद्धाराम बालक के जन्म का समाचार मिला और उसी समय नक्षत्र शोधकर पिता ने भविष्यवाणी की कि—"मेरा यह अन्तिम पुत्र हस्ति-आरूढ़, राजमान्य, सर्वसम्पत्तियुक्त, भाग्यशूर और पण्डितसभा का रत्न होगा। परन्तु मुझ पिता के भाग्य में इसका ऐश्वर्य देखना नहीं

है।" और कहते हैं कि यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई।

बालक श्रद्धाराम बड़ा नटखट और रंगीन तबीयत का था। 'बैत' (उर्दू-छन्द) बनाने की प्रवृत्ति तो इनमें बचपन में ही जागृति हो गई थी। पंजाब में कहीं 'बैतों' का मुशायरा होता तो बालक श्रद्धाराम वहीं उपस्थित हो जाता। श्रद्धाराम ने सनातन धर्म तथा साहित्य की यथेष्ट सेवा की।

आपके जीवन की दो महान् घटनाएँ हैं—कपूरथला-नरेश रणवीर-सिंह को ईसाई धर्म में दीक्षित होने से बचाना और स्वामी दयानन्द जी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारना।

श्रद्धाराम संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और पंजाबी के असाधारण विद्वान् थे। पंजाब के हिन्दी-क्षेत्र में आपका जो स्थान है, वही स्थान आपका पंजाबी-क्षेत्र में भी है।

आपकी रचनाएँ ये हैं—'शतोपदेश', 'सत्यामृतप्रवाह', 'भाग्यवती', 'सिखाँ दे राज दी विथिया' आदि। आपके दो ग्रन्थ 'गीत-संग्रह' और 'आत्मकथा' अनुपलब्ध हैं। कहते हैं कि—'ओ३म् जय जगदीश हरे' नामक प्रसिद्ध भजन आपका ही रचा हुआ है। इनकी रचना का नमूना देखिए—

"हरिज्ञान मन्दिर फुल्लौर की ओर से विज्ञापन

बहुत काल से जो इस देश में से वेदों का पठन-पाठन दूर हो गया है कि जिसके दूर होने से धर्म में हानि होती जाती है। इस कारण संवत् १९३७ फाल्गुन की पूर्णमासी के दिन इस मन्दिर में एक पाठ-शाला नियत की गई है, जहाँ विद्यार्थियों को चारों वेद पढ़ाये जाते हैं और अन्नादि सेवा भी होती है। प्रकट है कि ऐसे कामों का स्थिर रहना जो बहुत-से धर्मात्मा लोगों की सहायता पर निर्भर रखना है। अतः विदित किया जाता है कि सब लोग इस पाठशाला को यथाशक्ति सहायता दे के अपने अन्य मित्रों को भी प्रेरणा करें कि जिसके समान कोई पुण्य नहीं।

विदित रहे कि यह सहायता जो केवल एक बार ही माँगी गई है फिर नित्य नहीं माँगी जावेगी, इस हेतु से पाँच रुपये से न्यून चन्दा देना

श्रेष्ठ नहीं होगा। जो लोग दूर से चन्दा भेजना चाहें वे मेरे नाम डाकखाने का मनीआर्डर भेजें।"

—पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी

द्विवेदी-युग

(सं० १९५०-१९७५)

भारतेन्दु-युग के समाप्त होते ही हिन्दी साहित्य ने फिर करवट ली, अब उसकी वह बाल-सुलभ चंचलता व विमोहकता धीरे-धीरे लुप्त होने लगी। उसका स्थान अनुशासन, गाम्भीर्य तथा तत्त्वचिंतन लेने लगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-भार स्वीकार करते ही हिन्दी-साहित्य को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया और उसे नवीन अभिव्यक्ति एवं अभिनव स्फूर्ति प्रदान की। यही कारण है कि इस युग को उनके नाम पर 'द्विवेदी-युग' से अभिहित किया जाता है।

इस युग की महत्त्वपूर्ण घटना है—खड़ीबोली में पद्य-रचना का सफलता-पूर्वक प्रयोग। पिछली तीन-चार दशाब्दियों से हिन्दी-साहित्य की भाषा में दो पृथक् रूपों का प्रयोग होता चला आ रहा था—भारतेन्दु-युग में गद्य खड़ीबोली में और पद्य अधिकतर ब्रजभाषा में ही लिखा जाता रहा था। पिछले युग के दोनों प्रतिनिधि लेखकों—राजा लक्ष्मणसिंह तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—ने अपने नाटकों का गद्यांश तो खड़ीबोली में लिखा और पद्यांश ब्रज-भाषा में, यह विषम-स्थिति सर्वथा अस्वाभाविक तो थी ही, असह्य भी थी। किसी साहित्य के लिए एक साथ दो भाषाओं का प्रयोग श्रेयस्कर एवं हितकर नहीं होता। पर इस युग में आकर यह वैषम्य लगभग दूर हो गया और खड़ीबोली में भी अधिकांश कवियों ने पद्य-रचना प्रारम्भ कर दी। निस्सन्देह यह सब अनायास नहीं हो गया था। ब्रजभाषा और खड़ीबोली के समर्थकों ने अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिए पूर्ण ज़ोर लगा दिया। यह आन्दोलन लगभग भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ होकर द्विवेदी-युग तक चला आया। द्विवेदी-युग की विशिष्टताओं

पर प्रकाश डालने से पूर्व इस आन्दोलन की गतिविधि पर प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा।

खड़ीबोली-आन्दोलन—

पद्य-क्षेत्र में भी खड़ीबोली के प्रयोग की चर्चा जब प्रारम्भ में चलती थी, तो यह कुछ अस्वाभाविक एवं उपहासप्रद-सी प्रतीत होती थी; क्योंकि उस युग की स्थिति को देखते हुए ब्रजभाषा के भी अपने गुण थे—एक तो वह युगों से काव्य-क्षेत्र में रूढ चली आती थी। कान ब्रजभाषा के इतने अभ्यासी हो गये थे मानो वे दूसरी भाषा सुनने को तैयार ही नहीं थे। दूसरा—ब्रजभाषा में पद्यगत सुकुमार भावों के वहन करने की क्षमता थी, पर अपनी स्वाभाविक कर्कशता के कारण खड़ीबोली उस समय पद्य के उपयुक्त नहीं समझी जाती थी। तीसरा—संगीत के लिए ब्रजभाषा में जितनी माधुरी है, उतनी माधुरी खड़ीबोली में नहीं है। अतः शुरू-शुरू में ऐसी प्रथा रही कि पद्य ब्रजभाषा में निर्मित होता रहा और गद्य खड़ीबोली में। परन्तु परिवर्तनशील परिस्थितियों ने इस दशा को यथाशीघ्र बदल दिया।

सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस नई दिशा में नया प्रयोग करके नया अनुभव करना चाहा। १ सितम्बर, १८८१ ई० में उन्होंने खड़ीबोली में कविता रची—

गरमी के आगम दिखलाए रात लगी घटने।
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने॥
ठंडा पानी लगा सुहाने आलस फिर आई।
सरस सुगन्ध सिरिस फूलों की कोसों तक छाई॥
उपवन में कचनार बनों में टेसू है फूले।
मदमाते भौंरे फूलों पर फिरते हैं भूले॥

और 'भारत मित्र' को प्रकाशनार्थ भेजी तथा एक पत्र भी लिखा—

प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है, देखिएगा इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर

बन सकता है।……मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ, और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ।

स्पष्ट है कि इस पत्र में भारतेन्दु जी ने अपनी कठिनाई छिपा के नहीं रखी और न ही वे आत्म-विश्वासपूर्वक खड़ीबोली में कविता करने का साहस ही कर सके। भारतेन्दु के निधन तक खड़ीबोली में कविता करने की विशेष चर्चा नहीं चली। उनके निधन (सं० १९३२) के दो वर्ष बाद बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खड़ीबोली' के पक्ष में विधिवत् आन्दोलन चला दिया। इस सम्बन्ध में दो दल बन गये। एक दल ने खड़ीबोली की वकालत पूरी योग्यता से की; इस दल में थे—अयोध्याप्रसाद खत्री, बालमुकुन्द गुप्त, मि० फैड्रिक पिंकाट और श्रीधर पाठक। दूसरे दल ने ब्रजभाषा की रक्षा के लिए यथासम्भव सभी उपाय बर्ते; इस दल में थे—राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन', सर जार्ज ग्रियर्सन और बालकृष्ण भट्ट। ब्रजभाषा के पक्षपातियों ने अपनी धारणा के सम्बन्ध में ये तर्क दिये—

(क) जब भारतेन्दु जी खड़ीबोली में सफल काव्यरचना नहीं कर सके तो खड़ीबोली में काव्यनिर्माण का प्रयत्न व्यर्थ है।

(ख) पिंगलशास्त्र के किसी विधान पर खड़ीबोली ठीक नहीं बैठती।

(ग) खड़ीबोली एक गँवारू बोली है।

(घ) खड़ीबोली में कविता करने की चेष्टा की गई तो इससे उर्दू का ही प्रचार बढ़ेगा।

(ङ) खड़ीबोली के प्रचार से ब्रज-साहित्य जैसा अमूल्य रत्न-भण्डार हमसे छिन जायगा।

खड़ीबोली के समर्थकों ने इन तर्कों का उत्तर इस प्रकार दिया—

(क) भारतेन्दु बाबू की असफलता एवं असमर्थता को सारे राष्ट्र की असफलता एवं असमर्थता मान लेना समुचित नहीं है।

(ख) खड़ीबोली में सभी छन्दों में रचना की जा सकती है। किसी भाषा को छन्दों के अनुपयुक्त बतलाना कवि की अपनी अक्षमता का

सूचक है, भाषा की अशक्तता का नहीं ।

(ग) ब्रजभाषा एक सीमित क्षेत्र की भाषा है, वह एक गँवारू बोली हो सकती है, पर जो भाषा (खड़ीबोली) कई प्रान्तों में बोली जाय, वह गँवारू कैसे हो सकती है ?

(घ) हिन्दी के प्रहरी सचेत रहेंगे तो उर्दू घुसने नहीं पायेगी ।

(ङ) गद्य और पद्य में दो विभिन्न भाषाओं के प्रयोग से साहित्यिक प्रगति में बाधा पड़ती है । अपनी चरम समुन्नति के बाद अब ब्रजभाषा के विश्राम लेने का समय आ गया है ।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-कविता के प्रथम युग में खड़ीबोली और ब्रजभाषा के समर्थकों के मध्य केवल विवाद ही चलता रहा, विशेष रचनात्मक कार्य न हुआ । यद्यपि ब्रजभाषा के घोर पक्षपातियों में से कुछेक ने खड़ीबोली में काव्य-रचना का प्रयोग करके देख लिया था; जैसे—बदरीनारायण चौधरी ने 'कजली-कादंबिनी' (१८९७ ई०) और 'आनन्द, अरुणोदय' लिखा । अंबिकादत्त व्यास ने 'कंसवध', और प्रतापनारायण मिश्र ने 'संगीत-शाकुन्तल' आदि-आदि, परन्तु खड़ीबोली के समर्थकों में से केवल श्रीधर पाठक ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने खड़ीबोली में काव्य-रचना की । फिर भी प्रथम युग में खड़ीबोली के पक्ष में वातावरण का निर्माण होना प्रारम्भ हो गया था, यह कम सन्तोष की बात नहीं है ।

दूसरे युग में दोनों दलों में अनेक नये साथी आ मिले । ब्रजभाषा के पक्षपाती दल में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू जगन्नाथ रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न आदि का नाम उल्लेखनीय है और खड़ीबोली के पक्षपाती दल में महावीरप्रसाद द्विवेदी, मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि का । दूसरे दल वालों में द्विवेदीजी को इनका 'अग्रणी' कहना अनुचित न होगा । इस युग में भी तर्कों और वितर्कों से काम लिया गया, पर वे सब के सब वही प्रथम युग के ही थे । उनमें विशेष नवीनता न थी । पर इधर अब खड़ीबोली के पक्षपाती ब्रजभाषावादियों की इन आपत्तियों का उत्तर रचनात्मक ढंग से देने लगे—

१. ब्रजभाषावादियों की पहली आपत्ति यह थी कि खड़ीबोली में अच्छी कविता नहीं की जा सकती; इसका रचनात्मक उत्तर दिया बाबू बालमुकुन्द गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी ने। इनकी कृतियाँ उस समय इतनी लोकप्रिय हुईं कि साहित्यिकों को विश्वास हो गया कि खड़ीबोली का भविष्य उज्ज्वल है।

२. पूर्व पक्ष की दूसरी आपत्ति यह थी कि इसमें कोमलकान्त पदावली तथा सुकुमार भावनाओं का अभाव है; इसका रचनात्मक उत्तर दिया गोपालशरणसिंह 'नेपाली' ने, जिनकी रचनाएँ माधुर्य और कोमलकान्त पदावली में उस समय बेजोड़ समझी जाती थीं।

३. पूर्व पक्ष की तीसरी और अन्तिम आपत्ति यह थी कि इसमें महाकाव्य, संगीतकाव्य और अन्य काव्यरूप सफलतापूर्वक नहीं लिखे जा सकते। इसका उत्तर दिया अयोध्यासिंह उपाध्याय ने, जिनका रचा 'प्रिय प्रवास' खड़ीबोली का प्रथम महाकाव्य माना गया। इधर कुछेक छायावादी कवियों ने संगीत-काव्य की भी सृष्टि कर इस त्रुटि को भी पूर्ण कर दिया।

द्वितीय युग के प्रारम्भ में कुछेक कवि ऐसे भी थे, जो ब्रजभाषा का पक्ष ले रहे थे; पर जब उन्होंने देखा कि खड़ीबोली में कविता चल निकली है, तो वे भी खड़ीबोली में काव्य-निर्माण करने लगे। इस प्रसंग में अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शंकर, भगवानदीन और रूपनारायण पाण्डेय के नाम लिये जा सकते हैं।

सारांश यह कि—

ब्रजभाषा के पक्षपातियों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती गई और खड़ीबोली के पक्षपातियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। पूर्व पक्ष केवल तर्क और वादविवाद का सहारा लेकर ब्रजभाषा को जीवित रखना चाहता था; और दूसरा पक्ष वादविवाद के व्यर्थ मार्ग से निकलकर रचनात्मक कार्यों द्वारा अपना नवीन मार्ग प्रशस्त करने में लग गया। समय ने और जनता की मांग ने भी साथ दिया और खड़ीबोली की जय सर्वत्र गूँज उठी; और आगे चलकर बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री का

स्वप्न प्रसाद और महादेवी वर्मा ने तथा पंत और निराला आदि ने पूर्ण कर दिया।

उक्त आन्दोलन पर प्रकाश डालने का उद्देश्य केवल इतना है कि पाठक भारतेन्दु-युग के उपरान्त द्विवेदी-युग में खड़ीबोली का पद्य-काव्य में निश्शंक प्रयोग देखकर चकित न हो जायं—वह उसे अनायास एवं आकस्मिक घटना न समझ लें।

भाषा-संस्कार—

द्विवेदी-युग की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना है—भाषा का संस्कार। खड़ीबोली के आन्दोलन-स्वरूप इस युग में खड़ीबोली को काव्य-क्षेत्र में स्थान तो मिल गया था, पर अभी उसे परिष्कृत करने की आवश्यकता बनी हुई थी, जिसे द्विवेदीजी ने पूर्ण किया। इन्होंने अँग्रेज़ी तथा उर्दू पढ़े-लिखे लोगों को हिन्दी में लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके वाक्य-विन्यास को शुद्ध किया। व्याकरण-सम्बन्धी शिथिलताओं को दूर किया। विभक्तियों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। इस प्रकार भाषा की स्थिरता में उनके प्रयत्न हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि के लिए वरदान सिद्ध हुए, और खड़ीबोली गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में धीरे-धीरे व्यवस्थित, स्वच्छ एवं परिपक्व रूप धारण करती चली गई।

वर्ण्य-विषय—

द्विवेदीजी स्वयं एक कवि, सफल समालोचक और निबन्धकार थे। उनका प्रभाव समकालीन लेखकों पर भी पड़ा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उन दिनों हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या भी बढ़ चली थी और उनमें अन्य काव्याङ्गों की अपेक्षा कथा-साहित्य पढ़ने में ही अधिक रुचि थी। अतः इस काल में उपन्यासों का निर्माण अन्य प्रकार की रचनाओं की अपेक्षा सर्वाधिक बढ़ा। अँग्रेज़ी तथा बंगला के उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ तथा कतिपय मौलिक उपन्यासों का निर्माण भी। इसी प्रकार कहानी के आधुनिक रूप का सूत्रपात भी इसी युग से ही हो गया। इस युग के साहित्य का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

पद्य-साहित्य—

द्विवेद-युगीन पद्य-साहित्य वर्ण्य विषय की दृष्टि से यद्यपि भारतेन्दु-युग से चली आ रही धारा का ही एक रूप है, पर इसे नवीन रूप में विकसित करने का श्रेय इस युग को ही है। देश-प्रेम, जन्मभूमि के प्रति प्रेम, भारत के अतीत का गौरव-गान, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति, स्त्री-पुरुष की समानता आदि विषय, जिन पर इस युग में कविता की गई, निस्सन्देह अब अछूते नहीं रह गये थे, पर इन्हें परिष्कृत एवं स्वच्छ रूप इस युग से ही मिलना प्रारम्भ हुआ।

द्विवेदी-कालीन अधिकांश कविता शृङ्गार-मुक्त है। रीतिकालीन शृङ्गार-रस का एकाध छींटा भारतेन्दु-युग को सिक्त अवश्य कर जाता था, पर इस युग में द्विवेदीजी के उज्ज्वल तथा आदर्श व्यक्तित्व के कारण शृङ्गार को उच्छृङ्खलता एवं अश्लीलता समझकर इसे कविता का विषय प्रायः नहीं बनाया गया। इसका प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज जैसी संस्थाओं के प्रभावस्वरूप संयम एवं सात्त्विकतापूर्ण जीवन व्यतीत करने का प्रभाव उस युग पर पड़ना आरम्भ हो गया था, और इसी विचारधारा ने ही कविता को शृङ्गार-रस-वर्णन से बचाये रखा।

द्विवेदी-युगीन पद्य की दो अन्य विशेषताएँ भी उल्लेखनीय हैं—प्रकृति-चित्रण और प्रबन्धकाव्यात्मकता। प्रथम का सम्बन्ध इसके आन्तरिक पक्ष से है और दूसरे का बाह्य पक्ष से।

प्रकृति-चित्रण—

भारतेन्दु-युग में किसी भी कवि का ध्यान प्रकृति की ओर नहीं गया था। या तो उन्होंने प्रकृति-चित्रण किया ही नहीं; या जो कुछ किया भी तो वह बँधी-बँधाई परम्परा के अनुसार। उसमें उस युग की कवियों का कवियों की न अपनी अनुभूति दिखाई देती है और न अभिव्यक्ति। वस्तुतः उस युग के कवियों का मन मानव के बाह्य व्यापारों के वर्णन और चित्रण में ही अधिक रमता था इसीलिए वे सब कुछ छोड़कर कहते हैं कि—

धोवत सुन्दरी वदन करन अति ही छवि पावत,
वारिधि नाते शशि कलंक मनु कमल मिटावत ।

किन्तु द्विवेदी-युग में आकर कविगण का ध्यान प्रकृति के यथातथ्य चित्रण की ओर गया। उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास' और गुप्त जी के 'साकेत' के अनेक प्रसंग तो प्रकृति-वर्णन से परिपूर्ण हैं ही, साथ ही रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न', 'पथिक' और 'मिलन' आदि खण्ड-काव्यों में भी नदी, पर्वत, समुद्र आदि के दृश्य अत्यन्त मनोमोहक रूप में अंकित हुए हैं। इन दृश्यों में भी कहीं-कहीं प्राचीन परम्परा का परिपालन परिलक्षित हो जाता है, पर उनका पृष्ठाधार मानव-मन ही है, न कि बाह्य वस्तु-विधान ।

भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली की कविता तो थी नहीं, ब्रजभाषा में भी उस युग के कवियों ने केवल मुक्तक पद ही लिखे थे। वास्तव में वे अपनी पूरी शक्ति के साथ गद्य और नाटक के प्रतिष्ठापन के लिए ही प्रयत्नशील रहे थे, पद्य उनके लिए गौण काव्य-रूप रहा था। किन्तु इस युग में आकर गद्य के साथ पद्य की भी जब पुनः प्रतिष्ठा हुई तो कलाकारों का ध्यान मुक्तक के साथ-साथ प्रबन्ध-काव्यों की ओर भी गया; या यूँ कहें कि खड़ी-बोली का पद्य प्रबन्ध-काव्य के रूप में ही प्रतिष्ठित होना प्रारम्भ हुआ। 'पंचवटी', 'जयद्रथवध', 'रंग में भंग', 'सैरन्ध्री' आदि अनेक छोटे-बड़े खण्ड-काव्यों तथा 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' जैसे महाकाव्यों का निर्माण इस तथ्य का प्रमाण है।

इस युग की एक अन्य निजी विशेषता है—विविध छन्दों का प्रयोग। इस कविता में हिन्दी के मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त न केवल संस्कृत के वर्णिक छन्दों को स्थान मिला, अपितु उनकी अतुकान्त शैली भी अपनाई गई। ब्रजभाषा में शताब्दियों से प्रचलित कवित्त-सवैया का भी खड़ीबोली में प्रयोग किया जाने लगा। इधर श्रीधर पाठक आदि ने उर्दू छन्दों को भी अपनी कुछेक कविताओं का माध्यम बनाया।

इस युग की कविताओं की एक अन्य विशेषता यह है कि इनकी

शैली अधिकांशतः गद्यात्मक है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग इस युग की कविता में अपेक्षाकृत अधिक होना आरम्भ हो गया था और किन्हीं स्थलों में यह प्रवृत्ति इतनी अधिक दिखाई देती है कि वह हिन्दी के रूप को भी खो बैठी है, तथा गद्यमय बन गई है। उदाहरणार्थ अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' की यह पंक्ति देखिए—

रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय-कलिका-राकेन्दु-बिम्बानना।

भाव-निर्वहण की दृष्टि से इस युग की कविताएँ इतिवृत्तात्मक मानी जाती हैं। कल्पना की उड़ानों का अधिक आश्रय लिये बिना यथातथ्य रूप में किसी वस्तु-विषय का वर्णन करना 'इतिवृत्तात्मकता' कहाता है। इसकी प्रतिक्रिया आगे चलकर प्रसाद-युग में हुई। छायावाद-सम्बन्धी कविता-निर्माण का एक कारण इसी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया भी है।

गद्य-साहित्य—

द्विवेदी-युग में गद्य-साहित्य का यथोचित विकास हुआ। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक, आलोचना, जीवन-चरित्र आदि साहित्य की सभी विधाओं में यथेष्ट प्रगति होती रही।

कहानी—यूँ तो द्विवेदी-युग के प्रारम्भ से लगभग सौ वर्ष पूर्व इन्शा अल्लाखाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' नामक एक रचना लिखी है, पर वह नाम की ही कहानी थी। वस्तुतः वह कहानी न होकर एक छोटा-सा उपन्यास था। वास्तव में हिन्दी-कहानी का प्रारम्भ सं० १९५७ से होता है; जबकि किशोरीलाल गोस्वामी की पहली कहानी 'इन्दुमती' सब से पहले 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् अनेक और कहानियाँ अनूदित और रूपान्तरित रूप में 'सरस्वती' में प्रकाशित होती रहीं। बंग महिला द्वारा लिखित 'दुलाई वाली' सरस्वती, मई १९०७ (सं० १९६२)में प्रकाशित कहानी इस युग की प्रथम विशिष्ट कहानी है।

संवत् १९६८ और १९६९ में 'इन्दु' पत्र में प्रसाद जी की 'ग्राम' और 'रसिया बालम' शीर्षक कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं। कथानक की

दृष्टि से हिन्दी कहानी-साहित्य प्रारम्भ से ही यथार्थवादी और आदर्शवादी–इन दो पृथक् विचार-धाराओं में बह निकला। प्रेमचन्द, सुदर्शन आदि लेखक अपनी कहानियों में जीवन के यथार्थ चित्र अंकित करते रहे। वे अपने आसपास जैसा समाज देखते उसी को कहानियों में चित्रित कर देते। इसके विपरीत प्रसाद जी तथा चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' आदि कलाकार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ऐसी कहानियाँ लिखने लगे, जिनका सम्बन्ध आदर्श से अधिक रहता था। ये सभी कहानियाँ इन पाँच भागों में बँट सकती हैं—

१. चरित-प्रधान, २. वातावरण-प्रधान, ३. कथानक-प्रधान, ४. कार्य-प्रधान, ५. विविध।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कहानी-साहित्य आयु में सबसे छोटा होते हुए भी द्विवेदी-युग से ही विस्तृत और लोकप्रिय अंग बनने लग गया। इसी युग में उत्कृष्ट बीसियों कहानीकार अपनी कहानियों के द्वारा साहित्य-भण्डार को समृद्ध बनाने लगे।

उपन्यास—भारतेन्दु-युग में उपन्यासों की परम्परा भली भाँति चल पड़ी थी। किशोरीलाल गोस्वामी ने चरित-प्रधान अनेक उपन्यास लिख डाले थे। फिर भी उनमें समाज की समस्याओं का सजीव चित्रण नहीं हो पाया था। उनमें व्यक्ति के प्रति सहानुभूति तो थी, पर समष्टि के प्रति नहीं। अब आवश्यकता थी ऐसे उपन्यासों की, जो सम्पूर्ण समाज की या वर्ग-विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर सकें। विशेषतः नारी तथा अन्य दलित-वर्ग के प्रति सच्ची सहानुभूति दिखाने वाले तथा पीड़ित किसानों का करुण-क्रंदन सुनने और सुनाने वाले उपन्यासों और उपन्यासकारों के लिए समाज लालायित था। समय की यह माँग द्विवेदी-युग में ही प्रेमचन्द के 'सेवासदन', 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' आदि उपन्यासों के द्वारा पूर्ण हुई।

नाटक—इस युग में नाटक के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हो पाई। बंगला, संस्कृत और अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी-अनुवाद

धड़ाधड़ प्रकाशित होने लगे। बदरीनाथ भट्ट आदि नाटककारों ने कुछेक मौलिक नाटक भी लिखे, पर इनके नाटकों में साहित्यिक गाम्भीर्य के स्थान पर पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के लिए लिखे जाने वाले उर्दू-नाटकों के समान संवादों का ही प्राधान्य है। यद्यपि मैथिलीशरण गुप्त कवि के रूप में ही विख्यात हैं, पर नाटकों के अकाल के उस युग में उन्होंने 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' आदि नाटक देकर तात्कालिक नाटक-साहित्य की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

निबन्ध और समालोचना—इस युग में निबन्ध और समालोचना के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। द्विवेदी जी स्वयं उत्कृष्ट निबन्धकार थे; आलोचनाएँ भी उन्होंने खूब लिखीं। यद्यपि उनकी आलोचनाएँ अधिकतर परिचयात्मक और गुण-दोष-विवेचनात्मक ही रहती थीं। पर इस काव्याङ्ग को सर्वप्रथम प्रशस्त मार्ग पर चलाने का श्रेय उन्हीं को ही है। द्विवेदी जी के अतिरिक्त पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास आदि सत्समालोचकों ने अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे। रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसी समय कार्य आरम्भ कर दिया था। उक्त सभी आलोचक निबन्धकार भी थे। इनके अतिरिक्त उत्कृष्ट निबन्धकार अध्यापक पूर्णसिंह भी इसी युग की उपज हैं।

निष्कर्ष रूप में इस युग की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. पद्य-क्षेत्र में खड़ीबोली को स्थान,

२. भाषा का व्याकरण-सम्मत परिष्कार,

३. प्रबन्ध-काव्यों के निर्माण का आरम्भ,

४. विविध छन्दों का प्रयोग,

५. शृंगार-रस का प्रायः बहिष्कार,

६. भारतेन्दु-युगीन वर्ण्य-विषय का विकास,

७. काव्य-शैली में गद्यात्मकता तथा भाव-निर्वहण में इतिवृत्तात्मकता,

८. कहानी और उपन्यास का यथेष्ट विकास; नाटकों का निर्माण कम; आलोचना एवं निबन्ध-साहित्य के आरम्भ द्वारा प्रशस्त मार्ग-प्रदर्शन।

इस युग के विशिष्ट लेखक ये हैं—महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर, रामनरेश त्रिपाठी, देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, मिश्रबन्धु, जगन्नाथदास रत्नाकर, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि, चन्द्रधर गुलेरी, पूर्णसिंह, सीताराम, पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुन्दरदास मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द और गुलाबराय। इनमें से अन्तिम चार लेखकों का परिचय हम प्रसाद-युग में प्रस्तुत कर रहे हैं, और शेष लेखकों में से तेरह का इसी प्रसंग में।

(१) महावीरप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी का जन्म दौलतपुर ज़िला रायबरेली में संवत् १९२७ में और देहान्त संवत् १९९५ में हुआ। अपने ग्राम में हिन्दी-संस्कृत और उर्दू की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् रायबरेली हाई स्कूल में उन्होंने अंग्रेजी व अरबी-फ़ारसी पढ़ी। बम्बई में रहकर मराठी और गुजराती आदि भाषाओं की भी अभिज्ञता प्राप्त की। तारबाबू टेलीग्राफ़-इन्स्पैक्टर आदि पदों पर कार्य करने के पश्चात् ऑफ़ीसर से झड़प हो जाने के कारण नौकरी छोड़कर घर चले आये। संवत् १९६० में आपने 'सरस्वती' का सम्पादन-भार सँभाला। इस काल में आपकी साहित्यिक प्रतिभा चमक उठी। तब से लेकर मृत्युपर्यन्त आप हिन्दी-भाषा के संस्कार और इसकी साहित्यवृद्धि में संलग्न रहे।

भारतेन्दु-युग गद्य का प्रयोग-काल होने के कारण स्वच्छन्दता का युग था। उस युग की खड़ीबोली व्याकरण-संस्कार से हीन थी। उसमें परिमार्जन और शुद्धता की कमी थी। इस कमी की ओर सर्वप्रथम महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान गया। हरिश्चन्द्र-युग की खड़ीबोली केवल बोली या लोक-भाषा न रहकर अब वह गद्य-साहित्य में विधिपूर्वक प्रयुक्त होने लगी थी, पर पद्य में अभी उसका प्रवेश नहीं होने पाया था। भारतेन्दु-काल की यह परिस्थिति अस्वाभाविक-सी थी कि गद्य में एक भाषा का और पद्य में दूसरी भाषा का प्रयोग हो इसलिए अब द्विवेदी-युग में पद्य में भी खड़ीबोली का प्रयोग अपरिहार्य प्रतीत

होने लगा था। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु तथा उनकी मण्डली की कृपा से हिन्दी के पाठक तो असंख्य हो गये, पर उक्त मण्डली के पश्चात् लेखकों का अभाव-सा दिखाई देने लगा। जो इने-गिने लेखक साहित्यिक क्षेत्र में आये भी, उनके सामने भाषा के ऊबड़-खाबड़ प्रयोग थे। 'बड़े-बड़े पुस्तक छपे'; 'आशा किया' आदि च्युत-संस्कृत तथा अनेक प्रान्तीय प्रयोग हिन्दी में घुसे चले आ रहे थे। इन सब अव्यवस्थाओं को समाप्त करके खड़ीबोली में पद्य की प्रतिष्ठा तथा सुनिश्चित शैलियों के आविष्कार की आवश्यकता का अनुभव उस युग के कवियों को होने लगा। ऐसी परिस्थिति में द्विवेदी जी ने साहित्य-संसार में उपस्थित होकर उन सभी समस्याओं का समाधान करने का भार अपने कन्धों पर ले लिया।

उस समय के सामान्य शिक्षित तथा लेखक-वर्ग को अंग्रेजी और बंगला आदि दूसरी भाषाओं के साहित्य ने अधिक प्रभावित कर रखा था और लोग उन्हीं भाषाओं में लिखने में ही गौरव समझते थे। उन्हें अपनी भाषा में लिखना-लिखाना अप्रिय तथा अस्वाभाविक-सा लगता था। द्विवेदी जी ने प्रशस्त कार्य यह किया कि ऐसे लेखकों को हिन्दी लिखने के लिए प्रेरित किया; उनका उत्साह बढ़ाया और इस प्रकार उर्दू, अंग्रेजी, बंगला आदि में लिखने वाले अनेक लेखकों को हिन्दी-साहित्य में ला बैठाया। इन्हीं नवागन्तुकों में से कई लेखकों ने हिन्दी-साहित्य-भण्डार को अमूल्य रत्नों से भर दिया है। मुन्शी प्रेमचन्द और महाशय सुदर्शन सरीखे अनेक लेखक उर्दू को सहसा तिलाञ्जलि देकर हिन्दी के ही बन बैठे। द्विवेदी जी के प्रोत्साहन ने उन्हें अच्छा कलाकार बना दिया। राष्ट्र के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त भी द्विवेदी जी की छत्रछाया तले रहकर ही इतने उत्कृष्ट कलाकार बन पाये। इस बात का उन्होंने स्वयं 'साकेत' में संकेत किया है—

करते तुलसी भी कैसे मानस नाद।
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद॥

भाषा-संस्कार के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न व उपाय किये। सरस्वती

में प्रकाशित होने वाले प्रत्येक लेख को वे स्वयं शुद्ध कर सजाते, सँवारते, और लेखकों को भविष्य में वैसे ही सुसंस्कृत रूप में लिखने के लिए सावधान करते। व्याकरण-सम्बन्धी विविध लेख उन्होंने स्वयं लिखे और दूसरों से भी लेख तथा पुस्तकें लिखवाईं। व्याकरण-सम्बन्धी प्रत्येक छोटी-बड़ी बात को लेकर पर्याप्त चर्चाएँ इस समय चलीं। विभक्तियों को शब्द से पृथक् या साथ रखने के सम्बन्ध में भी विचार हुआ। पण्डित कामताप्रसाद गुरु ने इसी समय अपना प्रसिद्ध प्रामाणिक व्याकरण लिखा था। इस प्रकार द्विवेदी जी ने भाषा का संस्कार किया और कराया। प्रान्तीय पदावली के प्रयोग को, जो भाषा में बलात् आता जा रहा था, उन्होंने सर्वथा समाप्त कर दिया। द्विवेदी जी ने विषयानुकूल व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और गवेषणात्मक शैलियों का भी निर्धारण किया। हिन्दी की गद्य-शैली को उन्नत करने के लिए अंग्रेज़ी-साहित्य की स्पष्ट-भाव-व्यंजकता, बंगला की सरलता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू गद्य का प्रवाह ग्रहण किया गया।

खड़ीबोली पद्य के तो वे प्रथम प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इनसे पूर्व पाठक जी के अतिरिक्त अन्य किसी लेखक ने पद्य में खड़ीबोली का प्रयोग प्राय: नहीं किया था।

द्विवेदी जी ने साहित्य के वर्ण्य-विषय को भी नवीन रूप में ढाला। उन्होंने प्रेम की प्राचीन परिपाटी का परित्याग कर स्वदेशानुराग आदि की सात्विक प्रवृत्तियों का प्रचार किया। गुप्त जी की 'भारतभारती', रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न', 'पथिक', 'मिलन' आदि काव्य इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

इस प्रकार भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से द्विवेदी जी ने साहित्य को नवीन रूप, अभिनव चेतना और स्वच्छता प्रदान की। इसके साथ ही द्विवेदी जी ने स्वयं भी बड़े भारी साहित्य का निर्माण किया। सैकड़ों छोटे-बड़े निबन्धों, लेखों, पद्यों के अतिरिक्त इन्होंने लगभग ४० ग्रन्थ लिखे अथवा अनूदित किये। कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव'

के पद्यात्मक अनुवाद तथा महाभारत का संक्षिप्त गद्यानुवाद इनकी सुप्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनका अनूदित पद्य भी मौलिक-जैसा मधुर एवं उत्कृष्ट काव्य का उदाहरण है। इनकी इतिवृत्तात्मक-कविता का एक नमूना देखिए—

मूल्यवान मंजुल शय्या पर पहले निशा बिताता था,
सुयश और मंगल गीतों से प्रात जगाया जाता था।
वही आज तू, कुश-काशों से युक्त भूमि पर सोता है,
श्रुति कर्कश शृगाल-शब्दों से हा हा निद्रा खोता है।।

इनके महाभारत की भाषा-शैली ही को प्रायः सभी भावी लेखकों ने आदर्श रूप में स्वीकार किया। इनके गद्य का एक निदर्शन देखिए—

"इस म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन जिसे अब लोग कुरसीमैन कहने लगे हैं श्रीमान् बूचाशाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा पड़ा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन सिर्फ़ इसलिए हुए कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ और खुशामदों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्यूनिसि-पैलिटी का काम चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मैम्बर बाबू बख्शीराम—आपके साले साहब ने फ़ी रुपया तीन-चार पंसेरी का भूसा म्यूनिसिपैलिटी को देने का ठेका लिया है। आपका पिछला बिल दस हज़ार रुपये का था। पर कूड़ागाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफ़ाई के इन्स्पैक्टर हैं लाला सतगुरुदास; आपकी इन्स्पैक्टरी के ज़माने में हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं।"

इस प्रकार भाषा का संस्कार, खड़ीबोली में पद्य का प्रचार, नवीन विषय-शैली का आविष्कार और साहित्य-क्षेत्र में नवीन कलाकारों का सत्कार कर द्विवेदीजी ने 'आचार्य' पद पर प्रतिष्ठित होने का पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। वे आधुनिक हिन्दी-जगत् के सचमुच पितामह थे।

(२) बालमुकुन्द गुप्त

श्री गुप्त जी उर्दू से हिन्दी-जगत् में प्रविष्ट हुए। सबसे पहले आपने कलकत्ता से 'बंगवासी' का सम्पादन किया। वे 'भारतमित्र' पत्रिका के भी सम्पादक रहे। इनका 'शिवशम्भु का चिट्ठा' हास्य और व्यंग्यात्मक शैली में अनूठी रचना है। इनका हास्य बहुत शिष्ट होता था और व्यंग्य बड़ा चुटीला। इन्होंने तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर मार्मिक लेख लिखे। आपके लिखे निबन्धों का संग्रह 'गुप्त-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है, और 'गुप्त-ग्रन्थावली' में आपकी सभी रचनाओं का संकलन है। इनकी भाषा में प्रवाह है। ये अपनी व्यंग्यमय शैली, मार्मिकता और लाक्षणिकता के कारण चिरस्मरणीय रहेंगे। इनकी भाषा का एक नमूना देखिए—

"शर्मा जी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिलबट्टे में भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील-छीलकर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर घटा बहार में बहार।"

(३) श्रीधर पाठक

श्रीधर पाठक खड़ीबोली के प्रथम सफल कवि माने जाते हैं। आप प्रकृति के उपासक कवि हैं। 'काश्मीर-सुषमा' में प्रकृति आपकी लेखनी पर नृत्य करती-सी मालूम पड़ती है। इनकी कोमल-कान्त पदावली पढ़कर मन-मयूर नाच उठता है। 'श्रान्त पथिक', 'ऊजड़ ग्राम', 'एकान्त-वासी योगी' नाम से आपने गोल्डस्मिथ की रचनाओं का हिन्दी-पद्य में अनुवाद किया। मौलिक कविताएँ भी लिखीं। 'भारत गीत' में आपके राष्ट्रिय गीत संगृहीत हैं। हिन्दी-जगत् को इनकी एक अन्य देन है— स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्त्तन। खड़ीबोली की कविता में देश-प्रेम, राष्ट्रिय गौरव, प्रकृति-प्रेम आदि नये-नये विषयों को नवीन शैली में सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हीं को है।

(१)

बन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों,
बांधवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हों।
निन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों,
सब प्रकार परतन्त्र पराई प्रभुता के अभिमानी हों ॥

(२)

प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति ।
पलपल पलटति भेस छनिक छबि छिनछिन धारति ॥
विमल अंबुसर मुकुरन महँ मुख बिंब निहारति ।
अपनी छबि पै मोहि आप ही तनमन वारति ॥
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर ।
यहि अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरंदर ॥

(४) नाथूराम शर्मा शंकर

पं० नाथूराम शंकर का जन्म सं० १९१६ में हरदुआगंज (अलीगढ़) में हुआ। इन्होंने खड़ीबोली और ब्रज दोनों में कविताएँ लिखीं। यद्यपि इन कविताओं में उपदेशात्मकता अधिक मात्रा में है, पर इनकी शैली में एक सरस प्रवाह है और पाठकों के मन को आकृष्ट करने की अपूर्व शक्ति है, जिससे पाठक कभी ऊबता नहीं। मौज में आकर ये कभी-कभी उर्दू में भी रचनाएँ किया करते थे। इन्होंने कुछ शृङ्गार-पूर्ण कविताएँ भी लिखी हैं। 'शंकर-सर्वस्व' नाम से इनका 'बृहत् काव्यसंग्रह' प्रकाशित हो चुका है। इनकी रचना का एक नमूना देखिए—

(१)

कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि
श्याम घन मंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंग में कलाधर की कोर है कि
राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है।

शंकर कसौटी पर कंचन की लीक है कि
तेज ने तिमिर के हिए में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की मांग है कि
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है ।।

(२)

बुढ़ापा नातवानी ला रहा है !
जमाना जिन्दगी का जा रहा है !
किया क्या खाक ? आगे क्या करेगा ?
अख़ीरी वक्त दौड़ा आ रहा है।

(५) रामनरेश त्रिपाठी

श्री त्रिपाठी जी का जन्म सं० १९४६ में हुआ। 'मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न' इनके ये तीन खण्ड-काव्य हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। ये मर्मस्पर्शी रचनाएँ हैं। आपकी कृतियाँ देश-प्रेम से ओत-प्रोत होती हैं। आपकी ख्याति 'कविता-कौमुदी' नामक संग्रह से भी है जिसके सात खण्डों में आपने प्राचीन और आधुनिक हिन्दी कविता के अतिरिक्त उर्दू और बँगला कविताओं का भी संग्रह किया है। इन खण्डों के भूमिका-भाग में साहित्य का ऐतिहासिक परिचय भी एक महत्त्वपूर्ण अंश है। इधर लोकगीतों में भी आपकी विशेष रुचि है। 'कविता-कौमुदी' का एक भाग लोक-गीतों से सम्बद्ध है। इनकी रचना का एक नमूना लीजिए—

घोर निशीथ, गँभीर तमावृत, शांत दिशा, आकाश,
नीरव तारागण करते थे झिलमिल अल्प प्रकाश।
प्रकृति मौन, सचराचर निद्रित, अति निस्तब्ध समीर,
जागृत वन में लता-विनिर्मित केवल एक कुटीर ।।

(६) जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जगन्नाथदास रत्नाकर का जन्म अग्रवाल वैश्य पुरुषोत्तमदास के घर सं० १९२३ में हुआ था। आप दिल्ली के रहने वाले थे। रत्नाकर जी ने फ़ारसी की विशेष शिक्षा पाई थी। भारी-भरकम शरीरधारी रत्नाकर जी

अत्यन्त विनोदी, हँसमुख, मिलनसार और मनमौजी कवि थे। रईसी ठाठ से रहना इन्हें अधिक पसन्द था। ये पहले उर्दू में कविता किया करते थे और बाद में हिन्दी में कविता करने लगे।

रत्नाकर जी ब्रजभाषा के कट्टर पक्षपाती थे। ब्रजभाषा के आधुनिक उच्च कोटि के कवियों में आपका नाम अग्रगण्य है। आपकी रचना-शैली मतिराम, पद्माकर, देव और सेनापति की रचना-शैली जैसी है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपने 'पद्माकर' कवि का विशेष अनुसरण किया है।

रत्नाकर जी की रचनाएँ ये हैं—'हिंडोला', 'समालोचनादर्श', 'साहित्य-रत्नाकर', 'हरिश्चन्द्र', 'गंगावतरण', 'शृङ्गारलहरी', 'रत्नाष्टक', 'वीराष्टक' और 'उद्धवशतक'। इनमें 'गंगावतरण' तथा 'उद्धवशतक' उत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

रत्नाकर जी की सम्पादित रचनाएँ ये हैं—'हम्मीर हठ' (चन्द्रशेखर वाजपेयी), 'हिततरंगिणी' (कृपाराम), 'कंठाभरण' (दूलह कवि) और 'बिहारी-सतसई' (बिहारी कवि)। 'बिहारी-सतसई' की अनेक टीकाओं में आपकी लिखी टीका सर्वश्रेष्ठ एवं प्रामाणिक समझी जाती है।

आपका निधन हरिद्वार में २१ जून, १९३२ को हुआ था।

रचना की एक बानगी देखिए—

बिरह ब्यथा की कथा अकथ अथाह महा
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीन सों।
कहै 'रतनाकर' बुझावन लगे ज्यों कान्ह
ऊधो को कहन हेत ब्रज जुवतीन सों॥
गहवरि आयो गरो भभरि अचानक त्यों
प्रेम पर्‌यो चपल चुचाइ पुतरीन सों।
नेकु कही बैननि अनेक कही नैननि सों
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सों॥

(७) गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' जी का जन्म संवत् १९४० में पं० अवसेरीलाल के घर हुआ। इनकी प्राथमिक शिक्षा उर्दू में हुई, अग्रिम शिक्षा भी उर्दू में हुई, अतः इनका काव्योन्मेष भी उर्दू में हुआ। सं० १९७१ से 'कृषक-क्रन्दन' लिखकर इन्होंने हिन्दी-क्षेत्र में प्रवेश किया।

'सनेही' जी की भाषा परिनिष्ठित ब्रजभाषा है। उक्तिवैचित्र्य, शब्द-संघटन, रूपचित्रमयी कल्पना 'सनेही' जी की विशेषताएँ हैं। समस्यापूर्ति में ये निष्णात थे। भारतेन्दु-समय की समस्यापूर्ति-प्रणाली को फिर से चालू करना इनका ही काम था। चिर-समय तक इन्होंने 'सुकवि' का सम्पादन भी किया था।

आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं—'प्रेमपच्चीसी', 'कुसुमांजलि' और 'कृषक-क्रन्दन'। इनकी रचना का एक निदर्शन लीजिए—

तेरे स्वेद-बुन्द मकरन्द से सुगन्धित हो,
मंजुल गुलाब ही का इत्र बन जाते हैं।
आते चित्रकार जो बनाने कभी चित्र तेरा,
देख के विचित्र छबि चित्र बन जाते हैं॥

(८) राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का जन्म सं० १९२७ में हुआ। इनके पिता राय वंशीधर जी जबलपुर में वकालत करते थे। 'पूर्ण' जी भी वकालत की शिक्षा समाप्त कर कानपुर में वकालत करने लगे। ये प्रतापनारायण मिश्र के 'रसिक समाज' के सक्रिय सदस्य थे।

इनका ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार था। समस्यापूर्ति करने में ये निर्द्वन्द्व थे और आशुकवि थे। कहते हैं कि एक बार कचहरी में आपने कविता-बद्ध बहस की थी। 'पूर्ण' जी गोरखपुर में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने गये थे।

इनकी कृतियों में 'मेघदूत' (अनुवाद), 'चन्द्रकला भानुकुमार' (नाटक) के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी स्फुट कविताओं के विषय हैं—भक्ति,

वेदान्त, देशभक्ति, मातृभाषा, राजभक्ति, प्रकृति-वर्णन इत्यादि । इनके प्रकृति-वर्णन के दो उदाहरण लीजिए—

हिलते थे वृक्षों के पल्लव रुचिर अधीर,
लगती थी आगत सरीर में सुखद समीर ।
मानो करके कर सहस्र निज, सेवा आतुर चातुर बाग,
व्यजन क्रिया से मनरंजन कर व्यंजन करता था अनुराग ।

× × ×

तरु शाखाएँ फल फूलों का पाकर भार,
झुक-झुक भूमि छुए लेती थीं बारम्बार ।
मानो उस उपवन के किंकर समझ अतिथि-सेवा की नीति,
रखते थे फलफूल सामने निज पवित्र उपहार सप्रीति ।

(९) सत्यनारायण 'कविरत्न'

सत्यनारायण 'कविरत्न' का जन्म अलीगढ़ में सं० १९४१ में हुआ था । आप सनाढ्य ब्राह्मण थे । अभी ये बालक ही थे कि इनके माता-पिता स्वर्ग सिधार गये । इनका पालन-पोषण इनकी मौसी ने किया । ब्रह्मचारी बाबा रघुवरदास के यहाँ आपकी शिक्षा-व्यवस्था हुई । किसी कारणवश बी० ए० की परीक्षा नहीं दे सके । कविरत्न पक्के वैष्णव और कृष्ण के अनन्य उपासक थे । इनका रहन-सहन बड़ा सरल और साधु था । गोष्ठियों में इनके सवैया-पाठ से श्रोतागण मुग्ध हो जाया करते थे । इनके भाव बड़े गंभीर और मर्मस्पर्शी होते थे, जिनका प्रभाव श्रोतृगण पर तुरन्त पड़ता था । ब्रजभाषा का प्रांजल और मधुरतम प्रयोग इनकी कविता में उपलब्ध होता है । जैसे 'रत्नाकर' पद्माकर-शैली के कवि माने जाते हैं, वैसे 'कविरत्न' नन्ददासीय शैली के कवि माने गये हैं । 'भ्रमरदूत' इनका प्रसिद्ध खण्डकाव्य है ।

आपकी ख्याति 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित' के अनुवाद से अधिक फैली । संस्कृत भाषा में ये अनूदित नाटक मौलिक नाटकों के समान ही लगभग सरस हैं । इनकी स्फुट रचनाएँ 'हृदयतरंग' में

संगृहीत हैं।

इनका निधन सन् १६१८ में हुआ था।

इनकी रचना की एक बानगी देखिए—

मृदु मंजु रसाल मनोहर मंजरी मोरपखा सिर पै लहरैं।
अलबेलि नबेलिन बेलिनु में नव जीवन ज्योति छटा छहरैं॥
पिक भृंग सुगुंज सोई मुरली सरसौं सुभ पीत पटा फहरैं।
रसवंत विनोद अनंत भरे बृजराज बसंत लिए बिहरैं॥

इन्द्र धनुष अरु इन्द्र वधूटिन की सुचि सोभा।
को जग जनम्यो मनुज जासु मन निरख न लोभा॥
पिय पावन पावस लहरि लहलहात चहुँ ओर।
छाई छबि छिति पै छहरि ताको ओर-न-छोर॥
—लसै मनमोहिनी॥

(१०) वियोगी हरि

बुन्देलखण्ड के छत्तरपुर निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण पं० बलदेवप्रसाद द्विवेदी के पुत्र पं० हरिप्रसाद द्विवेदी ही 'वियोगी हरि' नाम से विख्यात हैं। इनका जन्म सं० १९५३ में रामनवमी को हुआ। पिता के देहावसान हो जाने पर इनका पालन-पोषण ननिहाल में हुआ। वहीं इनकी शिक्षा-व्यवस्था हुई। बचपन में ही 'विनयपत्रिका' तथा 'श्रीमद्भागवत' के प्रति इनका अनुराग जागृत हुआ। ७ वर्ष की अवस्था में आपने एक कुंडलिया बनाई थी और १८ वर्ष की आयु में 'प्रेमशतक', 'प्रेम-पथिक', 'प्रेमांजलि' और 'प्रेम-परिषद्'—ये पुस्तकें भी रच डालीं।

वियोगी हरि को प्रायः तीन रूपों में स्मरण किया जाता है—कृष्ण-भक्त के रूप में; राष्ट्रिय नेता के रूप में और साहित्य-सेवी के रूप में।

(१) आप परम कृष्णभक्त हैं। भक्तों जैसा कोमल हृदय भी आपको मिला है। 'ब्रजमाधुरी-सार' आपकी कृष्णचरित्र-सम्बन्धी रसिकता का परिचायक है।

(२) आप कुछ समय तक गांधीजी के सेक्रेटरी भी रहे हैं। इस समय भी आप गांधी-निधि के सदस्य हैं और हरिजन सेवाकार्य में सतत संलग्न हैं।

(३) आपने अनेकविध साहित्यसेवा की है। वर्षों सम्मेलन-पत्रिका के सम्पादक रहे हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कराची-अधिवेशन में आप सभापति भी चुने गये थे। आपने अब तक लगभग ४० पुस्तकें लिखी हैं। जिनमें से कतिपय ये हैं—'छद्मयोगिनी', 'कविकीर्तन', 'अनुराग वाटिका', 'वीर हरदौल', 'मेवाड़-केसरी' और 'वीर-सतसई'। अन्तिम रचना पर इन्हें १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पुरस्कार भी मिला है।

इनकी रचना की एक बानगी देखिए—

ब्रजबानी पद माधुरी मधुसानी रसलीन।
विधिरानी गावति अँजौं जासु गुननि लै बीन॥
जापै तृन लौं बारियै राग विराग सुहाग।
बड़े भाग लै पाइयै सो अगाध अनुराग॥
पावसु ही में धनुष अब सरित तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग नौ रस ही में बीर॥
पराधीन जौ जन, नहिं सरग, नरक ता हेतु।
पराधीन जौ जन नहिं, सरग नरक ता हेतु॥

(११) देवकीनन्दन खत्री

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यास-लेखकों में श्री खत्री जी की विशेष ख्याति रही है। इनके उपन्यासों में तिलस्मी और ऐयारी घटनाओं के वैचित्र्य की प्रधानता है। इनका उद्देश्य केवल पाठकों का मनोरंजन करना ही है। घटनाओं की भूलभुलैयों और चमत्कारों के कारण इनके उपन्यास काफी समय तक जनता को मुग्ध करते रहे। इन्हें पढ़ने के लिए न जाने कितने लोगों को हिन्दी सीखने पर विवश होना पड़ा। 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता-सन्तति', 'भूतनाथ', 'वीरेन्द्र वीर', 'कुसुम-कुमारी', 'नरेन्द्र-मोहनी', 'काजर की कोठरी' आदि आपके ख्याति-प्राप्त

उपन्यास हैं। ये सभी उपन्यास घटना-प्रधान हैं और सभी के कथानक का आधार किसी-न-किसी रूप में प्रेम ही है। इनमें से 'चन्द्रकान्ता' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। आपकी भाषा में प्रवाह है और सरसता है, जिससे पाठक कभी ऊबने नहीं पाता।

देवकीनन्दन के उपन्यास-क्षेत्र में उतरने का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि इन्होंने हिन्दी के पाठक उत्पन्न किये। यद्यपि इनके उपन्यासों से पाठक को स्वस्थ सामग्री नहीं मिली, मनोरञ्जन भी उच्चकोटि का नहीं मिल सका, पर उस युग को देखते हुए इनकी हिन्दी-साहित्य-सेवा किसी भी रूप में कम नहीं है।

(१२) किशोरीलाल गोस्वामी

द्विवेदी-युग के मौलिक उपन्यासकारों में श्री किशोरीलाल गोस्वामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनसे पूर्व गोपालराम गहमरी, देवकीनन्दन खत्री आदि के घटना-प्रधान एवं काल्पनिक उपन्यास पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके थे। श्री गोस्वामी जी ने काल्पनिक घटनाओं से ऊपर उठकर सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों का श्रीगणेश किया। यद्यपि इसमें इन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली, पर फिर भी उपन्यास-परम्परा को नई दिशा में मोड़ देने का श्रेय आपको ही है। कहा जाता है कि इन्होंने ६५ उपन्यासों की रचना की थी। इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं—तारा, चपला, तरुणी, तपस्विनी, लीलावती, त्रिवेणी, कुसुमकुमारी, लावण्यमयी, आदर्श सती, लखनऊ की कब्र, मस्तानी, तिलस्मी शीश-महल आदि। इनके लगभग सभी उपन्यासों का कथानक 'नारी' को केन्द्र बनाकर चला है। पर नारी के चित्रण में इन्हें सफलता नहीं मिली; क्योंकि हलके प्रेम के हिंडोरे पर इन्होंने नारी तथा पुरुष को जो पींगें दी हैं—वे वासनापूर्ण होने के कारण समाज के लिए हितकर नहीं हैं। इनकी भाषा में प्रवाह अवश्य है, पर यह भावी उपन्यासकारों के लिए अनुकरणीय नहीं बन सकी। इसका कारण यह है कि इनके पास भावाभिव्यक्ति के लिए समर्थ शब्द-भण्डार नहीं है।

(१३) मिश्रबन्धु

द्विवेदी-युग के समालोचकों में मिश्र-बन्धुओं का पर्याप्त समादर है। इन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर विशेष अनुसंधान किया। काल का विभाजन और हिन्दी-कवियों का पूर्ण परिचय आदि यथासम्भव ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर लिखा। 'मिश्रबन्धु-विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' इनकी विख्यात रचनाएँ हैं। अपने प्रकार की प्रथम रचना होने तथा सामग्री-संकलन की दृष्टि से ये ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। श्री रामचन्द्र शुक्ल जैसे इतिहासकारों ने भी इनकी रचनाओं से बाह्य सामग्री ग्रहण की है।

प्रसाद-युग

(सं० १६७५ से आज तक)

प्रसाद-युग का प्रवर्तन संवत् १६७५ के लगभग हुआ। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है—छायावाद और रहस्यवाद का पद्य-क्षेत्र में प्रवेश। शैली की दृष्टि से हिन्दी-कविता के लिए यह विषय सर्वथा नवीन है। इस विशेषता के अतिरिक्त भी यह युग अपने पूर्ववर्ती युग से सर्वथा भिन्न है। भाषा, वर्ण्य-विषय तथा निरूपण-शैली की दृष्टि से प्रसाद-युग और द्विवेदी-युग के साहित्य में पर्याप्त अन्तर है। इन विषयों में इन दोनों युगों के गुण और अवगुण अपने-अपने हैं।

भाषा—

द्विवेदी-युग में भाषा की शुद्धता पर अत्यधिक बल दिया जाता था। भाषा को व्याकरण के सुदृढ़ एवं सुनियमित शासन में चलने के लिए विवश कर दिया गया था। इस युग में किसकी मजाल थी कि कोई लिंग-व्यत्यय, काल-व्यत्यय, पुरुष या वचन-व्यत्यय कर सके, पर अब इधर व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का कठोरता से पालन नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ पन्त आदि छायावादी कवियों ने लिंग-प्रयोग के सम्बन्ध में बड़ी मनमानी से काम लिया है।

द्विवेदी-युग में निस्सन्देह कुछ बंगाली और अँग्रेजी प्रयोग एवं शब्द

अनजाने ही भाषा में घुस आये थे। पर प्रसाद-युग में आकर यही प्रवृत्ति और भी अधिक बढ़ गई। उदाहरणार्थ 'गल्प' शब्द स्वयं बंगला का है जो अब हिन्दी में तत्सम के समान धड़ल्ले से चल निकला। 'संभ्रान्त' संस्कृत में बहुत भ्रम में पड़े हुए व्यक्ति को कहते हैं, पर बंगला में यह शब्द प्रतिष्ठित परिवार के सदस्य के लिए चल निकला और आज हिन्दी में भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग हो रहा है। इसी प्रकार 'हवाई किले बनाना' आदि कई मुहावरे अँग्रेज़ी से रूपान्तरित होकर ज्यों-के-त्यों हिन्दी में आ गये हैं।

यह तो हुआ प्रसाद-युग की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों का उल्लेख। अब ज़रा इसकी विशेषताओं पर भी ध्यान दीजिए। द्विवेदी-युग की भाषा में काव्योचित सौकुमार्य न था। इसके अभाव में खड़ीबोली मृदुल भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने में अक्षम-सी प्रतीत होती थी। दूसरी ओर प्रेमचन्द आदि अनेक लेखकों द्वारा हिन्दी-साहित्य में उर्दू शब्दों का प्रयोग भी दिनोदिन बढ़ता जा रहा था। विदेशी पदावली का यह अबाध प्रयोग हिन्दी के लिए हितकर न हो सकता था क्योंकि हिन्दी की प्रकृति को पहचाने बिना अरबी-फ़ारसी के शब्दों के प्रयोग से उसके स्वरूप में विकृति उत्पन्न हो सकती थी। इस प्रकार द्विवेदी जी के द्वारा खड़ीबोली का साहित्यिक रूप व्यवस्थित हो जाने पर भी अभी उसमें बहुत-कुछ करना शेष था। निस्सन्देह भाषा-संस्कार का भी अपना महत्त्व होता है, पर इसके साथ उसमें सौकुमार्य का होना भी आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति प्रसाद-युग में हुई।

वर्ण्य-विषय—

वर्ण्य-विषय की चर्चा करते समय सर्वप्रथम हम पद्य-क्षेत्र को लेते हैं। द्विवेदी-युग में जीवन-वृत्त, उपदेश, वीरता, स्वदेश-प्रेम, सामाजिक-व्यंग्य आदि जिन विषयों को लेकर कविता की जाती थी, प्रसाद-युग में इन्हीं विषयों पर भी कविता की गई, पर थोड़ा-बहुत अभिव्यक्ति-प्रकार में अवश्य अन्तर आ गया; वर्ण्य-विषय की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर

नहीं पड़ा। इन दोनों युगों में इस दृष्टि से वास्तविक अन्तर एक और है। प्रसाद-युग की एक विशेषता है—द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता के प्रति अरुचि। इस अरुचि का कारण यह है कि अंग्रेज़ी के अनुरूप बंगला भाषा में अब तक भाव-प्रधान रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। किन्तु हिन्दी-साहित्य में अभी तक विषय-प्रधान रचनाओं का ही प्राधान्य था। संवत् १९७० के लगभग जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उनकी प्रसिद्ध रचना 'गीताञ्जलि' पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ, तो भारतीय साहित्य-क्षेत्र में एक हलचल-सी मच गई। 'गीताञ्जलि' पर उक्त पुरस्कार की प्राप्ति न केवल बंगला या हिन्दी के लिए—प्रत्युत समग्र भारतीय साहित्य के लिए—एक बड़ी युग-परिवर्तक घटना प्रमाणित हुई। कविगण स्थूल को छोड़ सूक्ष्म की ओर उन्मुख होने लगे। ऐसा ज्ञात होता था कि अब तो ये कलाकार अज्ञात और अनन्त की थाह लेकर ही दम लेंगे। अब उस कल्पित अज्ञात प्रियतम के विरह और मिलन के गीत भारतीय साहित्य में प्रमुख रूप से गाये जाने लगे। हिन्दी भी इस प्रभाव से अछूती न रही। निस्सन्देह स्थूल-परित्याग तथा सूक्ष्म-परिग्रहण की भावना ने कविता के वर्ण्य-विषय को बाह्य धरातल से उठाकर मानसिक धरातल पर अवस्थित कर दिया, पर स्थूल के प्रति विद्रोह की इस भावना से एक अनिष्ट भी हुआ। इसने काव्य के भावपक्ष को इतना सूक्ष्म बना दिया कि उसमें अर्थाभिव्यक्ति लुप्तप्राय होने लगी। शब्दों के अर्थ तो कुछ समझ में आ सकते थे, पर पूरे पद का क्या भाव बना, यह समझ से परे की बात थी। एक उदाहरण लीजिए—

नैन मुँदेंगे जब, क्या देंगे?—
चिर चिर-प्रिय-दर्शन ?
शत-सहस्र-जीवन-पुलकित,
प्लुत प्यालाकर्षण ?
अमरण-रणमय मृदु-पद-रज ?
विद्युद्-घन-चुम्बन ?

निर्विरोध, प्रतिहत भी,
अप्रतिहत आलिङ्गन ?

ऐसी कविताओं में केवल शब्द-सौन्दर्य के सहारे कविता के भावों को खड़ा करने का प्रयत्न किया जाता है। उसमें अर्थ की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि छायावादी कवियों ने प्रकृति-चित्रण एक नवीन रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने इसे अपनी शृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बना लिया। द्विवेदी-युग शृंगार को अश्लील समझकर छोड़ बैठा था, पर प्रसाद-युग इसे न तो स्पष्टतः छोड़ सका और न इसे स्पष्टतः वर्णित करने का साहस ही कर सका। उसने प्रकृति-चित्रण का आश्रय लेकर अपने मन की अनुभूति को प्रकारान्तर से प्रकट कर दिया। निराला जी की प्रसिद्ध कविता 'जूही की कली' इस अभिव्यक्ति-प्रकार का सफल निदर्शन है, जहाँ 'मलयपवन' 'जूही की कली' के 'बन्दों' को उघाड़ रहा है। इस प्रकार की शैली सम्भवतः कुछ रूढ़िवादियों को रुचिकर प्रतीत न हो, पर यह भी साहित्य का एक अभिन्न अंग है ही। प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में छायावादी कवियों का एक अन्य दृष्टिकोण है—प्रकृति के साथ मानव का तादात्म्य-सम्बन्ध। इस युग में आकर प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों को भावुक कलाकार ने अपने ही रंग में रंगा हुआ देखा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह सम्पूर्ण जड़चेतन प्रकृति उन्हीं के समान कभी उस अलक्ष्य, अगोचर, परम प्रियतम के मिलन के आनन्द का अनुभव पाकर सिहरती, पुलकित होती हुई मिलन के गीत गाने लगती है, तो कभी वही प्रकृति उसके विरह में रोती हुई करुणाश्रु बरसाने लगती है। निस्सन्देह यह अभिव्यक्ति-प्रकार अत्यन्त मनोमोहक एवं कलापूर्ण है। छायावाद के अतिरिक्त प्रसाद-युगीन कविता का एक अन्य वर्ण्य-विषय है—श्रमिकों एवं निर्धनों के प्रति सहानुभूति। पर वस्तुतः यह सहानुभूति वास्तविक न होकर कृत्रिम है। रूस के राजनीतिक सिद्धान्तों को लेकर जिस प्रकार की शैली में श्रमिक एवं निर्धन वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट

की जाती है, उसे 'प्रगतिवादी शैली' कहा जाता है। प्रगतिवाद भी इस युग की कविता का एक वर्ण्य-विषय बन चुका है, पर इसके सहानुभूति-पक्ष पर अधिकांश कवियों की आत्मा रमी नहीं है—'वाद' का निर्वहण करने के लिए भले ही वे इस विषय को भी अपना लेते हों।

इस युग के कवियों ने अपने वैयक्तिक सुख-दुःखों या राग-विरागों को भी कविता के रूप में ढालने का प्रयत्न किया। प्रसाद के 'आँसू', पंत की 'ग्रन्थि' तथा बच्चन के गीतों तथा निराला के अनेक पदों में इन कलाकारों के जीवन की अपनी अनुभूति भी मुखरित हुई है। इन छायावादी कवियों ने समाज से अपना नाता तोड़ प्रकृति या व्यष्टि से अपना नाता जोड़ लिया था। दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन भी इस युग के काव्य की अन्य-तम विशेषता है। दार्शनिक ग्रन्थियों को सुलझाने का कार्य पुराने कवियों ने कभी अपने हाथों में नहीं लिया था। यह भावना के क्षेत्र में बुद्धि का अनधिकार प्रवेश समझा जाता था। पर प्रसाद-युग के कवियों ने दर्शन की सूक्ष्म तथा उलझी हुई ग्रन्थियों को कविता के मृदुल तन्तुओं में अनुस्यूत करने का भगीरथ प्रयत्न किया। उसमें उन्हें कई अंशों में सफलता भी मिली, निराला की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता ऐसी ही है।

प्राचीन कथानकों के माध्यम से नवयुग की भावनाओं को व्यक्त करने का प्रयत्न भी खूब हुआ। प्रसाद जी की 'कामायनी' में सर्गादि के युग-पुरुष मनु की कथा के माध्यम से आज की समस्याओं का चित्रण भी किया गया है। वर्त्तमान भौतिक विज्ञान के द्वारा मानव जिस प्रकार परमुखापेक्षी और आत्मशून्य होता जा रहा है; पश्चिमी यन्त्रवाद की प्रतिष्ठा ने मानव की आध्यात्मिकता को जिस प्रकार कुचल डाला है, जड़ बुद्धिवाद ने दया, माया, ममता आदि श्रद्धा की सात्विक अनुभूतियों को जिस प्रकार अभिभूत कर दिया है,—इन सबका निरूपण 'कामायनी' में हुआ है।

निरूपण-शैली—

इस युग के अलंकार-विधान में भी अपूर्व नवीनता लक्षित होती है।

'विशेषण विपर्यय', 'मानवीकरण' आदि अंग्रेज़ी के नवीन अलंकारों का प्रयोग भी इस युग की एक बड़ी विशेषता है। अमूर्त भावनाओं का मानवीकरण तो भक्तिकाल और रीतिकाल के कलाकारों की रचनाओं में भी मिलता है, किन्तु अलंकार के रूप में इसका प्रयोग इस युग में ही हुआ। प्रसाद जी की रचनाओं में 'मानवीकरण' सर्वाधिक रूप में है।

छन्दोविधान—

इस युग में छन्दोविधान में भी बहुत परिवर्तन हुआ। द्विवेदी-युग के कविगण ने यद्यपि रीतिकाल की अपेक्षा अपने छन्दोविधान को पर्याप्त बदल दिया था, पर वे संस्कृत के वर्णवृत्त और हिन्दी के मात्रिक छन्दों को ही अपनाते रहे। भक्तिकाल व रीतिकाल में दोहा, चौपाई, सोरठा, सवैया आदि छन्द ही अधिक प्रचलित रहे। द्विवेदी-युग में इन छन्दों की संख्या विस्तृत हो गई पर इधर प्रसाद-युग में यह छन्दोविधान सर्वथा स्वच्छन्द हो गया। पंत ने कवित्त-छन्द को हिन्दी के लिए सर्वथा अनुपयोगी बताया, तो निराला ने कवित्त-छन्द में ही परिवर्तन कर—उसके किसी पद को कुछ लम्बा और किसी पद को कुछ छोटा बनाकर प्रकारान्तर से कवित्त-छन्द का ज़ोरदार समर्थन किया। इसके अतिरिक्त इस युग के कलाकारों ने शब्दों या पदों की लय के साथ-साथ भावात्मक लय पर भी विशेष बल दिया है। निराला की अधिकतर कविताओं में यह भाव-लय पर्याप्त परिणाम में उपलब्ध होती है। मुक्तक छन्दों के प्रवर्त्तन तथा प्रचलन का श्रय भी निराला जी को ही है।

गद्य-साहित्य—

प्रसाद-युग में गद्य-साहित्य की भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई। वास्तव में इस युग को खड़ीबोली का 'स्वर्ण युग' कह सकते हैं। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक, समालोचना आदि गद्य-साहित्य का कोई ऐसा अंग नहीं बचा, जिसमें नित्य-नवीन उत्कृष्टतम रचनाएँ निर्मित न हुई हों। इन काव्याङ्गों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

कथा-साहित्य—द्विवेदी-युग तक विधवा-जीवन, बेमेल विवाह, वेश्या-

वृत्ति, किसानों पर ज़मींदारों के अत्याचार या प्रेम-सम्बन्धी समस्याओं को लेकर ही उपन्यास लिखे जाते रहे थे पर प्रसाद-युग में एक ओर दृढ़तर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यासों का निर्माण होना आरम्भ हुआ तो दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक तथ्यों का विश्लेषण करने वाले अनेक उपन्यास लिखे जाने लगे। पाप-पुण्य की परिभाषा भी उपन्यासों में की गई। एक ओर निम्न तथा मध्य वर्ग के परिवारों की दशा का चित्रण किया जाने लगा तो दूसरी ओर साहबी ठाठ-बाट में रहने वाले लोगों, तथा पूँजिपतियों का जीवन भी सामने आया। साम्यवाद, समाजवाद, गांधीवाद आदि राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले भी बहुत से उपन्यास लिखे गये। कुछ उपन्यासकारों ने उपन्यासों के माध्यम से गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों की भी विवेचना की। कुछ उपन्यासों में प्राचीन भारतीय संस्कृति की महत्ता दिखाने का प्रयत्न किया गया, तो दूसरे उपन्यासों में समाज पर तीखे व्यंग्य-बाण भी छोड़े गये। आत्म-चरित्र के रूप में, पत्रों के रूप में तथा इतिहास के रूप में तीनों प्रकार के उपन्यासों की बानगी इस युग में हमें देखने को मिलती है। राष्ट्रिय आन्दोलन, स्वातन्त्र्य-संग्राम, सत्याग्रह, अछूतोद्धार, शुद्धि-आन्दोलन आदि सभी सामयिक विषयों को लेकर भी बहुत से उपन्यास लिखे गये। उपन्यासों के अनुरूप कहानी के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई। इस युग में एक-दूसरी से बढ़कर स्थायी साहित्यिक मूल्य वाली अनेक उत्कृष्टतम कहानियाँ लिखी गईं।

अन्य गद्य-ग्रन्थ—कथा-साहित्य के अतिरिक्त संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि गद्य की अन्य विविध शैलियाँ इस युग में आविर्भूत हुईं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताञ्जलि' के गद्यानुवाद की देखा-देखी हिन्दी में गद्य-गीत का भी यथेष्ट प्रचार हुआ।

निबन्ध तथा समालोचना—इस युग में भावात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक, तत्त्व-चिन्तनात्मक विविध शैलियों व विषयों पर सैकड़ों उत्कृष्ट निबन्ध लिखे गये। ये निबन्ध सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में, पुस्तकों

के रूप में तथा ग्रन्थों की भूमिकाओं के रूप में लिखे जाते रहे। इधर समालोचना यद्यपि हिन्दी गद्य-साहित्य की नवीन विधा है और इसके लिए अत्यधिक शास्त्रीय पृष्ठाधार और सूक्ष्म पर्यवेक्षण की आवश्यकता रहती है, तो भी इस छोटे से समय में जो समालोचना-ग्रन्थ लिखे गये, वे साहित्योत्थान में पूर्ण सहायक सिद्ध हो रहे हैं।

नाटक—नाटक की दृष्टि से तो यह युगचरम विकास का युग माना जा सकता है। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, समस्यामूलक आदि सभी प्रकार के नाटकों का निर्माण इस युग में हुआ। इन नाटकों में संस्कृत की अपेक्षा पाश्चात्य सिद्धान्तों का ही अधिक अनुसरण किया गया है। प्रसादजी आदि कुछ नाटककारों ने अपने प्रारम्भिक नाटकों में दोनों सिद्धान्तों का समन्वय करने का सफल प्रयत्न किया था, किन्तु आगे चलकर भारतीय सिद्धान्त पिछड़ते गये। प्रसादयुग के नाटक-साहित्य पर 'इब्सन' तथा 'बर्नाड शा' का प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित होता है। इस युग के प्रारम्भिक नाटकों में संस्कृत नाटकों के समान संकलनत्रय की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। पर इधर नवीनतम नाटकों में अभिनय को प्रधानता दी जाने लगी है और यही कारण है कि इन नाटकों में स्थान-संकलन को अधिकाधिक अपनाया जाने लगा, ताकि नाटकों के प्रबन्धकों को बार-बार स्थान या दृश्य बदलने का झंझट न उठाना पड़े। प्रसाद-युग के प्रारम्भिक नाटकों में आकार-प्रकार और घटना-विस्तार का भी विशेष ध्यान नहीं रक्खा जाता था। बीसियों पात्र, सैकड़ों घटनाएँ और अनेक वर्षों का वृत्तान्त एक ही नाटक में ठूँस देने का प्रयत्न किया जाता था। उदाहरणार्थ स्वयं प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' और 'अजात शत्रु' आदि नाटकों के कथानकों में पूरे चार नाटकों के कथानक सिमटे हुए हैं। किन्तु इस युग के परवर्ती नाटक आकार, प्रकार और घटना-विस्तार में बहुत छोटे लिखे जाने लगे। वस्तुतः पुराने नाटक साहित्यिक अधिक थे, उनमें अभिनेय तत्त्वों की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया जाता था, किन्तु बाद के नाटकों का मुख्य लक्ष्य अभिनय हो गया। अनायास अभिनय ही नाटक का सर्वोत्कृष्ट

वैशिष्ट्य है, यही मान कर आगे चलकर नाटक लिखे जाने लगे।

एकांकी नाटक व गीति-नाट्य—साहित्य की यह विधा हिन्दी के लिए सर्वथा नवीन थी। इसका प्रचलन एक प्रकार से प्रसाद-युग में ही हुआ, फिर भी साहित्य का यह अंग भी देखते-ही-देखते समृद्ध होने लगा। एकांकी नाटक के लिए बड़े नाटक की अपेक्षा अधिक कौशल की अपेक्षा रहती है। उसमें एक ही अंक में सारी बात कह देनी होती है। हम आगे यथास्थान देखेंगे कि इस युग के अन्तिम वर्षों में ही अनेक सुन्दर एकांकी नाटक लिखे गये जिनके पचीसों संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। 'गीति-नाट्य', 'भाव नाट्य' आदि की रचना भी इस युग में होने लगी है।

जीवन-चरित्र—इस युग में कुछ प्रौढ़ जीवन-चरित्र तो लिखे ही गये। इनके अतिरिक्त आत्म-चरित्रों का भी उपक्रम हुआ है। अभी तक गांधी व पंडित नेहरू आदि के अनूदित आत्म-चरित्र ही हिन्दीवालों को मिल पाये थे, पर इस युग में कुछ विशिष्ट आत्मचरित्र हिन्दी में भी लिखे गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य, पद्य, नाटक, एकांकी उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना आदि सभी दृष्टियों से प्रसाद-युग आधुनिक हिन्दी-साहित्य के लिए ऐसा गौरवशाली सिद्ध हुआ कि उसे हम निःसंकोच रूप से खड़ीबोली का 'स्वर्णयुग' कह सकते हैं।

१. गद्य-साहित्य

पिछले तीनों कालों में अधिकांशतः पद्य का निर्माण हुआ और आधुनिक काल में अधिकांशतः गद्य का निर्माण हो रहा है और इसी आधार पर इस काल को गद्य-काल भी कहा गया है। अतः सर्वप्रथम गद्य-साहित्य के विभिन्न अंगों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

नाटक

उपक्रम—

हिन्दी-नाटक का प्रारम्भ कब से माना जाय—इस प्रश्न का सर्व-

सम्मत उत्तर देना कठिन है। एक मत के अनुसार इसकी कड़ियाँ अपभ्रंश-साहित्य से जोड़ी जा सकती हैं, क्योंकि अपभ्रंश-भाषा में 'जीवमन:करण संकल्प कथा', 'मयण पराजय चरिउ' और 'मयनजुज्झ' नामक ग्रन्थों की उपलब्धि हुई है—पर इन तीनों ग्रन्थों को नाटक कहना कहाँ तक समुचित है—इसका उत्तर अभी निर्णयापेक्ष है। इधर हिन्दी के भक्तिकाल में प्राप्य हृदयराम-कृत 'हनुमन्नाटक' तथा प्राणचन्द-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटकों से हिन्दी-नाटक-साहित्य का प्रारम्भ मानने में कठिनाई यह है कि ये रचनाएँ नाम से नाटक अवश्य हैं—पर ये नाटकीय परिभाषाओं पर खरे नहीं उतरते, आगे चलकर रीतिकालीन विश्वनाथसिंह-प्रणीत 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक उपलब्ध होता है, पर इसमें 'अभिनेयता' का गुण तो किञ्चित् मात्रा में है, पर 'साहित्यिकता' रत्ती-भर भी नहीं है। फिर भी इसका महत्त्व इतना अवश्य है, कि यह प्रथम हिन्दी-नाटक है। इसके बाद बाबू गोपालचन्द्र का 'नहुष' नाटक, तथा राजा लक्ष्मणसिंह का 'शकुन्तला' नाटक उपलब्ध हैं, पर इनमें से प्रथम अपूर्ण है, और दूसरा अनुवाद है; अत: इन दो रचनाओं को भी प्रथम स्थान नहीं दिया जा सकता। अत: आधुनिक गवेषणाओं के अनुसार हिन्दी की मौलिक नाटक-परम्परा को 'आनन्द-रघुनन्दन' से मानना समुचित है।

प्रसाद-पूर्व नाटक—

पहले लिख आये हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके साथियों ने नाटक लिखकर हिन्दी-साहित्य की पर्याप्त पूर्ति कर दी, पर इससे आगे आने वाली पीढ़ी को यथावत् दिशा-निर्देश नहीं मिल सका। फलत: नाटकों के निर्माण की गति मन्द पड़ गई। द्वितीय-युग के लेखकों ने अनुवाद की ओर अपना ध्यान अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रित किया। सीताराम तथा सत्यनारायण कविरत्न ने संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया और रूपनारायण पाण्डेय ने बंगला नाटकों का। बाबू रामचन्द्र वर्मा ने मराठी के कुछ नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किये तथा पुरोहित गोपीनाथ और मथुराप्रसाद चौधरी ने अंग्रेज़ी नाटकों के। इस युग के अनेक नाटककारों ने मौलिक

नाटक भी लिखे, पर इस युग की प्रवृत्ति नाटक-निर्माण की अपेक्षा उपन्यास-निर्माण की ओर ही अधिक रही। इस युग के मौलिक नाटककारों के नाम ये हैं—किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, ज्वालाप्रसाद मिश्र, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० बदरीनाथ भट्ट, मिश्रबन्धु तथा बलदेवप्रसाद मिश्र। इन नाटककारों में से राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक साहित्यिक दृष्टि से उत्तम रचना है।

प्रसाद युग के नाटक—

जयशंकर प्रसाद के साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करते ही नाटकों में एक प्रकार की क्रान्ति-सी आ गई है। अनुवाद-युग के बाद जिस मौलिक साहित्य की कल्पना की जाती है, उसने प्रसाद-युग में सत्य का रूप धारण कर लिया है। इस युग के विख्यात कलाकार हैं—

जयशंकर प्रसाद, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त, बेचन शर्मा उग्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, पृथ्वीनाथ शर्मा, सुदर्शन आदि।

प्रसाद-युग की नाटकीय विशेषताओं को परखने के लिए भारतेन्दुयुगीन नाटकों को भी सामने रखकर कतिपय विशिष्ट बिन्दुओं के आधार पर विचार करना समुचित होगा—

(क) नाटकीय विधान—प्रसादयुग से पूर्ववर्ती नाटकों में नाटकीय विधान की समरसता नहीं है। उनमें कहीं प्राचीन भरतमुनि-प्रणीत नियमों का पालन किया गया है, कहीं एकमात्र पश्चिमी नाट्यविधान का पालन हुआ है और कहीं दोनों नाट्यविधान साथ-साथ चलते हैं। अनुवाद-नाटकों की बात छोड़ दीजिए। मौलिक नाटकों में 'मंगलाचरण', 'सूत्रधार नटी-संवाद', 'भरत वाक्य', 'विदूषक' आदि तो हैं, पर अंकों को दृश्यों में विभाजित नहीं किया गया। जयशंकर प्रसाद ने इस दिशा में नाटककारों का नेतृत्व किया है। भारतीय नाट्य-विधान को धीरे-धीरे स्थगित कर उन्होंने नवीन नाट्य-विधान को सर्वात्मना अपना लिया है,

और इस दिशा में अन्य नाटककारों का पथ-प्रदर्शन किया है।

(ख) **रंगमंचोयता**—नाटक रंगमंच की वस्तु है। उसकी प्रधान विशेषता है—उसका रंगमंच के लिए उपयुक्त होना। भारतेन्दु ने पारसी कंपनियों द्वारा भारतीय रंगमंच की दुर्गति देखी थी; हनुमान को ड्राइवर बना देना, राम-कृष्ण को पैण्ट पहना देना—ये उन कंपनियों के साधारण कारनामे हैं। भारतेन्दु का लक्ष्य रंगमंच का उद्धार करना भी था। अतः उन्होंने इस दिशा में पर्याप्त प्रयास किया। परिणामतः उनके तथा उनके सहयोगियों के नाटक रंगमंच पर प्रायः ठीक उतरते थे। पर प्रसाद-युग में आकर यह प्रवृत्ति प्रायः हट-सी गई है। गोविन्दवल्लभ पंत और हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक निस्सन्देह रंगमंचोपयोगी हैं, पर ऐसी धारणा सब नाटककारों के लिए नहीं बनाई जा सकती। स्वयं प्रसाद के नाटकों के विषय में सभी आलोचकों की यही राय है कि उनके नाटक ज्यों-के-त्यों रंगमंच पर नहीं उतर सकते, उनमें यथायोग्य काट-छाँट करनी ही पड़ेगी। प्रसादयुग के विशेषतः प्रसाद के नाटक' रंगमंच' के पीछे नहीं चलते, अतः इनके सफल अभिनय के लिए रंगमंचीय विधानों में यथेष्टप रिवर्तन करना अनिवार्य है।

(ग) **गीत**—भारतीय नाटकों में गीति-तत्त्व का समावेश प्रारम्भ से ही स्वीकृत रहा है। भरत ने नाटक के प्रणयन में जिन तीन तत्त्वों–गीत, नृत्य और संवाद–के समन्वय की स्वीकृति दी है, उनमें प्रथम स्थान गीत का है। वस्तुतः इसका समावेश मनोविज्ञान के आधार पर आवश्यक है भी। किसी भी प्रकार के भावावेश की अभिव्यक्ति का सहज एवं अनायास साधन 'गीत' है। पाश्चात्य पुरातन नाटकों में भी इस तत्त्व की उपेक्षा नहीं की गई।

भारतेन्दु-युगीन नाटकों में गीतों की अधिकता है और उनका प्रयोग अस्वाभाविकता की कोटि तक पहुँच गया है। राजा-रानी, मंत्री, पंडित, नौकर, किसान, चमार—सब-के-सब पात्र गीत गाते नज़र आते हैं। द्विवेदी-युग में भी इस त्रुटि को दूर करने की ओर नाटककारों का ध्यान नहीं गया। पर प्रसाद-युग में आकर गीतों का प्रयोग नियंत्रित कर दिया

गया है; यहाँ तक कि पृथ्वीनाथ शर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि ने गीतों का बहिष्कार-सा कर दिया हैं; मानो यह पूर्वकालीन गीताधिक्य की प्रतिक्रिया हो रही है। गीत सीमित हों, योग्य पात्रों द्वारा गाये गये हों, कथावस्तु को अग्रसर करने में सहायक हों और जनता की भावना का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करते हों, इन सभी दृष्टियों से हरिकृष्ण प्रेमी के गीत सर्वोत्तम हैं। प्रसाद के नाटकों में गीतों का प्रयोग निस्सन्देह यथावसर है, पर उनमें काव्यत्व इतना अधिक उभर आया है कि वे नाटक जैसे अपेक्षाकृत सरल काव्याङ्ग में खप नहीं पाये। शेष अधिकतर नाटककारों के गीत आपत्ति-रहित हैं।

(घ) **भाषा**—प्रसाद-पूर्व नाटकों की भाषा चमत्कारपूर्ण है। वस्तुतः तब तक व्याकरणसम्मत भाषा का विकास भी नहीं हो पाया था। इसके अतिरिक्त भाषा को पात्रानुरूप बनाने का विचार भी भाषा-विकृति का एक अन्य कारण था। यह विधान निस्सन्देह एक गुण है, पर इसका कठोरता से पालन भाषा-सौन्दर्य में बाधक भी है। इधर प्रसाद-युगीन नाटकों की भाषा परिष्कृत, सक्षम एवं प्रौढ़ है। प्रसाद की भाषा अधिक संस्कृतनिष्ठ बन गई है; इसे एक त्रुटि भी कह सकते हैं, पर हरिकृष्ण-प्रेमी, मिलिन्द, गोविन्दवल्लभ पंत की भाषा मधुर, प्रवाहमयी और सुगम-सरल है। मिश्र की भाषा सालंकार है।

निष्कर्ष यह कि—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर लक्ष्मीनारायण मिश्र तक—नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा में वर्ण्य-विषय एवं कला की दृष्टि से उत्तरोत्तर विकास होता चला गया है।

एकांकी नाटक—

आधुनिक युग में उपन्यास के स्थान पर कहानी के प्रचार पा जाने का जो कारण है, वही कारण नाटक के स्थान पर एकांकी के प्रचार पा जाने का भी है। वह कारण है—इस संघर्ष के युग में समय का अभाव। 'एकांकी नाटक' अपनी नवीनतम परिभाषा में भारतीय रूपक-परम्परा की देन न होकर पाश्चात्य एकांकी-लेखन-कला की देन है। पश्चिम में

इसका आरम्भ 'कर्टेन–रेज़र' (यवनिका-उत्थापक) से हुआ। ये छोटे प्रकार के नाटक 'बड़े' नाटक के प्रारम्भ से पूर्व उन दर्शकों को दिखाये जाते थे, जो समय से पूर्व नाट्यशाला में आ जाते थे। धीरे-धीरे यही कला स्वतन्त्र होती गई और नार्वे के प्रसिद्ध विद्वान् इब्सन के नाटक-क्षेत्र में पदार्पण करने के पश्चात् उत्तरोत्तर नव्य विधानों से संयुक्त और विकसित होती गई। भारत में भी इसका यथेष्ट प्रचार पिछले दो दशकों से होना प्रारम्भ हुआ और आज यह काव्यांग संख्या, प्रचार एवं मनोरञ्जन की दृष्टि से भी नाटक की अपेक्षा अधिक उन्नतिशील है। इस उन्नति का प्रधान कारण रेडियो द्वारा एकांकी-प्रसार है, जिसके अधीन नियत समय में प्रसार-कार्य समाप्त कर देना होता है। उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण 'प्रेमी', सेठ गोविन्ददास, जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, विष्णु प्रभाकर–ये सभी एकांकीकार आज रेडियो–एकांकियों का सर्जन कर रहे हैं, फिर वही एकांकी यथोचित काट-छाँट के उपरान्त साहित्यिक रूप में प्रकाशित कर दिये जाते हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि ये स्वतन्त्र एकांकी लिखते ही नहीं। सम्भवतः विष्णु प्रभाकर को छोड़कर सब ने रेडियो-परम्परा से पूर्व ही स्वतन्त्र एकांकियों का भी सर्जन किया था, और आज भी कर रहे हैं।

प्रसाद-युग के प्रतिनिधि नाटककारों का परिचय इस प्रकार है—

(१) जयशंकर प्रसाद

जीवन–प्रसाद जी का जन्म संवत् १९४६ में काशी के एक ऐश्वर्यशाली महादानी वैश्य-वंश में हुआ था, और मृत्यु संवत् १९९३ में हुई। आपके पितामह शिवरत्न साहू बनारस के परोपकारी दानियों में गिने जाते थे। प्रसाद जी के पिता का नाम श्री देवीप्रसाद था।

साहित्य-सेवा का प्रारम्भ—प्रसाद जी के हिन्दी-साहित्य में आने से पूर्व पुस्तक-प्रकाशन बाल्यावस्था में ही था। अच्छे साहित्य की न तो माँग ही थी और न अच्छे प्रकाशक ही थे। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में केवल 'सरस्वती' जिसका सम्पादन पं० महावीरप्रसाद करते थे, एक

साहित्यिक पत्र था। पं० महावीरप्रसाद जी से प्रसाद जी का मतैक्य न था। ऐसी दशा में उनके आदेशानुसार उनके भाँजे अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित किया। इसी पत्र से प्रसाद जी के साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। प्रसाद जी की रचनाओं से हिन्दी-संसार भली भाँति परिचित होने लगा। किन्तु उन्होंने अपनी हिन्दी-सेवा के लिए पुरस्कार कभी नहीं लिया। लिया भी तो नागरी-प्रचारिणी सभा को दान कर दिया।

उन्नीस वर्ष की आयु में ही आपकी गम्भीर ऐतिहासिक गवेषणाओं तथा छायावादी रचनाओं में प्रवृत्ति दिखाई दी। क्रमशः आपने हिन्दी-साहित्य की कई रूपों में श्रीवृद्धि की। सर्वप्रथम आपने हिन्दी-साहित्य के काव्य-क्षेत्र को परिष्कृत कर सुरुचि की ओर प्रवृत्त किया और वास्तविक सत्य-मार्ग पर चलाया। प्राचीन काव्यकार या तो शृङ्गार से सर्वथा अछूते रहते या ऐसे शृङ्गार में निमग्न होते कि पढ़ते ही घृणा उत्पन्न हो जाय। प्रसाद जी ने सात्विक प्रेम का परिचय कराते हुए कर्त्तव्यपालन का उपदेश दिया।

रचनाएँ—प्रसाद जी ने भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और छायावाद-युग—इन तीनों युगों से मेल खाने वाली रचनाएँ लिखी थीं। इस प्रकार इनकी रचनाओं को कालक्रम की दृष्टि से इन तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पूर्वकाल, (२) मध्यकाल, (३) उत्तरकाल।

'विशाख', 'राज्यश्री', 'अजात शत्रु', 'झरना', 'प्रतिध्वनि', 'छाया', 'प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व' और 'चित्राधार' इनकी पूर्वकाल की रचनाएँ हैं।

'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'कामना', 'आकाशदीप', 'कंकाल', 'एक घूँट', इनकी मध्यकाल की रचनाएँ हैं और 'आँधी', 'तितली', 'ध्रुव-स्वामिनी', 'इन्द्रजाल', 'लहर', 'कामायनी', 'काव्य और कला' तथा अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' अन्तिमकाल की रचनाएँ हैं।

इनसे प्रसाद की कृतियों के परिमाण का आभास मिल जाता है।

नाटककार के रूप में—

प्रसाद जी जिस प्रकार काव्य-क्षेत्र में एक विशेष प्रवृत्ति को लेकर आये उसी प्रकार मौलिक नाटकों के प्रणयन में भी आप हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कलाकार और पथ-प्रदर्शक माने जाते हैं। प्राचीन युग की गवेषणा—विशेषकर बौद्ध युग के इतिहास के अनुसन्धान-कार्य से तो आप का स्थान हिन्दी-साहित्य में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

प्रसादजी के नाटक-क्षेत्र में आते ही उसका कायाकल्प हो गया। हिन्दी-नाटकों में पूर्ण साहित्यिक स्वरूप का प्रस्फुटन सर्वप्रथम इन्हीं के नाटकों में दिखाई दिया। इन्होंने अपने नाटकों द्वारा अपने गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव और सभ्यता के चित्र प्रस्तुत किये। इनके नाटकों के कथानक महाभारत के उत्तरार्द्ध काल से लेकर सम्राट् हर्षवर्द्धन के शासनकाल तक के लिये गये हैं, क्योंकि यही काल भारतीय सभ्यता के गौरव का काल था। प्रसाद जी के प्रयत्न और प्रभाव से नाटकों के बाह्याकार और अवयवों के विन्यास में वैचित्र्य आया। मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण को आधार बनाकर इन्होंने अपने पात्रों का अंकन किया। इनकी नाट्य-कला में भारतीय और यूरोपीय दोनों पद्धतियों का सुखद समन्वय मिलता है। किन्तु इन्होंने यूरोपीय वैचित्र्यवाद का पूर्ण रूप से अनुकरण न करके भारतीय रसविधान और शील-वैचित्र्य का सामंजस्य प्रस्तुत किया।

प्रसाद जी के नाटकों में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, दार्शनिक चिन्तन, स्वाभाविक चरित्र-कल्पना, राष्ट्रियता आदि ऐसी अनेक बातें हैं जो उन्हें हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार के पद पर ला बिठाती हैं। उनके नाटकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **प्रायश्चित्त**—इस नाटक में पृथ्वीराज और जयचन्द के पारस्परिक विद्वेष की कथा को कल्पना के पुट से नवीन शैली में उपस्थित किया गया है।

(२) **कल्याणी-परिणय**—इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य और सैल्यूकस के युद्ध के समय की घटना अंकित की गई है। एक ओर गीतों का समावेश तथा दूसरी ओर नान्दी, सूत्रधार आदि का प्रयोग इसे नवीन और प्राचीन शैलियों का समन्वित रूप प्रदान करता है। कल्याणी-परिणय ही आगे चलकर 'चन्द्रगुप्त' नामक प्रख्यात नाटक के रूप में परिणत हो गया।

(३) **करुणालय**—यह एक गीतिनाट्य है, जो अतुकान्त मात्रिक छन्दों में लिखा गया है। इसमें हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र, रोहित, शुनःशेप अजीगर्त आदि पौराणिक चरित्रों का अंकन है। कथानक मूलतः 'ऐत्तरेय ब्राह्मण' के शुनःशेप आख्यान से लिया गया है, पर साथ ही नाटककार ने पौराणिक गाथा के आधार पर इसमें यथेष्ट परिवर्तन भी कर दिया है। उपर्युक्त चारों नाटकों में प्रसाद जी की कला का आरम्भिक रूप ही है। आगे चलकर इस कला का प्रौढ़ एवं परिमार्जित रूप—'विशाख', 'जनमेजय का नागयज्ञ' 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्द-गुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' आदि सभी नाटकों में मिलता है।

(४) **विशाख**—इसमें 'राजतरंगिणी' के आधार पर काश्मीर-नरेश नरदेव के समय की घटना वर्णित है।

(५) **जनमेजय का नाग-यज्ञ**—यह नाटक कलियुग के आरम्भकाल की पौराणिक कथा पर आधारित है। इसमें आर्य और नाग जाति के संघर्ष की कथा है। नाटक में कलात्मकता गौण और चरित्र-चित्रण प्रधान है।

(६) **अजात शत्रु**—इस नाटक में मगध-सम्राट् बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु को केन्द्र मानकर महात्मा बुद्ध के समय का राजनीतिक चित्र खींचा गया है।

(७) **चन्द्रगुप्त**—मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त इस नाटक का नायक है। इसमें तत्कालीन इतिहास का सुन्दरतम चित्र अंकित हो गया है। 'चन्द्र-गुप्त' नाटक की भूमिका ऐतिहासिक अनुसन्धान से परिपूर्ण है। लेखक ने दृढ़तर प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि सिकन्दर नन्द की विशाल सेना का सामना न कर सकने के कारण व्यास नदी से वापिस लौट गया।

वह वीर मालव-जाति से युद्ध में पराजित और घायल भी हो गया था।

(८) **स्कन्दगुप्त**—इस नाटक में गुप्तवंशीय प्रतापी सम्राट् स्कन्द-गुप्त के समय का इतिहास है। स्कन्दगुप्त ने हूण-आक्रमणकारियों को भारत से निकालने के कितने प्रयत्न किये, इसके चित्रण के साथ-साथ आन्तरिक संघर्षों को भी नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(९) **ध्रुव-स्वामिनी**—पुनर्विवाह एवं नारी के व्यक्तित्व की समस्या को लेकर लिखा गया यह नाटक गुप्तवंश के अस्तमन-समय का चित्र उपस्थित करता है। इस नाटक की अभिनेयता के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रसाद जी नवीनतम शैली के अनुरूप सफल अभिनेय नाटकों की सृष्टि करने में समर्थ थे।

(१०) **राज्यश्री**—इस नाटक में सम्राट् हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री को मुख्य पात्र मानकर हर्ष के समय का इतिहास अंकित किया गया है।

'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त आदि नाटकों में जो राष्ट्रियता का स्वरूप है वह भारतीय आधुनिक राष्ट्रिय आन्दोलन से कई रूप में समानता रखता है। फिर भी ऐतिहासिक नाटकों में सामयिक समस्याओं को पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं मिल सकती है। इनके अतिरिक्त प्रसाद जी ने 'कामना' और 'एक घूँट' नाम के दो रूपक-नाटकों की भी सृष्टि की। 'कामना' का मूल विषय भारतीय प्राचीन आदर्शों की विजय दिखाना है और 'एक घूंट' का मूल विषय सात्विक प्रेम का प्रदर्शन करना है।

नाटककार प्रसाद ने अपनी प्रतिभा द्वारा इस दिशा में प्रत्येक दृष्टि से अपने समकालीन तथा भावी नाटककारों का समुचित पथ-प्रदर्शन किया है।

(२) हरिकृष्ण प्रेमी

इनका जन्म संवत् १९६५ में गुना (ग्वालियर) में हुआ। आपका कार्य-क्षेत्र अधिकतर पंजाब रहा। अनेक वर्षों तक लाहौर में रह कर

साहित्य-साधना करने के पश्चात् भारत-विभाजन होने पर आप इन्दौर आ गये किन्तु पंजाब ने आपको फिर बुला लिया और वहीं आप आल-इण्डिया रेडियो स्टेशन, जालन्धर में कार्य करने लगे।

प्रेमी जी सफल नाटककार होने के साथ-साथ उच्च कोटि के कवि भी हैं। ऐतिहासिक नाटक-लेखकों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। आप के नाटकों की सूची इस प्रकार है—

'रक्षाबन्धन', 'बन्धन', 'मित्र', 'स्वप्न-भंग', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'विषपान' आदि।

एकांकी-संग्रह—'बादलों के पार तथा 'भाव प्राचीन'।

प्रेमी जी के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों की कथावस्तु मुग़ल-काल से ली गई हैं। आप एक भावुक कवि और कलापूर्ण नाटककार हैं। आपका काव्य नाना धाराओं में प्रवाहित हुआ है। उससे दीन-हीन मानवता के चीत्कार के अतिरिक्त राष्ट्र-प्रेम, छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद के गीत गाये गये हैं। आप अभाव और पीड़ा के आश्रय में पलकर बड़े हुए हैं, इससे आपकी कृतियों में निर्मम वेदना का करुण भाव बड़ा मर्म-स्पर्शी बन पड़ा है। काव्य की भाँति आपके नाटकों में भी भावुकता, सरसता और सरलता की श्रेयस्कर मात्रा रहती है।

इन के नाटकों में आत्मगौरव, देश-प्रेम और मान-मर्यादा की भावनाओं को चित्रित किया गया है। भाषा अत्यन्त रोचक और ओजस्वी है। उसमें भावों और दृश्यों के सजीव चित्र की पूरी-पूरी क्षमता रहती है। इनके कुछ नाटकों का संक्षिप्त परिचय लीजिए—

(१) **रक्षाबन्धन**—इस नाटक में दिखाया गया है कि मेवाड़ के स्वर्गीय महाराणा संग्रामसिंह की महारानी कर्मवती ने हुमायूँ को पत्र लिखा कि गुजरात के सुलतान ने मेवाड़ के विरुद्ध आक्रमण कर दिया है, अतः मैं तुम्हें यह राखी भेज रही हूँ, तुम मेरी सहायता करो। हुमायूँ सहायता के लिए चल पड़ता है पर समय पर नहीं पहुँच पाता और रानी अपनी

सैकड़ों राजपूत वीरांगनाओं के साथ जौहर की पवित्र अग्नि में जलकर भस्म हो जाती है।

(२) **आहुति**—इसमें रणथम्भौर के महाराणा की शरणागत-वत्सलता दिखाई गई है। वे सम्राट् अलाउद्दीन के विरुद्ध रण ठानकर अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं, किन्तु शरणागत महिमाशाह को उसके हाथों में नहीं सौंपते।

(३) **छाया**—इस नाटक में दिखाया गया है कि एक सफल एवं प्रख्यात साहित्यकार का पूँजीपति प्रकाशक किस प्रकार शोषण करते हैं।

(४) **बन्धन**—इसमें पूँजीपति तथा श्रमिकों के संघर्ष का चित्रण किया गया है।

(५) **स्वर्ण-विहान**—यह नाटक सामयिक राष्ट्रिय आन्दोलन की भावनाओं को बल देने के लिए लिखा गया है। इसमें हिंसा पर अहिंसा की विजय दिखाई गई है। गांधीजी के सत्य, प्रेम, अहिंसा का इसमें नाटकीय रूप में प्रतिपादन हुआ है।

(६) **शपथ**—यह प्रेमी जी का संस्कृति-प्रधान ऐतिहासिक नाटक है। नाटक की कहानी बड़ी लम्बी है, इसका नायक विष्णुवर्धन सच्चा देश-भक्त क्षत्रिय वीर है। वह जनता तथा राष्ट्र के हित को सर्वोपरि समझता है।

(७) **कीर्तिस्तम्भ**—इसमें लेखक ने महाराणा कुम्भा के ज्येष्ठ पुत्र सूरजमल के हृदय में मेवाड़ के राजमुकुट को प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्र और युद्ध का; तथा महाराणा रायमल के तीनों पुत्रों—संग्रामसिंह, पृथ्वीराज और जयमल में युवराज-पद पाने की प्रतिस्पर्धा का वर्णन किया है। नाटककार ने इसमें भीषण गृह-कलह का बड़ा प्रभावशाली यथार्थ चित्रण किया है।

(८) **स्वप्न-भंग**—इस नाटक का मुख्य उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता ही है। औरंगज़ेब के बड़े भाई दारा ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का महान् स्वप्न देखा, पर उसका यह स्वप्न भंग हो गया।

(६) **शिवासाधना**—जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है यह महाराजा शिवाजी की जीवन-घटनाओं पर आधारित नाटक है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता और राष्ट्रिय भावना का चित्रण उत्तम रूप में प्रतिपादित हुआ है।

(१०) **प्रतिशोध**—इसमें बुन्देलखण्ड के वीर चम्पतराय व उनके पुत्र छत्रसाल की जीवन-घटनाओं का वर्णन है।

(११) **मित्र**—इस नाटक में जैसलमेर के राजा और अलाउद्दीन के युद्धों का वर्णन किया गया है।

(१२) **विषपान**—इसमें मेवाड़ की सुन्दर राजकुमारी कृष्णा के आत्म-बलिदान की कथा वर्णित है।

प्रेमी जी के सभी एकांकी-नाटक प्रायः इन्हीं विषयों को लेकर लिखे गये हैं। जैसे कि 'मानमन्दिर' में अपनी आन पर मर-मिटने वाले राजपूतों की कथा है। 'पश्चात्ताप' में अछूतोद्धार सम्बन्धी सामयिक समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

प्रेमी जी के नाटकों तथा एकांकी-नाटकों की उपर्युक्त सूची तथा उसकी कथावस्तु से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि प्रेमी जी के अधिकतर नाटक ऐतिहासिक और विशेषतः मुग़लकाल से सम्बद्ध हैं। उनके नाटकों में साथ-साथ सामयिक समस्याओं का भी सुन्दर सामंजस्य हुआ है।

(३) उदयशंकर भट्ट

आपका जन्म उत्तर प्रदेश में हुआ। जन्म संवत् १९५५ है। वर्षों तक आप लाहौर में शिक्षा-क्षेत्र में कार्य करते रहे। तत्पश्चात् आप आकाशवाणी केन्द्र देहली व नागपुर से सम्बद्ध रहे। आजकल आप आकाशवाणी-केन्द्र जयपुर में हैं। आप एक सफल नाटककार हैं।

इनकी कुछ रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) **नाटक**—'दाहर', 'मत्स्यगन्धा', 'सगर विजय', 'अम्बा', 'कमला', 'अन्तहीन 'अन्त', 'विश्वामित्र', 'विक्रमादित्य', 'मुक्तिपथ', 'राधा', 'नया समाज', 'शक विजय', 'क्रान्तिकारी' आदि।

(ख) **एकांकी-संग्रह (१) समस्या का अन्त**—इसमें 'समस्या का अन्त', 'गिरती दीवारें', पिशाचों का नाच', 'बीमार का इलाज', 'आत्म-दान', 'जीवन वापसी', 'मन्दिर के द्वार', 'दो अतिथि'—ये नौ एकांकी संकलित हैं।

(२) **धूमशिखा**—इसमें 'धूमशिखा', 'विस्फोट', 'नया नाटक', 'नये मेहमान', 'अन्धकार' तथा 'अघटित'—ये छः एकांकी हैं।

(३) **कालिदास**—इसमें 'विक्रमोर्वशी', 'मेघदूत' और 'कालिदास' इन तीन ध्वनि-रूपकों का संग्रह है। ये तीनों रेडियो-नाटक हैं। इनके अतिरिक्त भट्टजी का एक अन्य एकांकी संग्रह 'पर्दे के पीछे' है, जिसमें आठ सामाजिक एकांकी संकलित हैं।

इनके कुछ नाटकों का परिचय लीजिए—

(४) **दाहर**—इसमें सिन्ध के महाराज दाहर पर मुहम्मद बिनकासिम के आक्रमण की कथा है।

(५) **अम्बा**—यह महाभारत पर आधारित नाटक है। काशीराज की कन्या अम्बा के प्रेम को तिरस्कृत करने के परिणामस्वरूप भीष्म को जो फल भोगना पड़ा उसका इस नाटक में चित्रण किया गया है। अम्बा उस नारी का प्रतिनिधित्व करती है जो पुरुष की दासता की बेड़ियों को तोड़कर अपनी स्वतन्त्रता का अधिकार स्थापित करना चाहती है।

(६) **सगर-विजय**—इस पौराणिक नाटक में सगर तथा उसकी विमाता का चरित्र अंकित किया गया है। गृहकलह तथा षड्यन्त्र इस नाटक के कथानक की एक विशेषता है।

(७) **मुक्तिपथ**—राजकुमार सिद्धार्थ की घटना पर आधारित नाटक है।

(८) **मत्स्यगन्धा**, (९) **विश्वामित्र** और (१०) **राधा**—ये तीनों गीति-नाट्य हैं। 'मत्स्यगन्धा' में भीष्म पितामह के पिता महाराज शान्तनु और सत्यवती के यौवन की विलास-लीलाएँ हैं। 'विश्वामित्र' में विश्वामित्र और मेनका की प्रसिद्ध कथा है। नारी की वास्तविक शक्ति का

परिचय देने के लिए मेनका विश्वामित्र का तपोभंग करती है। 'राधा' एक सुन्दर गीति-नाट्य है। इसमें प्रेम और मोह का सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

(११) **कमला**—यह एक सामाजिक नाटक है। बुड्ढा देवनारायण शिक्षित युवती कमला से विवाह करता है। इस प्रकार यहाँ भी नारी-समस्या ही प्रमुख है।

(१२) **शक-विजय**—यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमें शकों द्वारा विजय, विजय का वर्णन है। अवन्तीराज गन्धर्वसेन ने आचार्य कालक की बहन को अपने अन्तःपुर में डाल लिया। जब किसी भी उपाय से उसने उसे मुक्त नहीं किया तो कालक ने शकों को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया। पहले तो शक विजयी हुए, कुछ समय उपरान्त वे भारतीय वीरों से पराजित हो गए।

(१३) **क्रान्तिकारी**—इस नाटक में भट्टजी ने सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद आदि क्रान्तिकारियों की जीवन-घटनाओं के आधार पर राष्ट्रिय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का सजीव चित्र अंकित किया है।

नाटककार भट्ट के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि उनके अधिकांश नाटक पौराणिक कथानकों पर आधारित हैं, और अधिकांश एकांकी सामाजिक समस्याओं पर। पौराणिक कथानकों पर आधारित नाटकों में भी इन्होंने वर्तमान समस्याओं पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य संकेत किया है। उनके एकांकी समाज की दम्भपूर्ण व्यवस्था पर गहरा और व्यंग्य-पूर्ण प्रहार करते हैं। भट्ट जी के नाटकों की भाषा सरस और सर्वजन-सुबोध है। अधिकतर संवाद मनोरञ्जक और सशक्त हैं। भट्ट जी पुराने नाटककार हैं। इनकी रचनाओं ने नये नाटककारों का पथप्रदर्शन किया है।

(४) सेठ गोविन्ददास

सेठ जी का जन्म जबलपुर (मध्यप्रदेश) में संवत् १९५३ में एक

सम्भ्रान्त-परिवार में हुआ था। आप कर्मठ देशभक्त एवं हिन्दी-सेवी हैं। आजकल भारतीय संसद् के सदस्य के रूप में हिन्दी को समुचित आदर दिलाने और उसके जयघोष के लिए सदा तत्पर रहते हैं। सेठ जी ने सौ से अधिक नाटकों तथा एकांकी-नाटकों का निर्माण किया है। इनमें से कुछेक के नाम ये हैं—

१. नाटक—

(क) **ऐतिहासिक**–'विकास', 'शशिगुप्त', 'हर्ष', 'कुलीनता', 'शेरशाह,' 'विश्वासघात' आदि।

(ख) **समस्यात्मक**—'बड़ा पापी कौन ?', 'त्याग या ग्रहण', 'हिंसा या अहिंसा', 'प्रेम या पाप', 'ग़रीबी या अमीरी', 'सेवापथ', 'महत्त्व किसे ?' आदि।

(ग) **जीवनात्मक**—'रहीम', 'भारतेन्दु', 'महात्मा' आदि।

(घ) **पौराणिक**—'कर्त्तव्य', 'कर्ण', 'स्नेह या स्वर्ग'।

(ङ) **सामाजिक**—'विश्व प्रेम', 'प्रकाश', 'नवरस', 'सिद्धान्त और स्वातन्त्र्य'।

२. एकांकी नाटक—

(क) **सामाजिक और समस्यात्मक**—'स्पर्द्धा', 'मानव-मन', 'हंगर-स्ट्राइक', 'धोखेबाज़', 'अधिकार-लिप्सा' आदि।

(ख) **प्रहसन**—'भविष्यवाणी', 'विटेमिन' आदि।

(ग) **एकपात्र नाटक**—'शाप और वर', 'षट्दर्शन' आदि।

उक्त सूची से स्पष्ट है कि सेठ जी की गति नाटक की लगभग सभी प्रचलित विधाओं में है और उनकी रचनाओं का वर्ण्य-विषय भी विविधता-पूर्ण है। उनकी कुछेक रचनाओं का परिचय लीजिए—

(१) **हर्ष**—इस नाटक का कथानक सम्राट् हर्षवर्धन से सम्बद्ध है।

(२) **शशिगुप्त**—यह नाटक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन-काल

से सम्बद्ध है। इसमें चाणक्य का चरित्र भी खूब विकसित हुआ है। इसमें यह दिखाया गया है कि पोरस और सिकन्दर के युद्ध में पोरस नहीं प्रत्युत सिकन्दर ही पराजित हुआ था।

(३) **कुलीनता**—यह समस्या-प्रधान ऐतिहासिक नाटक है। मध्ययुग की सामाजिक झलक दिखाते हुए इसमें अछूतों की समस्या पर भी प्रकाश डाला गया है। नाटक का नायक यदुराय नीच कुलोत्पन्न होने के कारण कुलीन लोगों से अपमानित होता है।

(४) **सेवा-पथ**—इस नाटक में सेवा-पथ की कठिनाइयों का चरित्र-चित्रण है। नाटक का नायक दीनानाथ एक निर्धन युवक है जो सेवा व त्याग के सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देता है।

(५) **सिद्धान्त और स्वातन्त्र्य**—यह सेठजी का सबसे पहला समस्या-नाटक है। इस नाटक का नायक सेठ चतुर्भुजदास, जो कि एक बड़ा धनी ज़मींदार है, एक वात्सल्यपूर्ण पिता और पितामह के रूप में चित्रित किया गया है। उसके जीवन का एकमात्र सिद्धान्त यही था कि उसका पुत्र और पौत्र सुखी रहें।

(६) **स्नेह या स्वर्ग**—यह सेठ जी का एक उत्कृष्ट गीति-नाटक है। इसका मूल विषय होमर के 'इलियड' से लिया गया है, परन्तु नाटककार ने इसमें पूर्णतया भारतीय रंग भर दिया है। नाटक का कथानक प्रेम तथा उसके प्रति नारी-हृदय की प्रतिक्रियाओं की शाश्वत समस्याओं पर आधारित है।

(७) **नवरस**—यह प्रतीकवादी नाटक है। युद्ध और शान्ति की समस्या का कलापूर्ण एवं रोचक शैली में विवेचन हुआ है। इस में काव्यशास्त्रीय नौ रसों को मूर्त्त रूप में उपस्थित किया गया है। उदाहरणार्थ, वीरसिंह वीर रस का प्रतीक है, रुद्रसेन रौद्र रस का और भीम भयानक रस का। इसी प्रकार प्रेमलता शृंगार रस की प्रतिनिधि है, लीला 'हास्य रस' की और शान्ता तथा करुण क्रमशः 'शान्त और करुण' रसों के। इनके मानवीकरण द्वारा लेखक ने युद्ध और शान्ति की

समस्या पर कलापूर्ण एवं रोचक शैली से प्रकाश डाला है ।

इस प्रकार बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न सेठ जी के नाटकों में मानव-जीवन की अनेक घटनावलियों को विभिन्न रूप-रंगों और विधाओं में सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है । सेठ जी ने स्वदेश-विदेश के नाटकों का अच्छा मन्थन किया है, इस कारण उनको नये प्रयोग करने में पर्याप्त रुचि है और वे इन प्रयोगों में सफल भी हुए हैं । सेठ जी की भाषा सरस और विषयानुसारिणी है, तथा सर्वजन-सुबोध है । सेठ जी के नाटक सामान्य जनता के लिए हैं ।

(५) रामकुमार वर्मा

आपका जन्म संवत् १९६२ में मध्यप्रदेश में हुआ । आप प्रयाग-विश्व-विद्यालय में हिन्दी-अध्यापन का कार्य कर रहे हैं । हिन्दी-नाटक-कारों, विशेषत: एकांकी-नाटककारों में आपका नाम भी आदर के साथ उल्लेखनीय है । इनके नाटकों की सूची इस प्रकार है—

(१) **नाटक**—'सत्य का स्वप्न' और 'शिवाजी' ।

(२) एकांकी नाटक तथा संग्रह |

'आठ एकांकी नाटक', 'इन्द्र-धनुष', 'रजत-रश्मि', 'रेशमी टाई', 'सरस एकांकी नाटक-संग्रह', 'सप्तकिरण', 'चार ऐतिहासिक एकांकी', 'कौमुदी महोत्सव', 'ध्रुवतारिका', ऋतुराज', 'पृथ्वीराज की आँखें' । कुछ संग्रहों में संकलित एकांकियों के नाम ये हैं—

(१) **चार ऐतिहासिक एकांकी** में 'राजरानी सीता', 'औरंगज़ेब की आख़िरी रात', 'समुद्रगुप्त पराक्रमांक' और 'सम्राट् विक्रमादित्य' ये चार एकांकी संकलित हैं । 'राजरानी सीता' में अशोक वाटिका में सीता की दशा का चित्रण किया गया है । 'औरंगजेब की आख़िरी रात' में नवासी वर्ष के बूढ़े औरंगज़ेब की अन्तिम दीन दशा का मार्मिक चित्रण है । अन्तिम क्षणों में उसके हृदय में भी मानवता की भावना जागृत हो उठती है । उसे अपने जन्मभर के कृत्यों पर पश्चात्ताप हो रहा है ।

(२) **ऋतुराज** में 'कादम्ब या विष', 'स्वर्ण श्री', 'भरत का भाग्य', 'ज्यों की त्यों धर दीनि चदरिया' और स्वागत ऋतुराज—ये पाँच एकांकी संग्रहीत हैं।

(३) **रजतरश्मि** में 'प्रतिशोध', 'तैमूर की हार', 'दुर्गावती', 'औरंगज़ेब की आख़िरी रात','कलंक रेखा'—ये पाँच एकांकी संकलित हैं।

इस सूची से स्पष्ट है कि वर्मा जी प्रमुखतः एकांकी-लेखक हैं। उनके कुछ एकांकी नाटकों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(४) **परीक्षा** एक सुन्दर सामाजिक एकांकी है। शिक्षित युवती रत्ना अपने पचास-वर्षीय वृद्ध पति को भी हृदय से प्रेम करती है। और समय आने पर उसका बुढ़ापा वह स्वयं ग्रहण करने के लिए उद्यत हो जाती है। इस प्रकार 'परीक्षा' में आदर्श भारतीय नारी को सर्वथा उत्तीर्ण होते दिखाया गया है।

(५) **समुद्रगुप्त-पराक्रमांक** में समुद्रगुप्त के भाण्डागार से दो रत्न चोरी हो जाने का सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है।

(६) **सम्राट् विक्रमादित्य** में शकों के शत्रु विक्रमादित्य के शासनकाल की घटना का वर्णन है।

(७) **कौमुदी-महोत्सव** नाटक का कथानक चन्द्रगुप्त और चाणक्य के चरित्रविकास के आधार पर निर्मित है। लेखक का विश्वास है कि उसने इतिहास के इन दोनों प्रसिद्ध पात्रों का चरित्र स्वाभाविक ढंग से चित्रित किया है।

(८) **ध्रुव तारिका** का कथानक मारवाड़ के महाराज जसवन्तसिंह के पुत्र अजीतसिंह की जीवन-घटना पर आधरित है। अकबर की पौत्री का अजीतसिंह से प्यार हो जाता है, पर वीर सेनापति दुर्गादास के समझाने से इनका प्रेम भाई-बहन के प्रेम में परिवर्तित हो जाता है।

(९) **कादम्ब या विष** में सम्राट् कुमारगुप्त की रानी अनन्त देवी के षड्यन्त्रों का वर्णन है।

(१०) **स्वर्णश्री** में अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का वध शुंग

सेनापति पुष्यमित्र द्वारा दिखाया गया है।

(११) भरत के भाग्य में भरत का भ्रातृ-प्रेम दिखाया गया है। 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' एकांकी कबीर के जीवनवृत्त पर आधारित है।

(१२) स्वागत है ऋतुराज में हिन्दी के चारों कालों के प्रमुख कवियों द्वारा ऋतुराज वसन्त को श्रद्धांजलि भेंट करते हुए अनुरोध किया गया है कि वह समस्त विश्व के अणु-अणु को आनन्द और उल्लास से भर दे।

उक्त एकांकियों को यदि उनकी रचना के काल-क्रमानुसार देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कथानक की दृष्टि से वर्मा जी की प्रवृत्ति सामाजिक रोमांस से हटकर उत्तरोत्तर ऐतिहासिकता की ओर विशेष होती जा रही है। वर्मा जी के एकांकी कई गुणों के कारण बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। सर्वप्रथम तो वे रंगमंच के लिए सर्वथा उपयोगी हैं; उनका अभिनय अनायास हो सकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि लेखक अभिनय-कला और उसके निर्देशन से पूर्णतः अभिज्ञ है। वे अपने नाटकों में संकलनत्रय—स्थान, काल और कार्य की एकता का यथासम्भव ध्यान रखते हैं। उनमें पात्र भी परिमित होते हैं। इनके नाटकों में औत्सुक्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। वर्मा जी आदर्शवादी नाटककार हैं। वे एकांकी के माध्यम से समाज को उज्ज्वल सन्देश देना चाहते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वर्मा जी पहले एकांकीकार हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं में विदेशी शिल्प-विधान (टैकनीक) का निर्वाह किया है और उसमें सफल भी हुए हैं।

(६) लक्ष्मीनारायण मिश्र

मिश्र जी हिन्दी के प्रमुख नाटककारों में से हैं। आपने कविता के साथ साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया किन्तु बाद में जॉर्ज बर्नार्डशा और इब्सन के नाटकों से प्रभावित होकर आपने नाटक-क्षेत्र को अपना लिया।

आपकी पहली नाटकीय रचनाएँ बड़े नाटकों के रूप में उपलब्ध हुई हैं। आकाशवाणी-केन्द्र से सम्बद्ध हो जाने के पश्चात् आप एकांकी की ओर प्रवृत्त हुए।

आपकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

नाटक—'संन्यासी,' 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली', 'आधी रात', 'गरुड़ध्वज',' नारद की कथा', 'वत्सराज', 'दशाश्वमेध', 'वितस्ता की लहरें', 'कवि भारतेन्दु', 'चक्रव्यूह'।

एकांकी—'अशोक वन', 'प्रलय के पंख पर', 'कावेरी में कमल', 'मनु' आदि।

मिश्र जी प्रमुखत: समस्या-मूलक नाटकों के लेखक हैं और उन समस्याओं में भी आप विवाह तथा काम सम्बन्धी समस्याओं पर ही अधिकतर लिखते रहे हैं। इधर 'वत्सराज' 'दशाश्वमेध', 'वितस्ता की लहरें' आदि नाटकों के द्वारा आपने यह सिद्ध कर दिया है कि केवल समस्या-प्रधान नाटकों में ही नहीं वरन् प्रसाद जी के समान उच्चकोटि के ऐतिहासिक नाटक-लेखन की क्षमता भी आप में विद्यमान है। इनके कतिपय नाटकों का परिचय इस प्रकार है—

(१) **संन्यासी**—यह मिश्र जी का पहला नाटक है। इसमें इन्होंने पात्रों द्वारा इस निष्कर्ष पर बल दिया है कि भावुकता की अपेक्षा बुद्धि एवं विवेक से प्रत्येक समस्या का हल ढूँढना चाहिए।

(२) **राक्षस का मन्दिर**—यह नाटक नारी-समस्या-प्रधान है। इसमें समाज के झूठे आडम्बर और अभिमान-भरे जीवन पर कुठाराघात किया गया है।

(३) **मुक्ति का रहस्य**—इसमें विवाह जैसी पवित्र संस्था के विरुद्ध विद्रोह की आवाज़ उठाई गई है। आशा उमाशंकर के घर में रहती है और उससे प्रेम करती है, वह उसे पाने के लिए उसकी चिर-रोगी पत्नी को डॉक्टर से मिलकर मरवा देती है, किन्तु बाद में वह उसी डॉक्टर के प्रति आकर्षित हो जाती है और अन्त में उसी से विवाह कर लेती है।

उमाशंकर भावावेश में आकर सब धन-दौलत छोड़ एकान्त में रहने लगता है, और इसी त्याग में वह मुक्ति का रहस्य ढूँढता है।

(४) **राजयोग और** (५) **सिन्दूर की होली**—ये दोनों नाटक भी नारी-समस्या पर आधारित हैं। इन नाटकों के प्रमुख स्त्रीपात्र साहसी, प्रगल्भ और निर्भीक हैं। पर उनके काम तथा प्रेम के व्यावहारिक दृष्टि-कोण से रूढ़िवादी हिन्दू सहमत नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा बाल-विधवा है। वह भारतीय दृष्टि से अपने वैधव्य धर्म का कुछ भी महत्त्व नहीं समझती और अपने प्रेमी से स्पष्ट कह देती है कि "मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती पर प्रेमी अवश्य बना लूँगी।"

(६) **वत्सराज**—यह मिश्र जी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है, इसके नायक उदयन एक बड़े वीर कलाप्रिय महाराज हैं, जिन्होंने अपनी वीणावादन की कला से अवन्ती के महाराज की पुत्री वासवदत्ता का हृदय हर लिया था। इसके प्रथम दो अंकों का कथानक भास के प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' पर आधारित है। परन्तु तीसरा अंक सर्वथा मौलिक है और यही इस नाटक का प्राण है।

(७) **दशाश्वमेध**—यह भी मिश्र जी का ऐतिहासिक नाटक है। इसमें कुशाण साम्राज्य के पतनकाल का दृश्य अंकित किया गया है। भारशिव नाग ने कनिष्क द्वितीय के समय कुशाण-शक्ति को भारत से, विशेषतः मथुरा से, भगाने में बड़ा भाग लिया था। भारशिव नाग के वीरसेन की वीरता का उल्लेख इस नाटक में विशेष रूप से किया गया है। कुशाण राजकुमारी कौमुदी नागवीर वीरसेन पर मोहित हो जाती है और उसी से विवाह कर लेती है। अन्य नाटकों में भी 'सैक्स' की समस्या को नहीं भूले।

(८) **कवि भारतेन्दु**—जैसा कि इसके नाम से विदित होता है यह भारतेन्दु जी के जीवनवृत्त पर आधारित नाटक है।

(९) **चक्रव्यूह**—यह मिश्र जी का पौराणिक नाटक है। महाभारत

के युद्ध में चक्रव्यूह में फँसकर अभिमन्यु के मर जाने का वर्णन है।

मिश्र जी के ऐतिहासिक नाटकों की भाषा तद् तद् युग के अनुरूप संस्कृतनिष्ठ है परन्तु विशेषता यह है कि प्रसाद जी की भाषा के समान क्लिष्ट नहीं है। यद्यपि इनके नाटकों में घटनाओं की अल्पता विशेष रूप से लक्षित होती है, पर इनके मनमोहक संवादों का पाठकों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है, कि घटनाओं की अल्पता की ओर पाठकों का ध्यान ही नहीं जाता।

एकांकी–समस्या-नाटकों के लब्धप्रतिष्ठ लेखक लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपनी प्रतिभा को एकांकी-लेखन की ओर भी प्रवृत्त किया। इनके तीन सुन्दर एकांकी-संग्रह निकल चुके हैं:—'अशोक वन', 'प्रलय के पंख पर' और 'कावेरी में कमल'।

'अशोक वन' में गौतम बुद्ध के समकालीन वत्सराज उदयन के काल तथा जीवन की कतिपय घटनाओं का वर्णन है।

'प्रलय के पंख पर' में गृहस्थ-जीवन की सामान्य समस्याओं का चित्रण किया गया है।

"कावेरी में कमल" में मिश्र जी के तीन प्रौढ़ एकांकी सम्मिलित हैं।

(७) उपेंद्रनाथ अश्क

इनका जन्म संवत् १९६७ में जालन्धर में हुआ। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है। नाटक, एकांकी-नाटक एवं उपन्यासों के अतिरिक्त इन्होंने कविता, कहानी, संस्मरण आदि सभी कुछ लिखा है। इनके नाटकों की सूची इस प्रकार है—

नाटक—'अलग-अलग रास्ते', 'अंजो दीदी', 'कैद और उड़ान', 'जयं-पराजयं' 'पैंतरे, 'छठा बेटा,' 'स्वर्ग की झलक'।

एकांकी—'आदि मार्ग,' 'पक्का 'गाना,' 'प्रतिनिधि एकांकी', 'परदा उठाओ परदा गिराओ' 'चरवाहे', 'तूफान से पहले', 'देवताओं की छाया में'।

(१) **'जय पराजय'** अश्क जी का प्रथम नाटक है। यह मेवाड़

के इतिहास से सम्बद्ध है। नाटक के नायक चण्ड का चरित्र जय और पराजय के बीच निरन्तर संघर्ष का एक सुन्दर उदाहरण है। मंडोवर-नरेश महाराणा लाखा के पुत्र चण्ड के साथ अपनी बेटी हंसा की सगाई के लिये नारियल भेजते हैं, पर हँसी-हँसी में उस नारियल की चर्चा महाराणा अपने लिए कर बैठते हैं, फलत: चण्ड हंसा का विवाह लाखा से करवा देता है और स्वयं अजन्मा ब्रह्मचारी रहकर अन्त में मेवाड़ भी छोड़ जाता है। चण्ड की इस त्याग-भावना तथा देशभक्ति का इस नाटक में बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है।

(२) **स्वर्ग की झलक**—यह एक सामाजिक समस्या-प्रधान नाटक है। जहां एक ओर अशिक्षित नारी समाज के लिए अभिशाप है वहाँ दूसरी ओर उच्च शिक्षा-प्राप्त फैशनेबुल युवतियां भी समाज को पतन की ओर ले जा रही हैं।

(३) **छठा बेटा**—इस नाटक में उन पुत्रों का चित्रण किया गया है जो वृद्ध पिता की सेवा नहीं करते, और उधर पिता उस पुत्र पर आशा लगाये बैठा है, जो उसे शायद फिर कभी न मिल सके। नाटक अत्यन्त रोचक है, और नाटकीय विशेषताओं से पूर्ण है।

(४) **पैंतरे**—यह एक मनोरंजक नाटक है जिसे लेखक ने अपने वैयक्तिक जीवन की घटना के आधार पर लिखा है। कहीं मकान न मिलने के कारण कादिर साहब रशीद भाई की दुकान में डेरा डाल देते हैं। रशीद भाई उससे तंग आकर शाहबाज़ के यहाँ चले जाते हैं। बेचारा शाहबाज़ रशीद भाई को अपना मकान सौंपकर स्वयं मकान के बाहर सीढ़ियों के पास जाकर सो जाता है। जहाँ उसे सोता हुआ देखकर पड़ोसी का नौकर पहले तो हैरान हो जाता है और फिर उसी के पास अपने प्रति-दिन के स्थान पर बिस्तर लगाकर सो जाता है। इसके साथ-साथ अश्क जी ने बड़े विनोदपूर्ण ढंग से फिल्मी दुनियाँ की हास्यमयी झलक भी प्रस्तुत की है जिसमें बहुत कुछ यथार्थ और वास्तविकता है। इस जगत् में स्वार्थ का अधिकार है, कोई किसी का मित्र नहीं, भाई नहीं।

इस जगत् में पैंतरेबाज़ी बदल कर ही मानव अपनी उन्नति कर सकता है। उसे अपनी आत्मा का हनन करना पड़ता है, अपने चरित्र से हाथ धोना पड़ता है। इस प्रकार इस जगत् में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले तीव्र प्रकाश के पीछे घोर अन्धकार है।

(५) **अलग-अलग रास्ते**—उसमें विवाह-समस्या को बड़े ही अच्छे ढंग से सुलझाया गया है। यह उच्चकोटि का सामाजिक नाटक है।

एकांकी नाटक—

(६) **देवताओं की छाया में**—अश्क जी ने बहुत सुन्दर एकांकी नाटक भी लिखे हैं। इस नाम के संग्रह में सात एकांकी हैं, जिनमें 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'अधिकार का रक्षक' बड़े ही रोचक एवं प्रसिद्ध हैं। 'छठा बेटा' भी इसी में सम्मिलित है। 'लक्ष्मी का स्वागत' लेखक के अपने जीवन से सम्बद्ध है। इसमें दिखाया गया है कि समाज में नारी का कोई मूल्य नहीं। घर में पहली पत्नी मरी पड़ी है कि लोग अपनी-अपनी लड़कियों के साथ उसी व्यक्ति की सगाई की बातें करने लगते हैं। इस प्रकार समाज के इस हृदयहीन वर्ग का इस नाटक में बड़ा सुन्दर चित्र अंकित किया गया है।

(७) **अधिकार का रक्षक**—इस नाटक में दिखाया गया है कि बड़े आदमियों के कथन में और व्यवहार में कितना अन्तर होता है। मिस्टर सेठ अछूतों के, स्त्रियों के, विद्यार्थियों के, नौकरों के अधिकारों के रक्षक बने फिरते हैं, पर घर में इन सब पर अत्याचार करते हैं।

अश्क जी के अधिकांश नाटक तथा एकांकी अभिनय की दृष्टि से सफल हैं, तथा अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

(८) विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर का जन्म संवत् १९६९ में मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) में हुआ। आजकल विष्णु जी देहली में रहते हैं। आप प्रमुख रूप से गद्य-लेखक हैं। कहानी, उपन्यास, नाटक-लेखन को ही आपने अपने

जीवन का ध्येय बनाया हुआ है। नई पीढ़ी के साधना-रत कलाकारों में आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रायः इनके नाटकों के कथानकों की सामग्री प्रतिदिन के जीवन से जुटाई जाती है। इसीलिए इनके नाटकों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो पाठक अपना और अपने परिवार का ही चित्र देख रहा है।

नाटक—'समाधि', 'चन्द्रहार' तथा 'गोदान' का **नाट्य-रूपान्तर**।

एकांकी—'क्या वह दोषी था', 'इनसान' तथा अन्य एकांकी।

(१) **चन्द्रहार**—यह प्रेमचन्द जी के उपन्यास ग़बन का एक सुन्दर रूपान्तर है। विष्णु जी ने उपन्यास को नाटक का रूप देते हुए अत्यन्त सूक्ष्मदर्शिता से काम लिया है। मूल उपन्यास, कथावस्तु, पात्र और संवाद आदि को सुरक्षित रखते हुए उन्होंने अनावश्यक घटना-विस्तार को बड़ी सावधानी से छाँट दिया है।

(२) **गोदान का नाट्य-रूपान्तर**—इसमें भी उक्त कला-कौशल से काम लिया गया है।

विष्णु जी के एकांकी तो बहुत ही सुन्दर और प्रभावशाली हैं। लेखक को इनके द्वारा मानसिक संघर्ष को व्यक्त करने में बड़ी सफलता मिली है।

(३) **संस्कार और भावना**—इसमें पुरानी रूढ़ियों के जर्जरित होने व मानवीय भावनाओं के विकास की कथा कही गई है। अतुल का भाई अविनाश अन्तर्जातीय विवाह कर लेता है, अतः उसकी पुराने विचारों वाली माँ उन्हें अलग कर देती है और उसका मुँह भी देखना पसन्द नहीं करती। कुछ दिनों बाद अविनाश की बहू की बीमारी की सूचना पाकर उसका हृदय पसीज जाता है और वह अविनाश को वापस अपने घर बुला लाती है।

(४) **विभाजन**—इसमें दिखाया गया है कि सम्पत्ति का बँटवारा भाई-भाई के प्रेमबन्धन को छिन्न-भिन्न कर देता है, पर देवर-भाभी के हृदय में जो पवित्र स्नेह की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है वाणी के

व्यंग्य-वाण उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। यद्यपि पूँजीवादी व्यवस्था ने गृह-कलह को जन्म दिया है, पर प्राचीन भारत की सम्मिलित कुटुम्ब की भावना इस कलह को निर्मूल कर सकती है—यह इस नाटक का उद्देश्य है।

आल इण्डिया रेडियो में कार्य करते हुए आपने कई रेडियो-रूपक भी लिखे। जिनमें से 'मुरब्बी' का कथानक ग्रामजीवन से सम्बद्ध है। इस रेडियो-रूपक में दिखाया गया है कि मुरब्बी गाँव का एक सहृदय और स्वाभिमानी दुकानदार है। सुशीलता, सहानुभूति तथा मधुर वचन उसकी दुकानदारी के प्रमुख अंग हैं। आज की विकृत सभ्यता में पला मुरब्बी का पुत्र देवी उसके स्वाभिमान की उपेक्षा करता है और उसका पौत्र राधे तो मुरब्बी के मित्र मुनव्वर पर मुकदमा करने को तैयार है, क्योंकि उसने कुछ उधार लिये हुए रुपये नहीं लौटाये। इसी मुनव्वर ने किसी समय मुरब्बी की सहायता की थी। भला गाँव का एक सरल-हृदय व्यक्ति अपने ही निकटसम्बन्धी द्वारा अपने मित्र को जेल भिजवाते हुए कैसे देख सकता है, उसके हृदय की इसी उधेड़-बुन का चित्र इस एकांकी में अंकित किया गया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विष्णु के नाटक घरेलू जीवन से लिये गये हैं और उनमें विष में से अमृत निकाल लेने की कोशिश की गई है। आज हमारा सामाजिक और पारिवारिक जीवन अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा है। कहीं भाई-भाई में, कहीं बाप-बेटे में, कहीं पति-पत्नी में छोटे-छोटे कारणों से संघर्ष होते रहते हैं। उस संघर्ष की कठिनता को मंगल और मोद की मधुरता में परिवर्तित करने के लिए इस कलाकार को सदा सचेष्ट और प्रयत्नशील देखकर पाठक का मन-मयूर नाच उठता है। यथार्थ का चित्रण करते हुए भी विष्णु जी की लेखनी पाठक को आदर्श सन्देश दे जाती है; उसके हृदय पर भारतीयता की स्थायी छाप छोड़ जाती है।

कहानी तथा उपन्यास

(क) कहानी

उपक्रम—

हिन्दी में आधुनिक कहानी-कला का विकास संस्कृत आख्यान-परम्परा से मानना समुचित नहीं है। निस्संदेह संस्कृत में कहानी-साहित्य का अभाव नहीं है; यहाँ तक कि वैदिक भाषा में—वैदिक सूक्तों, ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषद्-ग्रन्थों में—भी कहानियाँ उपलब्ध हो जाती हैं, तथा आगे चलकर संस्कृत-भाषा में 'बृहत्कथा-सरित्सागर', 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश' आदि के रूप में कहानियों का अस्तित्व है; पर हिन्दी-कहानियों की शृंखला संस्कृत-कहानी-साहित्य से जोड़ना युक्ति-संगत नहीं है; क्योंकि न तो संस्कृत-कहानी की परिभाषा हिन्दी-कहानी पर पूरी तरह से घटती है और न संस्कृत से हिन्दी-कहानी तक—इस मध्यवर्ती काल में—इन्हें जोड़ने वाली कोई कहानी उपलब्ध है।

वस्तुतः हिन्दी में आधुनिक कहानियों का जन्म बँगला-कहानियों के अनुकरण पर हुआ है, जो स्वयं अंग्रेज़ी कहानी-कला पर निर्मित हुई हैं। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-कहानी भी शिल्प-विधान की दृष्टि से परम्परागत रूप से अंग्रेज़ी-कला की अनुगामिनी है। इसी विधान के आधार पर निर्मित 'इन्दुमती' को, जिसका प्रकाशन सन् १९०० (संवत् १९५७) में 'सरस्वती'-पत्रिका में हुआ था, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रथम मौलिक आधुनिक हिन्दी-कहानी स्वीकार किया है। इससे पूर्व भी यद्यपि मौलिक कहानियाँ निर्मित हो चुकी थीं पर वे आधुनिक कला की कसौटी पर पूर्ण नहीं उतरतीं। उनके नाम हैं—'रानी केतकी की कहानी' (इंशा अल्ला ख़ाँ), 'राजा भोज का सपना' (राजा शिवप्रसाद), तथा 'सब मिट्टी हो गया' (माधव मिश्र)। इनके अतिरिक्त अम्बिकादत्त व्यास-रचित 'आश्चर्य-वृत्तान्त' उपन्यास-कोटि में भले ही आ जाय, पर वह आधुनिक कहानी (शॉर्ट स्टोरी) नहीं है। अतः भारतेन्दु से पूर्व तथा

पूरे भारतेन्दु-युग में आधुनिक कहानी-निर्माण का अभाव ही समझना चाहिए।

निष्कर्ष यह कि 'इन्दुमती' के प्रकाशन से पूर्व जो भी कहानियाँ उपलब्ध हैं, वे आधुनिक कहानियों की तुलना में निम्न-कोटि की हैं। उनके निम्नलिखित दोष स्वतः स्पष्ट हैं—

(क) वे कहानियाँ आकार में भारी-भरकम हैं, पर आधुनिक कहानियाँ ऐसी नहीं हैं।

(ख) उन कहानियों में वस्तुवर्णन भी बड़ा बोझल है, आधुनिक कहानियाँ इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं।

(ग) उन कहानियों में अतिमानवीय चरित्र हैं, जो कि इन कहानियों में नहीं हैं।

(घ) उन कहानियों का सम्बन्ध समाज से नहीं है, पर आधुनिक कहानियाँ समाज की पूरी गतिविधि को आत्मसात् किये हैं।

प्रसाद-युग तथा प्रसाद-युगोत्तरकालीन कहानीकार—

'इन्दुमती' के प्रकाशन-काल अर्थात् सन् १९०० के उपरान्त जिन कहानीकारों ने साहित्य-सेवा की है, उन्हें इस युग के लगभग ५ दशकों में विभक्त कर सकते हैं—

प्रथम दशक में ये कहानीकार उदित हुए—माधव मिश्र, किशोरीलाल गोस्वामी, भगवानदास, गिरिजादत्त वाजपेयी, बंगमहिला, छबीलेलाल गोस्वामी, गिरिजाकुमार घोष।

दूसरे दशक के कहानीकार ये हैं—जयशंकर प्रसाद, विश्वम्भरनाथ जिज्जा, राजा राधिकाप्रसादसिंह, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा, पं० चन्द्रधर गुलेरी, प्रेमचन्द, रायकृष्णदास, चंडीप्रसाद 'हृदयेश' और सुदर्शन।

तीसरे दशक के कहानीकार ये हैं—वृन्दावनलाल वर्मा, मोहनलाल नेहरू, रघुपतिसहाय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, बेचन शर्मा 'उग्र', विनोद-शंकर व्यास, राजेश्वरप्रसादसिंह, जनार्दन झा 'द्विज', वाचस्पति पाठक,

दुर्गादास भास्कर, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, ऋषभचरण जैन, पृथ्वीनाथ शर्मा और इलाचन्द्र जोशी।

चौथे दशक के कहानीकार ये हैं—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पंत, मोहनलाल महतो, श्रीराम शर्मा, श्रीनाथसिंह, सद्गुरुशरण अवस्थी, सत्यजीवन वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, 'अज्ञेय', धर्मवीर, प्रभाकर माचवे, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और यशपाल।

सन् १६४० के उपरान्त तक अनेक नवीन कहानी-लेखक उदित हुए। इन सब का नामांकन कठिन है। इनमें से कतिपय प्रसिद्ध कहानीकार ये हैं—देवेन्द्र सत्यार्थी, अमृतराय, रांगेय राघव, विष्णु प्रभाकर, अंचल, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, ख्वाजा अहमद अब्बास, अख्तर हुसैन रायपुरी, रामवृक्ष बेनीपुरी, जयनाथ नलिन, राहुल साँकृत्यायन, मोहनसिंह सेंगर, योगीश्वर गुलेरी आदि।

इनके अतिरिक्त महिला-कहानी-लेखिकाओं में शिवरानी देवी, सुभद्राकुमारी चौहान, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मलिक, होमवती देवी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं।

प्रसाद-युग में जितने सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक हैं, वे सब-के-सब बीसवीं शती के दूसरे दशक में उदय हो गये थे। मुंशी प्रेमचन्द सन् १६१६ में धनपतराय से 'प्रेमचन्द' नाम बदलकर उर्दू से हिन्दी में आये थे। सन् १६१७ में सुदर्शन भी उर्दू से हिन्दी में आये थे। प्रसाद स्वयं सन् १६११ में 'ग्राम्या' लिखकर कहानी-क्षेत्र में उतर चुके थे। कहने का सारांश यह है कि द्विवेदी-युग में जिन कहानीकारों का आगमन हुआ था, उनकी कला का पूर्ण विकास प्रसाद-युग में हुआ।

विशिष्टताएँ—

इस युग में १०० से ऊपर कहानी-लेखक साहित्य-क्षेत्र में आये, जिनमें ४० के लगभग कहानीकार उच्च आसन पर आसीन किये जा

सकते हैं। अब विभिन्न दृष्टियों से इस युग की कहानी-कला का समीक्षात्मक परिचय लीजिए—

(क) **शिल्प-विधान**—आज की कहानी शिल्प-विधान की दृष्टि से उत्तरोत्तर दृढ़ बनती जा रही है। आदि, मध्य और अन्त का संघटन; समुचित वातावरण के अनुकूल पात्रों का चारित्रिक उत्थान-पतन, भावों का क्रमिक उन्मेष, संतुलित वार्तालाप—ये आज की कहानी की टैकनिकल विशेषताएँ हैं।

(ख) **सुधारवाद**—भारतेन्दु-युग के नाटकों में समाज के कुत्सित पक्ष के प्रति जो विद्रोह प्रकट किया गया था, उसने प्रसाद-युग में आकर कहानी में अपना स्थान बनाया। सुधारवाद उपदेशकीय ढंग का न होकर व्यंग्यात्मक ढंग का है। कहीं-कहीं कुत्साओं का केवल उद्घाटन-मात्र हुआ है और कहीं-कहीं उन पर करारी चोट भी की गई है। सुधार-वाद की धुन में इनमें अधिकांशतः कहानीपन भी नष्ट नहीं हुआ। इन कहानियों में बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, नारी, अस्पृश्यता, नवीन जीवन के प्रति आग्रह—आदि अनेक पहलुओं का परोक्ष रूप से उन्मेष हुआ है—और सचमुच परोक्ष उन्मेष ही कहानी-कला का प्रमुख गुण है।

(ग) **यथार्थ जीवन**—आज की कहानियों के पात्र हमारे लिए अजनबी पात्र नहीं हैं। हमारे पास-पड़ोस अथवा गाँव के निवासी, रोज़ के देखे-भाले, हाड़-माँस के पुतले, दुःख-सुख में उलझे हुए पात्र ही इन कहानियों में दीख पड़ते हैं; दैवी या अतिमानवी चरित्र के कारण वे हमसे दूर नहीं हैं। वे हमारे निकट हैं और हम उनके निकट।

(घ) **यथार्थवाद : आदर्शवाद**—इस युग के थोड़े कलाकार ऐसे भी निकल आयेंगे, जो 'आदर्शवाद' पर आस्था रखते हैं, अन्यथा 'यथार्थवाद' पर निष्ठा रखने वाले कहानीकारों की संख्या निस्संदेह बहुत है। आज की ठोस आर्थिक आवश्यकताएँ हमें 'आदर्श' से बहुत दूर तथा 'यथार्थ' के बहुत निकट लाती हैं। मानव की यह लाचारी मानो प्रत्येक कहानी पर अंकित है, जिसे समालोचक 'यथार्थवाद' कहते हैं। हाँ, प्रेमचन्द जैसे

प्रख्यात कलाकार भी हैं, जिनकी कहानियों में आदर्शवाद और यथार्थवाद का अद्‌भुत मिश्रण है, जिसे हम 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहते हैं।

(ङ) **भाषा**—इन नई कहानियों में से अधिकांश की भाषा सजीव, सशक्त तथा सम्बद्ध है। थोड़े शब्दों में बहुत-कुछ कह देने की कला इसमें है। वाक्य-विन्यास संयत है।

इन कलाकारों में कुछ तो निश्चित ही प्रगतिवादी कलाकार हैं, अन्य कलाकार प्रगतिवाद के समर्थन में दो-चार कहानियाँ भेंट कर चुके हैं। छायावाद का क्षेत्र केवल कविता रहा है, पर प्रगतिवाद कविता के अतिरिक्त निबन्ध, आलोचना और उपन्यास-कहानी में भी अपना प्रभाव जमाये हुए हैं। यशपाल प्रगतिवादी कहानीकारों के प्रतिनिधि हैं।

प्रसाद-युग तथा प्रसाद-युगोत्तरवर्ती कहानीकारों का परिचय आगे यथास्थान दिया जा रहा है।

(ख) उपन्यास

परिभाषा—

जिस रचना में युग की समस्या का और उसके समाधान के उपायों में व्यक्तिगत मत का प्रकाशन कथानक के माध्यम से किया जाय, उसे 'उपन्यास' कहते हैं। इस परिभाषा में दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं—(१) रचना में युगसमस्या और उसका समाधान हो; (२) वह समाधान व्यक्तिगत मान्यताओं पर आधारित हो। जिन पर ये दोनों बातें चरितार्थ नहीं होतीं, वे उपन्यास नहीं हैं, लम्बे कथानक अवश्य हैं। अतः 'रानी केतकी की कहानी', 'राजा भोज का सपना', 'आश्चर्य-वृत्तान्त' आदि उपन्यास नहीं हैं। 'प्रेमसागर', 'नासिकेतोपाख्यान', 'माधवानल कामकन्दला', 'बैताल-पच्चीसी', 'सिंहासन-बत्तीसी', 'गोराबादल' आदि रचनाएँ धार्मिक कथानक हैं, इतिहास हैं, अथवा मनोरंजक गद्य हैं; उपन्यास नहीं हैं। उपन्यास के लिए कथानक के अतिरिक्त उपर्युक्त दो अन्य तत्त्व आवश्यक हैं।

हिन्दी का प्रथम उपन्यास—

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन उपन्यासों को प्रस्तुत किया जाता है—

(१) भारतेन्दु-कृत 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' जो 'हरिश्चन्द्र-मेगज़ीन' में छपा था; (२) श्रीनिवास-कृत 'परीक्षा-गुरु'; (३) श्रद्धाराम फिल्लौरी-कृत 'भाग्यवती'। इनमें से 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' हिन्दी का मौलिक उपन्यास नहीं है। यह एक मराठी-उपन्यास का रूपान्तर है। 'परीक्षा-गुरु' (निर्माण-काल सं० १९५७ को) आचार्य शुक्ल ने अंग्रेज़ी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास माना है। श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती' उपन्यास सं० १९४३ में लिखा गया था। इस प्रकार कालक्रम के अनुसार हिन्दी-उपन्यासों में 'भाग्यवती' को ही सर्वप्रथम उपन्यास मान सकते हैं। इसके बाद हिन्दी-उपन्यासों की परम्परा आरम्भ हो जाती है।

पूर्व-प्रसाद-युग—हिन्दी में आरम्भ से ही उपन्यासों की दो धाराएँ चलीं, एक धारा मौलिक उपन्यासों की है और दूसरी धारा अनूदित उपन्यासों की। यहाँ हम केवल प्रथम धारा की चर्चा कर रहे हैं। 'भाग्यवती' और 'परीक्षा-गुरु' के उपरान्त इन उपन्यासों के नाम उल्लेखनीय हैं—बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान'; किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम', 'हृदयहारिणी', 'लवंगलता' आदि; देवीप्रसाद शर्मा-कृत 'विधवा-विपत्ति'; हनुमन्तसिंह-कृत 'चन्द्रकला'; गोपालराम गहमरी-कृत 'अघोरपंथी'; लज्जाराम शर्मा-कृत 'धूर्त रसिकलाल'; कार्तिकप्रसाद खत्री-कृत 'दीनानाथ'; देवकीनन्दन-खत्री कृत 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' आदि तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल'।

इन उपन्यासों तथा उपन्यासकारों में 'देवकीनन्दन खत्री' तथा उनकी रचना 'चन्द्रकान्ता' की विशेष चर्चा की जाती है। इसके तीन कारण हैं—(१) इनके उपन्यासों की भाषा इतनी सरल है कि मामूली पढ़ा-लिखा आदमी भी इसे आसानी से पढ़ सकता है। (२) इनमें रोमांस,

तिलिस्म, ऐय्यारी, रोचक घटनाओं का बड़ा सुन्दर समन्वय है। (३) इसका कथानक एकदम तटस्थ भाव से लिखा गया है। उस पर सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक (सुधारवादी) विचारधारा का कोई प्रभाव नहीं।

प्रसाद-युग—प्रसाद-युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचन्द हैं, वही हिन्दी उपन्यासकारों के पथ-प्रदर्शक हैं। उन्होंने 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'सेवासदन', 'गोदान', 'मंगलसूत्र' (अपूर्ण)—१० उपन्यास लिखे हैं। प्रेमचन्द के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रसाद-युगीन उपन्यासकारों तथा उनके उपन्यासों के नाम उल्लेखनीय हैं—

जयशंकर प्रसाद—'कंकाल', 'तितली', 'इरावती'।

वृन्दावन सहाय—'सौन्दर्योपासक'।

अवधनारायण—'विमाता'।

शिवपूजन सहाय—'देहाती दुनिया'।

चतुरसेन शास्त्री—'हृदय की परख', 'व्यभिचार', 'अमर अभिलाषा,' 'आत्मदाह', 'नीलमती', 'वैशाली की नगरवधू'।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'—'माँ', 'भिखारिणी'।

बेचन शर्मा 'उग्र'—'दिल्ली का दलाल','चन्द हसीनों के खतूत', 'बुधुआ की बेटी', 'शराबी', 'घन्टा', 'सरकार तुम्हारी आँखों में'।

चंडीप्रसाद हृदयेश—'मनोरमा', 'मंगल प्रभात'।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव—'बिदा'।

राधिकारमण प्रसादसिंह—'तरंग', 'रामरहीम', 'पुरुष और नारी'।

मन्नन द्विवेदी—'रामलाल', 'कल्याणी'।

जी० पी० श्रीवास्तव—'गंगा जमुनी', 'दिलजले की आह'।

वृन्दावनलाल वर्मा—'गढ़कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'कुण्डली-चक्र', 'महारानी लक्ष्मी बाई', 'मृगनयनी'।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी—'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी', 'त्यागमयी',

'प्रेमविवाह', 'पतिता की साधना', 'दो बहिनें', 'निमन्त्रण'।

जैनेन्द्रकुमार—'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत'।

इलाचन्द्र जोशी—'लज्जा', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'संन्यासी', 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ'।

गोविन्दवल्लभ पंत—'प्रतिभा', 'मदारी', 'प्रगति की राह'।

सूर्यकान्त निराला—'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभावती', 'कुल्लीर भाट', 'चोटी की पकड़'।

प्रसाद-युगोत्तरयुगीन—

यशपाल—'देशद्रोही', 'दिव्या', 'मनुष्य के रूप', 'दादा कामरेड'।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—'गिरती दीवारें', 'गरम राख', 'बड़ी-बड़ी आँखें'।

रांगेय राघव—'मुर्दों का टीला', 'प्रतिदान', 'चीवर', 'अंधेरे के जुगनू', 'राणा की पत्नी' 'घरौंदे', 'विषादमठ', 'काका', 'हजूर', 'अधूरा किला' आदि।

पृथ्वीनाथ शर्मा—'विद्रूप'।

राहुल—'सिंह सेनापति'।

श्रीनाथसिंह—'जागरण', 'उलझन', 'प्रभावती', 'प्रजामण्डल'।

अज्ञेय—'शेखर एक जीवनी'।

गुरुदत्त—'स्वाधीनता के पथ पर', 'पथिक', 'उन्मुक्त प्रेम', 'विकृत छाया', 'भावुकता का मूल्य', 'बहती रेता', 'मायाजाल', 'वाममार्ग', 'विलोमगति', 'मानव'।

प्रसाद-युग के तथा प्रसाद-युगोत्तरयुग के उपन्यासों के बीच मध्यवर्ती विभाजक-रेखा अंकित करना कठिन है। मुंशी प्रेमचन्द जिस सामाजिक सुधार-आन्दोलनों को लेकर उपन्यास लिखने लगे थे, प्रगतिवादी उपन्यास-लेखकों ने उस समाजसुधारवाद में मार्क्सवादी विचारधारा का मिश्रण करके उसे नया मोड़ दे दिया; बस यही प्रसाद-युगोत्तर उपन्यासकारों की विशेषता है। राष्ट्रिय चेतना की जागृति दोनों पक्षों में विद्यमान है।

अतः इस युग की दो सीमाओं की तुलना के लिए आधार बहुत कम रह जाता है। हाँ, पूर्व-प्रसादयुग के उपन्यासों तथा प्रसादयुग एवं प्रसाद-युगोत्तरवर्ती उपन्यासों की परस्पर तुलना निम्नोक्त आधारभूत तत्त्वों पर की जा सकती है—

(क) **समस्या**—भारतेन्दु-युगीन तथा प्रसाद-युगीन राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं की विभिन्नता के कारण इन युगों में निर्मित उपन्यासों के कथानकों की मूलभूत समस्याओं में भी अन्तर है। भारतेन्दु-युग में अशिक्षा, स्त्री-परतन्त्रता, रूढ़िवाद, विधवा, आडम्बरवाद, मिथ्यावाद, आलस्य आदि समस्याएँ थीं पर आज की प्रमुख समस्याएँ वैसी नहीं हैं; रोटी-अधिकार, वर्ग-संघर्ष, आर्थिक संकट, राजनीति, धर्मनिरपेक्षता, मार्क्सवाद तथा अन्यान्य समस्याएँ हैं जो पहले युग से भिन्न हैं। भारतेन्दु-युग में अपने समय की समस्याओं को लेकर लिखनेवालों में किशोरीलाल गोस्वामी का नाम विशेषतः उल्लेख्य है और आज की समस्याओं को लेकर लिखने वालों में यशपाल का। इसके अतिरिक्त अपने समय की समस्याओं को इतिहास के पृष्ठों में खोजने का यत्न उधर किशोरीलाल गोस्वामी ने किया तो इधर वही प्रयत्न वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री तथा रांगेय राघव ने किया है।

भारतेन्दु-युग और प्रसाद-युग के मध्यवर्ती युग में चन्द्रकान्ता-संतति, भूतनाथ आदि उपन्यास तटस्थ भाव से लिखे गए, न तो युग की छाप उन पर है और न ही युग को इन उपन्यासों ने कुछ दिया है। अतः इन रचनाओं को वास्तविक 'उपन्यास' मानने में संकोच होता है।

(ख) **राष्ट्रियता**—सन् १८५७ के बाद देश में राष्ट्रियता के भाव पूर्णतः जगने प्रारम्भ हो गए। कांग्रेस के जन्म से पहले 'राष्ट्रियता' की परिभाषा अस्पष्ट थी और उसका रूप धुंधला था। पर कांग्रेस-जन्म के साथ 'राष्ट्रियता' की परिभाषा स्पष्ट होती गई—उसकी रूपरेखा गोखले-युग में स्पष्ट, तिलक-युग में स्पष्टतर और गाँधी-युग में स्पष्टतम होती गई। भारतेन्दु-युग तथा उसके बाद के उपन्यासों में जातीयता और देशभक्ति की भावना तो है, पर

जिस राष्ट्रियता का उन्मेष १८५७ के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के बाद हुआ था, इन उपन्यासों में उसके दर्शन नहीं होते। आगे चल कर सन् १९१६ में मुन्शी प्रेमचन्द उपन्यास-क्षेत्र में आये और सन् १९१९-२० में गांधी जी कांग्रेस में। गांधी जी के व्यक्तित्व एवं सिद्धान्तों की प्रसिद्धि के साथ-साथ राष्ट्रियता भी पनपने लगी थी। महात्मा जी ग्राम्य जनता की राष्ट्रियता को सच्ची राष्ट्रियता मानते थे। यही स्वर प्रेमचन्द, प्रसाद तथा अन्य उपन्यासकारों की रचनाओं में भी गूँजा। उनका ध्यान ग्रामों की ओर गया और राष्ट्रियता की भावना उपन्यासों में ओत-प्रोत होने लगी।

प्रसादोत्तर-युग में इस राष्ट्रियता ने समाजवादी क्षेत्र में पदार्पण किया और आर्थिक लड़ाई लड़ने वाले सैनिकों (मजदूरों) में क्षमता भरने वाले, उनकी कुण्ठाओं को विनष्ट करने वाले उपन्यास लिखे जाने लगे।

अतः भारतेन्दु-युग को जातीयता; प्रसादयुग की राष्ट्रियता और प्रसादोत्तर-युग की जनवादिता—ये राष्ट्रियता के अलग-अलग पहलू हैं जो उपन्यासों के काथानकों को परस्पर शृंखलाबद्ध रखे हुए हैं।

(ग) **प्रेम**—भारतेन्दु-युग के उपन्यासों में 'प्रेम' का वातावरण है। यद्यपि इस युग के उपन्यास-लेखकों ने जातीय समस्याओं से आँख नहीं मूँदी, उसका यथोचित समाधान भी खोजने का यत्न किया है; पर 'प्रेम' की धारा भी कहीं अविच्छिन्न नहीं होने पाई। देवकीनन्दन खत्री तथा अन्य उपन्यासों ने अपने समय की समस्याओं से हटकर अपने-आपको तिलिस्म और ऐयारी के चक्कर में फाँस लिया है, पर प्रेम को इन लेखकों ने भी नहीं छोड़ा। इधर आगे चलकर मुंशी प्रेमचन्द, प्रसाद तथा उनके समकालीन इतर उपन्यासकारों ने इस प्रेम-परम्परा को विश्रृंखल नहीं होने दिया। इनके उपन्यासों में सम्भव और यथार्थ प्रेम का चित्रण हुआ है। प्रगतिवादी उपन्यासकारों ने 'प्रेम' के रूढ़िगत प्रयोगों को छोड़कर, मानसिक अतृप्त भावनाओं की स्थानपूर्ति उन्मुक्त यौनवासनाओं से करनी चाही है, अतः प्रगतिवादी 'प्रेम' समाज की शिष्टता, धर्म की

मर्यादा, लौकिक व्यवहारों का औचित्य—सबका अतिक्रमण करता जा रहा है।

प्रसाद-युग से पूर्व 'प्रेम' का रूढ़िमूलक ढंग से निरूपण हुआ है (अर्थात् नायक नायिका का प्रथमतः मिलन, बाद में वियोग, खल नायकों द्वारा उपस्थित-बाधा, उन बाधाओं पर विजय-प्राप्ति और विवाह), पर इधर प्रसाद-युग में इसका आधार सम्भव एवं यथार्थ घटनाएँ हैं। प्रसाद-युग के बाद उसमें फ्रायडवादी सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाने लगा है। निष्कर्ष यह कि 'प्रेम' तीन पीढ़ियों के उपन्यासों में अविच्छिन्न है, पर उसके रूप भिन्न-भिन्न हैं।

(घ) **शिल्प-विधान**—प्रसाद-युग से पूर्व उपन्यासों का शिल्प-विधान प्रौढ़ नहीं है। वस्तु-वर्णन, नखशिख, ऋतु-वर्णन, उपदेश, अनावश्यक वार्तालाप आदि से वे भरे पड़े हैं। जो कथानक १०० पृष्ठों में लिखा जा सकता है, उसके लिए ४०० अथवा ५०० पृष्ठों में लिखना तो मामूली बात थी। चरित्रों में विकास की कोई गुंजायश नहीं है। सामन्तवादी प्रवृत्तियों का बाहुल्य है। चटपटी घटनाओं तथा आश्चर्यजनक वातावरण से सभी उपन्यास रंग-बिरंगे से दीख पड़ते हैं। अधिक नहीं तो कुछ-कुछ प्रसादकालीन उपन्यास भी भारतेन्दु-युग के उपन्यासों की गतिविधि अपनाये हुए हैं। पर प्रसादोत्तर-कालीन उपन्यासों का रूप अत्यन्त प्रौढ़ और कसावट-पूर्ण है। भरती की बातें बिल्कुल नहीं है। व्यर्थ की भूमिकाओं से पृष्ठ काले नहीं किये गये। घटनाक्रम मनोविज्ञान पर आधारित है। चरित्रों में उत्थान-पतन निरन्तर जारी हैं, पात्र अपने निर्माण में स्वयं यत्नशील हैं उन्हें दैवी पात्रों का वरदान प्राप्त नहीं है।

(ङ) **भाषा**—प्रसाद-युग से पूर्व उपन्यासों की भाषा शिथिल है। पात्रानुरूप भाषा रखने के प्रयोग से भाषा 'बदरंग'-सी हो गई। ऐसा लगता है 'भाषा' लेखकों के वश में नहीं है, बल्कि लेखक भाषा के वश में हो गये हैं। शब्दों के प्रयोग भी अतिरंजित हैं। इधर प्रेमचन्द के

आगमन से हिन्दी ने उर्दू का ढर्रा अपना लिया। सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री आदि उपन्यासकार प्रेमचन्द जैसी भाषा लिखते रहे हैं। प्रसादोत्तर उपन्यासों में भाषा का मधुर, साधु और प्रवाहपूर्ण प्रयोग हुआ है। इनमें व्यक्तिगत विशेषताओं के होते हुए भी एक मूलगत समानता है। पर आगे चलकर प्रगतिवादियों ने भाषा के नए-नए प्रयोग करके यह सिद्ध कर दिया है कि इनकी भाषा लेखक के अनुरूप है। जनवादी विषयों के लिए भाषा भी तो जनवादी ही अपेक्षित थी।

प्रसाद-युग तथा उत्तरवर्ती प्रतिनिधि उपन्यासों एवं कहानीकारों का परिचय लीजिए—

(१) प्रेमचन्द

जीवन—प्रेमचन्द जी का जन्म सम्वत् १९३७ में बनारस से चार मील की दूरी पर स्थित लमही नामक गाँव में हुआ था। उनका वास्तविक नाम धनपतराय श्रीवास्तव था। उनके पिता श्री अजायबराय डाकखाने में कर्मचारी थे। उनकी माता का नाम आनन्दी देवी था। प्रेमचन्द जी की मृत्यु संवत् १९९३ में हुई।

जब प्रेमचन्द जी की आयु पाँच वर्ष की हुई तो उस समय कायस्थों में प्रचलित प्रथा के अनुसार उन्हें उर्दू-फ़ारसी पढ़ने के लिए मौलवी साहिब के पास भेजा गया। प्रेमचन्द जी के पिता की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वे अपने परिवार का निर्वाह भी कठिनता से चला पाते थे। प्रेमचन्द का परिवार एक संयुक्त परिवार था जिसमें किसी बात का भेदभाव नहीं था। जब प्रेमचन्द जी आठ वर्ष के हुए तो आनन्दी देवी बीमार पड़ गईं। छः मास तक रोग-शय्या पर पड़ी रहकर उनका परलोक-वास हो गया। कुछ दिन पश्चात् अजायबराय ने दूसरी शादी कर ली। सौतेली मां अपने साथ अपने भाई विजय-बहादुर को भी ले आईं। उनकी सौतेली मां का प्रेमचन्द के साथ खाने-पीने आदि का व्यवहार उचित नहीं रहा। इसी कारण प्रेमचन्द का मन घर में कम लगता, अधिकांश समय वे एक तम्बाकू वाले की दूकान पर बिताते। यहीं से

प्रेमचन्द जी का झुकाव लिखने की ओर हुआ। उस तम्बाकू वाले के लड़के के साथ 'तिलस्म होशरुबा' पढ़ा करते। 'तिलस्म होशरुबा' फ़ारसी के प्रसिद्ध विद्वान् फ़ैज़ी का लिखा एक अद्भुत ग्रन्थ है, जिसमें तिलिस्मी घटनाओं का वर्णन है। प्रेमचन्द कभी कुछ लिखते तो उसे फाड़ डालते थे। पर उनमें यह इच्छा बलवती होती जा रही थी कि वे भी ऐसा ही कुछ लिखें।

१५ वर्ष की अवस्था में ही उनका एक कुरूप और गँवार स्त्री के साथ विवाह कर दिया गया। यह रूढ़िगत अनमेल विवाह प्रेमचन्द जी के लिए झंझट ही था। परिणामतः यह सम्बन्ध पूर्ण रूप से असफल होने के कारण उनकी पत्नी उन्हें छोड़कर अपने मायके चली गई। कुछ दिन पश्चात् उन्होंने अपना दूसरा विवाह शिवरानी देवी नाम की एक बाल-विधवा से कर लिया। इधर इसी बीच उनके पिता की मृत्यु हो गई और सारी गृहस्थी का भार उन पर आ पड़ा। इन दिनों वे काशी के क्वीन्स-कालेजियेट स्कूल में पढ़ते थे। दरिद्रता की अवस्था में ज्यों-त्यों करके उन्होंने सं० १९६७ में द्वितीय श्रेणी में मैट्रिक-परीक्षा पास की। द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने के कारण उन्हें कालिज में भरती नहीं किया गया। सौभाग्य से या दुर्भाग्य से उन्हें उसी स्कूल में १८) रु० मासिक वेतन पर अध्यापक का स्थान मिल गया। अध्यापन के साथ-साथ उन्होंने बी० ए० की तैयारी भी जारी रखी। अपनी प्रतिभा और परिश्रम के बल से १५ वर्ष में वे अध्यापक से डिप्टी-इन्सपेक्टर ऑफ स्कूलज़ के पद पर पहुँच गए।

श्रीमती शिवरानी देवी के साथ शादी होने से पहले ही प्रेमचन्दजी ने उर्दू में कहानियाँ लिखना आरम्भ कर दिया था। उनकी कहानियाँ उर्दू के सर्वश्रेष्ठ पत्र 'ज़माना' में प्रकाशित होती थीं। उनकी प्रारम्भिक कृतियों ने जनता में उनका नाम चमकाना आरम्भ कर दिया था। सं० १९७१ में उन्होंने उर्दू को छोड़कर हिन्दी-जगत् में प्रवेश किया। इस समय वे डिप्टी-इन्स्पैक्ट्री को त्याग चुके थे, क्योंकि उनके साहित्य से सरकार की अप्रसन्नता बढ़ रही थी। यहाँ तक कि उनका उर्दू-कहानियों

का संग्रह 'सोज़ेवतन' ज़ब्त कर लिया गया था।

रचनाएँ—

प्रेमचन्द जी ने सब मिलाकर कुल दस उपन्यास लिखे। ग्यारहवाँ 'मंगलसूत्र' वे अधूरा ही छोड़ गए। उनके उपन्यासों का लेखन-क्रम इस प्रकार है—

१. प्रेमा या प्रतिज्ञा (सं० १९६२), २. वरदान, इसी के लगभग, ३. सेवा सदन (सं० १९७३), ४. प्रेमाश्रम (सं० १९७९), ५. निर्मला (सं० १९८०), ६. रंगभूमि (सं० १९८२), ७. काया-कल्प (सं० १९८५), ८. ग़बन (सं० १९८८), ९. कर्मभूमि (सं० १९८९), १०. गोदान (सं० १९९३), ११. मंगलसूत्र (अपूर्ण)।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखीं। इस क्षेत्र में उन्हें सर्वाधिक प्रेरणा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियों से मिली। उनकी कहानियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए। अब उनकी लगभग सारी कहानियाँ 'मानसरोवर' (८ भाग) में संकलित की गई हैं। इनके अतिरिक्त इनकी कुछ कहानियाँ 'कफ़न' नाम से भी संग्रहीत हैं।

उपन्यास—

(१) **प्रेमा या प्रतिज्ञा** के सम्बन्ध में ऐसा मालूम होता है कि वह पहले उर्दू में 'हम खुर्मा व हम सवाब' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास का आधार प्रेम की त्रिभुज-मूलक कथा है। प्रेमा से अमृतराय और दाननाथ दोनों ही प्रेम करते हैं और इसी कारण अनेक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी ने कुछ समस्याएँ उपस्थित की हैं। उनमें अबला असहाया स्त्री की समस्या तथा स्त्रियों की आर्थिक पराधीनता की समस्या प्रमुख हैं जिनके निराकरण के बिना समाज का सर्वतोमुखी कल्याण असम्भव है।

(२) **वरदान**—इस उपन्यास की सामाजिक पृष्ठभूमि मध्यमवर्ग की है। इसमें केवल अनमेल विवाह की समस्या को लिया गया है। अनमेल विवाह से किस प्रकार कई व्यक्तियों का जीवन खराब हो जाता है. यही

इस उपन्यास में चित्रित किया गया है।

इस उपन्यास में रचना-सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ आ गई हैं। उदाहरण के लिए माधवी को जिस प्रकार प्रस्तुत किया है वह एक कष्ट-कल्पना प्रतीत होती है। प्रताप विरजन की आँखों में चाहे कुछ हो, ऐसा गुणी व्यक्ति नहीं बन पड़ा कि प्रत्येक स्त्री उस पर रीझ जाय। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद में ट्राम का प्रसंग भी कथाकार की त्रुटि है।

(३) **सेवासदन**—यह प्रेमचन्द जी का प्रथम महत्त्वपूर्ण उपन्यास है जिसने हिन्दी के कथा-जगत् में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी थी। सेवासदन की विशेषता यह है कि यह किसी प्रेमकथा को लेकर नहीं लिखा गया। इसमें समाज की एक भारी समस्या—वेश्या-समस्या—की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया गया है। सुमन के चरित्र से प्रेमचन्दजी ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वेश्याएँ भी मौलिक रूप से हमारे समाज की कुलवधुएँ तथा कन्याएँ हैं परन्तु परिस्थितियों की चपेट से वेश्या बनने को विवश हो जाती हैं। प्रधान कारण समाज की वह प्रथा ही है जिसके अन्तर्गत मन्दिर के अन्दर वेश्या का भजन पुरानी पद्धति के अनुसार स्वीकृत माना जाता है। सचमुच वेश्याओं की इतनी क़द्र हो कि बड़े-बड़े संभ्रान्त तथा धार्मिक व्यक्ति उनके सामने बैठने में अपना अहोभाग्य समझें, इन सब बातों का अन्य साधारण स्तर की स्त्रियों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

इसके अतिरिक्त लेखक ने उपन्यास के आरम्भ में ही पुलिस-विभाग की पोल खोलकर रख दी है। इस विभाग में ईमानदार आदमी के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इस उपन्यास की दूसरी मुख्य समस्या है—दहेज-प्रथा। इसकी बुराइयों पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। इसी प्रथा के कारण कृष्णचन्द को बुढ़ापे में आकर घूस लेने के अपराध में जेल की हवा खानी पड़ती है।

महन्तों के दुराचार के सम्बन्ध में तथा समाज-सुधारकों के बाह्याडम्बर के सम्बन्ध में भी प्रेमचन्द जी ने समाज को इस उपन्यास द्वारा

स्पष्ट चेतावनी दी है।

(४) **प्रेमाश्रम**—इस उपन्यास में अनेक विषयों का समावेश है। पुलिस की बदमाशी, सरकारी कर्मचारियों की कार्यवाहियाँ, ज़मींदारी-प्रथा का दुष्परिणाम आदि दिखाते हुए प्रेमचन्द जी ने इस उपन्यास में किसान-जागरण का आभास दिया है। वस्तुत: इन उपन्यासों द्वारा प्रेमचन्द जी ने हिन्दी-साहित्य को एक नया मार्ग प्रदर्शित किया है। इस उपन्यास की कहानी भी प्रेम-कहानी न होकर सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि पर गांधीवाद को लेकर चलती है।

(५) **निर्मला**—यह उपन्यास दहेज-प्रथा तथा अनमेल-विवाह की बुराइयों को खोलकर सामने रखता है। विवाह में दहेज न दे सकने के कारण ही निर्मला का विवाह अपने बाप की उम्र के व्यक्ति बाबू तोताराम से होता है। बड़े-बड़े बच्चों के होते हुए जो लोग शादी कर लेते हैं उनकी क्या दशा हो सकती है, यह इस उपन्यास का मुख्य विषय है।

(६) **रंगभूमि**—इस उपन्यास में सम-सामयिक समाज का स्पष्ट चित्र अंकित किया गया है। यह उपन्यास उस समय लिखा गया, जब भारत में गांधी जी का असहयोग-आन्दोलन चल रहा था। अत: इसमें उसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'सूरदास' का सम्पूर्ण चरित्र महात्मा गांधी से मेल खाता है। वह अहिंसा और सत्य में विश्वास करता है। यहाँ तक कि उसी की धुन में अपने प्राणों की बलि भी दे देता है। मिलों के विरोध में सूरदास के वक्तव्य गांधी जी के विचारों से भिन्न नहीं हैं। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में यह उपन्यास आकार में सबसे बड़ा है और सचमुच यह सम-सामयिक समाज की रंगभूमि है।

(७) **कायाकल्प**—रंगभूमि के पश्चात् लिखा गया यह उपन्यास एक विचित्र कथानक प्रस्तुत करता है। इसमें जन्म-जन्मान्तरों के प्रेम-प्रसंग को लाकर जन्मान्तरवाद को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। स्वभावत: पात्रों का चरित्र भी विचित्रता लिये हुए है। 'चक्रधर' रंगभूमि के 'विनय' की भाँति किसानों की सहायता करता है, किन्तु जेल से छूटने

के पश्चात् जब मोटर की बेगार करने से एक किसान इन्कार करता है तो वह उसे बुरी तरह पीटता है। चक्रधर की अहिंसा रंगभूमि के सूरदास से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार इस उपन्यास के प्रायः प्रत्येक पात्र के चरित्र में परिवर्तन आ जाता है, जो उपन्यास की उत्कृष्टता के लिए घातक सिद्ध होता है। फिर भी, इस उपन्यास में गाँवों का चित्रण पर्याप्त सुन्दर बन पड़ा है।

(८) **ग़बन**—इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी ने शहर के रहने वाले मध्यमवर्ग का चित्र उपस्थित किया है कि वे किस प्रकार अपने से अधिक हैसियत के प्रदर्शन में अपने-आपको नष्ट कर रहे हैं। धन न होने पर भी धनी समझे जाने की भावना, इसी भावना के ही कारण स्त्री का और नवयुवक का अलंकारों के प्रति मोह, वाह्याडम्बर, ग़बन आदि—यह सब इस उपन्यास का प्रतिपाद्य विषय है।

(९) **कर्मभूमि**—यह उपन्यास सामाजिक एवं राजनीतिक पृष्ठ-भूमि पर लिखा गया है। इसमें अनेक समस्याएँ एक ही साथ उठाई गई हैं, जैसे ज़मींदार-किसान, अछूतोद्धार तथा मन्दिर-प्रवेश, म्यूनिसिपैलिटी और सस्ते मकानों की समस्याएँ आदि। साथ ही, निर्धनता का पति-पत्नी तथा पिता और पुत्र के सम्बन्ध पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसके कथानक में पृष्ठभूमि के रूप में अमरकान्त और सकीना की प्रेम-कहानी भी प्रस्तुत की गई है। इस उपन्यास में अछूतों की समस्या के ग्रामीण और शहरी दोनों रूप दिखाये गए हैं।

(१०) **गोदान**—यह उपन्यास प्रेमचन्द का सर्वोच्च कोटि का है और अन्तिम उपन्यास है। इस उपन्यास का नायक होरी एक साधारण किसान है। उसमें पुरानी पीढ़ी के किसानों के सभी गुण-दोष विद्यमान हैं। होरी के चरित्र में प्रेमचन्द जी ने भारतीय किसान-समाज की आन्त-रिक अवस्था का दिग्दर्शन कराया है। सभी आलोचक इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि गोदान में प्रेमचन्द जी अपनी पुरानी लीक छोड़कर एक

नई लीक पर चले हैं। पुरानी लीक के उपन्यासों का अन्त किसी-न-किसी प्रकार के आश्रम या सेवा-मण्डल के निर्माण में समाप्त होता था, जिससे प्रस्तुत समस्याओं का न तो निराकरण ही होता था और न समाधान। एक प्रकार से उन्हें दबा दिया जाता था, परन्तु गोदान में प्रेमचन्द ऐसा कोई बना-बनाया समाधान प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि यथार्थ अवस्था को पाठकों के सम्मुख रखकर छुट्टी ले लेते हैं।

गोदान में एकसाथ दो कथाएँ चलती हैं। एक ग्रामीण वातावरण को लेकर चलती है और दूसरी नागरिक वातावरण को लेकर। दोनों कथाओं को यद्यपि लेखक ने सुन्दर ढंग से एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया है, पर उनका यह प्रयास सफल नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, दोनों कथाएँ थोड़े से परिश्रम से ही पृथक्-पृथक् भी की जा सकती हैं। फिर भी, गोदान हिन्दी-साहित्य की अमर निधि है।

कहानियाँ—

उपन्यास-क्षेत्र के सम्राट् प्रेमचन्द जी कहानीकार भी उच्च-कोटि के थे। यह कहना अनुचित न होगा कि प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में कोई-न-कोई त्रुटि निकाली जा सकती है, किन्तु उनकी अधिकांश कहानियाँ पूर्ण रूप से सफल और आदर्श हैं।

प्रेमचन्द ने कुल मिलाकर २५० के लगभग कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें जीवन के लगभग सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। उनकी कहानियों का कथानक-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। प्रायः लोग कहानी से तात्पर्य प्रेम-कहानी से लेते हैं, पर हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द ही सर्वप्रथम एक ऐसे कलाकार अवतरित हुए हैं, जिनकी अधिकतर कहानियों के सम्बन्ध में यह धारणा सत्य नहीं उतरती। 'मोटेराम शर्मा' और 'सत्याग्रह' इनकी हास्य-प्रधान कहानियाँ हैं। 'अमावस्या की रात्रि', 'बलिदान' और 'सवा सेर गेहूँ' में समाज में प्रचलित अत्याचारों का वर्णन है। 'रामलीला' नाम की कहानी में दिखलाया गया है कि किस प्रकार रामलीला की आड़ में आवारा लड़कों तथा वेश्याओं की आव-

भगत की जाती है। 'सभ्यता का रहस्य' में 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' चरितार्थ किया गया है। वस्तुतः प्रेमचन्द जी की समस्त कहानियों का परिचय देने के लिए तथा उनका पृथक्-पृथक् वर्गीकरण करने के लिए विस्तृत स्थान की आवश्यकता है। अतः यहाँ पर हम मुख्य एवं प्रसिद्ध कहानियों की नामावली देते हैं—

'विश्वास', 'बासी भात में खुदा का साझा', 'उद्धार', 'निर्वासन', 'मोटर की छींटें', 'डिक्री के रुपये', 'तेंतर', 'आत्माराम', 'दण्ड', 'दुर्गा का मन्दिर', 'पंच परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी', 'एक आँच की कसर', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'हिंसा परमोधर्मः', 'धोखा', 'शंखनाद', 'विचित्र-होली', 'सत्याग्रह', 'मुक्तिमार्ग', 'अमावस्या की रात्रि', 'कौशल', 'राजा हरदौल', 'विनोद', 'लाँछन', 'क्षमा', 'मन्त्र', 'रियासत का दीवान', 'कफ़न' आदि।

भाषा-शैली—उपन्यास और कहानी दोनों क्षेत्रों में इन्होंने विभिन्न भाषाओं के कथा-साहित्य का टेकनीक की दृष्टि से अध्ययन करके स्वयं अपना मार्ग बनाया और उसे चरम विकास तक पहुँचा दिया। प्रेमचन्द जी की भाषा एवं शैली के सम्बन्ध में विशेष बात ध्यान देने की यह है कि उनकी भाषा बोलचाल की सरल भाषा है जिसमें उर्दू की छाप के कारण अधिक प्रवाह और सुन्दरता आ गई है। बीच-बीच में मुहावरों के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी सजीव, सशक्त और आकर्षक बना दिया है।

उन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में रतनलाल सरशार का कुछ अनुकरण किया। परन्तु ज्यों-ज्यों वे लिखते गए, उनकी शैली निखरती गई और 'गोदान' में पहुँचकर उन्होंने एक नितान्त नई शैली को जन्म दिया।

इस प्रकार यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द जी ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य तथा कहानी-साहित्य में एक ऐसी क्रान्ति उपस्थित की कि आज वे न केवल आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य के पथ-प्रदर्शक एवं हिन्दी-जगत् के अनुपम रत्न माने जाते हैं, बल्कि इनकी तुलना विदेशी

कथाकारों के साथ भी निःसंकोच की जा सकती है।

(२) जयशंकर प्रसाद

प्रसाद जी के नाटक-साहित्य का परिचय पहले दिया जा चुका है। यहाँ उनके उपन्यासकार तथा कहानीकार के रूप पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है। प्रसाद जी जितने महान् कवि थे उतने महान् गद्य-लेखक भी थे। आपके तीनों उपन्यास 'कंकाल', 'तितली' और 'इरावती' हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

उपन्यास—

(१) **कंकाल**—इसमें समाज के दैनिक जीवन के ऐसे सैकड़ों चित्र सफलतापूर्वक अंकित किये गये हैं, जिनके द्वारा समाज के ठेकेदारों की पोलें खोलकर उन्हें वास्तविक रूप में जनता के समक्ष उपस्थित कर दिया गया है। समाज के गलिताङ्गों को चुनौती देने वाले इस यथार्थवादी, उपन्यास में प्रसाद जी यथार्थवादी कलाकार के रूप में उपस्थित हुए हैं। इनमें दो कथाएँ समानान्तर रूप से चलती हैं और दोनों को बड़ी सतर्कता से एक सूत्र में गूँथ दिया गया है।

(२) **तितली**—इसमें ग्रामीणों की दुर्दशा का चित्र अंकित करते हुए इस दुर्दशा से मुक्ति पाने के उपायों पर भी प्रकाश डाला गया है। 'कंकाल' की अपेक्षा इसका कथानक सुगठित है और इसमें घटनाओं का विस्तार भी अधिक नहीं है। इसमें दो कथानक समानान्तर रूप में और एक सूत्र में आबद्ध होकर चल रहे हैं। इसमें प्रासङ्गिक कथानक का भी अभाव है। इस उपन्यास से प्रसाद जी की उच्चकोटि की सर्जन-शक्ति का परिचय प्राप्त होता है।

(३) **इरावती**—यह प्रसाद जी का तीसरा और अन्तिम अपूर्ण उपन्यास है। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है जो कि शुंग-वंश से सम्बन्ध रखती है। वास्तव में भारतीय इतिहास में शुंगराज्य-काल का समय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। पुष्यमित्र और अग्निमित्र आदि सम्राटों ने आर्य-संस्कृति के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। प्रसाद जी की

आर्य-संस्कृति के प्रति अटल आस्था थी। तदनुसार उन्होंने पुष्यमित्र की कथा लिखनी आरम्भ कर दी पर वह पूर्ण न हो सकी। पुष्यमित्र ने पतनोन्मुख बौद्धधर्म के विरुद्ध वैदिक धर्म का झण्डा फिर से लहराकर भारत-राष्ट्र के निर्माण में बहुत बड़ा योग दिया था। भारतीय संस्कृति में भगवान् शिव की उपासना का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। शिव की उपासना में 'आनन्दवाद' का प्राधान्य है। इरावती का प्रेमी आनन्द भिक्षुक भी इसी आनन्दवाद का उपासक है। अतः स्पष्ट है कि प्रसाद जी इरावती उपन्यास के द्वारा शैवों के आनन्दवाद को फिर से प्रचारित करना चाहते हैं। इस उपन्यास से प्रतीत होता है कि लेखक ऐतिहासिक वातावरण, कथानक और भाव-चित्रण की ओर ही अधिक झुका हुआ है। चरित्रों के विकास और विश्लेषण की ओर उसने यथोचित ध्यान नहीं दिया। अधूरा होने पर भी इस उपन्यास में पाठक को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की पूरी-पूरी झलक मिल जाती है। प्रसाद जी उन उपन्यासकारों में से थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी-उपन्यास-जगत् को ऐय्यारी और तिलिस्मी-उपन्यासों के जञ्जाल से मुक्त कर उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया। उनके सभी पात्र सजीव और स्पष्टवक्ता हैं। वे अपने पाप-पुण्यों को छिपाकर नहीं रख सकते।

कहानियाँ—प्रसाद जी का कहानी-साहित्य भी उपन्यासों के समान ही उत्कृष्ट है। उन्होंने संवत् १९६८ से कहानी लिखना आरम्भ कर दिया था। आपकी सर्वप्रथम कहानी 'ग्राम' सं० १९६८ के 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। प्रसाद जी की कुछ प्रारम्भिक कहानियाँ 'चित्राधार' में संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त 'छाया' (सं० १९६९), 'प्रतिध्वनि' (सं० १९८३), 'आकाशदीप' (सं० १९८६), 'आँधी' (सं० १९८८) और 'इन्द्रजाल' (सं०१९९०) ये पाँच कहानी-संग्रह हैं। इन कहानियों को ऐतिहासिक और सामाजिक दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ एकत्रित हैं।

प्रसाद जी नाटककार, उपन्यासकार तथा कहानीकार होने के अति-

रिक्त निबन्धकार भी थे। 'चित्राधार' तथा 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' इनके निबन्ध-संग्रह हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने ग्रन्थों की भूमिका के रूप में भी गवेषणात्मक एवं विवेचनात्मक निबन्ध प्रस्तुत किये हैं। निस्सन्देह उन-जैसा बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न लेखक इस युग में नहीं है।

(३) विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

जीवन—आपका जन्म संवत् १९४८ में हुआ और मृत्यु संवत् २००४ में अम्बाला छावनी में हुई। कानपुर के रईस पं० इन्द्रसेन के यहाँ गोद लिये जाने के कारण आप आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त रहे। आपने मैट्रिक पास करके स्कूल छोड़ दिया और घर पर ही हिन्दी-संस्कृत का अध्ययन किया। प्रेमचन्द जी की भाँति इन्होंने भी पहले उर्दू में लिखना प्रारम्भ किया था, पर थोड़े ही दिनों बाद हिन्दी के क्षेत्र में आ गये। तब से लेकर आप जन्मभर हिन्दी की सेवा करते रहे। आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के प्रसाद से आपकी प्रतिभा चमक उठी। पहले-पहल आप बंगला के अनुवाद प्रस्तुत करते रहे। बाद में आपने हिन्दी को एक के बाद कई ग्रन्थ-रत्न दिये, जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

रचनाएँ—

कहानियाँ—गल्पमन्दिर, कल्लोल, चित्रशाला (तीन भाग) मणि-म ाला, पेरिस की नर्तकी आदि।

उपन्यास—माँ, विहारिणी और संघर्ष।

इनके अतिरिक्त इन्होंने ३-४ नाटक और ३-४ जीवन-चरित्र भी लिखे थे।

कौशिक जी प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले कलाकार हैं। उनके 'माँ' उपन्यास में यह दिखलाया गया है कि मनुष्य का भावी जीवन माँ की योग्यता पर निर्भर रहता है, साथ ही सुलोचना और सावित्री के चरित्रों की तुलना करके कौशिक जी ने प्रेमचन्द के समान ही अपने उपन्यासों का लक्ष्य आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ठहराया है। आपकी "ताई" कह ानी

का हिन्दी-साहित्य में विशेष सम्मान हुआ है। इसमें दिखाया गया है कि कठोर से कठोर हृदयवाली ऐसी स्त्रियाँ भी जो नि:सन्तान होने के कारण कभी किसी बच्चे से प्रेम नहीं करतीं सहसा किसी दुर्घटना में फँसे किसी बच्चे को देखकर पसीज जाती है। 'मनुष्यता का दण्ड' नामक कहानी भी बड़ी सुन्दर है।

कौशिक जी पहले घटना-प्रधान कहानियाँ लिखते रहे, परन्तु बाद में इन्होंने चरित्र-प्रधान कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ कर दीं। इनकी कहानियों के कथोपकथन सुबोध और सरल होते हैं। इनमें वे देश-कालानुसार प्रचलित विदेशी शब्दों का प्रयोग भी यत्र-तत्र कर देते हैं। इनकी भाषा सरल और मुहावरेदार होती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग वे अधिकता से करते हैं।

(४) चतुरसेन शास्त्री

जीवन—आपका जन्म जिला बुलन्दशहर में संवत् १९४८ में हुआ। आप दिल्ली के प्रसिद्ध वैद्य हैं और रस-चिकित्सा में भी आपने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। आपके सैकड़ों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं; जो विविध विषयों से सम्बद्ध हैं। उनमें से प्रसिद्ध उपन्यासों और कहानी-संग्रहों के नाम ये हैं—

रचनाएँ—

(क) उपन्यास—आत्मदाह, अपराजिता, आलमगीर, अदल-बदल, आकाश की छाया में, खवास का ब्याह, दो किनारे, धर्मराज, नरमेध, नीलमणि, पूर्णाहुति, मन्दिर की नर्तकी, रक्त की प्यास, वयं रक्षाम: (दो भाग) बहते आंसू, हृदय की प्यास, हृदय की परख, सोमनाथ, वैशाली की नगरवधू, गोली आदि।

(ख) कहानी-संग्रह—कैदी, ग़दर के पत्र, राजपूत बच्चे, रजकण, अक्षत आदि।

उपन्यास और कहानी-लेखन-कला पर शास्त्री जी का अपूर्व अधिकार है। प्रतिभा मानो इनकी वशवर्तिनी चेरी है, ये उसे अपनी इच्छानुसार

जैसे चाहे नचाते रहते हैं। कहानीकार चतुरसेन और उपन्यासकार चतुरसेन में भी बड़ा अन्तर है। उनकी कहानियाँ इनके उपन्यास की अपेक्षा अत्यधिक संयत और सुसंस्कृत होती हैं। उनसे कुछ-न-कुछ प्रेरणा भी प्राप्त होती है। कम-से-कम यथार्थ के नाम पर दुराचार और वासनाओं का वैसा बीभत्स नग्न नृत्य चतुरसेन जी की कहानियों में देखने को कम मिलेगा जैसाकि उनके उपन्यासों में है।

यद्यपि वस्तु-विन्यास और चरित्रचित्रण की दृष्टि से इनके उपन्यास भी प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के समान सफल हैं, पर इनके उपन्यासों में अस्वाभाविकता और अश्लीलता की भरमार के कारण ये समाज के लिए मंगलजनक नहीं हो सके। उदाहरणार्थ इनके 'अमर अभिलाषा' और 'आत्मदाह' आदि उपन्यासों में एक के बाद एक घृणित प्रसंग हैं। निस्सन्देह 'अमर अभिलाषा' स्त्रियों के उत्थान के लिए लिखा गया है, फिर भी कुछेक स्थल ऐसे हैं, जो सर्वथा अरुचिकर तो हैं ही, साथ ही समाज के लिए अहितकर भी हैं। वस्तुतः यह सब-कुछ यथार्थवाद के नाम पर किया गया है जोकि अनुचित है।

'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास में कोई भी पात्र ऐसा नहीं जो जारज न हो। वर्णसंकरता और कामुकता का इस प्रकार का प्रचार समाज के लिए हितकर नहीं है। लेखक में प्रतिभा, मौलिकता, भावुकता, लेखन-क्षमता, अनुभव आदि सब कुछ है पर इनका उपयोग सात्विक शुद्ध रूप में करना नितान्त अपेक्षित है। यदि इस लौह-लेखनी के धनी सशक्त कलाकार की कलम से कहानियों के समान उपन्यास भी चरित्र-निर्माण में सहायक सिद्ध होते तो इनका नाम निश्चित ही प्रेमचन्द के समान अमर हो जाता।

(५) वृन्दावनलाल वर्मा

जीवन—आपका जन्म मऊ रानीपुर ग्राम, ज़िला झाँसी के एक प्रतिष्ठित कुल में हुआ। बाल्यकाल में ही आपको कहानी सुनने का बड़ा

शौक था और इसी रुचि के परिणाम-स्वरूप आप पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही कहानी लिखने लग पड़े। पन्द्रह से अठारह वर्ष तक की अवस्था में आपने एक उपन्यास और नौ नाटक लिख डाले थे। तब से लेकर अब तक आप उपन्यास, कहानी, नाटक आदि लिखते चले आ रहे हैं। इनमें से इनकी ख्याति उपन्यासकार के रूप में सर्वाधिक है। पहले आप वकालत करते रहे, पर सन् १९४२ के आन्दोलन के दिनों से वकालत को लात मारकर तन-मन से साहित्य-सेवा में जुट गये। झाँसी में मयूर-प्रकाशन संस्था के द्वारा साहित्य-प्रसार का कार्य कर रहे हैं। वर्मा जी अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं। इतिहास, मनोविज्ञान, पुरातत्त्व, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला आदि में आप पर्याप्त रुचि रखते हैं।

रचनाएँ--

(क) **उपन्यास**—'अमरबेल', 'अहिल्याबाई', 'अचल मेरा कोई', 'कचनार', 'कभी-न-कभी', 'कुण्डलीचक्र', 'कोतवाल की करामात', 'गढ़-कुण्डार', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'प्रत्यागत', 'प्रेम की भेंट', 'मुसाहिब जू', 'मृगनयनी', 'लगन', 'विराटा की पद्मिनी', 'संगम', 'सोना' आदि।

(ख) **कहानी-संग्रह**—'हारसिंगार', 'कलाकार का दण्ड', 'दबे पाँव', 'शरणागत' आदि।

(ग) **नाटक**—'कनेर', 'काश्मीर का काँटा', 'केवट', 'खिलौने की खोज', 'जहाँदार शाह', 'झाँसी की रानी', 'नीलकण्ठ', 'पीले हाथ', 'पूर्व की ओर', 'फूलों की बोली', 'बाँस की फाँस', 'बीरबल', 'मंगल-सूत्र', 'राखी की लाज', 'लो भाई पंचो लो', 'हंस-मयूर' आदि।

'मृगनयनी' उपन्यास पर सरकारी और ग़ैर सरकारी चार विभिन्न संस्थाओं से आपको ५१०० रु० पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में उत्कृष्ट उपन्यास गढ़-कुण्डार है। इस उपन्यास में मध्यकालीन बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति तथा वातावरण की सजीव रूप में अवतारणा हुई है। इसके प्रमुख पात्र, घटना-व्यापार तथा वातावरण आदि सभी

कुछ इतिहास पर आधारित हैं। कुछ घटनाएँ कल्पित भी हैं पर उनके कारण इतिहास में बाधा उत्पन्न नहीं होती।

वर्मा जी सहृदय और भावुक कलाकार हैं। उनमें कल्पना-विधान की अपूर्व क्षमता है। वे कथा के मार्मिक सूत्रों को पहचानकर ऐसा हृदय-हारी मनोरम चित्र आँखों के सामने अंकित कर देते हैं कि पाठक उसे देखते-देखते तन्मय हो जाता है।

'झाँसी की रानी' उपन्यास झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के जीवन-वृत्त के आधार पर लिखा गया है। लेखक ने बड़े परिश्रम से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री को सफलतापूर्वक उपन्यास का रूप दिया है। इस उपन्यास के निर्माण में लेखक ने ऐतिहासिक लेखों के अतिरिक्त प्रत्यक्षदर्शी बड़े-बूढ़ों से मिल-मिलकर भी वास्तविक तथ्यों को संकलित करने में बड़ा भारी प्रयास किया।

'विराटा की पद्मिनी' को हम अर्ध-ऐतिहासिक उपन्यास कह सकते हैं; क्योंकि इसकी कथावस्तु का आधार अधिकांशतः जनश्रुति ही है। इसकी अधिकतर घटनाएँ और पात्र-कल्पित हैं। पर फिर भी कुल मिलाकर यह एक उत्कृष्ट उपन्यास है। वातावरण की सजीवता, रोमान्स आदि—सभी दृष्टियों से विराटा की पद्मिनी भी एक सुन्दर कृति कही जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्मा जी साहित्य-साधना में सतत संलग्न हैं। आपने हिन्दी-गद्य-साहित्य को उपन्यास, कहानी, नाटक आदि सभी कुछ दिये हैं और बहुत उत्कृष्ट रूप में दिये हैं।

(६) भगवतीप्रसाद वाजपेयी

जीवन—आपका जन्म मंगलपुर ग्राम, जिला कानपुर उत्तर प्रदेश में संवत् १९५६ में हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही हुई। परिवार की आर्थिक दशा अच्छी न होने के कारण आप स्कूल में मिडिल से अधिक न पढ़ सके। संस्कृत में आपकी विशेष रुचि थी इसलिए घर पर रहकर ही आप हिन्दी-संस्कृत का विशेष अध्ययन करते रहे। पण्डित बाँके बिहारीलाल चतुर्वेदी के आश्रय ने आपको अपनी लक्ष्य-प्राप्ति

में बहुत बड़ा योग दिया।

रचनाएँ—आपकी पहली कहानी 'यमुना' सं० १९७९ में प्रकाशित हुई। तब से लेकर आप निरन्तर उपन्यास और कहानियाँ लिख रहे हैं। इनकी रचनाओं के नाम ये हैं—

(क) कहानी संग्रह—'मधुपर्क', 'दीपमालिका', 'हिलोर', 'पुष्करिणी', 'मेरे सपने', 'ज्वार भाटा', 'कला की दृष्टि', 'उपहार', 'अंगारे' आदि।

(ख) उपन्यास—'उतार चढ़ाव', 'चलते-चलते', 'खाली बोतल', 'गुप्त धन', 'दो बहनें', 'पतिता की साधना', 'निर्यातन', 'प्रेम पथ', 'विश्वास का बल', 'यथार्थ से आगे', 'हिलोर' 'मीठी चुटकी', 'त्यागमयी', 'प्रेम विवाह', 'निमन्त्रण' आदि।

जैसाकि इन नामों से स्पष्ट है, वाजपेयी जी अपने साहित्य के माध्यम से समाज को कुछ सन्देश देना चाहते हैं। आपकी कला में भी प्रेमचन्द के समान आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। जैसे कि 'दो बहनें' उपन्यास में वाजपेयी जी ने आधुनिक शिक्षा और सभ्यता के दोषों को चित्रित किया है, एक व्यक्ति की दो प्रेमिकाएँ होने से किस प्रकार मानसिक विकार बढ़ते जाते हैं यह इसमें भली भाँति दिखाया गया है। 'निमन्त्रण' में भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य सभ्यता का संघर्ष-मय चित्रण है। उपन्यास की प्रधान पात्री 'मिस मालती' है जिसका चरित्र घटनाओं के जाल और पात्रों की भीड़-भाड़ के कारण विशेष स्पष्ट नहीं हो पाया। आपकी कहानियों में कथानक तो नाम-मात्र का ही रहता है, घटनाओं एवं प्रसंगों का संकेतों के रूप में उल्लेख कर आप मनोविज्ञान के आधार पर पात्रों के गुण-दोषों को व्यक्त करते हैं। आप-की कहानियों में मुक्तक काव्य ाक-सा आनन्द रहता है। आपकी भाषा सुललित, अलंकृत और भावानुसारिणी है।

(७) इलाचन्द्र जोशी

जीवन—जोशी जी का जन्म अल्मोड़े में सं० १९५९ में हुआ। आप बहुत दिनों तक आकाशवाणी के इन्दौर केन्द्र से सम्बद्ध रहे। इसके बाद

आप ऑल इण्डिया रेडियो, देहली में कार्य करते रहे। आप हिन्दी के उत्कृष्ट उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक हैं।

रचनाएँ—आपकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें से निम्नलिखित अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—

उपन्यास—'खण्डहर की आत्मा', 'जिप्सी', 'जहाज़ का पंछी', 'निर्वासित', 'प्रेत और छाया', 'पर्दे की रानी', 'मुक्ति-पथ', 'लज्जा', 'संन्यासी', 'सुबह के भूले' आदि।

कहानी-संग्रह—'उपनिषदों की कथाएँ', 'खण्डहर की आत्माएँ', 'डायरी के नीरस पृष्ठ', 'धूपलता', महापुरुषों की प्रेम-कथाएँ', 'होली और दीवाली' आदि।

आलोचना व निबन्ध—'विवेचना', 'विश्लेषण', 'साहित्य सर्जना', 'शरत्चन्द्र : व्यक्तित्व और कलाकार'।

फ्रायड, जुंग, एडलर आदि पाश्चात्य विचारकों से जो मानसिक विश्लेषण की प्रवृत्ति हमारे यहाँ आई, उस प्रवृत्ति को लेकर जो कलाकार आगे बढ़े, उनमें इलाचन्द्र जोशी और 'अज्ञेय' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक तथ्यों का पर्याप्त मात्रा में विश्लेषण हुआ है। 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास की भूमिका में जोशी जी ने स्वयं अपने ऊपर इस प्रभाव को स्वीकार किया है। 'संन्यासी' उपन्यास ने उन्हें हिन्दी-संसार में खूब चमकाया। इस उपन्यास का नायक दो सुन्दरियों से प्रेम करता है। किन्तु अपनी ही कमज़ोरियों के कारण न तो वह स्वयं प्रसन्न रह पाता है, और न अपनी प्रेयसियों को प्रसन्न कर पाता है। इसीलिए विवश होकर अन्त में वह संन्यासी बन जाता है। साधारण जीवन से लेकर मनुष्य के संन्यासी बनने तक मानव के हृदय की भावनाओं को कसकर परखने का लेखक को इस उपन्यास में पूरा-पूरा अवसर मिला, इसलिए उसने इसका यथेष्ठ लाभ उठाया है। यही विश्लेषण 'परदे की रानी' में और भी अधिक स्पष्ट रूप में हुआ है। यह उपन्यास भी अत्यन्त रोचक है। कथोपकथन, वातावरण

आदि सभी-कुछ बड़े प्रभावशाली और हृदयग्राही हैं।

जोशी जी का 'मुक्ति-पथ' सर्वश्रेष्ठ उपन्यास कहा जा सकता है। इसमें लेखक अपने अन्य उपन्यासों के समान फ्रायड से बहुत अधिक प्रभावित नहीं दिखाई देता। उपन्यास सामयिक और स्वस्थ दृष्टिकोण को लेकर लिखा गया है। उपन्यास का नायक 'राजीव' एक आदर्श कर्मठ महापुरुष है। वह पहले क्रान्तिकारी रह चुका था। उसका चरित्र गंगाजल के समान पवित्र और निर्मल है। वह विधवा सुनन्दा को उसके सम्बन्धी के यहाँ से भगा लाता है, पर इसके साथ किसी प्रकार का कोई वासनात्मक सम्पर्क नहीं रखता, प्रत्युत सुनन्दा के सहयोग से वह एक ऐसे वातावरण और संस्था का निर्माण करता है, जहाँ पर सभी लोग स्वावलम्बन के द्वारा समाज को उन्नत बनाने के लिए जुटे हुए हैं। सुनन्दा और राजीव हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के दो अनुपम नायक-नायिका हैं। भाषा, विषय, शैली, चरित्र-चित्रण आदि सभी दृष्टियों से यह उपन्यास बड़ा सुन्दर है। फिर भी उत्तरार्ध में, जहाँ लेखक कलाकार का रूप छोड़कर उपदेशक का रूप धारण कर लेता है, वहाँ उपन्यास का प्रवाह सर्वथा मन्द पड़ जाता है। यदि उस उपदेशांश को छोड़ दिया जाय, तो 'मुक्ति-पथ' निस्संदेह हिन्दी के उत्कृष्टतम उपन्यासों में स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है।

जोशी जी के 'खण्डहर की आत्मा', 'जहाज़ का पंछी', 'निर्वासित', 'प्रेत और छाया', 'सुबह के भूले' आदि अन्य उपन्यास भी अपनी-अपनी विशेषताएँ रखते हैं।

'निर्वासित' में एक खन्ना-परिवार की कथा है, जिसमें माता तथा चार पुत्रियाँ हैं। तृतीय पुत्री नीलिमा मुख्य पात्री है। भावुक किन्तु दुर्बल-हृदय कवि महीप मुख्य पात्र है। यह क्रम से सभी लड़कियों से प्रेम करता है, पर सफल किसी में नहीं हो पाता।

'पर्दे की रानी' की मुख्य पात्री निरंजना वेश्या-पुत्री है, जिसकी हत्या उसके पिता ने कर दी थी। उसी के हृदय के पर्दे को हटाने का सारे

उपन्यास में प्रयत्न किया गया है।

'जिप्सी' जोशी जी का सबसे बड़ा उपन्यास है। इसकी नायिका मनिया तिब्बती पिता तथा हिन्दू-विधवा की पुत्री है।

'सुबह के भूले'—इसमें बम्बई के जीवन की एक झलक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जोशी जी अपने उपन्यासों में मानव की दुर्बलता का ही अधिकतर चित्र अंकित करते हैं। इनके सभी नायक सुन्दरियों को चाहते हुए भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते। हाँ, 'मुक्ति-पथ' इसका अपवाद है। इसका नायक चिर-परिचिता सुनन्दा को भी ग्रहण नहीं करता। यों भी वह स्त्रियों से दूर ही भागता है। 'मुक्ति-पथ' में लेखक ने जो दिशा बदली है, उससे उनके उच्च स्तर पर अग्रसर होने का संकेत मिलता है।

(८) भगवतीचरण वर्मा

वर्मा जी का जन्म संवत् १९६० में उत्तर प्रदेश में उन्नाव ज़िले के शफ़ीपुर गाँव में हुआ। आपके पिता कानपुर के प्रसिद्ध वक़ील थे। आपने पिताजी की प्रेरणा से बी० ए०, एल-एल० बी० परीक्षा पास की, पर आप वकालत के धन्धे में नहीं पड़े। बचपन से ही आपकी रुचि साहित्य की ओर थी। चौदह वर्ष की अवस्था से ही आपकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लग पड़ी थीं। आपकी निम्न रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'चित्रलेखा', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'तीन वर्ष', 'पतन', 'आख़िरी दाव' आदि उपन्यास।

'इन्स्टालमेण्ट', 'दो बाँके', 'उतार-चढ़ाव', 'बुझता दीपक', 'रुपया तुम्हें खा गया' आदि कहानियाँ तथा 'वासवदत्ता' आदि नाटक। इनके अतिरिक्त आपने दर्जनों एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

उक्त सूची से ज्ञात होता है कि वर्मा जी एक भावुक कवि ही नहीं, प्रत्युत सफल गद्य-लेखक भी हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, एकांकी, आलोचना आदि सभी कुछ लिखकर आपने स्पष्ट सिद्ध कर दिया कि आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। इधर आप पत्रकारिता में भी उतने

ही दक्ष एवं सफल हैं।

वर्मा जी जीवन के सत्य को जैसा देखते हैं वैसा ही उसे व्यंजित कर देते हैं। अतः आपको यथार्थवादी कलाकार कहा जाता है। आपके व्यंग्य बड़े तीव्र और मर्मस्पर्शी होते हैं। आपकी कहानियों और एकांकियों में मनोवैज्ञानिक आधार पर समाज की वस्तुस्थिति पर तीखा व्यंग्य रहता है।

आपके 'चित्रलेखा' उपन्यास की हिन्दी-जगत् में खूब धूम रही। इसमें दिखाया है कि पाप और पुण्य की वास्तविक जड़ मनुष्य की अपनी भावनाओं में ही निहित है। उपन्यास के चित्रण सजीव और हृदयग्राही हैं।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' उपन्यास में विभिन्न राजनीतिक मार्गों का वर्णन करते हुए दिखाया गया है कि सभी का लक्ष्य एक ही है। इनके 'तीन वर्ष' उपन्यास का कथानक प्रेम-प्रधान है। एक व्यक्ति के जीवन में भाग्य का कितना सबल हाथ रहता है, इसी आधार पर इसका कथानक निर्मित है।

वर्मा जी की निर्भीक लेखनी में अद्भुत शक्ति है। उनकी भाषा पात्रों के अनुकूल और सजीव है। इनकी 'दो बांके' नामक प्रसिद्ध कहानी इस कथन का प्रवल प्रमाण है।

(६) जैनेन्द्रकुमार

जीवन—जैनेन्द्र जी का जन्म सं० १६६२ में कौड़ियागंज, अलीगढ़ में हुआ। जब ये चार मास के थे तभी इनके पिता स्वर्ग सिधार गए, अतः इनका लालन-पालन इनकी माता ने ही किया। मैट्रिक पास कर ये हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में पढ़ने गये, पर सत्याग्रह-आन्दोलन के दिनों में कालेज छोड़ जेल चले गए। इसके बाद इन्होंने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। हिन्दी के उच्च कोटि के उपन्यासकारों व कहानीकारों में आपकी गणना की जाती है। अब तक आपके अनेक उपन्यास, कहानी-संग्रह तथा निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी निम्नोक्त रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—

कहानी-संग्रह—'एक रात', 'पाजेब', 'जयसंधि', 'दो चिड़ियाँ', 'नीलम देश की राजकन्या', 'ध्रुव यात्रा' तथा 'फाँसी।

उपन्यास—'परख', 'सुनीता', 'तपोभूमि', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'जयवर्धन', 'दशार्क' तथा 'अनाम स्वामी'।

निबन्ध-संग्रह—'पूर्वोदय', 'प्रस्तुत प्रश्न' व 'काम, प्रेम और परिवार' आदि।

आपने टाल्स्टाय के नाटक 'दी पॉवर आव डार्कनेस' का 'पाप और प्रकाश' नाम से अनुवाद भी किया है।

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्राधान्य है। कुछ आलोचकों का कथन है कि उनमें कथा है ही नहीं—विज्ञान ही विज्ञान है, और उपन्यास का लक्ष्य ज्ञान-विज्ञान का विश्लेषण नहीं प्रत्युत कहानी कहना है। इसके विपरीत जैनेन्द्र जी कहते हैं—"कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है।" कुछ भी हो, जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से नारी के हृदय की—विभिन्न परिस्थितियों में पड़ी हुई नारी के मनोभावों की—व्याख्या का बीड़ा उठाया है और प्रायः सर्वत्र यह दिखाने का प्रयास किया है कि अहंकार, हृदय और अन्त में सर्वस्व के उत्सर्ग में ही समस्या का समाधान है। वे नारी को इधर-उधर अनेक विषम परिस्थितियों में डालकर और ऐसी दशा में डालकर जहाँ वह पतन के कगार पर जा पहुँची हो, सहसा बचा लेते हैं और अन्त में त्याग में समस्या का समाधान ढूँढ निकालते हैं। इनके कुछेक उपन्यासों का सामान्य परिचय लीजिए—

(१) **परख**—इस उपन्यास में कट्टो नामक एक ग्रामीण नटखट युवति विधवा का चित्र अंकित किया गया है, जिसे समाज ने बरबस विधवा ठहरा दिया है, पर जिसका हृदय अपने-आपको विधवा मानने को प्रस्तुत नहीं। फलतः वह अपने को एक मास्टर के चरणों में समर्पित कर देती है, पर मास्टर जब उसे ग्रहण करने में असमर्थता प्रकट करता है तो वह उसे सहर्ष दूसरी स्त्री से विवाह की स्वीकृति दे देती है। यही त्याग ही नारी को ऊँचा उठा देता है। उधर बिहारी के हृदय में कट्टो के प्रति सच्ची प्रीति है और उसके परिणामस्वरूप कट्टो और बिहारी का शारीरिक

नहीं तो आत्मिक मिलन हो ही जाता है।

(२) **सुनीता**—श्रीकान्त का मित्र हरिप्रसन्न क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित होकर मारा-मारा फिरता था। श्रीकान्त ने उसे उस जीवन से निकालकर घर-गृहस्थी बनाने के विचार से अपने घर आश्रय दिया। हरिप्रसन्न घर में रहते-रहते उसकी पत्नी सुनीता को पढ़ाने लगा। सुनीता और हरिप्रसन्न का पारस्परिक प्रेम भी हो गया, पर अन्त में वह उसे छोड़कर भाग गया। इस उपन्यास में भी नैतिकता की छाप सब पात्रों पर लगी हुई है।

(३) **तपोभूमि**—इस उपन्यास का पूर्वार्ध जैनेन्द्र जी ने तथा उत्तरार्ध ऋषभचरण जैन ने लिखा है। नवीन और शशि बालमित्र थे, उनका विवाह भी आपस में होने वाला था, पर नवीन को अपने मित्र सतीश की बहन धारिणी का उद्धार करने की धुन सवार हो गई, जो एक बार दुराचरण की शिकार बनकर प्रयाग में वेश्या-जीवन व्यतीत करने लगी थी। बेचारी शशि नवीन के लिए सदा तड़पती-मरती रही और उसी को पति मानकर उसने अपनी सब भावनाओं का उत्सर्ग कर दिया। अन्त में सतीश द्वारा ही नवीन की हत्या हो जाती है। इस उपन्यास में शशि की करुण-मूर्ति दर्शनीय है।

(४) **सुखदा**—एक सम्पन्न परिवार की लड़की सुखदा का विवाह साधारण वेतन पाने वाले व्यक्ति से हो गया। सुखदा अपने पूर्वानुभूत स्वातन्त्र्य की भावना की तृप्ति के लिए क्रान्तिकारी दल के हरीश और लाल नामक दो सदस्यों से मिलने-जुलने लगी। आदर्शवादी हरीश ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया, पर लाल उसके रूपाकर्षण में फँस गया। उनके पारस्परिक आकर्षण का पता उसके पति तथा हरीश दोनों को लग गया, पर पतिदेव ने उसके मार्ग में बाधा डालने का कोई प्रयत्न नहीं किया। अन्त में मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई सुखदा अपने कार्यों की आलोचना करती हुई शान्ति प्राप्त करने के प्रयत्न में लगी हुई दिखाई गई है।

(५) **विवर्त**—सर रामचरण की पुत्री मोहिनी और साधारण परिवार का जितेन परस्पर अनुराग-पाश में बँधे हुए हैं, पर इतने बड़े धनवान् की बेटी भला साधारण युवक से कैसे ब्याही जा सकती है, अतः मोहिनी का विवाह बैरिस्टर नरेश से कर दिया जाता है। उधर धनवानों से बदला लेने की ललक में जितेन क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो जाता है। एक बार वह गाड़ी के उलट जाने पर मोहिनी के घर पर ही आश्रय पाता है। ज्वरित जितेन को वह अपने घर रखती है और उसके बार-बार कहने पर भी उसे पुलिस के हवाले नहीं करती, प्रत्युत हर प्रकार के खतरे स्वयं उठाने को तय्यार हो जाती है। वह उसकी सेवा-शुश्रूषा करती है। अन्त में स्वस्थ हो जाने पर वह मोहिनी के आभूषण चुराकर क्रान्तिकारी दल के कार्य में जुट जाता है, पुनः आत्मग्लानि के कारण अपने-आपको पुलिस के हाथों में सौंप देता है। इस प्रकार इस उपन्यास में प्रेम और समाज के नियमों में बड़ा भारी संघर्ष दिखाकर अन्त में सामाजिक नियमों की अभेद्यता दिखाई गई है। जीवन के कटु सत्य पर हृदय के स्नेह को सदा न्योछावर किया जाता रहा है, यही इस उपन्यास में दिखाया गया है।

(६) **व्यतीत**—इस उपन्यास का नायक जयंत एक पुंस्त्वहीन ग्रेजुएट है, जो अपनी दुर्बलता के कारण उस पर अनुरक्त अनीता तथा सुनीता से दूर-दूर भागता है और अन्त में अपनी विवाहिता पत्नी चन्द्री को भी छोड़कर योगी हो जाता है। चन्द्री कुमार से पुनर्विवाह करवा लेती है। यहाँ भी वही नारी-समस्या है।

(७) **कल्याणी**—कल्याणी डॉक्टरनी है और उसका पति भी डॉक्टर है। वे चाहते हैं कि कल्याणी अपना व्यवसाय छोड़कर केवल गृहिणी बन जाय। पर ऐसा करने से आय आधी रह जायगी, घर का ख़र्च कैसे चलेगा—यही समस्या है। यह कहानी सत्य घटना पर आधारित है।

(८) **त्यागपत्र**—इसकी कथा भी सत्य घटना पर अवलम्बित है। मृणाल नामक लड़की का प्रेम उसकी सहेली के भाई से हो गया। घर

वालों को पता लगने पर उन्होंने उसका विवाह अन्य युवक से कर दिया। मृणाल ने भोलेपन में अपनी प्रेम-कहानी अपने पति को बता दी, फलतः उसने उसे छोड़ दिया। वह दर-दर भटकती फिरी और बीस वर्ष तक समाज की कठोर यातना सहने के पश्चात् इस संसार से चल बसी—यही इसकी कथा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनेन्द्र जी पहले तो वैयक्तिक सुख-लिप्सा तथा वासनाओं को अबाध गति से विकसित होने देते हैं, पर अन्त में उनकी परिणति त्याग व कष्ट-सहन में दिखाते हैं।

(१०) 'अज्ञेय'

'अज्ञेय' जी का पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। आपका जन्म सं० १९६३ में हुआ।

आप सुकवि, समालोचक, उपन्यासकार, कहानीकार, तत्त्वचिन्तक आदि सभी कुछ हैं। आपकी निम्न रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—

उपन्यास—'शेखर : एक जीवनी' (दो भाग) और 'नदी के द्वीप'।

कहानी-संग्रह—'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात', 'जयदोल' आदि।

कविता-संग्रह—'चिंता', 'भग्नदूत', 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर' आदि।

'अज्ञेय' जी एक अत्यन्त गम्भीर प्रकृति के अध्ययनशील कलाकार हैं।

शेखर—आपके प्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' का प्रकाशन हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में एक युगान्तरकारी घटना समझी जाती है। इस उपन्यास के प्रकाशित होते ही अज्ञेय जी की कीर्त्ति हिन्दी-जगत् में सर्वत्र फैल गई। शेखर इस उपन्यास का प्रधान नायक है, जो कवि, दार्शनिक, क्रान्तिकारी आदि सभी कुछ है, पर है अत्यन्त भीरु प्रकृति का। अन्य सब पात्र शेखर के कारण ही सामने आते हैं, अन्यथा उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। कथावस्तु बहुत कम और ढीली-ढाली-सी है।

घटनाएँ भी नहीं के बराबर हैं। यह उपन्यास एक प्रकार से आत्म-चिन्तन या आत्मकथन अथवा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के रूप में है। हिन्दी-उपन्यासों की परम्परा में शेखर को एक नया प्रयोग माना गया है।

नदी के द्वीप—यह भी शेखर ही के ढंग का उपन्यास है। इसका नायक भुवन भी शेखर की सब त्रुटियाँ और विशेषताएँ लिये हुए है। चन्द्रमाधव इसका दूसरा पात्र है, जिसका चरित्र-चित्रण भुवन की अपेक्षा अधिक सजीव रूप में हुआ है। 'नदी के द्वीप' उपन्यास 'अज्ञेय' जी के शेखर की अपेक्षा सुसंगठित, सुसम्बद्ध एवं सन्तुलित है। इसके संवाद प्रभावशाली और सशक्त हैं। 'अज्ञेय' जी कवि और भावुक कलाकार हैं, अतः उनके उपन्यासों के गद्य-संदर्भों में भी काव्य का-सा मधुर आनन्द प्राप्त होता है। भाषा पर 'अज्ञेय' जी का पूरा-पूरा अधिकार है।

(११) उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

जीवन—'अश्क' जी का जन्म संवत् १९६७ में जालन्धर में हुआ। आप छः भाइयों में सबसे छोटे हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा जालन्धर में हुई। बी० ए०, एल-एल० बी० पास करने के बाद भी कानून का रूखा क्षेत्र आपको अपनी ओर आकृष्ट न कर सका और आप साहित्य-सेवा की ओर झुक गये। जीवन-निर्वाह के लिए आप कुछ समय तक स्कूल में अध्यापक भी रहे। कुछ समय पूर्व आप क्षय से पीड़ित हो गये थे, पर प्रभु-कृपा से अब आप सर्वथा स्वस्थ हैं।

प्रेमचन्द जी की भाँति आप भी उर्दू से हिन्दी में आये। सं० १९८९ से आप हिन्दी में नियमित रूप से कहानियाँ लिखने लगे। आपकी कहानियाँ प्रेमचन्द और सुदर्शन की कला से प्रभावित हैं।

रचनाएँ—

(क) उपन्यास—'सितारों के खेल', 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', 'बड़ी-बड़ी आँखें', 'रंगसाज़', 'चेतन' आदि।

(ख) कहानी-संग्रह—'छींटे', 'जुदाई की शाम का गीत', 'काले

साहब', 'बैंगन का पौधा', 'पिंजरा', 'दो धारा', 'अवध की शाम', 'मेरी दुनिया', 'शिमला की क्रीम' आदि ।

इनके उपन्यासों में 'सितारों के खेल', 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। (१) **सितारों के खेल** का कथानक प्रेम-प्रधान है। उपन्यास की नायिका को भाग्य के वशीभूत होकर उम्र-भर उस व्यक्ति की सेवा करनी पड़ती है, जिसे वह दिल से नहीं चाहती थी और जो उसी के कारण पंगु और अपाहिज बन चुका है ।

(२) **गिरती दीवारें**—इस उपन्यास में मध्यमवर्ग के युवक के जीवन-संघर्ष की कथा कही गई है। उपन्यास के नायक 'चेतन' को अपने जीवन-निर्वाह के लिए किस प्रकार कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, पूँजीपति-वर्ग द्वारा उसकी साहित्यिक प्रतिभा का किस प्रकार शोषण होता है, यही इसमें मुख्य रूप से दिखाया गया है। इस उपन्यास में आनुषंगिक रूप से विवाहों की बुराइयों पर भी प्रकाश डाला गया है। 'चेतन' उपन्यास इसी उपन्यास का ही संक्षेप है ।

(३) **गर्म राख**—'अश्क' जी का यह एक सशक्त उपन्यास है, जिसमें विभिन्न साहित्यकारों की मनोभावनाओं का बड़ा ही सूक्ष्म और हृदयस्पर्शी चित्रण किया गया है ।

उपन्यासों के समान इनकी कहानियों में भी समाज पर तीखे व्यंग्य रहते हैं। ये अपनी रचनाओं के लिए सामग्री बहुधा स्वानुभूत जीवन से प्राप्त करते हैं। आपकी भाषा चुस्त और मुहावरेदार सरल हिन्दी है। उसमें विदेशी शब्द भी उचित स्थान पा जाते हैं। प्रेमचन्द जी के समान आप भी उर्दू से हिन्दी में आये हैं, इसलिए इनकी शैली पर उर्दू का प्रभाव बना रहना स्वाभाविक है ।

आप प्रगतिशील लेखक हैं। आपकी कहानियाँ द्वन्द्वात्मक भौतिक जगत् से ली गई हैं। आपके पात्र सत्यता के अधिक निकट होते हैं। वातावरण उत्पन्न कर देने में आपको दक्षता प्राप्त है। आपने कहानियों के माध्यम से हमारे सामने जीवन का व्यापक दृष्टिकोण रखा है। आपकी

रचना-शैली सुन्दर है, पर उसमें विभिन्नता कम है। आपकी रचनाओं में सबकी शैली एक-सी है।

(१२) यशपाल

जीवन—यशपाल उत्तर प्रदेश के निवासी हैं। आप हिन्दी के प्रतिनिधि मार्क्सवादी लेखक हैं। साम्यवाद की विचारधारा तथा तदनुकूल राजनीतिक सिद्धान्तों को प्रचारित और प्रसारित करने के लिए आपने बीसियों पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से निम्नोक्त उल्लेखनीय हैं।

(क) उपन्यास—'अमिता', 'दादा कामरेड', 'दिव्या', 'देशद्रोही', 'पक्का कदम', 'पार्टी कामरेड', 'बात-बात में बात', 'मनुष्य के रूप' आदि।

(ख) कहानियाँ—'अभिशप्त', 'उत्तराधिकारी', 'उत्तमा की माँ', 'चित्र का शीर्षक', 'तर्क का तूफान', 'तुमने क्यों कहा था', 'मैं सुन्दर हूँ', 'धर्म-युद्ध', 'पिंजड़े की उड़ान', 'भस्मावृत चिनगारी', 'वो दुनियाँ', 'ज्ञान-दान' आदि।

यशपाल जी क्रान्तिकारी विचारों के कलाकार हैं। शोषित वर्ग उन्हें प्रिय है। पूँजीपतियों से उन्हें घृणा है। पर उपन्यासों और कहानियों में उनके राजनीतिक सिद्धान्तों की भरमार कला के स्वरूप को कुंठित कर देती है। 'दादा कामरेड' में अहिंसा के सिद्धान्तों को नीचा दिखाने के लिए विप्लव की महिमा दिखलाई गई है। 'देशद्रोही' में साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रचार बड़े जोश के साथ किया गया है। उनका 'दिव्या' उपन्यास कला की दृष्टि से बड़ा सफल उपन्यास कहा जा सकता है, पर इसमें भी वासना का जो नग्न प्रदर्शन हुआ है, वह समाज के लिए कदापि हितकर नहीं हो सकता। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है, वातावरण शुंग-काल का दिखाया गया है, पर यहाँ भी साम्यवादियों के ही दो मुख्य तत्त्व रोटी और यौन-भावना (सैक्स) आरम्भ से अन्त तक भरे हुए हैं।

इसलिए कहना पड़ता है कि यशपाल ने जहाँ राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रचार से दूर हटकर मानव-जीवन की भावनाओं को चित्रित किया है

वहाँ तो वे सर्वथा सफल हुए हैं, पर ऐसे स्थल अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। अधिकतर वे साम्यवाद के दलदल में ही फँसे रह गये हैं। यदि वे अपनी प्रतिभा का प्रयोग भारतीय चिन्तन-पद्धति के अनुकूल करते तो उनका स्थान आज हिन्दी-साहित्य में बहुत ऊँचा होता, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

(१३) राहुल सांकृत्यायन

आपका जन्म संवत् १६५२ में आजमगढ़ जिले में हुआ। इन्हें बचपन से देशाटन का शौक लग गया, और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे। धीरे-धीरे भ्रमण का यह शौक इतना बढ़ा कि भारत से बाहर लंका, तिब्बत, रूस, चीन आदि देशों में इन्होंने वर्षों बिता दिये। आप हिन्दी के महा-पंडित माने जाते हैं। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आपकी छोटी-मोटी सैकड़ों रचनाएँ अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं, उनमें से निम्नोक्त प्रमुख हैं—

(क) **उपन्यास**—'अनाथ', 'जय यौधेय', 'जादू का मुल्क', 'जीने के लिए', 'जो दास थे', 'दाखुंदा', 'मधुर स्वप्न', 'भागो नहीं दुनिया को बदलो', 'राजस्थानी रनिवास', 'विस्मृत यात्री', 'विस्मृति के गर्भ में', 'वोल्गा से गंगा', 'शैतान की आँख', 'सिंह सेनापति', 'सूदख़ोर की मौत', 'सौ की ढाल' आदि।

(ख) **विभिन्न विषयों से सम्बद्ध कृतियाँ**—'बुद्धचर्या', 'तिब्बत में बौद्ध धर्म', 'तिब्बत में सवा वर्ष', 'मेरी यूरोप यात्रा', 'सोवियत भूमि', 'साम्यवाद ही क्यों ?' 'कुरान-सार', 'पुरातत्त्व-निबन्धावली', 'दिमाग़ी ग़ुलामी', 'दर्शन-दिव्य-दर्शन', 'वैज्ञानिक भौतिकवाद', 'आज की समस्याएँ', 'आज की राजनीति', 'घुमक्कड़ शास्त्र', 'शासन शब्द-कोश' आदि।

राहुल जी ने अपनी इन रचनाओं द्वारा पुरानी विचारधारा पर एक के बाद दूसरी जबरदस्त चोटें की हैं। ये चोटें पुरातनवादियों के लिए तो असह्य हैं ही, कहीं कहीं ये सुधारक-वर्ग के लिए भी असह्य हो उठती हैं। कुछ भी हो, राहुल जी हिन्दी के विद्वान् लेखक हैं और उनकी लेखनी में

पर्याप्त बल है। विद्वत्ता और कल्पना का अद्भुत संगम इनके उपन्यासों में देखने को मिलता है।

(१४) प्रतापनारायण श्रीवास्तव

प्रतापनारायण श्रीवास्तव उत्तरप्रदेश के निवासी हैं। आप हिन्दी में एक नई परम्परा के उपन्यासों को लेकर आये हैं। इनकी रचनाओं की सूची यह है—

उपन्यास—'विदा', 'विजय', 'विकास (दो भाग), 'आशीर्वाद', 'पाप की ओर', 'बयालीस', 'विसर्जन', 'बेकसी का मजार' आदि।

कहानी-संग्रह—'आशीर्वाद', 'नवयुग', 'दो साथी' आदि।

इनकी प्रख्यात रचनाओं का परिचय लीजिए—

विदा—इनके इस पहले ही उपन्यास ने इन्हें उच्च श्रेणी के उपन्यास-कारों में ला बिठाया था। ये एक आदर्शवादी उपन्यासकार हैं। इसमें शान्ता आदर्श माता है, लज्जा आदर्श हिन्दू पत्नी है, मुरारी आदर्श पति है, चपला आदर्श प्रेमिका है, मिस्टर माथुर आदर्श पिता हैं। भारतीय आदर्शों का उल्लंघन करने से किस प्रकार भयंकर परिणाम निकलते हैं—यह इसमें भली भाँति दिखाया गया है।

बयालीस—यह उपन्यास उच्चवर्ग के पात्रों पर आधारित है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है यह सन् १९४२ की राजनीतिक उथल-पुथल को चित्रित करने वाला उपन्यास है।

विसर्जन, आशीर्वाद और **पाप की ओर** इनके अन्य प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इन सबका प्रतिपाद्य विषय भी लगभग यही है। भारतीय संस्कृति के प्रति लेखक की अटूट निष्ठा प्रत्येक उपन्यास से स्पष्ट लक्षित होती है।

इनके सभी उपन्यासों में आत्मकथन या आत्मचिन्तन की प्रभूत मात्रा उसके रस-प्रवाह में कुछ बाधक हो जाती है, पर बीच-बीच में आवश्यक परिहास आदि की सामग्री रहने से वे बहुत भारी नहीं प्रतीत होते। श्रीवास्तव जी मूलतः उर्दू के ज्ञाता हैं और उनका प्रयत्न यह रहता है

कि शुद्ध साहित्यिक संस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखी जाय। इनका यह प्रयत्न स्तुत्य है और इसमें उन्हें उत्तरोत्तर सफलता भी मिली है।

निबन्ध तथा समालोचना

(क) निबन्ध

प्रसाद-युग से पूर्व—निबन्ध उस गद्य-बद्ध रचना को कहते हैं, जिसमें व्यक्तिगत अनुभवों की अभिव्यक्ति की जाती है। हिन्दी-साहित्य में निबन्धकला का आरम्भ उस निबन्ध से मानना चाहिए जो फ़ोर्ट विलियम कालेज में वहाँ के अध्यापक डा० ग्राहम बेली द्वारा सन् १८०२ में पढ़ा गया। निबन्ध का विषय था—"हिन्दुस्तान में कार्रवाई करने के लिए हिन्दी ज़बान और ज़बानों से ज्यादा दरकार है।" निबन्ध-पठन का यही क्रम वहाँ आगे भी चलता रहा। निबन्ध-कला को विकास देने का श्रेय उस युग की पत्र-पत्रिकाओं को भी है। 'उदन्त मार्तण्ड' (प्रकाशन-काल सं० १८८३) हिन्दी का प्रथम पत्र माना जाता है। यही पत्र-परम्परा भारतेन्दु-युग में आकर और अधिक विकसित हो गई—बनारस अखबार, हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन, ब्राह्मण, हिन्दी प्रदीप, सुदर्शन आदि पत्र इसी युग की उपज हैं। कुछ इन पत्रों के माध्यम से तथा कुछ स्वतन्त्र रूप से निबन्ध-लेखन का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से हो गया। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, माधव मिश्र और बाल-मुकुन्द गुप्त इस युग के निबन्धकार हैं। द्विवेदी-युग में महावीरप्रसाद द्विवेदी के महान् व्यक्तित्व एवं कौशलपूर्ण सम्पादन-कार्य से निबन्ध-लेखन-प्रणाली को द्रुत गति भी मिली, तथा व्यवस्थित आकार-प्रकार भी। गोपालराम, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, चन्द्रधर गुलेरी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह, सत्यदेव परिव्राजक आदि के अतिरिक्त मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल भी इसी युग के उत्कृष्ट निबन्धकार हैं।

निस्संदेह इन कलाकारों ने निबन्ध-शिल्प में पहले की अपेक्षा

पर्याप्त रुचि ली और कला को आगे बढ़ाया। शैली की वक्रता, व्यंग्य, विलक्षण लाक्षणिकता, पाण्डित्य और विषय की गहराई में उतरने की प्रवृत्ति इन लेखकों में पर्याप्त पाई जाती है। अध्यापक पूर्णसिंह ने लिखा थोड़ा है, पर इतनी प्रखर प्रतिभा का प्रसाद शायद किसी अन्य लेखक ने दिया हो। रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध अपने-आप में इतने ऊंचे हैं कि शायद एक शती तक इनका उदाहरण उपस्थित नहीं किया जा सकेगा। मज़े की बात यह है कि इन निबंधों में जितनी भारतीय कला का उन्मेष है, उतनी ही पाश्चात्य निबन्धकला का समाहार भी है।

प्रसाद-युग—बाबू जयशंकर प्रसाद के समय में निबंधकला में निखार आया। उसकी मुग्धता उत्तरोत्तर गंभीरता में परिणत होने लगी। प्रसाद-युग के प्रमुख कलाकार ये हैं—गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, रायकृष्णदास, शांतिप्रिय द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, यशपाल, बेचन शर्मा 'उग्र', रामविलास शर्मा, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि। इनमें यशपाल और रामविलास शर्मा प्रगतिवादी विचारधारा के निबन्ध-लेखक हैं।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से इस युग के निबन्धकार पूर्ववर्ती निबन्धकारों से बहुत आगे बढ़ चुके हैं। भारतेन्दु-युगीन निबन्धकारों के विषय अत्यन्त सीमित थे—'नाक', 'भौं', 'दांत', 'क्रोध', 'आँसू', 'पत्नीस्तव', आदि विषयों से सम्बद्ध निबन्ध उसी युग की उपज हैं। ये उनकी संकुचित विषय-सीमा का संकेत करते हैं। द्विवेदी-युग में इतने हलके विषयों पर तो नहीं लिखा गया, पर प्रसाद-युगीन विषय-वैविध्य उनमें नहीं है। हाँ, स्वयं द्विवेदी जी तथा रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दरदास इस कथन के अपवाद हैं। वस्तुतः अन्तिम दो लेखकों को भी इसी युग से ही प्रभावित समझना चाहिए। इधर प्रसाद-युगीन निबन्धों के विषय विविधतापूर्ण हैं—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक विषयों पर अनेक निबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं।

प्रथम तीन प्रकार के विषयों में प्रगतिवाद का स्वर तीव्रता से गूँजने लग गया। रामविलास शर्मा, यशपाल, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त के नाम इसी दृष्टि से विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

शिल्प-विधान की दृष्टि से भारतेन्दु-युगीन निबन्धकारों ने अपना मार्ग स्वयं निर्माण किया था, इसके लिए वे प्रशंसा के पात्र है; द्विवेदी-युगीन निबन्धकारों की निरूपण-शैली भी अपनी है। पर उस युग में अंग्रेज़ी-निबन्धों का अनुवाद होना प्रारम्भ हो गया था, अतः उनकी शैली का थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया हो तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। इधर प्रसाद-युगीन निबन्धकार अंग्रेजी शिल्प-विधान से प्रभावित हैं। निबन्धों के लिए उन्हें किसी 'पृष्ठभूमि' अथवा 'भूमिका' बनाने की आवश्यकता नहीं। लेखक एकदम कूदकर विषय की गहराई में उतरकर अपने मंतव्य अथवा अनुभूति को एक विशेष ढंग से बताना आरम्भ कर देता है—कभी वह उसे स्पष्ट भाषा में बता देता है, कभी उसे लक्षणा में लपेटकर उपस्थित करता है। फ़ालतू बात बताने की यद्यपि फ़ुर्सत न लेखक के पास है और न उसे सुनने-पढ़ने का समय पाठक के पास है। यद्यपि ये निबन्धकार पुराने निबन्धकारों से प्रभावित नहीं हैं, फिर भी उनकी इस देन को नहीं भुलाया जा सकता कि आज का निबन्ध-साहित्य उन्हीं के प्रारम्भ का विकसित रूप है।

(ख) समालोचना

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल तथा भक्तिकाल में यथार्थ रूप में समालोचना-कार्य नहीं हुआ। आदिकालीन ग्रन्थों में कुछेक संक्षिप्त, सांकेतिक और प्रासंगिक उक्तियाँ मिल जाती हैं पर वे आधुनिक 'समालोचना' के अन्तर्गत नहीं आतीं। भक्तिकाल में निर्मित 'वार्ता-साहित्य' में भक्तों के जीवन के प्रति जो श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गई हैं वे भी साहित्यिक आलोचनाएं नहीं हैं। हाँ, इस काल में निर्मित नायक-नायिका-भेद तथा अलंकार से सम्बद्ध ग्रन्थ—जिनका उल्लेख हम पीछे 'रीतिकाल' शीर्षक अध्याय में कर आये हैं—उपलब्ध हो जाते हैं, जोकि सैद्धान्तिक

समालोचना के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। आगे चलकर रीतिकालीन सभी रीतिबद्ध ग्रन्थ—विशेषतः विविध काव्याङ्ग-निरूपक ग्रन्थ—सैद्धान्तिक समालोचना के अन्तर्गत आ जाते हैं—पर वस्तुतः इस प्रकार के किसी भी ग्रन्थ ने आधुनिक समालोचना-शास्त्र के विकास में किसी भी प्रकार का योग नहीं दिया।

आधुनिक आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग से होता है। स्वयं भारतेन्दु ने 'नाटक' शीर्षक कृति में हिन्दी के नाट्य-शास्त्र के विकास की चर्चा की थी। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'नीलदेवी' और 'संयोगिता-स्वयंवर' आदि कृतियों की आलोचना प्रस्तुत करके पुस्तक-समालोचना का सूत्रपात किया। उस युग के अन्य आलोचकों में बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, अम्बिकादत्त व्यास के नाम उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी-युग में द्विवेदी जी ने इस दिशा को आगे बढ़ाया। उन्होंने 'रसज्ञ-रंजन' में कवि, कविता आदि के विषय में कतिपय शास्त्रीय आलोचना-सम्बन्धी निबन्ध संकलित किये। उनके 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना', 'विचार-विमर्श', 'समालोचना-समुच्चय' ग्रन्थ भी आलोचना-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। द्विवेदी जी के अतिरिक्त अन्य समालोचकों के निम्न ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—मिश्रबन्धुओं के 'मिश्रबन्धु विनोद', 'हिन्दी नवरत्न' तथा 'साहित्य पारिजात'; हरिऔध का 'रसकलस'; कृष्णबिहारी मिश्र का 'देव और बिहारी'; पद्मसिंह शर्मा का 'बिहारी की सतसई'; भगवानदीन का 'बिहारी और देव'; श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', 'रूपक-रहस्य' आदि। इसी युग में रामचन्द्र शुक्ल के समालोचन-कार्य से इस विषय को नई दिशा मिली। उन्होंने प्राचीन गुण-दोषात्मक पद्धति का परित्याग कर मनोविश्लेषण-पद्धति का सूत्रपात किया। रचनाकार के व्यक्तित्व, उसकी मनःस्थिति और सामाजिक परिस्थितियों के विश्लेषण की परिपाटी का प्रारम्भ करके शुक्ल जी ने सर्वप्रथम काव्य को समाज के सम्पर्क में लाने का नवीन प्रयास किया। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', 'चिन्तामणि', 'रस-मीमांसा' आदि ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य

निधियाँ हैं।

शुक्ल जी के उपरान्त प्रसाद-युगीन आलोचकों में गुलाबराय, नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, रामदहिन मिश्र, कन्हैयालाल पोद्दार, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। गुलाबराय और नगेन्द्र ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की नूतन व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। रामदहिन मिश्र और पोद्दार के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थों को सरल रूप में हिन्दी-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करने में सफल सिद्ध हुए हैं। नन्ददुलारे की ख्याति 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'जयशंकर प्रसाद', 'सूरदास' आदि आलोचनात्मक ग्रन्थों से है। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी प्राचीन शास्त्रीय परम्परा का विकास दिखाने में अतुल्य हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी की 'संचारिणी' एवं 'सामयिकी' आदि निबन्ध-संग्रह नूतन विचार देते हैं—हाँ, इनका अभिव्यक्ति-प्रकार किंचित् जटिल है।

इन्हीं आलोचकों की गणना में डॉ० सत्येन्द्र, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, जगन्नाथप्रसाद मिश्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, सीताराम चतुर्वेदी, देवराज उपाध्याय, डॉ० देवराज के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन आलोचकों के अतिरिक्त प्रगतिवादी आलोचकों में धर्मवीर भारती, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि ने भी हिन्दी-समालोचना को नवीन रूप प्रदान किया है।

इस प्रकार हिन्दी-समालोचना भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ होकर आज तक विविध रूपों में से गुज़रती हुई उत्तरोत्तर नवीन पथ का आलम्बन कर रही है।

अब प्रसाद-युगीन तथा प्रसादोत्तरयुगीन कतिपय निबन्धकारों तथा आलोचकों का परिचय लीजिए—

(१) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल का जन्म सं० १९४१ में उत्तर प्रदेश के बस्ती ज़िले में अगोना ग्राम में हुआ। शुक्ल जी प्राचीन भारतीय संस्कृति के पोषक थे और भाषा तथा साहित्य में बाल्यकाल से ही रुचि रखते थे। अंग्रेज़ी

और फ़ारसी का भी आपको यथेष्ट ज्ञान था। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'हिन्दी शब्दसागर' का निर्माण-कार्य आपके जिम्मे लगाया, तब से निरन्तर शुक्ल जी हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सेवा करते रहे। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी-अध्यापक के रूप में भी आपने कार्य किया।

शुक्ल जी ने सम्पादन के अतिरिक्त निबन्ध, आलोचना और काव्य-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', जोकि 'हिन्दी-शब्दसागर' की भूमिका-स्वरूप प्रस्तुत किया गया था, आज भी प्रामाणिकता तथा मौलिक विवेचन की दृष्टि से अपने प्रकार का अद्वितीय ग्रन्थ है, यद्यपि इससे पूर्व हिन्दी-साहित्य के इतिहास से सम्बद्ध 'मिश्रबन्धुविनोद' प्रकाशित हो चुका था तथापि ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर रचनाओं तथा उनके रचयिताओं की व्याख्यात्मक आलोचना का आरम्भ शुक्ल जी ने ही सर्वप्रथम किया। केवल काव्यशास्त्रीय गुण-दोष-विवेचन को ही आलोचना का लक्ष्य न मानकर कवि की अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण, तत्कालीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में शुक्ल जी द्वारा ही प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार हिन्दी आलोचना को ठोस और दृढ़ आधार प्रधान करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही दिया जाता है। उनके पास एक प्रतिभावान् विचारक का चिन्तनशील मस्तिष्क था। इसी आधार पर इन्होंने अनेक हिन्दी-कवियों का नवीन मूल्यांकन किया है।

हिन्दी-साहित्य के तीन सर्वश्रेष्ठ कलाकारों—तुलसी, सूर और केशव—का स्तवन तारतम्य के अनुसार इस प्रकार किया जाता है—

'सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।'

शुक्ल जी ने इस सुप्रसिद्ध वाक्य की पूर्णतया छानबीन की तथा सूरदास की अपेक्षा तुलसीदास को हिन्दी में श्रेष्ठ स्थान दिलाया। यही नहीं, केशवदास के काव्य में चमत्कारप्रियता तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन का आडम्बरपूर्ण चित्र दिखाकर उन्हें हिन्दी की 'बृहत्त्रयी' में रखना अनुचित

समझा, तथा उनके पद पर मलिकमुहम्मद जायसी को आसीन किया। जायसी के प्रबन्धकाव्यत्व के विषय में शुक्ल जी से पूर्व किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया था और उसके महत्त्व का इतना मूल्यांकन तो किसी ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। पर आचार्य शुक्ल की तीक्ष्ण, तलस्पर्शी तथा तटस्थ आलोचक दृष्टि ने इस अनमोल रत्न को खोजकर उसको समुचित मान प्रदान किया।

साहित्य में शक्ति, शील और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा को वे अनिवार्य समझते थे। इसी नैतिकता के कारण ही शुक्ल जी ने सूरदास की अपेक्षा तुलसीदास को अधिक श्रेष्ठ बतलाया है और मुक्तक काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य का महत्त्व भी अधिक स्वीकार किया है, यद्यपि कुछेक आलोचक शुक्ल जी के इस दृष्टिकोण से पूर्णतया सहमत नहीं हैं। 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' का मूल्यांकन शुक्ल जी ने लोक-मर्यादाओं को दृष्टि में रखकर भी किया है।

शुक्ल जी ने भारतीय आचार्यों के रस-विवेचन को भी किञ्चित् नवीन रूप प्रदान किया है। 'साधारणीकरण' के विषय में उन्होंने अपना व्यक्तिगत मौलिक दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

शुक्ल जी का नीतिपरक दृष्टिकोण तथा लोकमर्यादावाद उन्हें आधु-निक नवीन काव्य—छायावादी काव्य—को प्रशंसात्मक रूप से स्वीकार करने में सदा बाधक बना रहा। यद्यपि उनके छायावाद-विषयक विरोध से अनेक विद्वानों का मतभेद रहा है, फिर भी इस सम्बन्ध में उनकी धारणाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शुक्ल जी छायावाद को 'काव्यधारा' न मानकर पश्चिमी प्रभाव का परिणाम—एक 'शैली'-मात्र ही स्वीकार करते थे।

इस प्रकार शुक्ल जी के चाहे सभी सिद्धान्तों से कोई पूर्णतया सहमत भले ही न हो, किन्तु इतना तो निर्विवाद ही है कि हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम आलोचना को गौरवान्वित करने तथा उसे सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है। पश्चिमी और भारतीय

दोनों आलोचना-पद्धतियों का समन्वय करके, उसे अपनी अनुभूति तथा मनन का विषय बनाकर और उन पर अपने मौलिक चिन्तन की अमर छाप छोड़ने वाला यह महान् व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य की ही नहीं, विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है ।

शुक्ल जी के निबन्ध-ग्रन्थ 'चिन्तामणि' (दो भाग) में इनके मनोभाव-सम्बन्धी तथा सैद्धान्तिक आलोचना-सम्बन्धी निबन्धों को पढ़कर उनकी विद्वत्ता, अध्ययन, गवेषणा, स्वतन्त्र चिन्तन तथा मौलिक प्रतिभा का दर्शन तो होता ही है, साथ ही उनकी सुन्दर-सरस लेखन-शैली, परिष्कृत एवं प्रांजल भाषा, चुटीले तथा मधुर व्यंग्य और विनोद की भी रमणीय झलकियाँ देखने को मिलती हैं । निस्सन्देह आचार्य शुक्ल निबन्ध और आलोचना के क्षेत्र में अद्वितीय रत्न थे, उनकी क्षति-पूर्त्ति अद्यावधि नहीं हो पाई ।

(२) श्यामसुन्दरदास

बाबू श्यामसुन्दरदास का जन्म संवत् १९३२ में काशी में हुआ । हिन्दी-साहित्य में बाबू श्यामसुन्दरदास का आलोचक के रूप में अपना विशिष्ट स्थान है । साहित्यालोचन आदि शास्त्रीय आलोचना तथा भाषा-विज्ञान एवं साहित्य के इतिहास-संबंधी ग्रंथों के रचने का मूल उद्देश्य उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों के सामने पाठ्य पुस्तकों के अभाव की कठिन समस्या को दूर करना था और उनके इस सत्प्रयास से छात्र-जगत् का आज तक कल्याण हो रहा है । आलोचना संबंधी सिद्धान्तों में यद्यपि बाबूजी भारतीय भाषाओं का भी अध्ययन कर चुके थे और इसी के फल-स्वरूप उन्होंने कहीं-कहीं उन सिद्धान्तों को मिश्रित रूप से प्रतिपादित भी किया है, तथापि पाश्चात्य सिद्धान्तों से वे अधिक प्रभावित रहे । कला, कविता, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि सभी के विषय में उनके विचार निश्चय ही पश्चिमी आलोचना-पद्धति पर आधारित हैं । विशेष रूप से हडसन की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ़ लिट्रेचर' को उन्होंने किन्हीं स्थलों में अधिकांशतः ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है ।

उन्होंने साहित्य (काव्य) को कला के अन्तर्गत माना है, पर उनकी यह धारणा भारतीय विचारधारा के विपरीत है। भारतीय विद्वानों ने कला का स्थान काव्य की अपेक्षा हीन माना है। उन्होंने काव्य को 'विद्या' के अन्तर्गत स्वीकार किया है, कला के अन्तर्गत नहीं।

काव्य में नैतिकता की अस्वीकृति बाबूजी को स्वीकार्य नहीं है, वे काव्य के लिए लोकहित को बेमूल भी मानते हैं, पर आचार्य शुक्ल जी की-सी कट्टरता उनमें इस विषय में नहीं पाई जाती। इसी प्रकार शुक्ल जी के समान बाबू श्यामसुन्दरदास 'कला को कला के लिए' मानने वाले लोगों का भी घोर विरोध नहीं करते। परिष्कृत रूप में इस सिद्धान्त को वे स्वीकार ही करते हैं।

आचार्य शुक्ल पर भी पश्चिमी आलोचना-पद्धति का प्रभाव पड़ा था किन्तु उनमें एक विशेषता थी जिसके कारण उन्होंने भारतीय और पश्चिमी दोनों प्रणालियों को हृदयंगम करके, उन्हें पचाकर, उनको मौलिक रूप प्रदान कर दिया था। इस प्रकार का स्वतंत्र चिंतन तथा मौलिक सिद्धांत-निरूपण बाबू श्यामसुन्दरदास में नहीं पाया जाता। 'साहित्यालोचन' में प्रतिपादित सिद्धांत, 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में निरूपित कवियों की विवेचना आदि में उनकी मौलिकता के दर्शन कम होते हैं। हाँ, उनकी प्रतिपादन-शैली निस्सन्देह निजी है।

बाबूजी प्रधानतया शिक्षक रहे। उनके आलोचक ने शिक्षक का आश्रय लेकर ही कार्य किया। अपनी वर्णन-शैली से उन्होंने साहित्य-शास्त्र के जटिल प्रश्नों को सुबोध बनाने का स्तुत्य यत्न किया है। उन के ग्रन्थों से उनका व्यापक अध्ययन स्पष्ट झलकता है। शैली की सरलता, स्पष्टता और वैज्ञानिकता के साथ-साथ भाषा की अनुकूलता उनके ग्रन्थों की उल्लेखनीय विशेषताएं हैं।

(३) पद्मसिंह शर्मा

पंडित पद्मसिंह शर्मा केवल संस्कृत, प्राकृत और ब्रजभाषा के ही

प्रकाण्ड पंडित नहीं थे अपितु फ़ारसी और उर्दू-साहित्य का भी उन्हें गंभीर ज्ञान था।

इनकी आलोचना प्रभावात्मक ढंग की मानी जाती है। उनकी शैली व्याख्यात्मक थी। 'बिहारी सतसई' पर लिखी गई उनकी आलोचना हिन्दी-साहित्य में ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। मिश्रबन्धुओं के पश्चात् पंडित जी ने ही बिहारी और देव का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। 'सतसई' का 'संजीवनभाष्य' भी लिखा जिसे वे पूरा किये बिना ही स्वर्ग सिधार गये। शर्माजी की 'बिहारी सतसई की भूमिका' पर मंगलाप्रसाद पुरस्कार प्रदान किया गया।

पंडितजी ने बिहारी को रीतिकाल का श्रेष्ठ कवि सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है, उस पर कुछ विद्वानों ने आपत्ति की है। उनकी 'महफ़िली ढंग की भाषा-शैली' और 'उर्दू स्टाइल' को भी कुछ विद्वानों ने पसंद नहीं किया।

फिर भी बिहारी के दोहों की जो अद्भुत व्याख्या शर्माजी ने प्रस्तुत की है तथा एक दोहे के अनेक सूक्ष्म अर्थों को प्रदर्शित करने की जो प्रतिभा दिखलाई है, उसे देखकर सचमुच चकित हो जाना पड़ता है। यह उनके गंभीर अध्ययन और व्यापक पांडित्य का परिचायक है। तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात करने वालों में भी शर्माजी का स्थान निस्सन्देह अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं समादरणीय है।

(४) गुलाबराय

इनका जन्म १९४४ सं० में इटावा (उत्तर प्रदेश) में हुआ। आरम्भ में बाबूजी ने कुछ ग्रन्थ दर्शनशास्त्र सम्बन्धी लिखे, किन्तु शीघ्र ही इन्होंने साहित्यिक क्षेत्र को ही अपना प्रधान विषय बना लिया। आपकी प्रसिद्ध रचनाओं में 'नवरस', 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'हिन्दी नाट्यविमर्श', 'हिन्दी काव्यविमर्श' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। सिद्धहस्त लेखक होने के कारण बाबूजी को आलोचना के साथ-साथ निबन्धकला में भी पूर्ण सफलता मिली है। इनके विचारात्मक निबन्धों के अतिरिक्त

भावात्मक निबन्धों की छटा 'मेरी असफलताएँ' तथा 'फिर निराश क्यों' में स्पष्टतया देखी जा सकती है। 'प्रबन्ध प्रभाकर' में विचारात्मक साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। विद्यार्थियों को ध्यान में रखते हुए बाबूजी ने 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' भी लिखा। आगरा से ही 'साहित्य संदेश' नामक हिन्दी के सुप्रसिद्ध मासिक पत्र के यशस्वी सम्पादक-पद को भी आपने सुशोभित किया।

बाबूजी ने दोनों प्रकार की आलोचनाएँ—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—लिखी हैं। प्रधानतया इन्होंने सैद्धान्तिक आलोचना को ही अपनाया है। 'रस मीमांसा' इस विषय का इनका प्रथम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में इन्होंने भारतीय 'रस-सिद्धान्त' की पाश्चात्य मनोविज्ञान से तुलना भी की है।

'सिद्धान्त और अध्ययन' में बाबूजी ने श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन' के समान पूर्व तथा पश्चिम के साहित्य-सम्बन्धी सिद्धांतों का सुन्दर विवेचन किया है। समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण बाबूजी ने इस ग्रन्थ में दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का निरूपण न्यायोचित ढंग से किया है। साधारणीकरण के सिद्धान्त के विषय में बाबूजी ने श्यामसुन्दरदास की अपेक्षा आचार्य शुक्ल का ही अधिक समर्थन किया है, किन्तु शुक्ल का अन्धानुकरण भी कहीं नहीं किया। इन्होंने अनेक स्थलों पर शुक्लजी के साथ अपना मतभेद भी प्रकट किया है। उदाहरणार्थ, शुक्लजी काव्य को कला नहीं कहते, किन्तु बाबूजी ने काव्य और कला के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार किया है। इसी प्रकार शुक्लजी के जो विचार छायावाद और रहस्यवाद के विषय में थे, वे बाबूजी को पूर्णतया मान्य नहीं हैं।

'काव्य के रूप' बाबू गुलाबराय की एक और सुन्दर कृति है जिसमें सरल शैली से काव्य के अंगों का निरूपण किया गया है। काव्य और नाटक सम्बन्धी विवेचन में बाबूजी ने अधिकांशतः भारतीय विद्वानों को ही मान्यता प्रदान की है, जब कि कहानी, उपन्यास सम्बन्धी विषयों में

वे स्वभावतः पश्चिमी विद्वानों से प्रभावित हुए हैं। 'हिन्दी नाट्य-विमर्श' में बाबूजी ने नाटक की उत्पत्ति-विषयक मतों की समीक्षा प्रस्तुत की है तथा नाटक के मूलतत्त्वों का निरूपण किया है।

बाबूजी की शैली सरल तथा व्याख्यामयी है। इसमें भावुकता-पूर्ण हृदय की मधुरता तथा हास्य-विनोद की झलक भी अधिकांशतः पाई जाती है। उनकी भाषा-शैली में स्पष्टता का गुण सर्वत्र मिलता है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वे दूसरों के उद्धरण भी जड़ देते हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग करते हैं। एक स्थान पर तो उन्होंने मार्मिक ढंग से मुहावरे का प्रयोग किया है। 'कहानी अपने छोटे मुँह से बड़ी बात कहती है।'

संक्षेप में, बाबू गुलाबराय जी हिन्दी के एक विशिष्ट निबन्धकार और आलोचक हैं। पश्चिमी और पूर्वी दोनों प्रकार के साहित्यिक सिद्धान्तों का उन्होंने गहरा अध्ययन और मनन किया है तथा उनको समन्वयात्मक शैली में व्याख्या-सहित बड़ी स्पष्टता और सरलता के साथ उपस्थित किया है। उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

(५) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

श्री बख्शी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इतिहास, दर्शन, आलोचना, कला, राजनीति आदि सभी विषयों पर आपने लिखा है। इनके 'विश्वसाहित्य' नामक ग्रन्थ में देशी-विदेशी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—'प्रबन्ध-पारिजात', 'साहित्य-शिक्षा', 'हिन्दी कथा-साहित्य' आदि। ये सभी ग्रन्थ इनके विशाल अध्ययन, मनन तथा चिन्तन के परि-चायक हैं। बख्शी जी की भाषा सरल और शैली व्यास-प्रधान है। द्विवेदी-युग के अन्तिम चरण से ही आप निबन्ध लिखने में व्यस्त हैं। अभी तक आप निरन्तर साहित्य-सर्जन कर रहे हैं।

(६) शान्तिप्रिय द्विवेदी

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी हिन्दी के कुशल आलोचक और निबन्धकार

है। आधुनिक-साहित्य के प्रशंसक होने के कारण इनकी दृष्टि केवल प्राचीनता के गौरवगान तक सीमित नहीं रही। 'हमारे साहित्यनिर्माता', 'साहित्यकी', 'संचारिणी', 'कवि और काव्य', 'युग और साहित्य', 'सामयिकी' तथा 'ज्योतिविहग' इनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं। इनमें द्विवेदी जी के मौलिक निबन्धों का संग्रह है।

छायावाद के प्रति विशेष रुचि होने से जहाँ इन्होंने यह स्वीकार किया कि 'छायावाद में' मुझे अपने जीवन की समष्टि मिली, वहाँ पंतजी के प्रति भी इनके हृदय में एक विशेष स्थान बन गया और 'ज्योतिविहग' में द्विवेदी जी ने उस भावना की मधुर अभिव्यक्ति भी कर दी। 'ज्योतिविहग' में उन्होंने आलोचक के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा है—" 'ज्योतिविहग' में मैंने व्यक्ति को नहीं, कवि को देखा है और उसे देखने के लिए दृष्ट के अनुरूप ही दृष्टिकोण दिया है।"

शान्तिप्रिय द्विवेदी ने आलोचक और दार्शनिक के बौद्धिक दृष्टिकोण के साथ-साथ भावुक कवि का संवेदनशील हृदय भी पाया है और यही कारण है उनके निबन्धों में विचारात्मकता भी सरस हो उठी है। उनकी गद्यशैली में पद्य की-सी मधुरता भरी हुई मिलती है। 'साहित्यकी' के निबन्धों में सचमुच 'रचनात्मक साहित्य' का-सा आनन्द आता है।

हिन्दी-साहित्य के इस भावुक आलोचक का अपना विशिष्ट स्थान है। काव्य की भावात्मक और कलात्मक व्याख्या करने की पकड़ इनकी अनूठी है तथा उसको काव्यात्मक गद्य-शैली में हृदय की अनुभूति से भिगोकर अभिव्यक्त करने का ढंग भी अद्भुत है; फिर भी, कहीं-कहीं उनकी आलोचनाओं से पूर्णतया अवगत होना कठिन हो जाता है।

(७) हजारी प्रसाद द्विवेदी

व्यक्तित्व—हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १९०१ में ओझावालिया में हुआ। इन्होंने काशी में शिक्षा प्राप्त की और संस्कृत का प्रचुर अध्ययन किया। शान्तिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निकट सम्पर्क में रहने से तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रसिद्ध 'विश्वभारती'

के साथ सम्बन्धित होने से द्विवेदी जी ने विविध भाषाओं के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन भी किया। भारत की अनेक प्रादेशिक भाषाओं का भी इन्हें यथेष्ट ज्ञान है। आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। साहित्य, दर्शन, संस्कृति, पुरातत्त्व, इतिहास, ज्योतिष, धर्म आदि सभी अंगों में आपकी रुचि है।

रचनाएँ—आचार्य द्विवेदी सफल निबन्धकार और आलोचक हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखकर इन्होंने उपन्यास-क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। ऐतिहासिक वातावरण की सजीवता तथा शैली की मार्मिकता इस कृति के विशेष गुण हैं। 'अशोक के फूल' द्विवेदी जी का सुन्दर निबन्ध-संग्रह है। इसी में अशोक के फूल को केन्द्र बनाकर लेखक ने भारतीय जीवन नामक एक लेख में साहित्य और संस्कृति की विविध झाँकियाँ दिखाने का गम्भीर प्रयत्न किया है। इनके आलोचनात्मक ग्रन्थों में 'सूर-साहित्य', 'नाथ-सम्प्रदाय', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' विशेष उल्लेखनीय हैं। इधर इन्होंने 'हिन्दी साहित्य' नाम से हिन्दी साहित्य का एक इतिहास भी प्रस्तुत किया है।

आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिन्दी में जिन विशिष्ट महान् आलोचकों का प्रादुर्भाव हुआ है, उनमें हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कलाकार का हृदय और आलोचक की दृष्टि दोनों के मेल से इनकी रचनाएँ एक साथ कमनीय और गम्भीर बन गई हैं। गम्भीर विषयों में जहाँ द्विवेदी जी की शैली भारतीय और वैज्ञानिक हो जाती है, वहाँ अनेक स्थानों पर इनकी भावुकतामयी सरसता के भी दर्शन प्रायः होते हैं। 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' नामक लेख इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है। इसमें भाषा की सरलता और सरसता द्रष्टव्य है।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व निष्कपट भाव से निर्मल और स्वच्छ है। आपकी आलोचना के प्रधान विषय नाथ-सम्प्रदाय, सिद्ध-साहित्य, हिन्दी-साहित्य का आदिकाल तथा कबीर-मत रहे हैं। इन विषयों पर इन्होंने पूर्ण

अधिकार के साथ लिखा है। गवेषणा और शास्त्रीय प्रौढ़ता के आधार पर उनके ये विषय आज हिन्दी-जगत् के सम्मुख नूतन एवं अनुसन्धानपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

इसके अतिरिक्त इनकी आलोचन-प्रतिभा की एक अन्य देन है—हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में प्राचीन धारणाओं का निराकरण। वे इस धारणा को स्वीकृत नहीं करते कि भक्तिकालीन भक्ति-साहित्य यवनों के अत्याचार से भयभीत हिन्दू-जनता को सन्तोष प्रदान करने के निमित्त निर्मित हुआ था। वे इसे भारतीय दर्शनशास्त्र की ही एक परम्परा स्वीकृत करते हैं। आधुनिक काल में आचार्य शुक्ल का स्थान हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में प्रधान रहा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस कार्य को निस्सन्देह आगे बढ़ाने तथा उसे परिष्कृत करने में प्रशंसनीय योग दिया है। साहित्य का कलात्मक रूप स्पष्ट करके, उसे वैज्ञानिक तथा बौद्धिक दृष्टि प्रदान कर निष्पक्ष रूप से उसकी विवेचना द्विवेदी जी ने की।

(८) धीरेन्द्र वर्मा

प्रयाग-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉ० धीरेन्द्र वर्मा प्रधान रूप से भाषाविज्ञानी हैं। 'हिन्दी भाषा का इतिहास' उनका इस विषय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में उन्होंने आधुनिक आर्य भाषाओं और हिन्दी के सम्बन्ध में भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डालकर प्रशंसनीय कार्य किया है। यद्यपि ग्रियर्सन का 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया' आदि ग्रन्थ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पहले रचे हुए मिलते हैं, तथा सुनीतिकुमार चटर्जी, बाबूराम सक्सेना तथा स्वयं डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के कुछ ग्रन्थ बंगला, अवधी और ब्रजभाषा सम्बन्धी खोज पर लिखे गए, तथापि इन समस्त ग्रन्थों की भाषा या तो अंग्रेजी थी या फ्रेंच। हिन्दी भाषा में इस प्रकार का सर्वाङ्गसुन्दर भाषा-वैज्ञानिक ग्रन्थ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का ही था। डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा जी ने भी केवल लिपि और हिन्दी अंकों को ही प्रधान रूप से अपनी खोज का विषय बनाया था, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में

उन्होंने कुछ नहीं लिखा था।

इस ग्रन्थ में कुल १० अध्याय हैं। आरम्भ में एक विस्तृत भूमिका दी गई है, जिस में हिन्दी भाषा और उसकी उपभाषाओं का संक्षिप्त परिचय कराया गया है। इसकी अधिकांश सामग्री ग्रियर्सन की पुस्तक पर ही आधारित है। उक्त ग्रन्थ में हिन्दी भाषा तथा जनपदीय भाषाओं पर नवीन वैज्ञानिक खोजपूर्ण कार्य भी किया गया है। शैली सरल है, उदाहरण के लिए दिये हुए शब्दों का चुनाव बड़ी ही सावधानी से किया गया है। ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टियों से हिन्दी भाषा का गम्भीर और वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित करने वाली यह प्रथम पुस्तक है।

इसके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थ हैं—'ग्रामीण हिन्दी', 'ब्रजभाषा', 'मध्यदेश'। इन ग्रन्थों का विषय भी प्रायः भाषाविज्ञान से सम्बद्ध है।

(९) नन्ददुलारे वाजपेयी

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की गणना हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समीक्षाकारों में की जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य और उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले समीक्षकों में प्रमुख होते हुए भी वाजपेयी जी का अनेक बातों में शुक्ल जी से मतभेद ही नहीं, विरोध भी चलता है। सत्य तो यह है कि शुक्लजी की बहुत-सी मान्यताओं का साधार और सक्षम युक्तियुक्त खण्डन करने की योग्यता वाजपेयी जी के सिवा अन्य किसी में दिखाई नहीं देती। शुक्ल जी जो कुछ कहते हैं, वे इतने प्रभावशाली ढंग से कहते हैं कि अत्यन्त सजग पाठक के सिवा शेष सब अनायास उनसे सहमत होते रहे हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी उन्हीं सजग समीक्षकों व पाठकों में से हैं, जो आचार्य शुक्ल जी की अनेक मान्यताओं को चुनौती देने का सामर्थ्य रखते हैं। जिस युग में सब लोग छायावाद-सम्बन्धी रचनाओं के विरोध करने में आचार्य शुक्ल की हाँ-में-हाँ मिला रहे थे। उस युग में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे समर्थ समालोचक को अपने समर्थन में खड़े देख छायावादी साहित्य को पर्याप्त बल मिला था। फिर भी कहीं-कहीं शुक्ल जी का विरोध करते हुए भी वे हैं सर्वात्मना शुक्ल-

स्कूल के समीक्षक ही। इसीलिए शुक्लजी के ही अनुसार कम्यूनिज्म से प्रभावित प्रगतिवादी साहित्य का और आगे चलकर प्रयोगवाद का उन्होंने डटकर विरोध किया।

'हिन्दी साहित्य : बीसवीं सदी', 'नया साहित्य', 'नये प्रश्न' 'जयशंकर प्रसाद', 'सूरदास' आदि आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इनके वर्ण्य-विषय इनके नामों से ही स्पष्ट हैं।

अपने आलोचक रूप के बारे में वे स्वयं लिखते हैं कि—**"मैं तो रचनाकार की अन्तःप्रेरणा का अनुसन्धान करने में ही व्यस्त हूँ। इसी के साथ-साथ बाह्य स्थितियों का दिग्दर्शन करा देना और उसके ऊपर रचनाकार की प्रतिक्रिया दिखा देना तथा अन्त में उनकी कलात्मक चेष्टाओं का परिचय दे देना आवश्यक समझता हूँ।"**

इस प्रकार वाजपेयी जी का समीक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्वतः व्यक्त ही है।

(१०) विश्वनाथप्रसाद मिश्र

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना-परम्परा का पूर्ण रूप से पालन करने वालों में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का नाम अपना विशेष महत्त्व रखता है। आरम्भ में इनकी आलोचनात्मक प्रतिभा के दर्शन ग्रन्थों की भूमिका अथवा टीका-टिप्पणी के रूप में ही होते हैं। 'हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास' अथवा 'अजातशत्रु-दीपिका' आदि कुछ पुस्तकें इन्होंने विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर भी लिखीं; और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि आलोचक मिश्र इसी नाते एक सफल अध्यापक भी हैं। वस्तुतः उनके प्रायः सभी प्रयासों में छात्रजन के प्रति निर्देशन-पूर्ण उपकार की भावना निहित है। इस प्रयास में इनके ग्रन्थों— 'बिहारी की वाग्विभूति' और 'बिहारी' का विशेष रूप से आदर हुआ है।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र परम्परा के पालनकर्ता के साथ-साथ एक स्वतन्त्र विचारक और मननशील चिन्तक के रूप में भी हमारे सामने

आते हैं। शुक्ल जी के अनुयायी होते हुए जहाँ इन्होंने शुक्ल जी के सिद्धान्तों का पूर्ण समर्थन किया है, वहाँ कहीं-कहीं अपने स्वतन्त्र विचारों को प्रकट करने में भी ये नहीं चूके। उदाहरणार्थ, इन्होंने रीतिकाल को इस नाम से अभिहित न करके शृंगारकाल नाम दिया है और इसके लिए इन्होंने पुष्ट तर्क उपस्थित किये हैं।

आधुनिक युग में हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने, समझने तथा उन पर आलोचनात्मक कार्य करने के लिए सबसे प्रबल बाधा है—उन ग्रन्थों की प्रकाशित रूप में अनुपलब्धि। आचार्य मिश्र इस आवश्यक और मूलभूत कार्य को बड़े सुचारु, व्यवस्थित और विशुद्ध रूप में निभा रहे हैं। पद्माकर, भिखारीदास, घनानन्द, भूषण, आनन्दघन आदि प्राचीन कवियों की ग्रन्थावलियाँ इनके सम्पादकत्व में प्रकाशित हुई हैं। देश-भर में उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'रामचरितमानस' जैसे विशालकाय ग्रन्थ का आधुनिक ढंग में सम्पादन भी इन्हीं के सुप्रयास-स्वरूप सफलतापूर्वक हो रहा है। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी-जैसी बृहद् हिन्दी-सेवी संस्था के अन्तर्गत आकर 'ग्रन्थमाला' के इन दिनों आप सम्पादक हैं। इस पद से वे सम्पादन-कार्य को और भी अधिक गति एवं व्यवस्था से सम्पन्न करते चले जाएंगे, यही इनके निष्ठापूर्ण प्रयत्नों से प्रत्यक्ष दीख रहा है।

(११) डा० नगेन्द्र

शुक्ल जी के द्वारा प्रतिष्ठापित हिन्दी की गम्भीर समीक्षा-पद्धति की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले विद्वान् समालोचकों में डॉ० नगेन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। शुक्ल जी की भाँति डॉ० नगेन्द्र के अन्तर्मन में भी भारत की अपनी पुरानी रसवादी समीक्षा-दृष्टि के प्रति पूरी आस्था है; यद्यपि पश्चिमी समीक्षा-तत्त्वों को भी उन्होंने खुले दिल से यथास्थान और यथोचित रूप में स्वीकार किया है।

डॉ० नगेन्द्र ने 'सुमित्रानन्दन पंत', 'साकेत: एक अध्ययन', 'देव और उनकी कविता', 'आधुनिक हिन्दी-नाटक', 'विचार और अनुभूति',

'विचार और विवेचन' व 'विचार और विश्लेषण' नामक कई सुन्दर समीक्षात्मक कृतियाँ हिन्दी-साहित्य को भेंट की हैं। आचार्य देव पर इन्होंने एक प्रौढ़ थीसिस प्रस्तुत किया है, जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका पूर्वार्द्ध—'रीति-काव्य की भूमिका' लेखक के अगाध मनन, चिंतन और व्यापक पाण्डित्य का परिचायक है। उत्तरार्द्ध में महाकवि देव के जीवन-वृत्त व काव्य के सम्बन्ध में बड़ी खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई है। 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'साकेत : एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी-नाटक' आदि के विषय नामों से ही स्पष्ट हैं। इन चारों पुस्तकों में विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

'विचार और अनुभूति', 'विचार और विश्लेषण' तथा 'विचार और विवेचन' में विवेचनात्मक तथा सिद्धान्त-समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध दिये गये हैं। इन निबन्धों में लेखक की विचारधारा को उत्तरोत्तर प्रौढ़ि एवं सफलता मिलती गई है। इन निबन्धों में से कुछेक के नाम ये हैं— 'साहित्य की प्रेरणा', 'हिन्दी उपन्यास', 'हिन्दी में हास्य की कमी', 'केशवदास का आचार्यत्व', 'कवीन्द्र के प्रति', 'साहित्य और समीक्षा', 'साहित्य में कल्पना का उपयोग', 'रस का स्वरूप', 'साहित्य में आत्माभि-व्यक्ति' आदि—ये सभी निबन्ध प्रौढ़ समीक्षात्मक शैली में निर्मित हैं।

इधर पिछले कुछ वर्षों से ये प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा की ओर आकृष्ट हुए हैं। 'ध्वन्यालोक', 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' और वक्रोक्ति-जीवित' ग्रन्थों पर इनकी गम्भीर चिन्तनपूर्ण भूमिकाएँ इसी आकर्षण का परिणाम हैं। इनसे हिन्दी के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को यथार्थ दिशा में पनपने का मार्ग मिल गया है। इनके द्वारा सम्पादित 'भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा' भी हिन्दी में अपने प्रकार का प्रथम एवं अत्यन्त उपयोगी प्रयास है। इसके अतिरिक्त 'रस-सिद्धान्त' पर भी एक प्रौढ़ एवं विशाल ग्रन्थ के निर्माण की योजना इनके सम्मुख है।

डॉ० नगेन्द्र की शैली अत्यन्त गम्भीर, स्वस्थ और तथ्य-प्रधान है। आप विषय के अनुरूप ही भावाभिव्यक्ति करने में सिद्धहस्त हैं। गम्भीरता

के साथ-साथ हास्य, व्यंग्य, चुहुल की मीठी चुटकियाँ लेकर कहीं-कहीं आपने शास्त्रीय रूक्ष विषयों को भी कथा-कहानी-जैसा सरस बना दिया है। इस प्रसंग में उनका 'केशवदास का आचार्यत्व' नामक लेख उल्लेख्य है। निस्सन्देह इस शैली के लेखक विरले ही हैं। तत्सम शब्दों का बाहुल्य होने पर भी इनके भाषा-प्रवाह में कहीं भी शिथिलता अथवा अस्वाभाविकता नहीं आने पाई।

(१२) रामविलास शर्मा

हिन्दी के आधुनिक प्रगतिशील आलोचकों में डॉ० रामविलास शर्मा का नाम मूर्धन्य कहा जाता है। पत्रकारिता, कविता, आलोचना के अतिरिक्त अध्यापन-क्षेत्र में भी आपने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। कम्युनिस्ट होने के कारण आपके जीवन और साहित्य दोनों पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है। यद्यपि इनकी कविताओं में भी जनवादी स्वर की गूँज स्पष्ट सुनाई देती है, तथा मुख्यरूप से डॉ० शर्मा एक प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं; फिर भी, अन्य प्रगतिवादियों की तरह इनमें दुराग्रह की भावना कम पाई जाती है। यही कारण है कि साहित्य की प्राचीन परम्पराओं के प्रति एकदम घृणा का दृष्टिकोण इन्होंने नहीं अपनाया। इस विषय में उनकी ये पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—**'यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परम्पराओं से परिचित हों। परिचित होने के साथ-साथ हमें उनके श्रेष्ठ तत्त्वों को ग्रहण भी करना चाहिए।'**

प्रगतिशील होने के कारण इन्होंने सदा यथार्थवादी और समाजवादी दृष्टि से ही हिन्दी-कवियों का मूल्यांकन किया है। प्रेमचन्द और निराला सम्बन्धी इनकी आलोचनाओं में यही दृष्टिकोण मुख्य रहा है।

डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचनाओं में उनका गम्भीर अध्ययन और अगाध पाण्डित्य तो दिखाई देता ही है, साथ ही भाषा पर पूर्ण अधिकार और शैली का चमत्कार भी पाठक को बरबस आकर्षित कर लेता है। कहीं-कहीं तो इनकी गद्य-शैली पण्डित पद्मसिंह शर्मा जैसी सरस

और चुटीली बन पड़ी है।

(१३) प्रकाशचन्द्र गुप्त

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रगतिशील आलोचना-साहित्य के प्रतिनिधि लेखक माने जाते हैं। इन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्य को ही अपनी विवेचना का मुख्य विषय बनाया है। इनकी आलोचना-पद्धति अत्यन्त सरल और अकृत्रिम है। पण्डिताऊपन की झलक उसमें नाममात्र को भी नहीं है। गुप्तजी की शैली व्याख्यात्मक न होकर विवरणात्मक है और इसीलिए सुबोध भी। साहित्य के समान गुप्तजी आलोचना को भी सामान्य जन के लिए बोधगम्य बनाने के पक्षपाती हैं। उनके मतानुसार साहित्य की सत्यता की कसौटी सामान्य जनों का भावनालोक ही है।

इन पर मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव बहुत है। यही कारण है कि वे साहित्य की आलोचना को केवल कृति के गुण-दोष-विवेचन तक ही सीमित रखना पसन्द नहीं करते अपितु वैज्ञानिक दृष्टि से 'बाह्यपरक' आलोचना का वे समर्थन करते हैं। उनका विश्वास है कि आलोचना के सिद्धान्तों की कसौटी स्वयं सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं जो कला के माध्यम से साहित्य में व्यक्त होती हैं। इसलिए उनकी बाह्य और वैज्ञानिक समीक्षा सम्भव है।

विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण के होने से गुप्तजी अध्यात्मवादी प्रवृत्ति के विरोधी हैं। उन्होंने मार्क्सवाद को अपने जीवन-दर्शन के रूप में अपनाया है। इसीलिए उनकी आलोचना कहीं-कहीं एकांगी-सी लगती है, विशेष रूप से तुलसीदास-सम्बन्धी आलोचना में जब वे यह कहते हैं—**"तुलसी के विचार-दर्शन में अनेक 'अन्तर्विरोध' हैं। ......तुलसी का जनवादी रूप ही इनके साहित्य का प्रधान रूप है।"** तो तुलसी की राम-विषयक भक्तिभावना की वे सर्वथा उपेक्षा ही कर देते हैं।

गुप्तजी की आलोचनाओं को तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है—(१) सिद्धान्तमूलक (२) प्रवृत्तिमूलक (३) व्यक्तिमूलक। उनके अनेक आलोचनात्मक निबन्ध 'आलोचना' नामक पत्रिका के अनेक अंकों

में भी प्रकाशित हुए हैं तथा स्वतन्त्र पुस्तक-कार में भी। उनकी रचनाओं में अध्ययन तथा मनन की छाप सर्वत्र उपलब्ध होती है, परन्तु पूर्वाग्रह के दोष से कहीं-कहीं एकांगीपन अवश्य खटकता है। 'नया साहित्य', 'आधुनिक साहित्य—एक दृष्टि', 'नया हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि' में उनके आलोचनात्मक निबन्ध द्रष्टव्य हैं।

(१४) शिवदानसिंह चौहान

शिवदानसिंह चौहान की गणना आधुनिक प्रगतिवादी आलोचकों में की जाती है। उनके प्रगतिबादी आलोचना-सम्बन्धी विचारों को सूचित करने वाली दो पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं—'हिन्दी साहित्य की परख' और 'प्रगतिवाद'। उनके अनेक लेख 'हंस', 'साहित्य सन्देश', 'नया साहित्य', 'साधना' आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। त्रैमासिक पत्र 'आलोचना' का सम्पादन भी आपने किया तथा उसमें अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया।

अनेक अन्य प्रगतिवादी आलोचकों के समान चौहान पर भी मार्क्स-वादी सिद्धान्तों की गहरी छाप पड़ी हुई है। उनका विश्वास है कि कवि या कलाकार अपने समाज से अविच्छेद रूप से सम्बद्ध है। उनका मत है कि प्रगतिवाद साहित्य का आधार आदर्शवाद को न मानकर 'सामाजिक यथार्थवाद' को ही मानता है। यही कारण है कि चौहान जी को आचार्य शुक्ल की तुलसी सम्बन्धी आलोचनाओं में 'अवैज्ञानिक आस्थामूलक नीतिमत्ता और वर्णाश्रम-धर्म की आदर्शवादिता' की झलक मिलती है। 'आदर्शवाद' उनके विचार में प्रतिगामी है, प्रगतिशील नहीं। कला में सौन्दर्य का गुण आदर्श से नहीं, अपितु सामाजिक सम्बन्धों से ही लाया जा सकता है।

गद्य-गीत

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गद्य-गीतों का भी अपना विशेष स्थान है। गत तीन-चार दशकों से हिन्दी-साहित्य की अन्य विधाओं के समान

गद्य-गीत भी उत्तरोत्तर विकसित और उन्नत होता जा रहा है। गद्य-गीत के इस विकास ने ही उसे हिन्दी-साहित्य में स्वतन्त्र स्थान दे दिया है। कुछ समीक्षक भले ही यह मानते रहें कि गद्य-गीत भावात्मक निबन्ध ही का दूसरा नाम है, पर गद्य-गीतों में जो अनुभूति और भावनाओं का प्राचुर्य रहता है, उसी के कारण गद्य-गीत अनायास निबन्ध से विशिष्ट एवं अपना एक पृथक् स्थान बना लेता है।

रवि बाबू की 'गीताञ्जलि' पर नोबेल पुरस्कार के प्राप्त होते ही भारतीय साहित्य पर उसके अनेक प्रभाव लक्षित होने लगे। एक ओर कविता में छायावादात्मक शैली का प्रचार हुआ तो दूसरी ओर गद्य में गद्य-गीत चल निकले।

गद्य-गीत गद्यबद्ध ही होते हैं अतः इन में गद्य की विशिष्टताएँ तो स्पष्ट हैं ही; इनमें गीत की मूल विशिष्टता का भी समावेश होता है। गीत के समान इसकी उत्पत्ति भावावेश-जन्य है; या उसी के समान यह आकार में लघु होता है; तथा एक भाव और एक ही वातावरण का निर्वाह इसमें किया जाता है। फिर भी इसमें कवि-हृदयानुभूति की तीव्रता गीत की अपेक्षा सम्भवतः अधिक रहती है, जिसके वशीभूत होकर कवि इसे वर्ण और मात्राओं के; गति और यति के बन्धन में बाँध सकने में असमर्थ हो जाता है। उसे आन्तरिक भय रहता है कि इन परिधियों में बाँधते-बाँधते उसकी अनुभूति मन्द पड़ जाएगी अथवा लुप्त हो जाएगी—तभी वह इसे गद्य का रूप देता चला जाता है।

हिन्दी में गद्य-गीतों का प्रचलन कुछ प्रमुख कलाकारों के द्वारा हुआ जिनमें रायकृष्णदास, वियोगी हरि, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, 'अज्ञेय', सियाराम शरण गुप्त, महाराजकुमार डॉ० रघुवीर सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। रायकृष्णदास के 'साधना' और 'प्रवाल' नामक दो गद्य-गीत-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'साधना' में प्रतीकात्मक शैली का अनुसरण है और 'प्रवाल' में वात्सल्य की प्रधानता है। वियोगी हरि के 'साहित्य विहार' और 'भावना' नामक दो गद्य-गीत-संग्रह बहुत प्रसिद्ध

हैं। प्रथम संग्रह भाव तथा भाषा दोनों दृष्टियों से सरल है और द्वितीय संग्रह में पाण्डित्यपूर्ण शैली का प्रयोग है। 'अज्ञेय' जी के गद्य-गीतों के दो संग्रह 'भग्नदूत' और 'चिन्ता' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। 'भग्नदूत' के गीतों में कहीं प्रेम-भाव की तो कहीं चिन्तन की प्रमुखता है। महाराज-कुमार डॉ० रघुवीर सिंह के गीतों में भावुकता और सहृदयता दर्शनीय है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रसिद्ध कलाकार सुन्दर गद्य-गीत लिख रहे हैं। एक गद्य-गीत का नमूना लीजिए—

"सन्ध्या को जब दिन-भर की थकी-माँदी छाया वृक्षों के नीचे विश्राम लेती है और पक्षिगण अपने चहचहे से उसकी थकावट दूर करते हैं तथा मैं भी शान्त होकर अपना शरीर-भार पटक देता हूँ, तब तुम ने मधुर गान गुनगुनाकर मेरा श्रम दूर करके और तुम मेरे बुझे हृदय को प्रफुल्लित करके मुझे मोह लिया।"

—'मोहन' (साधना—रायकृष्ण दास)

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज हिन्दी-साहित्य की एक नवीनतम विधा है जिसे अँग्रेजी में रिपोर्ट कहते हैं, उसे ही फ्रांसीसी भाषा में 'रिपोर्ताज'। इन दोनों शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में होता है। अँग्रेजी का रिपोर्ट शब्द प्रायः विवरण या वृत्तान्त के अर्थ में चलता है। पत्रों के संवाद-दाता भी अपने पत्रों को विविध घटनाओं की रिपोर्ट भेजते हैं। विविध सभा-संस्थाओं, सम्मेलनों आदि के वार्षिक विवरणों को भी रिपोर्ट कहते हैं। 'रिपोर्ट' और 'रिपोर्ताज' में थोड़ा अन्तर है। 'रिपोर्ट' किसी घटना का सर्वथा सत्य और सीधा-साधा वर्णन मात्र है तो 'रिपोर्ताज' में घटना के वर्णन के साथ उसमें कल्पना के बल पर कुछ रोचकता उत्पन्न कर दी जाती है। बस, इस कल्पना के समन्वय के कारण ही रिपोर्ताज को साहित्य की विधाओं के अन्तर्गत माना गया है। यूँ रिपोर्ट में भी थोड़ी-बहुत अत्युक्ति या असत्य की अन्विति रहती है पर उसमें साहित्य के अन्य तत्त्व

नहीं रहते। 'रिपोर्ताज' घटना का केवल अतिरञ्जित वर्णन-मात्र नहीं हैं, प्रत्युत उसमें सत्य के साथ-साथ सुन्दर भी सम्पृक्त रहता है। इसीलिए रिपोर्ताज-लेखन को एक कला माना गया है। रिपोर्ताज लेखन में सफलता प्राप्त करने के लिए कल्पना-शक्ति के साथ-ही-साथ सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, संवेदनशीलता और तटस्थता या निष्पक्षता अपेक्षित है। किसी 'रिपोर्ट' को ऐसे प्रभावशाली ढंग और ऐसे संक्षिप्त रूप में उपस्थित करना कि पाठक पढ़ते-पढ़ते फड़क उठे, 'रिपोर्ताज' कहलाता है। इस प्रकार रिपोर्ताज में कहानी और निबन्ध दोनों की विशेषताएँ सम्मिलित रहती हैं; रिपोर्ताज एक ओर निबन्ध के समान तथ्य-निरूपक होता है तो दूसरी ओर कहानी के समान रोचक। इधर तीसरी ओर रिपोर्ताज में रेखा-चित्र के समान परिमित शब्दों का प्रयोग करके भी पाठक के हृदय पर सीधा प्रभाव डालने की अद्भुत क्षमता रहती है।

रिपोर्ताज-लेखन की परम्परा का श्रीगणेश द्वितीय महायुद्ध के समय हुआ। युद्ध के रोमांचक एवं लोमहर्षक दृश्यों और घटनाओं को लेकर सजीव रूप में रिपोर्ताज लिखे जाने लगे। इन्हीं दिनों में रिपोर्ताज-लेखन की प्रथा यूरोप से होती हुई विविध भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी आई। हिन्दी में 'भारत छोड़ो आन्दोलन', 'आजाद हिन्द फौज', 'बंगाल का अकाल', 'भारत विभाजन' आदि अनेक सामयिक विषयों पर उत्कृष्ट रिपोर्ताज लिखे गये। रिपोर्ताज में वर्णनीय घटना का वास्तविक इतिहास, उससे संबद्ध पात्रों के सजीव रेखाचित्र तथा उन घटनाओं व पात्रों के कार्यों का आन्तरिक और बाह्य सूक्ष्म निरूपण—इन तीनों प्रमुख तत्त्वों की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। प्रभाकर माचवे, रांगेय राघव, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि हिन्दी के प्रमुख रिपोर्ताज-लेखक हैं।

रिपोर्ताज का एक उदाहरण लीजिए—

और सब से आश्चर्य की बात यह थी कि राहुल सांकृत्यायन सभापति थे। वे चुपचाप यह सब कुछ सुन रहे थे। प्रगतिवाद को गालियाँ

दी गई, 'रूस में रोटी सुरक्षित है परन्तु आत्मा अरक्षित है'—समाज-शास्त्र परिषद् में अध्यक्ष ने कहा; और भी क्या क्या नहीं कहा गया, परन्तु राहुल या तो सुनते रहते और मुस्कराते रहते; कभी ज्यादह ऊब जाते तो मंच से बाहर चले जाते × × × ×

—प्रभाकर माचवे (हंस, फ़रवरी १९४८)

२. पद्य-साहित्य

प्रसाद-युगीन पद्य-साहित्य को भावधारा की दृष्टि से प्रमुख तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद। आधुनिकतम काव्य-प्रवृत्ति एक अन्य भी है—प्रयोगवाद, जो अभी अप्रौढ़ अवस्था में है। सर्वप्रथम इन चारों वादों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करने के उपरान्त प्रतिनिधि कवियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

छायावाद

द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया—

पीछे लिख आये हैं कि द्विवेदी-युगीन कविता में कला की दृष्टि से गद्यात्मकता और भाव की दृष्टि से इतिवृत्तात्मकता आ गई थी, तथा शृंगार रस को अश्लील समझ कर त्याज्य समझा गया था। प्रकृति-चित्रण को स्थान तो मिला था, पर उसकी निरूपण-शैली स्थूल एवं बाह्य थी। ऐसी कविता के प्रति कल्पना के पंखों पर उन्मुक्त विहार करने वाले कवियों के हृदय में विद्रोह उठना स्वाभाविक था। यह विद्रोह उठा तो अवश्य किन्तु उसका स्वर धीमा पर मधुर था। जिस रीति एवं शैली से इस विद्रोह की अभिव्यक्ति हुई, उसमें कुछ धूमिलता एवं अस्पष्टता के साथ कोमलता भी थी। पुरातनवादियों तथा रूढ़िवादियों ने इस धूमिलता एवं अस्पष्टता पर व्यंग्य कसते हुए इसे 'छायावाद' नाम देकर इस उदीयमान अभिव्यंजन-शैली के प्रति अपनी तिरस्कार-भावना प्रकट की—

एकाकी सूनेपन में, जड़ में चेतन का रूप देख।
पुष्पों में प्रिय का मधुर हास आँसू ओस में विकल लेख।
मैं अटपटे स्वर में गाता, छायावादी कहलाता।

विषय—छायावादी कवि ऐसी व्यंग्योक्तियों की चिन्ता न कर अपनी धुन में रमा रहा और उसने द्विवेदी-युगीन उपर्युक्त त्रुटियों की पूर्ति निम्न प्रकार से की। कविता में गद्यमयता के स्थान पर सुकोमलता लाई गई। इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर कल्पना की ऊँची उड़ानों द्वारा नूतन भाव-सामग्री जुटाई गई। प्रकृति को सजीव मानकर उस पर मानवीय भावनाओं का आरोप किया गया। शृंगार रस को अश्लील समझने के स्थान पर इसे प्रकृति के माध्यम से शिष्ट-रूप में उपस्थित किया गया। निष्कर्ष यह कि प्रसाद-युगीन छायावादी कविता का जन्म मुख्यतः द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक एवं शुष्क कविता की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ।

प्रकृति-चित्रण—छायावादी कविताओं का प्रधान विषय 'प्रकृति का चित्रण' है। इस चित्रण की तीन विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(क) प्रकृति के प्रति विस्मय एवं कुतूहल-पूर्ण दृष्टिकोण।

(ख) प्रकृति के स्रष्टा के प्रति अतुल शक्ति-सम्पन्नता का भाव।

(ग) प्रकृति को सप्राण (चेतन सत्ता) समझ कर उसमें मानवता का आरोप।

वस्तुतः यही अन्तिम अवस्था छायावादी काव्य की कल्पना एवं अनुभूति की चरम सीमा है। जब कवि पन्त छाया को सजीव मानकर उसे सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

कहो कौन हो, दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई।
हाय, तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि! नल सा निष्ठुर कोई।।

—तो पाठक भी कवि की इस नूतन अनुभूति से प्रभावित हो छाया को सजीव समझने लग जाता है।

छायावादी कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण विभिन्न रूपों में

प्रस्तुत किया है। कभी उन्होंने इसे प्रेयसी के रूप में देखा कभी सहचरी के रूप में और कभी गुरु के रूप में। अन्तिम रूप का एक उदाहरण लीजिए—

सिखा दो न हे मधुपकुमारी ! मुझे भी अपने मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से, करा दो ना कुछ कुछ मधुपान॥

इसी प्रकार श्रीमती महादेवी वर्मा का निम्नोक्त पद्य 'वसन्तरजनी' को सुकोमल मानवी के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है—

तारकमय नववेणी बन्धन, शीशफूल कर शशि का नूतन
रश्मिवलय सितघन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे, चितवन से अपनी
पुलकती आ वसन्त-रजनी !

कभी इन कवियों को ऐसा आभास होता है कि प्रकृति भी इन्हीं के समान वेदना और आकुलता अथवा हर्ष और उल्लास का अनुभव कर रही है। उदाहरणार्थ, निराला का यह पद्य देखिए जिसमें उन्हें यमुना की लहरें वेदनाकुल प्रतीत हो रही हैं—

यमुना तेरी इन लहरों में किन अधरों की आकुल तान।
पथिक प्रिया-सी जगा रही है किस अतीत के गौरव गान॥

प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति यह आकर्षणजन्य आह्लाद कवि के हृदय में प्रेम-भाव को जागृत करता है। निर्झर का कलकल गान और विहग-वृन्द का कलरव उसकी हृत्तन्त्री को एक स्वर्गीय संगीत से प्लावित कर देते हैं जिसकी रसधारा में वह स्नान करना चाहता है—

गाओ गाओ कुसुम बालिके
तरुवर से मृदु मंगल गान
मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान।

निरूपण-शैली—छायावादी कवियों की निरूपण-शैली अत्यन्त सुकोमल और मधुर है। यह द्विवेदी-युग की गद्यमयता से नितान्त विमुक्त

है। कोमलकान्त-पदावली का प्रयोग इस शैली की प्रथम विशेषता है। कहीं-कहीं ये कवि प्रतीकों का भी प्रयोग कर देते हैं। उदाहरणार्थ, सुख के लिए 'प्रातः' अथवा 'चाँदनी' का; दुःख के लिए 'निशा' अथवा 'अन्धकार' का; हृदय के लिए 'आकाश' का; संघर्ष के लिए 'झंझावात' शब्द का प्रयोग। पर इन प्रतीकों से जहाँ कलात्मकता में वृद्धि हुई है, वहाँ विषय कहीं-कहीं दुरूह, अस्पष्ट अथवा द्वयर्थक भी बन गये है।

इनकी शैली की एक अन्य विशेषता है—'लाक्षणिकता' का प्रयोग। दूसरे शब्दों में मूर्त्त का अमूर्त्त पर और चेतन का जड़ पर आरोप। उदाहरणार्थ, निराला ने 'विधवा' का वर्णन करते हुए कहा है —

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप-शिखा सी शान्त भाव में लीन।

× × ×

दलित भारत की विधवा है।

विधवा को 'पूजा' के समान कहना मूर्त्त का अमूर्त्त में आरोप हैं और 'दीप-शिखा' के समान कहना चेतन का जड़ पर आरोप है।

यों तो छायावादी कवियों ने परम्परागत अलंकारों से निरपेक्ष होकर रचनाएँ की हैं, फिर भी इनकी कविताओं में कुछ पुरातन अलंकारों के अतिरिक्त 'विशेषण-विपर्यय' आदि कतिपय नवीन अलंकारों का भी समावेश हो गया है।

छन्द—द्विवेदी-युग में परम्परागत मात्रिक तथा वर्णिक छन्दों में कविता की गई थी, पर इस युग की कविता में इन छन्दों की नितान्त अवहेलना की गई है। छायावादी कवियों को छन्दों का बन्धन रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने इनसे विमुक्त होकर रचना की। यहाँ तक कि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने और उनके अनुकरण पर पन्त, महादेवी आदि ने 'मुक्तक' छन्द का प्रयोग किया। प्रारम्भ में ऐसे छन्द का विरोध भी हुआ—तिरस्कारवश इसे 'रबर' छन्द; 'केंचुआ' छन्द आदि नामों से पुकारा गया, पर धीरे-धीरे इसके प्रति यह अश्रद्धा कम होती

गई। इस छन्द के दो उदाहरण लीजिए—

(क) **माँ, मुझे वहाँ तू ले चल**
देखूँगा वह द्वार
दिवस का पार
मूच्छित हुआ पड़ा है जहाँ
वेदना का संसार।

(ख) **कहाँ ?**
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा—
रुकती है गति जहाँ।

संक्षेप में छायावादी कविता की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) इसका जन्म द्विवेदी-युगीन कविता की इतिवृत्तात्मकता और गद्यमयता के प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ।

(२) इसका प्रधान विषय प्रकृति का मानवीकरण है।

(३) इसकी निरूपण-शैली ललित एवं सर्वथा नवीन है तथा छन्दो-योजना प्राचीन बन्धनों से नितान्त मुक्त है।

रहस्यवाद

स्वरूप—आत्मा और परमात्मा के परस्पर प्रणय-सम्बन्ध को साहित्य में रहस्यवाद का नाम दिया जाता है। शास्त्रीय परिभाषा में जिसे अद्वैतवाद कहा जाता है साहित्यिक अभिव्यक्ति में वह ही रहस्यवाद बन जाता है। छायावाद और रहस्यवाद में प्रमुख अन्तर यह है कि छायावाद में आत्मा और प्रकृति के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और रहस्यवाद में आत्मा और परमात्मा के बीच प्रेममूलक होने के कारण रहस्यवाद में लौकिक प्रेम में होने वाली सभी सञ्चारी वृत्तियों—उत्कण्ठा, उल्लास, विरहवेदना और संयोग-सुख के दर्शन होते हैं। वस्तुत: लौकिक प्रेम और रहस्यवादी प्रेम में अन्तर केवल आलम्बन का है और थोड़े-से हेर-फेर से अथवा आलम्बन के परिवर्तन मात्र से ही लोक-प्रणय से

सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रसङ्ग रहस्यवाद के आध्यात्मिक प्रेम के निदर्शन बन जाते हैं क्योंकि प्रेमी, प्रेमिका, प्रियतम, प्रिया आदि पदों का व्यवहार लौकिक और अलौकिक प्रेम के क्षेत्र में एक-सा ही है। श्री सुमन अपने रहस्यमय प्रियतम को इन्हीं शब्दों में पुकारते हैं—

चला जा रहा हूँ पर तेरा अन्त नहीं मिलता प्यारे।

और प्रसाद अपनी उत्फुल्लता में यही कह उठते हैं—

मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये।

आत्मा की परमात्मा के प्रति इस विकल भावना को रहस्यवादी परिभाषा में 'माधुर्य भाव' कहा जाता है। इस भाव से प्रेरित आत्मा परमात्मा को अपना पति मान कर उसके मिलन की आकांक्षा में व्याकुल रहती है। कबीर ने अपने को 'हरि की बहुरिया' कहा है।

विकास की तीन कोटियाँ—

रहस्यवादी भावना के विकास की तीन कोटियां मानी गई हैं—जिज्ञासा, विरहानुभूति और ऐक्य।

(१) **जिज्ञासा**—प्रथम स्थिति में आत्मा विश्व के इस विराट् सौन्दर्य से अभिभूत अथवा विस्मित होकर इस जिज्ञासा से व्याकुल होती है कि इस दृश्य का आधार कौन है, और इस सौन्दर्य के पीछे किसकी सत्ता तिरोहित है। निराला की व्याकुल पुकार सुनिए—

कौन तम के पार रे कह

पन्त के हृदय का मुखर प्रश्न भी सुनिए—

विश्व के पलकों पर सुकुमार, विचरते हैं जब स्वप्न अजान।
न जाने नक्षत्रों से कौन, संदेशा मुझे भेजता मौन।।

(२) **विरहानुभूति**—यह मौन जिज्ञासा क्रमशः अपनी निरन्तर उत्कण्ठा के परिणाम-स्वरूप किसी अनिर्वचनीय सत्ता में विश्वास करने लगती है और हृदय कह उठता है—

हे विराट्! हे विश्वदेव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान'।
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत, यही कर रहा सागर गान।।

यह विश्वास होने के बाद आत्मा सौन्दर्य और माधुर्य के उस महा-सागर की ओर दौड़ती है, तीव्र मिलन की आकांक्षा से। यह स्थिति आत्मा की विरहानुभूति की अवस्था है। आत्मा को ऐसा आभास होता है मानो वह जन्म-जन्मान्तर से एक विकल तृषा को सँजोये हुए इस सत्ता का अनुसन्धान कर रही है। न जाने कब से वह परमात्मा से बिछुड़ी है और अपनी अश्रुधारा से प्रियतम के पथ का अभिषिञ्चन कर रही है। महादेवी की विकलता कितनी करुण बन पड़ी है—

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते,
आंखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते,

इस स्थिति में कभी-कभी आत्मा झुंझला उठती है और पश्चात्ताप के स्वर में कहने लगती है—

किन बिगड़ी घड़ियों में झांका
तुझे झांकना पाप हुआ।
आग लगे वरदान निगोड़ा
मुझ पर आ अभिशाप हुआ।

(३) **ऐक्य**—तृतीय स्थिति में साधक को सफलता मिलती है। विरह का विराट्-पथ पार करने के बाद प्रियतम से उसका ऐक्य होता है। परन्तु यह देख कर आत्मा को बड़ा विस्मय होता है कि वह जिसे अब तक इस अनन्त पथ पर ढूंढ रही थी वह उसका प्रियतम तो उसके हृदय में ही है।

जीवन का जीवन बन कर, वह सांस सांस की बनकर।
है पास पास ही रहता, चितवन की चितवन बन कर॥
अपना ही पथ तो मुझको बन गया अनन्त अगम था।
मैं समझ नहीं पायी थी मुझ में मेरा प्रियतम था॥

इस प्रकार रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा की मूलगत अद्वैत

भावना की पृष्ठ-भूमि पर एक सरस काव्य का निर्माण करता है। आत्मा और परमात्मा के मिलन से उत्पन्न आनन्द की व्याख्या करने के लिए लोक-भाषा पर्याप्त नहीं होती—

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ।
आज अनश्वर गीत ॥

अतः उसी अतीन्द्रिय आह्लाद को प्रकट करने के लिए प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है। कबीर ने इस आनन्दानुभूति को गूंगों का गुड़ कह कर इसकी अनिर्वचनीयता प्रकट की है—

आतम अनुभव ज्ञान की जो कोई पूछे बात
सो गूंगा गुड़ खाय के, कहे कौन मुख स्वाद।

प्रकार—रहस्यवाद के प्रमुख दो प्रकार हैं—आध्यात्मिक और दार्शनिक।

१. आध्यात्मिक रहस्यवाद में कवि प्रकृति के दर्शन करता है। माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा', सुमित्रानन्दन पन्त, वियोगी हरि, रायकृष्णदास इसी श्रेणी के रहस्यवादी कवि हैं।

२. दार्शनिक रहस्यवाद में शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार ईश्वर का विवेचन किया जाता है। प्रसाद, गुप्त और निराला की अधिकांश रहस्य-वादी कविताएँ इसी श्रेणी में आती हैं। प्रसाद की कविताओं का आधार बौद्धशास्त्र है और मैथिलीशरण गुप्त तथा निराला की कविताओं का आधार उपनिषद् हैं। महादेवी वर्मा की कविताएँ आध्यात्मिक रहस्यवाद के अन्तर्गत भी आती हैं और दार्शनिक रहस्यवाद के अन्तर्गत भी।

परम्परा—उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त सम्भवतः यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी-साहित्य में यह कोई नूतन विषय नहीं है। जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं, कबीर और जायसी की कविताओं में भी रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ कुछ सीमा तक उपलब्ध हो जाती हैं। उदाहर-णार्थ, रहस्यवाद की वर्णनातीत अवस्था के सम्बन्ध में कबीर का यह कथन देखिए—

अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाइ।
गूंगा केरा सरकरा, बैठा मुसकाइ।

यही असमर्थता सिद्ध-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य सरह पाद ने भी प्रकट की थी—

शिवं न जानामि कथं वदामि,
शिवं च जानामि कथं वदामि।

इसी प्रकार कबीर और जायसी के वे कथन, जिनमें इन्होंने आत्मा और परमात्मा को क्रमशः 'पत्नी और पति' रूप में तथा 'पति और पत्नी' रूप में वर्णित किया है, रहस्यवाद के अन्तर्गत आएँगे। उदाहरणार्थ, कबीर का निम्नोक्त कथन देखिए—

राम देव मोहि ब्याहन आये, मैं जोबन मदमाती।

× × × ×

कहै कबीर मोहि ब्याहि चले हैं पुरुष एक अबिनासी॥

पर इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आधुनिक कवियों को कबीर, जायसी आदि से प्रेरणा मिली है। प्रसाद, पन्त, महादेवी, निराला आदि रहस्यवादी कवियों ने स्वतन्त्र रूप से इस विषय को अपनाया है।

अन्त में रहस्यवाद के सम्बन्ध में निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि—

(१) रहस्यवादी कविता का प्रधान विषय 'आत्मा और परमात्मा' का सम्बन्ध-स्थापन है। छायावादी कविता से इसका अन्तर यह है कि इसमें 'आत्मा और प्रकृति' का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

(२) यद्यपि रहस्यवाद हिन्दी-कविता का नवीन विषय नहीं है, कबीर, जायसी आदि की रचना में इसका स्वरूप उपलब्ध हो जाता है, तथापि आधुनिक रहस्यवादी कवियों पर पुरातन कवियों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित नहीं होता।

(३) जितने रहस्यवादी कवि हैं, वे प्रायः छायावादी भी हैं अतः इन वादों की शैली एवं छन्दोविधान में कोई अन्तर नहीं है।

प्रगतिवाद

छायावाद की प्रतिक्रिया—प्रसाद-युग में ही छायावाद और रहस्य-वाद की कविताओं के समाप्त होते-न-होते प्रगतिवादी कविताओं की सृष्टि प्रारम्भ हो गई। इसका कारण यह है कि छायावाद की अतिशय लोक-निरपेक्षता एवं सूक्ष्म भावपरता और रहस्यवाद की अतिशय आत्म-परता में जनसामान्य के मन को रमाने की सामग्री न थी—जीवन के संघर्ष से विमुख होकर एकान्त आत्मसाधना विरले ही कर सकते हैं। परिणामस्वरूप छायावाद की सूक्ष्म भावपरता के विरुद्ध भी साहित्य में क्रान्ति का स्वर ऊँचा हुआ और 'प्रगतिवाद' नाम से एक नवीन काव्य-धारा का जन्म हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य था—सूक्ष्म के विरुद्ध स्थूल को उभारना अर्थात् मानसिक भावों के स्थान पर जीवन की भौतिक आव-श्यकताओं को मुखर करना।

स्रोत—प्रगतिवाद अपने मूल अर्थ में उन्नति और विकास का द्योतक है, परन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ में आज यह शब्द एक संकीर्ण विचार-धारा का समर्थक है। इसके अनुसार जीवन की प्रगति और उसके अनु-रूप साहित्य का विकास एक विशेष दिशा में और एक विशेष पद्धति का अवलम्बन करने से हो सकता है। इस पद्धति का नाम है—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इसका ध्येय है मानवजीवन की एकमात्र भौतिक प्रगति। राजनीति के क्षेत्र में यह विचारधारा 'साम्यवाद' नाम से प्रख्यात है।

वस्तुतः प्रगतिवादी साहित्य का मूल सम्बन्ध रूस के मार्क्सवाद, रूस की राज्यक्रान्ति और लाल सेना के साथ है। रूस में राज्यक्रान्ति के उपरान्त रूस की सरकार द्वारा कवियों को इस बात के लिए प्रेरित किया गया कि वे समाजवाद एवं साम्यवाद को उन्नत बनाने, रूस की पञ्चवर्षीय योजना, सामूहिक कृषि-कार्य आदि योजनाओं को सफल बनाने के लिए कविताएँ लिखें, जिनके द्वारा जनता में 'मार्क्सवाद' का प्रचार हो। परिणाम-स्वरूप वहाँ ऐसे साहित्य का निर्माण होने लगा और धीरे-धीरे साम्यवाद वहाँ की जनता के हृदय में प्रवेश पा गया। साम्यवाद के

इसी प्रचारक साहित्य का नाम 'प्रगतिवाद' है। इधर राजनीतिक कारणों से भारत में भी साम्यवाद का प्रचार होने लग गया और भारतीय भाषाओं में प्रगतिवादी साहित्य की सृष्टि होने लगी। हिन्दी-कविता भी इस से अछूती न रही। सुमित्रानन्दन पन्त, नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगलसिंह 'सुमन', रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि कवियों ने प्रगतिवादी कविताएँ लिखनी आरम्भ कर दीं।

मूल विषय—साम्यवादी कहते हैं कि इस संसार के मूल में दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है—एक उन्नायक शक्ति है और दूसरी पतनोन्मुख। प्रगतिवादी को चाहिए कि वह इस द्वन्द्व में विकासोन्मुख शक्ति को सहायता दे और ह्रासोन्मुख शक्ति का बलपूर्वक नाश करे। जो व्यक्ति इस धारणा में विश्वास रखता है वह 'प्रगतिवादी' है। अन्य सब प्रतिक्रिया-वादी हैं। आज के भौतिक युग में भी दो विरोधी शक्तियाँ कार्यरत हैं—पूँजीवाद और समाजवाद। पूँजीवाद जर्जर हो चुका है, समाजवाद उदीयमान शक्ति है। अतः प्रगतिवादी वह है, जो इस उदयोन्मुख शक्ति का पृष्ठपोषक है। परिणामतः प्रगतिवादी कवि साहित्य को एक सामाजिक विधान मानता है। वह उसके व्यक्तिगत तत्त्व का नितान्त प्रतिवाद करता है। इसलिए उसके अनुसार साहित्य का सर्जन सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर होना चाहिए। यही कारण है कि इनकी कविताओं में व्यक्ति-कल्याण के स्थान पर समाज-कल्याण की भावना प्रधान है। इसी कारण प्राचीन इतिहास को ये अर्थलोलुपता और साम्राज्य-लिप्सा की कहानी मानते हैं। एक प्राचीन सम्राट् द्वारा अपने देश की सम्पूर्ण प्रजा पर निष्कंटक शासन करना उसे बहुत अखरता है। आज के युग में सहस्रों मज़दूरों की पूंजी को हड़प करने वाले पूँजीपति का भी वह प्रबल विरोधी है। इसी के फलस्वरूप प्रगतिवादी अधिकांश साहित्य मज़दूरों और किसानों के पक्ष में लिखा गया। भिक्षुकों से भी इन्हें विशेष सहानुभूति है। एक भिखारी के सम्बन्ध में ये दो चित्र देखिए—

(क) चिथड़ों में से दुर्गन्ध कढ़ी,
रोगों से उसकी देह सड़ी।
उसके मुख से छूट रही,
कलुषित वचनों की एक लड़ी ॥

(ख) वह आता
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ मिल कर दोनों हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक ॥

प्राचीन रूढ़ियों का विध्वंस—सामाजिक हित का सम्पादन करने के मार्ग में अथवा समाज को प्रगति के पथ पर ले जाने में जब भी जिस प्रकार की भी बाधा हो—चाहे वह धर्म की हो, भगवान् की हो, पुरातन साहित्य की हो अथवा परम्परागत संस्कृति की हो—उन सबका विध्वंस प्रगतिवाद को अभीष्ट है। प्रगतिवादी कवि खुल्लमखुल्ला यह हुंकार करता है। 'नवीन के शब्दों में—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल पुथल मच जाए।
एक हिलोर उधर से आए, एक हिलोर इधर से आए।
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि त्राहि रव नभ में छाए।
नाश और सत्यानाशों का धुँआँधार जग में छा जाए ॥

और पन्त के शब्दों में—

गा कोकिल बरसा पावक-कण
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बन्धन
हो पल्लवित नवल मानव मन ॥

प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना प्रगतिवाद का प्रधान स्वर है। पन्त की निश्चित धारणा है कि—

आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल
वर्गों में ही सीमित
अर्धमूल संस्कृति को होना,
अधोभूत है निश्चित।

जीवन के सभी क्षेत्रों में नवीनता लाने के उद्देश्य से प्रगतिवाद सभी रूढ़ि-रीतियों और वर्ग-विभाजनों का शत्रु है। वह ऐसे जग का निर्माण करना चाहता है—

रूढ़ि-रीतियाँ जहाँ न हो आराधित।
श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित॥

डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जिसके मूल तत्त्व ये हैं—

(१) **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**—केवल आर्थिक विधान की मान्यता, ईश्वर और आत्मा की सत्ता की अस्वीकृति।

(२) **समाजवाद** (जिसके मूल में मानववाद भी अन्तर्निहित है)—समाजवाद का समर्थन, पूँजीवाद और उससे सम्बद्ध राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्ति।

त्रुटियाँ—उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य में गुण भी हैं और दोष भी—

(क) निस्सन्देह इन कवियों की मज़दूरों-किसानों के प्रति सहानुभूति है, पर सारा मज़दूर-वर्ग सहानुभूति का पात्र हो और सारा पूँजीपति-वर्ग घृणा का पात्र—इस प्रकार की भावनाएँ व्यावहारिक रूप से ठीक नहीं उतरतीं।

(ख) यह ठीक है कि वे समाज की दुर्दशा का यथार्थ चित्र उतार कर सामने रख देते हैं, पर कभी-कभी उनके ये चित्र इतने अश्लील एवं घृणास्पद बन जाते हैं कि इन्हें साहित्य में स्थान देना 'साहित्य' शब्द को कलंकित करना है। इधर ईश्वर, धर्म तथा प्राचीन संस्कृति के प्रति अनास्था और अविश्वास का प्रचार भी भारत-जैसे धर्म-प्रधान देश और

हिन्दू-जैसी धर्मप्रधान जाति के लिए कदापि उचित नहीं है।

(ग) कलात्मक दृष्टि से भी अभी यह साहित्य प्रौढ़ तथा परिपक्व नहीं बन पाया। छायावादी और रहस्यवादी कविताओं के समान इसकी भाषा में वह लालित्य और माधुर्य नहीं है। इसका एक कारण तो यह है कि अभी यह साहित्य अपेक्षाकृत नया है; और दूसरा कारण यह कि प्रचार की दृष्टि से जो भी साहित्य लिखा जाएगा वह कलात्मक दृष्टि से निस्सन्देह हीन होगा। रूस में ऐसे साहित्य का उद्देश्य साम्यवाद का प्रचार करना था, भारत में भी मूलतः इसका उद्देश्य यही है।

इतनी त्रुटियाँ होने पर भी यही कहना पड़ेगा कि यदि भारतीय समस्याओं को लेकर भारतीय वातावरण में ही इस साहित्य का निर्माण किया जाए, तो निस्सन्देह यह हितकर प्रमाणित हो सकता है, पर वर्त्तमान स्थिति में यह पूर्णतः ग्राह्य नहीं है।

प्रयोगवाद

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में साम्य और वैषम्य—

प्रयोगवाद को प्रगतिवाद का अनुज कहें तो अत्युक्ति न होगी। आधारभूत सिद्धान्तों में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों मेल रखते हैं या यों कहिये कि एक ही हैं। दोनों का जन्म छायावाद की अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर व्यावहारिक और सामाजिक जीवन की मूर्त्त अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। दोनों का दृष्टिकोण बौद्धिक और आलोचनात्मक है। साहित्य को दोनों सामाजिक चेतना मानते हैं। परन्तु जहाँ तक साहित्य की प्रगति का सम्बन्ध है, प्रयोगवादी जीवन को चिर गतिशील मानते हुए साहित्य में नये-नये प्रयोगों के करने में विश्वास रखता है, वह प्रगतिवादियों के समान किसी सुस्थिर और सुनिश्चित मानदण्ड से चिपकने में विश्वास नहीं रखता। यही कारण है कि वह भाव और कला दोनों क्षेत्रों में नव-नव प्रयोग का पक्षपाती है।

स्वरूप—प्रयोगवाद को वस्तुतः काव्य-सम्बन्धी 'नव प्रयोग' अथवा

इससे भी और आगे बढ़कर अनुसन्धान ही कहना अधिक संगत होगा। इसके अनुयायियों का **'दावा केवल यही है कि ये (प्रयोगवादी कवि) अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है.........बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राहों के अन्वेषी।'**

—तार-सप्तक की भूमिका (अज्ञेय)

साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम है। प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले और नित्य नवीन रूप धारण करने वाले जीवन की अभिव्यक्ति स्थिर तथा अपरिवर्तनशील साधनों द्वारा सम्भव नहीं है। इसलिए प्रयोगवादियों का विश्वास है कि भाव और भाषा के क्षेत्र में नवीन शोध और नये प्रयोग होते रहने चाहियें। प्रयोगवादी को यह स्वीकार नहीं है कि जीवन अथवा साहित्य में कभी वह स्थिति आ जाय कि जब सब-कुछ स्थिर हो जाय और आगे जो कुछ हो, उसका पुनरावर्तन-मात्र हो। यही कारण है कि अपने पूर्ववर्ती 'छायायुग' की सभी मान-मान्यताएँ इसे ठीक नहीं जँचतीं। प्रयोगवाद भावक्षेत्र में छायावाद की अतीन्द्रिय सौन्दर्य-चेतना का विरोधी है। वह इसके स्थान पर वस्तुपरक ऐन्द्रिय चेतना का विकास करना चाहता है। छायावाद के अनुसार उसे केवल 'मसृण', 'मधुर' और सुकुमार शब्दों का प्रयोग अभीष्ट नहीं है। वह इनके स्थान पर 'परुष', 'अनगढ़' और 'भदेस' शब्दों का समावेश कर देता है—

निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद,
मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव
धैर्य-धन गदहा

विषय की 'भदेसता' के साथ भाषा में भी 'भदेसता' का आग्रह प्रयोगवादी करता है—

'सरग था ऊपर,
नीचे पताल था--
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था' ।

प्रयोगवाद का कहना है कि सौन्दर्य के दोनों रूप हैं 'मधुर' भी और 'परुष' भी। उसे किसी एक रूप तक सीमित रखना उसकी व्यापकता को संकुचित करना है। देखा जाय तो आज के वास्तविक जीवन में पदार्थ का अनगढ़ और अनमिल रूप ही हमारे अधिक समीप है, इसलिए उसी की अभिव्यक्ति आज के युग की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

बाह्य विधान—प्रयोगवाद भाषा के सर्वथा व्यक्तिगत प्रयोग पर बल देता है। साधारण शब्द उसके विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने में अक्षम्य है। अतः वह उनका वैयक्तिक प्रयोग करता है; अर्थात् शब्द के साधारण अर्थ में अपनी विशिष्ट रुचि के अनुरूप अन्य अर्थ ठोंसने का प्रयोग करता है। यही बात उसके अप्रस्तुत-विधान पर भी लागू होती है। परिणाम यह होता है कि सर्वथा अपरिचित और अतिरिक्त भार का बोझ न उठा सकने के कारण उसकी भाषा उसका साथ नहीं दे पाती, तब वह अपना काम चलाता है मनमाने साधनों से अर्थात् 'प्रयोगात्मक' प्रयोगों से—विराम-संकेत, अङ्क, सीधी-तिरछी लकीरें, छोटे-बड़े टाईप, उलटे-सीधे अक्षर, लोगों और स्थानों के नाम, अधूरे वाक्य आदि। छन्दोविधान में भी सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर प्रयोगवाद 'मुक्तछन्द' को प्रश्रय देता है। फलतः प्रयोगवाद की कविताएँ एक गोरख-धन्धा-सा बनकर रह गई हैं। उनकी दुरूहता ही उनकी विशिष्टता है। सम्भव है प्रयोगवाद की यह स्थिति आगे चलकर सम्भल जाय, पर अभी तो उसकी प्रारम्भिक अवस्था अधिकांशतः अनगढ़ और हास्यप्रद है।

कवि-परिचय

(१) मैथिलीशरण गुप्त

गुप्तजी का जन्म श्रावण शुक्ला द्वितीया सोमवार संवत् १६४३ को चिरगाँव ज़िला झाँसी में हुआ। प्रसिद्ध मुसलमान कवि मुन्शी अजमेरी की देख-रेख में इनका शिक्षण हुआ। मुन्शीजी के निकट-सम्पर्क से इनमें साम्प्रदायिक उदारता और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के विचार पल्लवित हुए। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के तत्त्वावधान में इनकी काव्य-साधना प्रारम्भ हुई। गुप्तजी का हृदय राम-भक्ति, देशभक्ति और पुरातन के प्रति अनुरक्ति—इस त्रिवेणी का संगम-स्थल है।

रचनाएँ—

इनकी समस्त रचनाओं को बाह्य दृष्टि से दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—अनूदित और मौलिक।

अनूदित—विरहिणी व्रजाङ्गना—बङ्गला के सुविख्यात कवि माइकेल मधुसूदन की रचना का हिन्दी अनुवाद है, 'वीरांगना', 'मेघनाद-वध' और 'पलासी का युद्ध' भी बङ्गला से अनूदित ग्रन्थ हैं।

मौलिक—इनके मौलिक ग्रन्थों को काव्य-रूप की दृष्टि से तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—गीति-काव्य, खण्ड-काव्य और महाकाव्य। विषय की दृष्टि से इन्हें इतिवृत्तात्मक और भावात्मक, दो प्रकार का कहा जा सकता है।

'भारत-भारती', 'स्वदेश संगीत', 'वैतालिक', 'किसान', हिन्दू', 'पत्रावली' इन रचनाओं में कवि के राष्ट्रीय और जातीय भाव व्यक्त हुए हैं। 'झंकार' और 'मंगलघट' भावात्मक गीति-काव्य हैं। इतिवृत्तात्मक रचनाओं का आधार सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कथानक है। 'नहुष' में पुराण-प्रतिपादित वैदिक युग की झलक है। 'शकुन्तला' भी इसी युग से सम्बद्ध है। 'पंचवटी' और 'साकेत' रामायण-काल का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'जयद्रथ वध', 'द्वापर' महाभारत की कथा पर आश्रित हैं। 'शक्ति' में

पुराण-युग प्रतिफलित हो रहा है। 'यशोधरा' 'कुणाल' और 'अनघ'—बौद्धकाल से सम्बद्ध रचनाएँ हैं। सिद्धराज में मध्ययुगीन इतिहास की एक झलक मिलती है। 'काबा और कर्बला' में इस्लाम का उदयकाल है। 'गुरुकुल' सिक्खों के दस गुरुओं की गौरवगाथा प्रस्तुत करता है। 'अर्जन और विसर्जन' ईसाई संस्कृति को मुखरित करता है। इनकी प्रसिद्ध कृतियों का सामान्य परिचय लीजिए—

भारत-भारती—इसमें हिन्दू-जाति की वर्तमान अधोगति और अतीत समृद्धि का वर्णन बड़े प्रभावशाली ढंग से करते हुए, उसके उज्ज्वल भविष्य की संभावना और प्रेरणा प्रकट की गई है।

जयद्रथ-वध—प्रचार और लोकप्रियता की दृष्टि से दूसरा स्थान 'जयद्रथ-वध' का है। यह एक वीर और करुण-रस-प्रधान खण्ड-काव्य है। उसमें अभिमन्यु की वीरगति से लेकर जयद्रथ-वध तक की कथा वर्णित है—

पञ्चवटी—इसमें राम-सीता के बनवास-कालीन वृत्त का वर्णन है। इसमें कवि ने सभी चरित्रों को एक सामान्य मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया है।

साकेत—साकेत को कवि ने अपना हृदय-धन माना है। अपने स्वर्गीय पिता के चरणों में इसे समर्पित करते हुए आपने लिखा है—

आज श्राद्ध के दिन तुम्हें श्रद्धा भक्ति समेत।
अर्पित करता हूं यही निज कवि धन साकेत॥

इसमें श्रीराम के राज्याभिषेक से लेकर वन से वापिस आने तक का प्रसङ्ग चित्रित है। इस काव्य में कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों द्वारा उपेक्षित पात्र उर्मिला को अपनी संवेदनशील प्रतिभा से उभारकर गौरवान्वित किया है। इसमें लक्ष्मण, उर्मिला और भरत का त्याग-अनुरागमय जीवन मनोवैज्ञानिक भित्ति पर अङ्कित हुआ है। कैकेयी के चरित्र को भी एक सुत-वत्सला मां के रूप में उभार कर कवि ने उसके युगयुगागत कलङ्क को धो डाला है। इसमें वियोगिनी उर्मिला का विलाप अत्यन्त

मर्मस्पर्शी स्थल है ।

यशोधरा—महात्मा बुद्ध के विरक्त होकर गृह-त्याग की कथा को इस कृति में अत्यन्त करुणापूर्ण शब्दों में चित्रित किया गया है । यद्यपि ग्रन्थ का उपोद्घात इन शब्दों से हुआ है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी ।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ।

परन्तु यशोधरा का चित्रण एक वीराङ्गना के रूप में भी हुआ है । वह अबला-जीवन के आँसू न बहा कर जीवन के परीक्षा-क्षेत्र में सन्नद्ध होकर उतरती है—

अब कठोर हो वज्रादपि ओ, कुसुमादपि सुकुमारी ।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है तुम्हारी बारी ।।

यह काव्य आद्यन्त करुण रस से प्लावित है । गुप्त जी की प्रमुख कृतियों का अवलोकन करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि उनका काव्य दो भिन्न धाराओं में बँटा हुआ है । एक वह धारा है जिसमें स्वजाति और स्वदेश की दीन दलित दशा का चित्रण है । इसमें भारतभारती हिन्दू, वैतालिक—स्वदेश-संगीत और किसान आदि रचनाएँ आ जाती हैं । दूसरी धारा वह है जिसमें आर्यावर्त और हिन्दू-जाति के पुरातन गौरव का अंकन है । इसमें साकेत, यशोधरा, पञ्चवटी, जयद्रथवध, गुरुकुल, शकुन्तला और तिलोत्तमा आदि सम्मिलित हैं ।

गुप्तजी ने केवल विनोद के लिए बहुत कम लिखा है । कला के विषय में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है ।

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिये ।
उसमें तनिक उपदेश का भी मर्म होना चाहिये ।।

आपकी दृष्टि भावों की विशुद्धता पर रहती है । शृंगार रस में भी सात्विक और पावन भावनाओं को आप प्रस्तुत करते हैं । वासनामय चित्र आपने कहीं नहीं दिये । आपके पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के चित्रण में सदा एक मधुर संयम मिलता है । गुप्त जी को भाषा पर

पूर्ण अधिकार है। इनकी भाषा में तद्भव शब्दों की प्रधानता रहती है। प्रान्तीय शब्दों का व्यवहार भी आपकी भाषा में हुआ है। जनी, धनी, आदि शब्द इस कोटि के हैं। तुक के आग्रह में कहीं-कहीं अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भी हुआ है।

(२) जयशंकर प्रसाद

बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न जयशंकरप्रसाद के नाटक, उपन्यास तथा कथा-साहित्य पर हम पीछे यथास्थान प्रकाश डाल आये हैं। यहाँ उनके कवि-रूप की चर्चा की जाती है। उनके प्रख्यात काव्य-ग्रन्थ हैं—'कानन-कुसुम', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्त्व', 'प्रेम-पथिक', 'झरना', 'आँसू', 'लहर', 'चित्राधार' और 'कामायनी'। सर्वप्रथम इनकी रचनाओं का सामान्य परिचय लीजिए—

महाराणा का महत्त्व—यह एक अतुकान्त रचना है। काव्यकला की दृष्टि से इसमें और 'करुणालय' में पर्याप्त साम्य है। हाँ, इस कृति में सात्त्विकता का स्वर और ऐतिहासिक प्रेरणा भी पाई जाती है। अपने सैनिकों से बन्दी बनाई हुई नवाब अब्दुर्रहीम की पत्नी को महाराणा प्रताप द्वारा ससम्मान लौटाया जाना इस ग्रन्थ का प्रधान विषय है।

प्रेमपथिक—इसकी रचना पहले व्रजभाषा में हुई थी फिर बाद में इसे खड़ीबोली में रूपान्तरित किया गया। दो प्रेमी हृदयों के मर्मस्पर्शी चित्रण द्वारा इसमें निस्पृह आत्मबलिदान की भावना प्रकट हुई है—

प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना-हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्गबिहारी होने का फल पाओगे॥

झरना—यह 'छायावाद' की सर्वप्रथम कृति है। यौवनसुलभ वासना के साथ संयमवृत्ति का संघर्ष इसमें भव्य रूप में अंकित है—

करता हूँ जब कभी प्रार्थना कर संकलित विचार।
तभी कामना के नूपुर की हो जाती झंकार॥

'आँसू' का मुख्य विषय विप्रलम्भ-शृंगार है जो कि करुणा के अभिषेक से संस्कृत होकर विश्वमंगल की सौम्य कामना से पुनीत हो उठा है—

निर्भय जगती को तेरा, मंगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की, कल्याणी शीतल ज्वाला।।

लाक्षणिक प्रयोगों के आधिक्य ने कहीं-कहीं अर्थबोध में बाधा उपस्थित कर दी है।

लहर—इस रचना में प्रकृति के भव्य चित्रों के साथ विगत के चलचित्रों का भी अंकन हुआ है। 'अशोक की चिन्ता', 'शेरसिंह का आत्मसमर्पण', 'प्रलय की छाया' और 'अरी ओ वरुणा की शान्त कछार' आदि कविताओं में कवि ने प्राचीन इतिहास को सस्वर किया है।

चित्राधार—प्रसाद जी के प्रारम्भिक जीवन की कविताओं का यह संग्रह है। कवि के किशोरावस्था की तीव्रानुभूति वस्तुतः विस्मित करने वाली है। यह ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में लिखित है।

कामायनी—यह प्रसादजी की अन्तिम, सर्वोत्तम और प्रौढ़तम काव्य-रचना है। विकास और विस्तार की दृष्टि से भी यह उनके काव्यों में अन्यतम है। प्राचीन जलप्लावन के बाद मनु द्वारा संसार के पुनर्निर्माण की कथा इस प्रबन्ध-काव्य का प्रमुख कथानक है। काव्य का संक्षिप्त सूत्र है—मनु का पहले श्रद्धा को और फिर इड़ा को पत्नी रूप में ग्रहण करना और इड़ा पर सर्वाधिकार करने की चेष्टा में देवताओं के प्रकोप का भाजन बनना। अप्रस्तुत योजना के अनुसार श्रद्धा यहाँ विश्राममयी रागप्रमुख वृत्ति के रूप में वर्णित हुई और इड़ा व्यवसायमूलक बुद्धि के।

कामायनी की कथा कोरी कल्पना नहीं है। इसके स्रोत हैं—शतपथ ब्राह्मण, उपनिषद् और भागवत में इधर-उधर बिखरे हुए जलप्लावन-कथा के निर्देश। प्रसाद जी की सार-ग्राहिणी प्रतिभा ने उन्हें व्यवस्थित करके साङ्गरूपक मूलक कथानक का आकार प्रदान किया है।

कामायनी में महाकाव्य के सभी लक्षण चरितार्थ होते हैं। रामचरित-मानस के बाद यह ही एक महाकाव्य है जो हिन्दी-साहित्य को विश्वसाहित्य में स्थान दिला सकता है।

प्रसाद जी ने छायावादी शैली में मानव जीवन की व्याख्या इसमें

की है। दार्शनिक तत्त्व के आधार पर शैवतल की सुन्दर स्थापना करना भी कामायनी का एक लक्ष्य है। सुखदुःखमयी सृष्टि में समभाव से व्यवहार करना शैवतल का आदर्श है। असंयत बुद्धि संघर्ष को जन्म देती है और श्रद्धा मुक्ति-मार्ग की निर्देशिका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद के काव्य में छायावाद और रहस्यवाद का प्रस्फुटन है; विभिन्न प्रकार के काव्य-रूपों का प्रयोग हुआ है। वे भारतीय संस्कृत के सफल चितेरे हैं, दार्शनिकता को कविता के रूप में प्रस्तुत करना प्रसाद जैसे महान् व्यक्ति का कार्य था। गम्भीर विषय के अनुरूप इनकी भाषा भी गम्भीर एवं सशक्त है—भले ही वह सामान्य जन को सुबोध न हो, पर गम्भीर एवं प्रौढ़ साहित्य-निर्माण की क्षमता उसमें पूर्ण रूप से है। इन सब विशेषताओं के कारण बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न प्रसाद का नाम काव्यक्षेत्र में भी अग्रगण्य है।

(३) सुमित्रानन्दन पन्त

जीवन—अल्मोड़ा से २५ मील दूर कौमानी नामक एक रमणीय गाँव में पन्त जी का जन्म सं० १९५७ में हुआ था। पन्त के काव्य को उनके भौतिक वातावरण और साहित्यिक अनुशीलन ने पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। भौतिक परिवेश में उनकी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश का विशेष महत्त्व है। यहाँ के प्राकृतिक और पर्वतीय वातावरण ने उन्हें सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना का उपजीवी बनाया है। अध्ययन के क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के साहित्य ने इनके दर्शन, ज्ञान और विश्वास को पुष्ट किया है। अंग्रेज़ी काव्य में प्रमुखतः शैली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ और टेनीसन की छाप इनके साहित्य पर पड़ी है। पूर्व और पश्चिम के समन्वयात्मक दर्शन में पन्त जी रवि बाबू के ऋणी हैं।

पन्त की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, अनूदित रचनाएँ सभी क्षेत्रों में आपने हिन्दी-साहित्य को अपनी प्रतिभा का अनुदान दिया है। उनकी रचनाओं का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) **काव्य**—उच्छ्वास, पल्लव, पल्लविनी, वीणा, ग्रन्थि, गुञ्जन,

युगान्त, युगवाणी. ग्राम्या, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, मधुज्वाल ।

(२) **नाटक**—परी, क्रीड़ा, रानी, ज्योत्स्ना ।

(३) **उपन्यास**—हार ।

(४) **कहानी-संग्रह**—पाँच कहानियाँ ।

पन्त की काव्य-प्रतिभा में आरम्भ से ही विकास का क्रम रहा है। विकास-क्रम की दृष्टि से उनकी रचनाएँ तीन युगों में विभाजित की जा सकती हैं—(१) छायावादी सौन्दर्य-युग, (२) प्रगति-युग, (३) आध्यात्मिक-युग ।

नीचे पन्त जी की प्रमुख काव्य-कृतियों का संक्षिप्त आलोचन प्रस्तुत किया जाता है ।

ग्रन्थि—यह पन्त का विरह-काव्य है । इसमें एक तरुण-युगल के निराश प्रणय की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है । कहा जाता है कि इसमें पन्त के जीवन के आत्मकथात्मक संकेत छिपे हैं । समस्त काव्य वेदना की विह्वलता और उद्दाम यौवन के रस से पूर्ण है ।

पल्लव—इसमें कवि के यौवनकालीन गीत संग्रहीत हैं । प्रकृति के मधुर और उग्र रूपों का वर्णन इसमें सजीव रूप से हुआ है । इस संग्रह की 'परिवर्तन' कविता अत्यन्त ख्याति-लब्ध है । कहा जाता है कि छायावाद का सूत्रपात इसी काव्य से हुआ है । प्रकृति का मानवीकरण भी इस कृति में पाया जाता है । इस रचना ने भाव, भाषा और छन्द सभी क्षेत्रों में—एक युगान्तर-सा उपस्थित किया है ।

'गुञ्जन'—इस संग्रह-ग्रन्थ में पन्त का ध्यान प्रकृति की अपेक्षा मानव और जग-जीवन की ओर आकृष्ट हुआ है । जगजीवन अपूर्ण है, कवि पूर्ण जीवन चाहता है । यह पूर्णता सुख-दुःख के मधुर मिलन से स्थापित हो सकती है—

सुख दुःख के मधुर मिलन से, यह जीवन हो परिपूरण ।
फिर घन में ओझल हो शशि, फिर शशि से ओझल हो घन ।।

'गुञ्जन' का 'गंगावर्णन' छायावादी शैली में प्राकृतिक सौन्दर्य का एक

मनोरम चित्रण बन पड़ा है।

युगान्त—यह कवि की चिन्तनमूलक कविताओं का संग्रह है। इसे छायावाद और प्रगतिवाद के बीच की कड़ी कह सकते हैं। इस संग्रह की 'मानव' कविता में मानव का और 'बापू के प्रति' में आध्यात्मिकता का चित्रण है। महात्मा जी को अर्पित श्रद्धांजलि देखिए—

जड़वाद जर्जरित जग में, अवतरित हुए आत्मा महान्।
यन्त्राभिभूत जग में करने, मानव-जीवन का परित्राण॥

युगवाणी—इस नाम से संगृहीत कविताओं पर प्रगतिवाद के साथ गांधीवाद का भी प्रभाव लक्षित होता है। इन दोनों वादों का मूल उद्देश्य जनता के शोषण का अन्त करना था। कवि को ये दोनों ग्राह्य हैं, पर अपने-अपने क्षेत्र में—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद।
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद॥

'स्वर्णकिरण'—इसमें कवि ने प्रकृति और जीवन के विषय में आध्यात्मिक भावनाओं को व्यक्त किया है। इन कविताओं पर उपनिषदों का स्पष्ट प्रभाव है। कई कविताएँ तो वेदमन्त्रों और उपनिषदों का छायानुवाद-सी प्रतीत होती हैं।

भाषा और शैली—पन्त की भाषा में चित्रमयता है। शब्द-चयन पर उनका पूर्ण प्रभुत्व है। प्रत्येक शब्द उनकी साधना और चिन्तन का द्योतक है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के अतिरिक्त ब्रजभाषा, फ़ारसी, उर्दू तथा अँग्रेज़ी की शब्दावली से भी कवि ने अपनी भाषा को समृद्ध किया है। पन्त की विशेषता है—प्रत्येक भाषा में से कोमल, चित्रमय और कर्ण-सुखद शब्दों का निर्वाचन। संस्कृत भाषा में से उन्होंने रंगीन शब्दों का ही चयन किया है। उन्होंने नये शब्द भी गढ़े हैं—स्वप्निल, प्रिय, सिंगार, अनिर्वच आदि। पन्त अपनी कोमल कान्त पदावली के कारण 'कविता-कामिनी-कान्त' कहे जाते हैं। खड़ीबोली की खड़खड़ाहट और खुरखुराहट को दूर करके आपने उसे सुस्निग्ध और सुकुमार बना दिया है।

उनकी भाषा लय, ताल और संगीत के अधिक निकट है।

इस प्रकार कवि पन्त ने एक के बाद एक छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद से सम्बद्ध रचनाएँ करके, उत्तरोत्तर कमनीय से कमनीयतम होती हुई अपनी भाषा-शैली द्वारा तथा काव्यत्व के माध्यम से भारतीय संस्कृति के चित्रण द्वारा अपने समकालीन उदीयमान कवियों का पथप्रदर्शन किया है।

(४) सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

निराला जी का जन्म माघ शुक्ला ११ सं० १९५३ वि० को हुआ था। निराला जी युगप्रवर्तक कलाकार हैं। हिन्दी-साहित्य के विवर्धन और विकास में इनकी बहुमुखी कविप्रतिभा ने पूर्ण सहयोग दिया है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **काव्य**—'परिमल', 'गीतिका', 'तुलसीदास', 'अनामिका', 'कुक्कुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते', 'अपदा' और 'अर्चना'।

(२) **उपन्यास**—'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती', 'निरुपमा', 'उच्छृङ्खल', 'चोटी की पकड़', 'काले कारनामे', 'चमेली'।

(३) **रेखाचित्र**—'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर', 'बकरिहा'।

(४) **आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रह**—'प्रबन्धपद्म', 'प्रबन्ध-प्रतिमा', 'प्रबन्ध-परिचय', 'रवीन्द्र-कविता-कानन'।

(५) **जीवनियाँ**—'राणाप्रताप', 'भीम', 'प्रह्लाद', 'ध्रुव', 'शकुन्तला'। इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक संस्कृत तथा बंगला-ग्रन्थों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये।

निराला के काव्यों में उनकी स्वाधीन वृत्ति—भाषा, भाव और शैली—सभी क्षेत्रों में स्पष्टतया लक्षित होती है।

निराला जी का साहित्य-सर्जन द्विवेदी-युग के द्वितीय चरण से प्रारम्भ होता है। इससे पूर्व हिन्दी-साहित्य एक निश्चित प्रतिबद्ध ढर्रे पर चल रहा था। छन्द में, भाव में—सर्वत्र बन्धन थे। निराला ने इन बन्धनों को तोड़कर हिन्दी-साहित्य में अपने क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का परिचय दिया। हिन्दी-साहित्य में एक आँधी की तरह प्रवेश करके उन्होंने

काव्य-परम्परा की सभी रूढ़ियों और बन्धनों को वेग से बहा दिया। इस विद्रोही कलाकार का परिचय सर्वप्रथम हिन्दी-जगत् को 'अनामिका' द्वारा मिला। इसमें संकलित कविताएँ, छन्दों के बन्धन और तुक के आग्रह से सर्वथा मुक्त थीं। इनके विषय नये, भाव नये और छन्द नये थे। इस ग्रन्थ से निराला ने हिन्दी को अतुकान्त छन्द की देन दी।

भावक्षेत्र में भी निराला ने अभिनव क्रान्ति ला दी। काव्य और संगीत में आपने निकट सम्पर्क स्थापित कर दिया। उनके रहस्यवाद में काव्य और संगीत का सुखद मिलन गोचर होता है। इसके साथ ही शक्ति-काव्य की देन भी उन्होंने हिन्दी-साहित्य को दी है। उनके शक्ति-काव्य में उच्छल, प्लावनमय ओज है। छायावाद की सुकुमार वृत्तियों और मसृण अनुभूतियों की तुलना में इनके शक्ति-काव्य का ओजस्वी और दर्पपूर्ण स्वर अपना महत्त्व रखता है।

शौर्य और ओज के साथ करुणा और सहानुभूति भी निराला के काव्य में प्रचुर परिमाण में मिलती है। व्यंग्य के चित्र भी निराला ने प्रस्तुत किये हैं। धर्मध्वजियों और पाखण्डियों को आपने अपने तीव्र व्यंग्य का पात्र बनाया है। 'कुक्कुरमुत्ता' में इसी भावना का प्राधान्य है।

भाषा के क्षेत्र में भी निराला की देन महत्त्वपूर्ण है। आपने आधुनिक हिन्दी की शब्दावली और पदयोजना को प्रौढ़ तथा परिमार्जित करने का स्तुत्य और सफल प्रयत्न किया है।

इनकी 'परिमल' नामक रचना ने हिन्दी-साहित्य में नवीन क्रान्ति ला दी। इसके माध्यम से निराला प्रेम और सौन्दर्य के कवि के रूप में प्रकट हुए। इनकी सौन्दर्य-सम्बन्धी कविताओं में 'जूही की कली' प्रमुख है। प्रकृति के हृदयहारी चित्र भी इस संग्रह में कवि ने दिये हैं। इस काव्य की 'भिक्षुक' और 'विधवा' करुणा-प्रधान कविताएँ हैं। इसमें मुक्तक, तुकान्त और अतुकान्त तीनों प्रकार के गीतों का संकलन है।

'कुक्कुरमुत्ता' व्यंग्य-शैली की रचना है। अपनी सुन्दर छवि और मृदुल सौरभ पर इतारने वाले गुलाब पुष्प के सम्मुख कवि ने कुक्कुरमुत्ता

की उत्कृष्टता को व्यंग्य-विनोदमय शैली में प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। देखिये कुक्कुरमुत्ता गुलाब से किस निर्भीक स्वर से ललकार कर कह रहा है—

अबे सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुश्बू, रंगो आब।

'बेला' नामक कृति में कवि नये प्रयोग-क्षेत्र में उतरा है। अब वह हिन्दी गज़लों को भी ढालने लगा है। कई गज़लें बड़ी मार्मिक बन पड़ी हैं—

बिगड़ कर बनते और बनकर बिगड़ते एक युग बीता
परी और शमा रहने दे, शराब और जाम रहने दे।

निराला जीवन की चतुर्मुखी भावनाओं के कवि हैं। देश, समाज, मानव-मन, प्रकृति, जगत् आदि सभी विषय उनकी कविता के आधार बने हैं। उनके चिन्तन में दार्शनिकता और भावना में हार्दिकता निहित है। भावना के क्षेत्र में दर्शन उन्हें विशेष प्रिय है अतः वे काल्पनिक और रहस्यवादी अधिक हैं। उन्होंने हिन्दी को नवीन भाव दिये, नवीन भाषा दी और नवीन छन्दोयोजना दी। हिन्दी-जगत् उनका चिर-ऋणी रहेगा।

(५) महादेवी वर्मा

जीवन—श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म संवत् १९४६ वि० में फ़रुखाबाद में एक सुशिक्षित और सुसंस्कृत परिवार में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई। विद्यार्थी-जीवन में ही आपने भारतीय दर्शन का गम्भीर अनुशीलन किया।

रचनाएँ—महादेवी गद्य और पद्य दोनों में लिखती हैं—

गद्य ग्रन्थ—'अतीत के चलचित्र', 'शृङ्खला की कड़ियाँ', 'हिन्दी का आलोचनात्मक गद्य'।

कविता—'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत' और दीपशिखा'; 'यामा' में 'नीहार', 'रश्मि' और 'नीरजा' की कविताओं का संकलन है।

नीचे उनकी काव्य-रचनाओं का संक्षिप्त आलोचन प्रस्तुत किया जाता है।

'नीहार' आपकी प्रारम्भिक कविताओं का संकलन है। कई कविताओं में वैयक्तिक दुःखवाद और अध्यात्मवाद का सुन्दर समन्वय बन पड़ा है।

'रश्मि' नामक संग्रह में जीवन, मृत्यु, सुख-दुख आदि विषयों पर कवयित्री का चिन्तन मौलिक रूप में प्रकट हुआ है। 'नीरजा' में चिन्तन-पक्ष और अनुभूति-पक्ष का सुन्दर सन्तुलन है। ये कविताएँ विरह-वेदना के माधुर्य को भव्य रूप में व्यञ्जित करती हैं। इनमें प्रकृति के मानवीकरण द्वारा प्राकृतिक दृश्यों में मानव-चेतना की सुन्दर झांकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। 'सान्ध्य गीत' के गीतों में महादेवी जी का हृदय सुख और दुःख, मिलन और विरह के सामञ्जस्य की अनुभूति से पुलकित हो उठा है। विश्व का प्रत्येक व्यापार-प्रकृति का प्रत्येक दृश्य एक ही अखण्ड ऐक्य में अपने द्वन्द्वमय अस्तित्व को खोकर एक हो गया है—मधुर और एकमात्र मधुर—

विरह का युग आज दीखा
मिलन के लघु पल सरीखा,
दुःख सुख में कौन तीखा
मैं न जानी और सीखा,
मधुर मुझ को हो गये सब, मधुर प्रिय की भावना ले।

महादेवी की रचनाओं में दो भावों की प्रमुखता है—वेदना और आत्मानन्द की अनुभूति। नीहार और रश्मि में पहला भाव प्रधान है तथा नीरजा और सान्ध्यगीत में वेदना की प्रधानता के साथ-साथ आत्मानन्द की संवेदना भी तीव्र है। भावपक्ष की दृष्टि से कवयित्री की कविताओं को तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) रहस्यवादी कविताएँ—इन कविताओं में महादेवी ने उस निर्गुण असीम के प्रति अपनी आत्मा के आकुल प्रेम को दाम्पत्य भाव के माध्यम से प्रकट किया है। इनका रहस्यवाद भावना-भरित होने के कारण

'भावात्मक' रहस्यवाद कहाता है। देखिये, कितनी तन्मयता है कवयित्री की भावना में—

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी
तार भी आघात भी, झंकार की गति भी
पात्र भी मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ।

उसका प्रिय उसमें है फिर परिचय की आवश्यकता ही कहाँ है

तुम मुझ में प्रिय ! फिर परिचय क्या ?

महादेवी की रहस्यानुभूति में प्रेमपक्ष की प्रमुखता है। प्रेम में वेदना का होना स्वाभाविक है। महादेवी जी की कविताओं का प्रधान स्वर वेदना है।

पीड़ा मेरे मानस से भीगे पट सी लिपटी है।

इसी वेदना के प्राधान्य के कारण इन्हें 'आधुनिक मीरा' कहा गया है। 'वेदना' के मर मिटने के इस अधिकार को महादेवी छोड़ना नहीं चाहती—

'क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार
रहने दो हे देव अरे यह, मेरा मिटने का अधिकार'

इनकी प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी रचनाओं में छायावादी विधान के अनुसार प्रकृति पर सचेतन व्यक्तित्व का आरोप किया गया है। प्रकृति में कहीं उन्होंने अपने भावों की प्रतिकृति भी देखी है—

फैलते हैं सांध्य नभ में भाव ही मेरे रँगीले।
तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले॥

और कहीं प्रकृति को सद्यःस्नाता के रूप में देखा है—

रूपसी तेरा घन केश पाश।
नभ गंगा की रजत धार में धो आई क्या इन्हें रात।

भाषा-शैली—महादेवी की भाषा संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली है। वह परिष्कृत और सन्तुलित है। नारी हृदय के स्वाभाविक माधुर्य से

इनकी शब्दावलि मण्डित है। प्रस्तुत से अप्रस्तुत का बोध कराना आपकी प्रिय शैली है। भाव, भाषा और संगीत की त्रिवेणी उनकी रचनाओं में पूर्णतः प्रवाहित है।

(६) उदयशंकर भट्ट

श्री भट्ट जी का जन्म संवत् १९५५ में आगरा में हुआ। ये औदीच्य ब्राह्मण हैं और कर्णवास, जिला बुलन्दशहर के निवासी हैं। नाटककार भट्ट जी का परिचय पीछे यथास्थान दे आये हैं। भट्ट जी एक सफल कवि भी हैं। 'तक्षशिला' और 'मानसी' इनके काव्य-ग्रन्थ हैं। इनकी फुटकर कविताओं के संग्रह राका, विसर्जन, अमृत और विष नाम से प्रकाशित हुए हैं।

'**विसर्जन**' नामक संग्रह में संग्रहीत कविताओं की विशेषता है—अनुभूति की गम्भीरता और भावों की दार्शनिकता। 'मानसी' में कवि ने जीवन की व्यथा और सामाजिक वैषम्य को अपनी कविता का विषय बनाया है। विश्व पर उसकी यथार्थवादी दृष्टि पड़ी है। समाज का पाखण्ड और निरीह मानव की मूक वेदना कवि के हृदय को द्रवित कर देती हैं। कवि प्रभु के न्याय पर भी कटाक्ष करता है। भाग्यवाद का वह समर्थक नहीं है। 'अमृत और विष' युद्धकालीन कविताओं का संग्रह है। इसमें बंगाल के अकाल का हृदय-द्रावक अङ्कन हुआ है।

भट्टजी की कविता में विरोधी वृत्तियों का एक निदर्शन मिलता है। प्रगतिवादी होते हुए भी प्राचीनता और आर्य-संस्कृति के आप प्रबल पृष्ठ-पोषक हैं। अतीत के विश्वासी होते हुए भी रूढ़ि और परम्परा के आप प्रतिवादी हैं। स्वर्ग और नरक को मिथ्या-विश्वास की प्रवंचना समझकर मानव के श्रम को ही आपने सर्वोपरि सम्मान दिया है—

जीवन श्वेत धार है जल की
जिसमें कोई रंग नहीं है।
जिसमें निश्चित स्वर्ग नहीं है
जिसमें निश्चित नरक नहीं

यह केवल मानव का श्रम है
जो सुख दुःख निर्माण कर रहा।
आशा और निराशा में हँस
रो कर अपना प्राण भर रहा।

कवि 'नव निर्माण' का उत्कट अभिलाषी है। वह पुरानी सदियों को छिन्न-भिन्न होते हुए और धर्म के विराट् ढोंग को ध्वस्त होते हुए स्पष्ट देख रहा है। कवि का विश्वास है कि इस 'महानाश' में 'महासर्जन' भी छिपा है। वह अपने प्रिय को आगामी वसन्त पर नव विचारों के नव-मधु से स्वागत करने के लिए बुला रहा है—

ओ प्रिय ! अब मत करो भूलकर अपना वह शृंगार पुराना।
कल वसन्त में नव सुमनों का नया-नया मधु चखने आना।
नव रवि, नया स्वर्ग, नव पृथ्वी, शिव सुन्दर होंगे कह दूँ क्या ?

आपकी भाषा में तत्सम शब्दों की प्रचुरता और यथोचित प्रयोग हुआ है।

(७) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

'नवीन' जी हिन्दी के गण्यमान्य साहित्यिकों में से हैं। इनका जन्म ग्वालियर राज्य में संवत् १९५४ में हुआ। हिन्दी-साहित्य में इनकी प्रतिष्ठा एक क्रान्तिकारी कवि के नाते है। राजनीतिक क्षेत्र में भी इनको पर्याप्त ख्याति मिली है। इनकी कविताएँ भावप्रधान होती हैं। उनमें हृदय की हूक और करुण वेदना की एक उद्दीप्त चिन्गारी होती है। इन की प्रकाशित रचनाएँ हैं—'कुंकुम', 'अपलक', 'रश्मिरेखा', 'क्वासि' 'विनोबा-स्तवन' आदि।

'कुंकुम' में बल और बलिदान की प्रेरणा देने वाली कविताओं का संग्रह है। बापू के नेतृत्व में आततायी सत्ता से शान्तिपूर्वक जूझने वाले राष्ट्रसैनिकों को कवि ने दासता के पंकिल जीवन की अपेक्षा मृत्यु को श्रेष्ठ बताया है—

चढ़ चल, चढ़ चल थक मत रे।
बलि पथ के सुन्दर जीव!
ऊपर अगम शिखर के ऊपर।
मचा मृत्यु का रास।
नीचे उपत्यका में—
जीवन पंकिल का है त्रास।

राष्ट्रिय गीतों के अतिरिक्त इसमें यौवन के मादक माधुर्य का पान कराने वाले गीतों का भी समावेश है। इनमें कवि की व्यक्तिवादी स्वच्छन्द वृत्ति के भी दर्शन होते हैं।

'अपलक', 'रश्मिरेखा' और 'क्वासि' के गीतों में कवि ने क्रान्तिवाद और विप्लव का स्वर गुँजाया है। कृषकों के दोहन और शोषण को देखकर उसका हृदय करुण-वेदना से स्पन्दित हो उठा है। नवीन जी का 'विप्लव गायन' हिन्दी साहित्य का क्रान्ति-गान बन गया है—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाए।

और इस तान में ज्वालामुखी का वह दुर्दम विस्फोट है—

नियम और उपनियमों के ये
बन्धन टूक टूक हो जाएँ
विश्वम्भर की पोषक वीणा
के सब तार मूक हो जाएँ।

'विनोबा-स्तवन' में कवि ने भूदान-आन्दोलन के संचालक संत विनोबा भावे और उसके पवित्र कार्य-कलाप को अपनी कवितांजलि अर्पित की है। ये कविताएँ, आत्मोत्सर्ग और औदार्य की भावनाओं को जागृत करके नर में नारायण की प्रतिष्ठा करती हैं। नवीन जी ने 'प्राणार्पण' नाम से एक खण्डकाव्य भी लिखा है।

भाषा—नवीन जी की भाषा अधिकांशत: प्राञ्जल और सुव्यवस्थित है। कुछेक स्थलों में विषय की भीषण गम्भीरता के कारण इसमें

क्लिष्टता भी आ गई है। इनकी शैली में ओजपूर्ण प्रवाह है।

(८) हरिकृष्ण प्रेमी

प्रेमीजी के काव्य में हृदय की मर्मवेदना के साथ-साथ देशप्रेम, छायावाद, रहस्यवाद, सबकी मनोहारी व्यंजना हुई है। हिन्दी-भाषी जनता को 'प्रेमी' की सरस कविता से सर्वप्रथम परिचय इनकी कृति 'आँखों में' से हुआ। इसमें प्रेममयी वेदना नाना रूपों में अभिव्यक्त होने के लिए आतुर है। मन की मूक कामना आँखों के उज्ज्वल पट पर अंकित हो गई है—

आँखों में ही मौन निमन्त्रण
आंखों में नीरव मनुहार
आँखों में प्रियतम का आना
और पहनना आँसू हार।

महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन से प्रभावित होकर प्रेमी ने हिन्दी-जगत् को एक गीति-रूपक (ओपेरा) भेंट किया—'स्वर्ण-विहान'। इसमें एक किसान के जेलजीवन की करुण-गाथा वर्णित है। अपनी अन्य कृति 'जादूगरनी' में कवि ने छायावादी-शैली में नारी के शक्ति रूप का वर्णन किया है। यह शक्ति अपने अलौकिक रूप में समस्त विश्व को अपने 'मधुदान' से मुग्ध कर रही है—

तू चिर-सुन्दर, विश्व विपिन में
खिलती है, देती मधुदान।
जो मधुदान जगत की ज्वाला
को करता है शान्ति प्रदान।

इनकी अन्य प्रख्यात रचनाएँ हैं—'अनन्त के पथ पर', 'अग्नि-गान' आदि।

इस प्रकार काव्य-क्षेत्र में 'प्रेमी' राष्ट्रवादी, छायावादी, रहस्यवादी और क्रान्तिवादी—सभी रूपों में उपस्थित हुए हैं।

(६) रामधारीसिंह 'दिनकर'

इनका जन्म सं० १६६५ में सिमरिया, जिला मुंगेर (बिहार) में एक साधारण कृषक परिवार में हुआ।

स्कूल जीवन मे ही इनकी रुचि साहित्यिक प्रयास की ओर रही है। इनके छोटे-छोटे राष्ट्रिय गीत, मनहरण, कवित्त, सवैये और समस्या-पूर्तियाँ तत्कालीन पत्रिकाओं में छपती रहती थीं। सन् १६२६ ई० में स्वर्गीय पटेल के प्रसिद्ध 'बारदौली-सत्याग्रह' पर इनका एक गीत-संग्रह 'बारदौली विजय' नाम से प्रकाशित हुआ। तब से अब तक साहित्य की प्रायः सभी शैलियों और विधाओं में आपकी कृतियाँ प्रकाशित हो रही हैं। कवि के अतिरिक्त आप एक सुविज्ञ और सिद्धहस्त निबन्ध-लेखक तथा आलोचक भी हैं। अब तक इनकी ये रचनाएँ प्रकाश में भी आ चुकी हैं—रेणुका, रसतन्त्री, द्वन्द्व गीत, हुँकार, धूप छांह, साम धेनी, बापू, धूप और धुआँ, इतिहास के आँसू—ये इनकी कविताओं के संग्रह हैं। प्रण-भंग एक खण्ड-काव्य है। 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' सर्गबद्ध काव्य हैं। इन काव्यों में अतीत के पात्रों द्वारा वर्तमान युग की समस्याओं की बौद्धिक और युगानुकूल व्याख्या करना कवि का अभीष्ट रहा है। कवि का विश्वास है कि क्षमा अथवा अहिंसा सबल का आभूषण है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।

'रश्मि रथी' में लेखक ने अपने अध्ययन और मनन से महाभारत के कर्ण के चरित्र को मुखरित करने की चेष्टा की है। दलितों और उपेक्षितों के उद्धार के आधुनिक युग में दिनकर का कर्ण हज़ारों वर्षों से 'उपेक्षित एवं कलंकित मानवता का मूक प्रतीक बन कर हमारे सामने' खड़ा है। उपेक्षितों के जीवन का वह संबल है। कर्ण की यह उक्ति है—

मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे।
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं अपना न होगा।
मन में लिये उमंग जिन्हें चिर काल कलपना होगा।

'मिट्टी की ओर' कवि की आलोचनात्मक रचना है। सन् १९५४ ई० में उनका एक काव्य-संग्रह 'नील कुसुम' भी प्रकाशित हुआ है। कवि ने इसमें नये युग का आह्वान किया है। दिनकर ने यह विश्वास प्रकट किया है—

धरती के भाग हरे होंगे, भारती अमृत बरसाएगी।
दिल की कराल दाहकता पर, चाँदनी सुशीतल छाएगी।
ज्वालामुखियों के कंठों में, कलकंठी का आसन होगा।
जलदों से लदा गगन होगा, फूलों से भरा भुवन होगा।

नर वर्तमान युग का नारायण है। जनता ही जनार्दन है। कवि ने 'स्वर्ग के दीपक' की अन्योक्ति से जनसामान्य के स्वर-में-स्वर मिलाने का परामर्श दिया है। दिनकर के काव्य के अनुशीलन से यह तथ्य भली भाँति प्रकट हो जाता है कि इस कवि ने हिन्दी-कविता को छायावाद की कुहेलिका से निकालकर प्रकाश की भूमि की ओर अग्रसर किया है। वे एक क्रान्ति-कारी कवि हैं। प्रगतिवादी कवियों में आपने अपने लिए एक अन्यतम स्थान बना लिया है। आपकी कविता में पूँजीपतियों का शोषण कहीं-कहीं आग्नेय विचार भी भर देता है। राष्ट्रिय गौरव और विश्वबन्धुत्व की भावना को आपने खूब अपनाया है। दिनकर का नाम काव्य के ओज और चमत्कार का पर्याय बन गया है। 'संस्कृति के चार अध्याय' इनकी नवीनतम कृति है।

(१०) रामकुमार वर्मा

कवि रामकुमार वर्मा की मुख्य काव्य-रचनाएँ ये हैं—

अंजलि, रूपराशि, चित्तौड़ की चिता, अभिशाप, निशीथ, चित्ररेखा, संकेत आदि वर्मा जी की कविता के दो रूप हैं—वर्णनात्मक काव्य और गीति-काव्य। वर्णनात्मक कविता में रचना का आधार वातावरण होता है जिसे कवि पहले प्रस्तुत करता है। 'रूप राशि' में संकलित दो कविताएँ 'शुजा' और 'नूरजहाँ' इसके उदाहरण रूप में उपस्थित की जा

सकती हैं। 'शुजा' का इतिवृत्त मुगल-राज्यकाल की एक घटना पर आधारित है।

वर्मा जी का गीति-काव्य उदात्त कल्पना और मार्मिक भावना से पूर्ण है। इनकी गीतियों में कवि का रहस्यवादी रूप अभिव्यक्त हुआ है। करुणा की छाया इसमें उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होती चली जाती है।

वर्मा जी पार्थिव जीवन को आत्मा का प्रवास मानते हैं। वियुक्त आत्मा प्रियतम से पुर्नमिलन के लिए व्याकुल है परन्तु भौतिक जीवन उसके पथ की बाधा है। कितनी मार्मिक वेदना है कवि के शब्दों में—

'देव मैं अब भी हूँ अज्ञात
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम मिलन की बात
तुम से परिचित होकर भी
तुमसे इतनी दूर।
बढ़ना सीख सीख कर मेरी
आयु बन गयी क्रूर।
मेरी सांस कर रही मेरे जीवन पर आघात।

वर्मा जी के गीतों की विशेषता है—उनकी भावविभोरता, संक्षिप्तता और संगीतमयता। उनमें एक तन्मयता है—आत्मसमर्पण और आत्माभिव्यक्ति की भावना से ओतप्रोत। उनकी कल्पना में उच्चता और भाषा में एक सरसता तथा प्रवाहमयता है।

प्रकृति से भी वर्माजी को प्रेम है। उनके गीतों में अधिकतर प्रकृति के ललित सुकुमार रूपों की—कोकिल का कोमल स्वर, उपवन की बाला, हंसता हुआ फूल, जगमगाते तारे आदि की—सुन्दर व्यंजना हुई है। नैसर्गिक सुषमा कवि के हृदय की अत्यन्त प्रिय निधि बन गई है। मन के किसी प्रान्त में वह प्रकृति के उस हास-विकासमय वैभव को पाल रहा है—

तुम सजीली हो, सजाती हो सुहासिनी ये लताएँ
क्यों न कोकिल कण्ठ मधु ऋतु में तुम्हारे गीत गाएँ

आज मैंने वह छटा अपने हृदय के बीच पा ली।
फूल सी हो फूल वाली।

(११) माखनलाल चतुर्वेदी

श्री चतुर्वेदी जी का जन्म सं० १९४५ में मध्यप्रान्त के होशंगाबाद ज़िले में हुआ। आप क्रान्तिकारी विचारों के अत्यन्त भावुक कवि हैं। जन-मन की वृत्ति और राष्ट्रिय भावना को आपने अपनी ओजस्वी शैली में व्यक्त किया है। इनके कहने का ढङ्ग कलात्मक है। लाक्षणिक और व्यंग्य-प्रयोगों से मन की बात प्रकट करना आपको विशेष प्रिय है। सांकेतिकता ने इनकी कविता को कहीं-कहीं दुरूह भी बना दिया है। इनकी कविता को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(१) राष्ट्रिय, (२) प्रेम-सम्बन्धी और (३) रहस्यवादी। इनकी राष्ट्रिय कविताओं में वीरता और कर्म की प्रेरणा प्रमुख है। इनकी भाषा में ओज और भावों में प्रेरणा है। अपनी प्रसिद्ध कविता 'पुष्प की अभिलाषा' में आपने एक राष्ट्रसेवी तरुण की आन्तरिक कामना को वाणी दी है। विकसित पुष्प राष्ट्र पर बलि होने वाले युवकों का चरण-चुम्बन करना चाहता है—

मुझे तोड़ लेना बनमाली! उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर सीस चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक॥

प्रेमात्मक कविताओं में कवि ने प्रेम की पावनता और उज्ज्वलता को सम्मुख रखा है। इनका प्रेम वासना के पङ्क से अस्पृष्ट है। स्वयं चतुर्वेदी जी ने लिखा है—'**हृदय में प्रेम के प्रबल उद्वेग होने के कारण उन कविताओं का जन्म होता है।**' 'कुञ्ज-कुटीरे यमुना तीरे' और 'लूँगी दर्पण छीन' आदि कविताओं में इनकी प्रेम-साधना अभिव्यक्त हुई है।

इनकी रहस्यवादी कविताएँ संख्या में कम हैं। इनमें सीम, असीम, शेष, अशेष, आत्मा, परमात्मा, व्यक्त, अव्यक्त—इस प्रकार के द्वन्द्वमूलक भावों की अभिव्यञ्जना हुई है। एक बानगी देखिए—

अरे अशेष! शेष की गोदी
तेरा बने बिछौना सा

आ मेरे आराध्य ! खिला लूँ
मैं भी तुझे खिलौना सा ।

चतुर्वेदी जी की निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं—

हिमकिरीटिनी, हिमतरंगिणी (काव्यसंग्रह), कृष्णार्जुन युद्ध (नाटक) साहित्यदेवता (गद्य-काव्य) वनवासी (कहानी-संग्रह) । अपनी कविताओं में चतुर्वेदी जी 'एक 'भारतीय आत्मा' के नाम से विख्यात हैं ।

(१२) हरिवंश राय बच्चन

आधुनिक युग के गीतिकारों में श्री बच्चन का नाम बड़े गौरव से लिया जाता है । इनका जन्म संवत् १९६४ में इलाहाबाद में हुआ । कविता की ओर इनकी प्रवृत्ति बाल्यावस्था से रही है । बच्चन ने जग-जीवन और समय-चक्र की कटु विषमताओं और दारुण दुर्नीतियों का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया है अतः जीवन की विषम परिस्थितियों से पीड़ित व्यक्तियों को इनके काव्य में अपनी मानसिकता का प्रतिबिम्ब मिलता है । इनकी कविता को वादों के वृत्त में सीमित करने का प्रयत्न आलोचकों ने किया है परन्तु स्वयं कवि अपनी कविता को इन बन्धनों से ऊपर समझता है । उसकी दृष्टि में समस्त जीवन उसकी कविता का विषय है ।

हिन्दी-जगत् को बच्चन का सर्वप्रथम परिचय फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि उमर ख़ैय्याम की रूबाइयों के अनुवाद से हुआ । परन्तु यह अनुवाद भी मूल रचना के मादक माधुर्य से पूर्णतया अन्वित था । बच्चन ने शाब्दिक अनुवाद की अपेक्षा ख़ैय्याम की भावना को अपने कवि-हृदय के रस से और भी मर्मस्पर्शी बना दिया है । इनकी दूसरी कृति 'मधुशाला' हैं । रूढ़िवादियों के उत्कट विरोध के बावजूद भी बच्चन की 'मधुशाला' हिन्दी-जनता का हृदय-हार बनी हुई है । कवि ने 'मधुशाला' के आलोचकों को सम्बोधित करते हुए कहा है—

बिना पिये जो मधुशाला को बुरा कहे वह मतवाला
पी लेने पर तो जायेगा पड़ उसके मुँह पर ताला

दास द्रोहियों दोनों में है जीत सुरा की प्यालें की
विश्व विजयिनी बन कर जग में आई मेरी मधुशाला।

इस प्रकार यौवन के उन्माद और माधुर्य के साथ कवि हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। बच्चन की तीसरी कृति है 'मधुबाला'। यह उनके मधुर गीतों का संग्रह है जिनमें उनके हृदय की निष्कपट ऋजुता छलक रही है।

इन रचनाओं के उपरान्त बच्चन जी की कृतियों में हम उनके जीवन का एक नया मोड़ पाते हैं। ये रचनाएँ हैं—'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर', 'विकल विश्व' और 'सतरंगिनी',। 'निशा निमन्त्रण' के गीत एक गहन करुणा और दार्शनिक निराशा से ओतप्रोत है। 'एकान्त संगीत' में कवि नैराश्य का साहस और दुर्दम बल लिये हुए समस्त संसार से ताल ठोंककर लोहा लेना चाहता है। 'आकुल अन्तर' में कवि अन्तरोन्मुख रहकर विकासशील हुआ है। उसका विकास दुर्बलता से दृढ़ता की ओर, निराशा से आशा की ओर और निष्क्रियता से सक्रियता की ओर हुआ है। 'विकल विश्व' में कवि विश्व की विकलता, विक्षोभ और संघर्ष से तादात्म्य करके आशा और विश्वास से जगत् के भव्य भविष्य का स्वप्न देखता है। 'सतरंगिनी' में कवि के फुटकर गीतों का संग्रह है। बच्चन जी की अन्य रचनाएँ हैं—'बंगाल का काल' और 'हलाहल'। प्रथम ग्रन्थ का विषय नाम से ही स्पष्ट है। बच्चन की भाषा परिमार्जित है और उनकी शैली मर्मस्पर्शिनी है। उनकी भाषा में बनाव-चुनाव नहीं है। वह विषय और भावों की अनुगामिनी है।

(१३) सोहनलाल द्विवेदी

हिन्दी-जगत् में द्विवेदी जी की काव्य-पयस्विनी बहुमुखी धाराओं में बही है। आपकी रचनाएँ मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में मिलती हैं। आपकी कवि-प्रतिभा को देश के स्वाधीनता-संग्राम और महात्मा गांधी के लोकोत्तर व्यक्तित्व से प्रेरणा मिली है। आपकी राष्ट्रिय रचनाओं में आपका करुणार्द्र हृदय मुखर हुआ है। भारतीय ग्रामों के चित्रण में

आपकी सर्जन-शक्ति तीव्र हो उठी है। ग्राम-जनता का शोषण और दोहन देखकर कवि का हृदय करुणा-कातर हो उठता है। विश्व-वन्द्य बापू इनकी दृष्टि में युगावतार बनकर उतरे हैं। युग-पुरुष की युग-प्रेरक झांकी देखिये—

युग बढ़ा तुम्हारी हँसी देख,
युग हटा तुम्हारी भृकुटि देख
तुम बोल उठे, युग बोल उठा
तुम मौन बने, युग मौन बना
युग निर्माता, युग मूर्ति! तुम्हें
युग युग तक, युग का नमस्कार!

हिन्दी-जगत् ने आपको राष्ट्रिय कवि का सम्मान्य पद दिया है। 'भैरवी', 'वासवदत्ता', 'कुणाल', 'विषपान', 'युगाधार', 'वासन्ती', 'चित्रा', 'सेवा-ग्राम', 'पूजागीत', 'प्रभाती' आदि आपकी रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त गांधी-अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन भी आपने किया है।

'चित्रा' के भावगीतों में कवि ने जीवन की आशा-निराशा, सुख-दुःख, प्रेम और यौवन का गान गाया है।

(१४) ठाकुर गुरुभक्तसिंह

ठाकुर जी का जन्म जमनिया, जिला गाज़ीपुर में सं० १९५० में हुआ। आपने भिन्न-भिन्न विषयों पर कविताएँ की हैं। इन कविताओं के संग्रह 'सरस सुमन', 'कुसुमकुञ्ज', 'वंशीध्वनि' और 'वनश्री' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। 'नूरजहां' नाम से आपने एक प्रबन्ध-काव्य भी लिखा है।

गुरुभक्तसिंह जी प्रकृति के अनन्य प्रेमी हैं। प्राकृतिक दृश्यों के बड़े सुन्दर शब्द-चित्र आपने खींचे हैं। ये चित्रण संश्लिष्ट, स्वाभाविक और हृदयहारी होते हैं। ग्रामीण जीवन के चित्र इनकी रचनाओं में बड़े सरस और स्वाभाविक बन पड़े हैं। 'कृषक वधूटी' में एक किसान की बहू का चित्र कितना सुन्दर है—

कृषक वधूटी खेत काटती हँस हँस कर लेकर हँसिया
गाती गीत सुना दो मोहन प्रेम भरी अपनी बंसिया
भर-भर अंक उठा कर रख रख बालें दानों भरी हुई
पवन वेग से अंचल उड़ता प्यारी मानो परी हुई।

सामान्य मानवता के चित्रण में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। 'नूरजहाँ' में कवि ने मेहरुन्निसा का जन्मकाल से लेकर नूरजहाँ बनने तक का समस्त वृत्त बड़ी भावुकता से चित्रित किया है। मेहरुन्निसा का जन्म उषा की ज्योतिरेखा के जन्म के समकाल हुआ। उसका रूप सौन्दर्य देखिये—

क्षितिज गर्भ से नव ऊषा का जन्म हुआ ज्यों हो नभ पर
ओस बिन्दु सी लगी खेलनें तृण-दल पर कन्या सुन्दर
नहीं ठहर सकती थी जिसकी अनुपम आभा देख नजर
ऐसी कन्या को माता ने लिया अंक में अपने भर।

इनकी भाषा, सरस, सरल और मुहावरेदार है।

(१५) नरेन्द्र शर्मा

नरेन्द्र शर्मा एक प्रगतिशील कवि हैं। आपने अपने युग में घटित दारुण और रोमहर्षण परिवर्तनों को देखा है और इन परिवर्तनों को सहन कर और जीवन की विषम साधना में सोत्साह योग देकर सच्चे संसारी बनने की कामना प्रकट की है। संहारक तत्त्वों को यह नवसर्जन का दूत कह कर स्वागत करते हैं—

जीवन को तो आज अग्नि की लपटों का ही गहना है
मिटने में ही बनना है अब, सहना है तो लहना है
सृजनतल बन कर निकलेगा तल आज का संहारी।

आधुनिक युग का निराशावाद इन्हें नहीं सुहाता। इनके विचार में आँखों का खारा पानी बहाना और जीवन में योग न देना अपनी मनुष्यता को खोना है—

आज कड़वा नीम मीठी,
गन्ध अग जग को लुटाता
और मैं छिद वेदना से
खार के आँसू बहाता
व्यंग्य को कुछ और भी कड़वा बनाया
आज इस मेरे निरर्थक नाम ने।

आपने उत्कृष्ट गीतों द्वारा अपने पुरातन संस्कारों से मुक्ति की भावना और नवयुग के नवसन्देश को उल्लासपूर्वक क्रियान्वित करने के भावों को व्यक्त किया है। इनके गीत यथार्थवादी हैं। मनुज को भू पर स्वर्ग-निर्माण करना था, बुद्धि से जगजड़ता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी थी। पर शोक कि मानव क्या कर रहा है—

एक दूसरे का अभिभव कर, रचने एक नये भव को
है संघर्ष निरत मानव, जब फूँक जगतगत वैभव को।

शर्मा जी ने लौकिक प्रेम के गीत भी गाये हैं। इनकी शृङ्गार-भावना कहीं-कहीं वासना-जनित नग्नता का रूप भी ले लेती है। पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

आपके तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'प्रवासी के गीत' 'पलाश वन', 'मिट्टी और फूल'। इनके अधिकांश गीत 'मैं या मेरे' से प्रारम्भ होते हैं जिनमें अहम्भाव व्यंजित होता है।

(१६) शिव मंगलसिंह 'सुमन'

'सुमन' के हृदय ने सुमन की सुकुमार वृत्ति को अपनाया है। उनकी कविता में उनका भावार्द्र हृदय पीड़ितों, शोषितों के मौन क्रन्दन का स्वर देने के लिए उमड़ा है। दलित मानवता का त्राण पुरानी जर्जर रूढ़ियों को त्यागकर प्रगति की सतत साधना करने में है। कवि का संबल है उसका 'चिरनूतन विश्वास' और 'अमर-प्रणय में प्राणनिलय की पवित्र भावना। वह 'दीवाना' अपनी साधना के पथ पर गिरता, पड़ता और उठता-संभलता बढ़ा जा रहा है—

हम चिर नूतन विश्वास लिए
प्राणों में पीड़ा पाश लिए
मर मिटने की अभिलाष लिए
हम मिटते रहते हैं प्रतिपल, कर अमर प्रणय में प्राणनिलय
हम दीवानों का क्या परिचय ।।

'सुमन' को निराशावाद और रहस्यवाद से चिढ़ है। वह लिखता है कि हमारा कवि समाज **'किसी ऐसे दूसरे लोक की खोज में निकल पड़ता है जिसमें जीवन की कठोर वास्तविकता का सामना न करना पड़े और क्षितिज पार की अनन्तता में लीन हो। प्रिय और प्रियतम के शाश्वत मिलन का स्वप्न देखता रहे।'** परन्तु स्वयं 'सुमन' ने इस छोटे से जीवन में जो 'शाश्वत' देखा है उसका परिचय उसके अपने शब्दों में लीजिए—

शाश्वत यह आना जाना है
क्या अपना और बिराना है
प्रिय में सब को मिल जाना है
इतने छोटे से जीवन में, इतना ही कर पाए निश्चय ।।

'जीवन के गान', 'प्रलय सृजन' और 'हिल्लोल' इनके उत्तम काव्य-संग्रह हैं। कवि की भाषा स्वाभाविक और प्रौढ़ है। छन्दों पर असाधारण अधिकार है। कल्पना स्पष्ट है और व्यापक है और संदेश प्रगतिशील है।

(१७) श्यामनारायण पाण्डेय

श्री पाण्डेय जी का जन्म संवत् १९६७ की श्रावण कृष्ण पंचमी को आज़मगढ़ जिला के डुमाँव गाँव में हुआ। इनकी प्रथम रचना 'त्रेता के दो वीर' है जिसमें लक्ष्मण और मेघनाद की विक्रम-गाथा का वर्णन विविध छन्दों में किया गया है। 'माधव' और 'रिमझिम' इनकी दो अन्य छोटी-छोटी कृतियाँ हैं।

'हल्दीघाटी' इनका वीरगाथात्मक प्रबन्ध-काव्य है। इस ग्रन्थ में कवि की प्रतिभा का विकास हुआ है। इसमें महाराणा प्रताप के जीवन की घटनाओं का अत्यन्त ओजस्वी और प्रवाहमयी शैली में अंकित

किया गया है। प्रताप के लोकप्रसिद्धवृत्त में चरित्र-विकास के औचित्य की दृष्टि से इन्होंने बीच-बीच में अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तन भी किये हैं, परन्तु इनसे ऐतिहासिक सत्य को विशेष क्षति नहीं पहुँची। इस काव्य की शब्द-योजना में वीर रस का एक प्राणमय स्पन्दन है। छन्दों की भाषा प्रवाहमयी और वेगवती है। अनेक स्थलों पर तो छन्दों के उच्चारण मात्र से ही युद्ध का भीषण प्रसंग मूर्तिमान हो उठता है। महाराणा प्रताप की तलवार का स्फूर्त रूप देखिए—

'पैदल से हय दल गज दल में, छपछप करती वह निकल गयी।
क्षण कहाँ गई कुछ पता न फिर देखो चमचम वह निकल गई।
क्षण इधर गई, क्षण उधर गई, क्षण चढ़ी बाढ़ सी उतर गयी।
था प्रलय चमकती जिधर गई, क्षण शोर हो गया किधर गई।

पाण्डेयजी को राजपूताना की वीरगाथाएँ बड़ी प्रिय हैं। 'जौहर' काव्य में पद्मिनी की गाथा को अमर करने का आपने प्रयास किया है। 'हल्दी घाटी' लिखकर उन्होंने खड़ीबोली की वीररसात्मक कविता में युग-प्रवर्तन किया है।

३. विविध साहित्य

आधुनिक युग में हिन्दी-साहित्य के अन्य रूपों का विकास द्रुतगति से हो रहा है। जीवनी, इतिहास, रेखाचित्र, कला तथा ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों से सम्बद्ध प्रचुर साहित्य लिखा जा रहा है जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) इतिहास के प्रामाणिक ग्रन्थ हिन्दी में अधिकारी विद्वानों ने लिखे हैं। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, वासुदेवशरण अग्रवाल, जयचन्द्र विद्यालंकार, डॉ० ईश्वरी प्रसाद, सत्यकेतु विद्यालंकार, पं० भगवद्दत्त आदि के ग्रन्थों का विषय-प्रतिपादन तथा गवेषणा—दोनों दृष्टियों से अंग्रेजी के प्रख्यात ग्रन्थों से तुलना की जा सकती है।

(२) आत्मकथा और जीवनी के क्षेत्र में भी सुन्दर ग्रन्थों की कमी

नहीं है। प्रामाणिक रूप से जीवनी-साहित्य का निर्माण करने वालों में देवीप्रसाद मुन्सिफ़, राधाकृष्ण दास, सम्पूर्णानन्द, रामचन्द्र वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आत्मकथा-परक साहित्य का भी हिन्दी में अभाव नहीं है। देश के महान् नेताओं—महात्मा गान्धी, पं० जवाहरलाल नेहरू, आदि की आत्मकथाओं का सुन्दर अनुवाद हुआ है। भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा राष्ट्रभाषा में ही प्रस्तुत की है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास आदि ने भी साहित्यिक शैली में आत्मकथाएँ लिखी थीं।

(३) रायकृष्ण दास, डॉ० मोतीचन्द, भातखण्डे, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने ललित कलाओं के विषय में सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं। रेखा-चित्र और संक्षिप्त जीवनी के क्षेत्र में बनारसीदास चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर और पद्मसिंह शर्मा'कम लेश' की सेवाएँ सराहनीय हैं।

(४) भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र पर डॉ० भगवानदास. आचार्य नरेन्द्रदेव, भरतसिंह उपाध्याय, गुलाबराय, आचार्य विश्वेश्वर आदि की सुन्दर कृतियाँ उपलब्ध हैं।

(५) अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, शिक्षाशास्त्र तथा आयुर्वेद-शास्त्र पर प्रचुर मात्रा में ग्रन्थ-प्रणयन हुआ है।

(६) भारत की राजभाषा (राष्ट्रभाषा) हिन्दी के स्वीकृत हो जाने के कारण अंग्रेज़ी के वैज्ञानिक, प्राविधिक तथा व्यावहारिक शब्दों का हिन्दी-रूपान्तर तैयार हो रहा है। डा० रघुबीर, राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों ने शब्दकोश-निर्माण का स्तुत्य कार्य किया है। भारत सरकार की ओर से भी शब्द-निर्माण का कार्य उच्च स्तर पर चल रहा है। इस दिशा में डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा और डॉ० यदुवंशी की अमूल्य सेवाएँ उल्लेखनीय हैं।

(७) विश्वविद्यालयों में पठन-पाठन के उपयुक्त हिन्दी की प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तकें निर्मित हो रही हैं।

(८) साहित्य के इन अंगों के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी भाषा का प्रचार और प्रसार हो रहा है। पत्रकारिता, विषय-

सामग्री तथा भाषा-शैली की दृष्टि से ये पत्र-पत्रिकाएँ दिन-प्रतिदिन उन्नत होती जा रही हैं।

आशा है ज्यों-ज्यों हिन्दी-गद्य की विविध शैलियों और रूपों का विकास होगा, त्यों-त्यों हिन्दी भाषा और साहित्य का भी प्रचार बढ़ेगा। प्रान्तीय भाषाओं के मुहावरे, शब्द तथा शैलियों के सम्मिश्रण से हिन्दी का क्षेत्र-विस्तार भी सम्भव है।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का नवीन साहित्य न केवल भारत में निर्मित हो रहा है, अपितु विदेशी सरकारों ने इसका निर्माण प्रारम्भ करके इसके गौरव को प्रकारान्तर से स्वीकृत किया है। इस दिशा में रूस-सरकार तथा अमेरिका-सरकार का नाम उल्लेख्य है। मौलिक ग्रन्थ-निर्माण के अतिरिक्त उन देशों की भाषा के प्रख्यात ग्रन्थों का हिन्दी भाषा में तथा प्रख्यात हिन्दी-ग्रन्थों का उन देशों की भाषा में अनुवाद-कार्य हो रहा है। इधर हिन्दी-रूसी तथा रूसी-हिन्दी शब्द-कोष भी निर्मित हो रहे हैं। यह प्रयास भारत और दूसरे देशों के बीच साहित्यिक मिलन के साथ सांस्कृतिक मिलन में सहायक सिद्ध होंगे—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

उपसंहार

हिन्दी-भाषा और साहित्य के एक सहस्र वर्ष के इतिहास पर दृष्टि-पात करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपभ्रंश के उद्गम स्थान से प्रादुर्भूत पुरानी हिन्दी ने अनेकानेक परिवर्तनों के बीच अपना जो स्वरूप बनाये रखा वह जीवित भाषा का ही रूप है। किसी भी जीवित भाषा को एक सहस्र वर्ष की लम्बी अवधि तक सतत प्रवहमान रहने के लिए परिस्थितियों के सम-विषम दुर्द्धर्ष आघात सहने की क्षमता जुटाना अनिवार्य है। जो भाषा अपनी चेतना को परिस्थिति-जन्य प्रभाव से अक्षुण्ण रखती हुई आगे बढ़ने का मार्ग खोज निकालती है, उसका संहार न तो विदेशी शासन की क्रूरताएँ कर सकती हैं और न विषम

परिस्थितियों के आघात-प्रघात ही उसे नष्ट कर सकते हैं। जो भाषा महाकवि चन्द से महाकवि पन्त तक अपना अस्तित्व बनाये हुए है वह भाषा, बोली और विभाषा के विविध रूपों में भी जीवित रहकर अपनी सबल प्राणशक्ति का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

शौरसेनी-अपभ्रंशाभास डिंगल-पिंगल, अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देली, बैसवाड़ी, राजस्थानी, भोजपुरी आदि विविध रूपों वाली हिन्दी ही आज खड़ीबोली के परिनिष्ठित रूप में हमारी राजभाषा बनी है। आज इसके विभिन्न रूप प्रान्तीय सीमाओं में केवल बोलचाल या काव्य-निर्माण तक सीमित हैं—परन्तु राजभाषा है खड़ीबोली। खड़ीबोली का साहित्य जिस द्रुत-गति से आगे बढ़ रहा है, यह इस बात का प्रमाण है कि हमारी राष्ट्रिय चेतना के पीछे एक-भाषा की चेतना भी काम कर रही है।

वर्तमान युग में कविता के विविध रूपों—उपन्यास, नाटक और कहानी का विपुल विस्तार, आलोचना और निबन्ध की नूतन शैलियों का आविष्कार, पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भावाभिव्यक्ति की अभिनव पद्धतियों का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी भाषा और साहित्य राष्ट्रिय-चेतना का प्रतीक बन रहा है। ज्यों-ज्यों राष्ट्र-भाषा के प्रति जन-जागरण होगा त्यों-त्यों हमारी भाषा भी समृद्ध होती हुई व्यापक रूप धारण करेगी। विगत पच्चीस-तीस वर्षों में—विशेषतः भारत-विभाजन के पश्चात् हिन्दी-साहित्य में जो सर्जनात्मक तथा अनुसन्धानात्मक विविध नव-निर्माण हुआ है वह उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है। हमें उस दिन का मंगलस्वरूप देखना चाहिए जब हमारी भव्यरूपान्विता राजभाषा हिन्दी विश्व के रंगमंच पर भारतीय भाषा का प्रतिनिधित्व करने वाली व्यापक भाषा बन जाएगी।
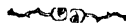
वैष्णव-धारा का विकास (देखिए पृष्ठ ९७)

विषय	शंकर	रामानुजाचार्य	मध्वाचार्य	निम्बार्काचार्य	वल्लभाचार्य
समय	९वीं शती विक्रम संवत्	१०८५ संवत्	१२३० संवत्	१२७० संवत्	१५५० संवत्
जीवब्रह्म	अद्वैतवाद	विशिष्टाद्वैतवाद	द्वैतवाद	द्वैताद्वैतवाद	शुद्धाद्वैतवाद
आराध्य	निर्गुण ब्रह्म	सोपाधि ब्रह्म	सोपाधि ब्रह्म	सोपाधि ब्रह्म	सगुण ब्रह्म
आराधना	चिन्तन-मनन	नामस्मरण	कीर्तन; नृत्य	नामस्मरण	सेवा; साख्य
माया	स्वीकृत	×	×	×	×
भगवत्प्रतीक	निराकार	राम	कृष्ण	राधाकृष्ण	राधाकृष्ण
सम्प्रदाय	—	श्री वैष्णव सम्प्रदाय	माधव सम्प्रदाय	निम्बार्क सम्प्रदाय	वैष्णव सम्प्रदाय
भक्ति	ज्ञानरूप	समुच्चय भक्ति	आत्मसमर्पण	आत्मसमर्पण	पुष्टि रूप
मोक्ष	ब्रह्मलीनता	ब्रह्मसामीप्य	ब्रह्मसामीप्य	चिरमिलन	गोलोकवास
भाष्य	वेदान्त भाष्य	श्रीभाष्य	सूत्रभाष्य	वेदान्त कौस्तुभ	अणुभाष्य
भाषा	संस्कृत	संस्कृत	संस्कृत	संस्कृत	ब्रजभाषा
प्रतीक	×	हनुमान्	×	राधा	राधा
केन्द्र	चार मठों की स्थापना	अयोध्या	वृन्दावन	द्वारिका	श्रीनाथ द्वार
हिन्दी कवियों पर प्रभाव	कबीर पर	तुलसी पर	×	हरिदास स्वामी (टट्टी सम्प्रदाय) पर	सूरदास (अष्टछाप)

परिशिष्ट

लेखक-सूची

परिशिष्ट

परिशिष्ट

परिशिष्ट